मध्यकालीन यूरोप का इतिहास

[द्वितीय संस्करण]

लेखक

डॉक्टर बालमुकुन्द वीरोत्तम

एम० ए० (गोल्डमेडलिस्ट), पी०-एच० डी०

रीडर,

इतिहास-विभाग

राँची विश्वविद्यालय, राँची
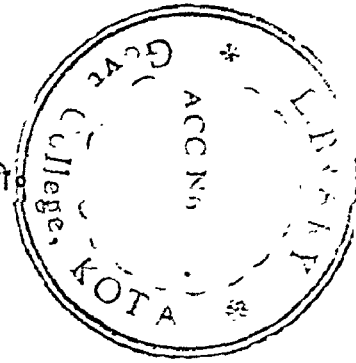
पुनरीक्षक

प्रोफेसर डॉ० पी० एन० ओझा

इतिहास-विभाग

राँची विश्वविद्यालय, राँची

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजनान्तर्गत भारत-सरकार के शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशन संख्या : २३७

प्रथम संस्करण : ११००

द्वितीय संस्करण : २०००

मूल्य : १५.०० (पन्द्रह रुपए) मात्र

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
१९५ बी, श्रीकृष्णपुरी
पटना-८००००१

मुद्रक :
धर्मयुग प्रेस न्यू
कदमकुआँ
पटना-८००००३
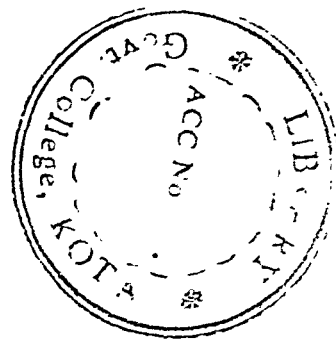
प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ मध्यकालीन यूरोप का इतिहास डा० बालमुकुन्द वीरोत्तम की मौलिक कृति का द्वितीय संस्करण है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ इतिहास के छात्रों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में प्रथम संस्करण की भाँति स्वागत किया जाएगा।

पटना,
दिसम्बर, १९६१

करमचन्द भगत
(शिक्षा मंत्री, बिहार)
अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

आमुख

मध्यकालीन यूरोप का इतिहास रोमन साम्राज्य के पतन से लेकर यूरोप में धर्म-सुधार-आन्दोलन तक की प्राय: एक हजार वर्ष से भी अधिक अवधि का ऐतिहासिक वृत्त है। मध्य-युग ने यूरोप को उत्तरकालीन विश्व के नेतृत्व के लिए तैयार किया। तत्कालीन योरोपीय शासकगण ईसाई सिद्धान्तों के अतिरिक्त यूनानी, रोमन, ट्यूटन, बैजन्टाइन एवं अरब परम्पराओं से प्रभावित थे। समस्त मध्यकाल यूरोप में इन परम्पराओं का संलयनकाल था। रोमन साम्राज्य को आक्रांत करने वाली बर्बर जातियों ने न केवल यूनानी-रोमन परम्पराओं को सुरक्षित रखा, बल्कि इस्लाम के फैलते सैलाब से भी यूरोप की रक्षा की। रोमन साम्राज्य के पतन से लेकर साम्राज्य की पुन: स्थापना तक का समय योरोपीय इतिहास का संक्रमण-काल था। तदुपरांत पन्द्रहवीं शताब्दी तक योरोपीय व्यवस्था का नियमन प्रधानत: सामंतवाद एवं चर्च द्वारा ही होता रहा। विस्तारवादी एवं विकासोन्मुख आधुनिक यूरोप की नींव धर्मयुद्धों भौगोलिक खोजों, पुनर्जागरण एवं धर्म-सुधार आन्दोलन के युग में पड़ी। राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों की स्थापना, उच्च शिक्षा के प्रसार एवं नगरों के विकास ने मध्ययुगीन व्यवस्था के अन्तर्विरोध को स्पष्ट किया। इस तरह आधुनिक युग के आगमन की पृष्ठभूमि तैयार हुई। संक्षेप में, यूरोप की युग-यात्रा में मध्यकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इतिहास के इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंश पर अद्यतन किसी भी भारतीय भाषा में कोई भी प्रामाणिक पुस्तक नहीं लिखी गई, यद्यपि यह विषय अनेक विश्व-विद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में सम्मिलित है। हिन्दी में सहायक सामग्री का अभाव, मध्यकालीन योरोपीय नामों के हिन्दी-रूपांतरण की कठिनाई एवं कार्य का अत्यधिक श्रम-साध्य होना ही सम्भवत: प्रमुख बाधाएँ थीं। निस्संदेह मध्यकालीन यूरोप पर किसी भी भारतीय द्वारा मौलिक लेखन की आधारभूत कठिनाइयाँ हैं। फिर भी यह ग्रन्थ इस बात की विनम्र अभिपुष्टि है कि भारतीय भाषाओं, विशेषत: हिंदी, में भी अभारतीय विषयों पर उच्च स्तरीय मौलिक ग्रन्थों की रचना सम्भव हैं। सामान्य पुस्तकों की तरह इस ग्रन्थ में न तो अंग्रेजी में लिखित ग्रन्थों से अनावश्यक उद्धरण ही हैं और न भाषा ही निम्नस्तरीय है। दुरूह न होते हुए भी भाषा का स्वरूप प्राञ्जल है। भारतीय पाठकों के लिए

उपयोगी एवं रुचिकर सामग्री मात्र को ग्रन्थ में सम्मिलित किया गया है। पारम्परिक विवरण-विधि की जगह राजनीतिक-प्रशासकीय वृत्त को एक स्थान पर तथा आर्थिक-सामाजिक वृत्त को अन्यत्र रखा गया है—पूर्णरूपेण स्वतन्त्र अध्यायों के रूप में।

ग्रन्थ में वर्णित विषय की रूपरेखा बनाते समय ग्रन्थ-लेखन की प्रक्रिया में ग्रन्थ की विषय-सीमा तक पाठकों के स्तर का ध्यान रखा गया है। चेष्टा यह रही है कि ग्रन्थ अधिकाधिक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों की आवश्यकता-पूर्ति कर सके। साथ ही, ग्रंथ में विवेच्य विषय-संबन्धी अद्यतन एवं नवीन जानकारी के समावेश का प्रयास किया गया है। योरोपीय भाषाओं में लिखित अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गई है, किन्तु जो भी त्रुटि रह गई हो उसकी जिम्मेदारी निस्संदेह मेरी है। ग्रन्थ की अनुक्रमणी में कतिपय प्रमुख योरोपीय देशों, नगरों एवं व्यक्तियों को सम्मिलित नहीं किया जा सका है, क्योंकि इससे अनावश्यक विस्तार ही होता। ग्रन्थ-सूची में भी केवल उन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख है जिनका लेखन-प्रक्रिया में वस्तुतः उपयोग किया गया है।

स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के निरंतर आग्रह, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी से संबद्ध भूतपूर्व एवं वर्त्तमान विद्वद्जन की प्रेरणा एवं डॉ० फणीन्द्र नाथ ओझा के निरीक्षण के फलस्वरुप ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रायः तीन वर्षों में तैयार हो सकी; किन्तु, ग्रन्थ के प्रकाशन में अप्रत्याशित बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। अंततः अकादमी के प्रमुख पदाधिकारियों की व्यक्तिगत रुचि एवं मुद्रक के सौजन्य से यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष है। यह जो कुछ है, जैसा भी है—सामान्य पाठकों, इतिहासविदों एवं हिन्दी-सेवी-संसार के अवगाहन-निमित्त अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदित है।

अपने विभागीय सहकर्मियों, विशेषतः डा० सुशील माधव पाठक, शिष्य-समुदाय, गृह-लक्ष्मी 'मोती' एवं टंकन तथा मानचित्र रेखाङ्कन से सम्बद्ध व्यक्तियों का मैं उनकी प्रेरणा एवं सहयोग के निमित्त आभारी हूँ।

—बालमुकुन्द वीरोत्तम

महाशिवरात्रि, १९८०
करमटोली,
रांची

द्वितीय संस्करण के प्रति

मध्यकालीन यूरोप का इतिहास पाठकों द्वारा आदृत हुआ और प्रथम संस्करण दो मास की अवधि में ही शेष हो गया। द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में प्राय: एक वर्ष का विलम्ब हुआ, जिसके लिए मुझे खेद है।

यह संस्करण अत्यन्त सावधानी के साथ तैयार किया गया है। तिथि, नाम तथा घटनावृत्त सम्बन्धी कतिपय सुधार भी किये गये हैं।

वर्त्तमान संस्करण अकादमी के अधिकारियों की सहायता से शीघ्र प्रकाशित हो सका है। उनके सहयोग के बिना इसके प्रकाशन में और विलम्ब हो सकता था। आशा है, सुहृद पाठक इसका समान रूप मे स्वागत करेंगे।

करमटोली, राँची
२६ जनवरी, १९८२

—बालमुकुन्द वीरोत्तम

प्रकाशकीय
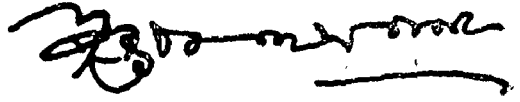
प्रस्तुत ग्रंथ मध्यकालीन यूरोप का इतिहास डॉ० बालमुकुन्द वीरोत्तम की मौलिक कृति है। इसका पुनरीक्षण राँची-विश्वविद्यालय के ही इतिहास-विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर डॉ० फणीन्द्रनाथ ओझा ने किया है।

विश्व का इतिहास वास्तव में मध्य काल तक केवल एशिया तथा यूरोप का ही इतिहास है और इनमें भी एक महाद्वीप की राजनीतिक, धार्मिक सामंती प्रवृति का प्रभाव, प्रतिबिंब दूसरे पर पड़ा है। दोनों के संकट भी एक प्रकार के हैं। सीथियन, मंगोल, तुर्क, तातार और हूण आदि बाहरी जातियों के बार-बार के आक्रमण से भारत का हिंदू साम्राज्य भी जर्जर हुआ और यूरोप का रोमन साम्राज्य भी। भारतीय संस्कृति के इतिहास की भाँति यूरोप में भी चर्च के इतिहास में मूर्त्तिपूजकों तथा मूर्त्तिभंजकों के संघर्ष का बड़ा व्यापक प्रभाव है। यूरोप ने अंकगणित, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में अरबों के माध्यम से भारत से बहुत प्रकाश पाया है। ईसाई मठवाद तो यूरोप में भारतीय बौद्ध मठवाद का ही रूपांतर था जो मध्य एशिया से होता हुआ वहाँ पहुँचा था। इस प्रकार, मध्यकालीन यूरोप का इतिहास विश्व इतिहास की जानकारी के साथ एशिया के—विशेषतः भारत के—इतिहास तथा परस्पर साम्य-वैषम्य की जानकारी के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। यूरोप के व्यापार ने भारत की समृद्धि तो बढ़ाई ही, भारत को विश्वविदित भी कराया। धर्म-सुधार-आंदोलन भारत की ही तरह तमाम एशिया तथा यूरोप में हुए हैं।

अठारह अध्यायों में विद्वान् लेखक ने संक्षेप में, यूरोप की राजनीतिक, धार्मिक औद्योगिक, नागरिक, सांस्कृतिक—सभी पक्षों का चित्रण-विश्लेषण किया है। लेखक की अपनी दृष्टि, अपनी व्याख्या, के कारण यह ग्रंथ विश्वविद्यालयों में इतिहास-विषयक छात्रों के लिए तो उपयोगी है ही, साथ ही साधारण पाठकों के लिए भी पठनीय हो गया है।

आशा है, इसका द्वितीय संस्करण भी विश्वविद्यालयों में इतिहास के हिंदीप्रेमी छात्रों से प्रथम संस्करण की ही प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा, जिससे हिंदी का प्रचार और श्रीवृद्धि होगी।

इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में जिन लोगों से प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता मिली है, अकादमी उनके प्रति अपना आभार मानती है।

पटना,
दिसम्बर, १९८१

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

विषय-सूची

अध्याय १

रोमन साम्राज्य का पतन

प्राचीन विश्व के इतिहास में ७५३ ई० पू० के लगभग रोम नगर की स्थापना एक युगान्तकारी घटना थी। भूमध्यसागर में गिरनेवाली टाइबर नदी के मुहाने के बहुत निकट स्थित इस नगर का प्रारम्भिक महत्त्व प्रधानतः व्यावसायिक था, परन्तु धीरे-धीरे रोम का आधिपत्य दूर-दूर तक फैल गया। दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक सिसली, कार्थेज, स्पेन, और यूनान आदि पर रोम ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। साम्राज्य विस्तार की यह प्रक्रिया अगले तीन सौ वर्षों तक चलती रही। पहली शताब्दी ई० पू० में जूलियस सीजर ने गॉल अर्थात् वर्त्तमान फ्रांस को जीत लिया और वह ब्रिटेन तक पहुँच गया। ऑगस्टस महान के शासन-काल से सम्राट् मार्कस आवरेलियस की मृत्यु (१८० ई०) तक का समय रोमन साम्राज्य के लिए शान्ति, समृद्धि एवं विस्तार का युग था। रोमन साम्राज्य यूरोप के अधिकतर भाग, एशिया माइनर और अफ्रिका के उत्तरी सामुद्रिक तट तक फैल गया। चौथी शताब्दी के प्रथम भाग में प्रसिद्ध रोमन सम्राट् कन्स्टनटाइन (३०६-३३१ ई०) ने दो महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जिनसे यूरोप के इतिहास में मध्य-युग का आरम्भ सम्भव हुआ। सर्वप्रथम ३१३ ई० में मिलान की घोषणा द्वारा सम्राट् ने ईसाईयों के प्रति सहिष्णु नीति को अपनाने की इच्छा प्रकट की। उस समय तक ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य में अच्छी तरह फैल गया था और सम्राट् ने देखा कि साम्राज्य में शान्ति और सुख के लिए उसकी स्वीकृति आवश्यक है। धीरे-धीरे अन्य सम्प्रदाय भी इसमें मिलने लगे और ईसाई धर्म राज्य-धर्म वन गया। कन्स्टनटाइन का दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्णय था ३३० ई० में कालासागर के तट पर स्थित बैजन्तियम में साम्राज्य की दूसरी राजधानी स्थापित करना। यह नवीन राजधानी सम्राट् कन्स्टनटाइन के नाम पर कान्सटेण्टीनोपुल के नाम से विख्यात हुई। कान्स्टेण्टीनोपुल की स्थापना से रोमन साम्राज्य के पश्चिमी और पूर्वी भागोंके पृथक्करण की प्रक्रिया और भी तीव्र हो गई। कान्स्टेण्टीनोपुल में स्थित सम्राट् के लिए साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर नियंत्रण रख सकना कठिन था। अतः कान्स्टेण्टीनोपुल की समृद्धि और सुरक्षा का अर्थ था पश्चिमी रोमन साम्राज्य का शक्तिहीन होना। दूसरी ओर, इसका परिणाम हुआ पूर्वी साम्राज्य का अगले ग्यारह सौ वर्षों तक कायम रहना। पाँचवीं शताब्दी (४७६ ई०) में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया, परन्तु

पूर्वी साम्राज्य जो बैजन्टाइन साम्राज्य भी कहा जाता था, अगले प्रायः एक हजार वर्षों तक बना रहा जब तक कि १४५३ ई० में कान्सटेण्टीनोपुल पर तुर्कों का अधिकार न हो गया।

सम्राट् कन्स्टनटाइन के बाद महान् सम्राट् थियोडोसियस (३७९-३९५ ई०) ने जहाँ तक सम्भव था, साम्राज्य की रक्षा की और शासन को सुदृढ़ रखा; परन्तु उसके बाद रोमन साम्राज्य के पतन के चिन्ह पूर्णतया दृष्टिगोचर होने लगे। आन्तरिक दुर्बलता तो उत्पन्न हो ही गई थी, साथ ही, बाद के दुर्बल शासकों एवं साम्राज्य-विभाजन-क्रिया द्वारा रोमन साम्राज्य की दशा दिनोंदिन बिगड़ती गई। विशाल रोमन साम्राज्य में दासों की दयनीय दशा एवं अधिकारहीन जीवन को देखकर हम उसके पतन एवं विनाश के कारणों का कुछ अनुमान कर सकते हैं। साम्राज्य की बड़ी-बड़ी सुन्दर सड़कें, भव्य भवनों के भग्नावशेष, कानून एवं शक्ति की परम्परा तथा अन्य आश्चर्यजनक वस्तुएँ, जिनकी प्रशंसा इतिहासकार आज तक करते हैं, इस कथन की सत्यता को नहीं छिपा सकतीं कि, "इस विशाल साम्राज्य का सम्पूर्ण बाह्य श्रृंगार जनता की पददलित इच्छाशक्ति एवं मानसिक शक्ति तथा नष्ट की हुई कामनाओं के अश्रुओं से निर्मित था।" अतः रोमन साम्राज्य की आन्तरिक दुर्बलता अशान्ति एवं अराजकता के युग में पूर्ण रूप से प्रकट होने लगी। साम्राज्य बहुत ही विशाल हो गया था और उसका उचित प्रबन्ध होना कठिन था। अतः, उनके विभाजन होते गये। सेना भी सुव्यवस्थित न रही और अधिक अर्थ की आवश्यकता होने के कारण प्रजा पर करों का बोझ बढ़ता गया। इन सबसे अशान्ति दिनोंदिन बढ़ती गई। ईसाई धर्म के प्रचार से भी रोमन साम्राज्य को गहरा धक्का लगा। ईसाई रोमन सम्राटों के देवत्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। साम्राज्य की ओर से इस धर्म के अनुयायियों को दबाने के प्रयत्न होने लगे। इसके बावजूद ईसाई धर्म फैलता ही गया और बाध्य होकर सम्राट् कन्स्टनटाइन को ईसाइयों के प्रति सहिष्णु नीति अपनानी पड़ी। रोम के पतन का सबसे बड़ा कारण था—बर्बर जातियों का आक्रमण। पतन-काल में साम्राज्य की आन्तरिक दुर्बलता एवं अशान्ति से प्रोत्साहित होकर विदेशी बर्बर जातियों के अनेक विनाशकारी आक्रमण हुए, जिन्होंने साम्राज्य का अन्त ही कर दिया। इन आक्रमणों से साम्राज्य की आंतरिक अराजकता और भी बढ़ गई और ४७६ ई० तक पश्चिमी रोमन साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

रोमन साम्राज्य के पतन-काल में जिन अर्द्धसभ्य जातियों ने पश्चिमी यूरोप पर आक्रमण किये उनमें हूण, गाँथ, मंडाल एवं फ्रैंक आदि प्रमुख थे। इन जातियों से

रोमवासी पूर्व-परिचित थे और वस्तुत: चौथी शताब्दी तक गॉथ एवं मंडाल जाति के लोग रोमन साम्राज्य में बहुत बड़ी संख्या में प्रविष्ट हो चुके थे। जर्मन एवं अन्य बर्बर जातियों के लोग बहुत बड़ी संख्या में रोमन सेना में सम्मिलित हो गये थे और रोमवासियों के सभी कानूनी अधिकार उन्हें प्राप्त हो गये थे। सैनिक सेवा करते हुए बहुत-से बर्बर साम्राज्य के उच्च प्रशासकीय पदों पर आसीन हो गये थे। रोमन साम्राज्य के प्रति उनकी निष्ठा में किसी को सन्देह भी नहीं होता था। साम्राज्य के अनेक सम्भ्रान्त परिवारों में उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गये थे। रोमन साम्राज्य के अन्दर रहनेवाली और रोमन सेना में शामिल बर्बर जातियों एवं साम्राज्य की सीमा के बाहर रहनेवाले बर्बर लोगों में केवल इतना ही अन्तर था कि प्रथम श्रेणी के लोग रोमन सम्राटों के वेतनभोगी, अधिक अनुशासित और सभ्य थे, जब कि दूसरी श्रेणी के लोग अनुशासनहीन, अधिक असभ्य और अत्यधिक विपन्नावस्था में थे। रोमन साम्राज्य की सीमा से बाहर अफ्रिका में मूर, पश्चिमी एशिया में अरब और ईरानी, मध्य एशिया के पठार और कैस्पियन स्टेपी में उराल-अलटेइक खानाबदोश और उत्तर-पश्चिमी में जर्मन तथा सेल्ट जाति के लोग रहते थे। उराल-अलटेइक वर्ग के अन्तर्गत सीथियन, मैगयर, मंगोल, तुर्क, तातार अभार, बुलगार और हूण जाति के लोग थे। पांचवीं शताब्दी में इन्हीं लोगों के आक्रमण से पश्चिम रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। डायोक्लेशियन के शासन-काल में मूर, सीरियन, अरब और जर्मन जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में रोमन सेना में शामिल हो गये। इससे रोमन साम्राज्य में प्रवेश करने वाले मूरों, अरबों और जर्मनों की बाढ़-सी आ गई। कभी-कभी तो पूरी-की-पूरी जातियां जैसे भिसिगॉथ और मंडाल आदि रोमन साम्राज्य में मित्र-जातियों (faederati) के रूप में सम्मिलित कर ली गयी और उन्हें साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा का भार दिया गया। इस व्यवस्था का साम्राज्य की सुरक्षा पर घातक प्रभाव पड़ा। कुछ उच्चस्थ रोमन अधिकारियों के दुर्व्यवहार के कारण गॉथ जाति के लोग रोमन साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े हुए और ३७८ ई० में एड्रियानोपुल की लड़ाई में वालेन्स (Balens) की हत्या हो गई। सम्राट् थियोडोसियस ने शान्ति की स्थापना की और उसके शासन-काल में गॉथ निष्ठापूर्वक साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा करते रहे। थियोडोसियस के शासन-काल में ही स्टिलिको नामक मंडाल सैनिक अत्यन्त शक्तिशाली हो गया और जब थियोडोसियस का अयोग्य पुत्र होनोरियस ३९५ ई० में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सम्राट् बना तब स्टिलिको को पेट्रीसियस की उपाधि दी गई और उसे रोमन सेना का सेनापति नियुक्त किया गया। बाद में उसकी कन्या का होनोरियस से विवाह हुआ और वह पश्चिमी साम्राज्य का सर्वेसर्वा हो गया। भिसीगॉथ

नेता एलेरिक (Alaiic) को थियोडोसियस ने मित्र मानकर डैन्यूब नदी से लगनेवाले सीमा की रक्षा का भार सौंप दिया था। शीघ्र ही स्टिलिको और एलेरिक एक-दूसरे के घोर विरोधी हो गये। होनोरियस ने स्टिलिको की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर उसकी हत्या करा दी। दूसरी ओर एलेरिक ने ४१० ई० में रोम पर आक्रमण कर तीन दिनों तक उसे लूटा। इसके कुछ समय बाद ही एलेरिक की मृत्यु हो गई। होनोरियस ने ब्रिटेन से रोमन सेना को वापस बुला लिया और उस देश पर आंग्ल-सैक्सनों ने कब्ज़ा कर लिया। सम्पूर्ण पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर बर्बर जातियों के आक्रमण होने लगे। उत्तरी गॉल पर फ्रैंको और बरगण्डियनों ने अधिकार कर लिया। भंडाल और उनके सहायक स्पेन और ऐक्विटेन में प्रविष्ट हो गये, परन्तु भिसिगॉथों ने उन्हें स्पेन से खदेड़ दिया। भंडालों ने अफ्रिका में शरण ली जहाँ उनके राजा गैसेरिक ने ट्रिपोली से पश्चिम के सम्पूर्ण इलाके पर अधिकार कर एक पृथक् राज्य की स्थापना की। हूण आक्रमणकारियों ने कैस्पियन से राइन के बीच का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अपने प्रसिद्ध नेता एट्टिला के सेनापतित्व में उन्होंने पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया। सम्राट् वेलेनासिनियन के योग्य सेनापति एटियस ने ४५१ ई० में भिसिगॉथों की सहायता से उन्हें कटालोनिया की लड़ाई में पराजित किया। सन ४५३ ई० में एट्टिला की मृत्यु हो गई और रोमन साम्राज्य के लिए हूणों द्वारा उत्पन्न संकट समाप्त हो गया।

हूणों द्वारा उत्पन्न संकट के समाप्त हो जाने पर भी रोमन साम्राज्य की दशा दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। सम्राट् वेलेनासिनियन तृतीय ने एटियस की हत्या करा दी और एटियस के अनुचरों ने स्वयं सम्राट् की ४५५ ई० में हत्या कर दी। अवसर से लाभ उठा कर भंडाल राजा गैसेरिक ने रोम पर आक्रमण कर दिया। पश्चिमी साम्राज्य का राजनीतिक संगठन अब बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया और सैनिक नेता एवं उच्च पदाधिकारी एक के बाद एक कठपुतले सम्राटों को गद्दी पर बैठाते और उतारते गये। अन्त में, ४७६ ई० में ओडोआसेर ने अंतिम कठपुतले सम्राट् रोमुलस ऑगस्टुलस को गद्दी से उतार कर स्वयं पैट्रिसियस का विरुद धारण किया। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में अभी भी सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य का एक ही सम्राट् था—पूर्वी साम्राज्य का अधिपति जेनो—परन्तु, पश्चिमी रोमन साम्राज्य का लोप हो गया था।

ऑस्ट्रोगॉथ राज्य :—रोमुलस ऑगस्टुलस के गद्दी से उतारे जाने के बाद ओडोआसेर के तत्त्वावधान में इटली में भंडाल शासन का आरम्भ हुआ। ओडोआसेर

सत्रह वर्षों तक शासक बना रहा। उसने इटली के धनिक वर्ग की भूमि छीनकर अपने अनुयायियों में बाँट दी। उसके शासन-काल में ही डैन्यूबियन क्षेत्र के निवासी ऑस्ट्रोगॉथों ने इटली पर आक्रमण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ऑस्ट्रोगॉथ नेता थियोडोरिक ने पूर्वी सम्राट् जेनो की सहमति से इटली पर आक्रमण किया था। वह अपने दो लाख अनुयायियों के साथ इटली की ओर बढ़ा। सन् ४८९ ई० में आल्प्स पर्वत के दर्रों को पार कर गॉथ इटली में प्रविष्ट हुए। ओडोआसेर और उसके अनुयायी इटली की रक्षा के लिए तीन वर्षों तक आक्रमणकारियों से लोहा लेते रहे। इटली के निवासियों को घोर संकटों का सामना करना पड़ा। सन् ४९३ ई० में ओडोआसेर बन्दी बना लिया गया और थियोडोरिक ने उसकी हत्या करा दी। थियोडोरिक सम्पूर्ण इटली का स्वामी बन बैठा और देश की सर्वश्रेष्ठ भूमि पर उसके अनुयायियों ने अधिकार कर लिया। थियोडोरिक ने ४९३ ई० से ५२६ ई० तक शासन किया। उसका शासन-काल इटली में शान्ति, सुरक्षा और समृद्धि का काल था। यदि यह कहा जाए कि थियोडोरिक का शासन इटली में सभी बर्बर शासनों में सर्वोत्कृष्ट था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उसके समय में न केवल रोमन साम्राज्य की प्राचीन शासन-प्रणाली बनी रही, बल्कि वह स्वयं रोमन सम्राटों की तरह ही आचरण करता रहा। उसने गॉथ विजेताओं और रोमन प्रजा में सद्-भावना स्थापित करने की चेष्टा की। स्वयं ईसाई होने के नाते उसने रोमन कैथोलिकों की सहानुभूति प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। उसने अपने राज्य को नैतिक एवं कानूनी मान्यता प्रदान करने के लिए पूर्वी सम्राट् जेनो से बातचीत शुरू की, लेकिन ४९१ ई० में जेनो की मृत्यु हो जाने के कारण इस वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। सन् ४९७ ई० में सम्राट् एनसटेसियस ने थियोडोरिक के राज्य को अपनी मान्यता दे दी। इससे थियोडोरिक को रोमन प्रजा और अधिकारी वर्ग का सहयोग प्राप्त करने में सुविधा हुई। थियोडोरिक का तीन दशकों का शासन-काल इटली के लिए शान्ति और समृद्धि का युग सिद्ध हुआ। व्यापार में वृद्धि हुई, कृषि की उन्नति हुई और अब इटली खाद्यान्नों के आयात की जगह निर्यात करने लगा। इटली के प्रमुख नगरों का जीर्णोद्धार किया गया और उन्हें नवीन कला-कृतियों से सजाया गया। सड़कों की मरम्मत की गई जिससे आवागमन और व्यापार की वृद्धि में सुविधा हुई। थियोडोरिक में असाधारण प्रशासकीय क्षमता थी और अपनी राजधानी रेवेना में बैठे-बैठे वह उच्चस्थ अधिकारियों से लेकर सामान्य लिपिकों तक के कार्यों पर कड़ी निगरानी रखता था। उसने रोमन कानूनों को फिर से लागू किया और इस उद्देश्य से अपना इतिहास-प्रसिद्ध आज्ञापत्र प्रख्यापित किया। यह आज्ञापत्र मुख्यतः थियोडोसियन संहिता पर आधारित था। थियोडोरिक की

प्रजा मुख्यत: ऑस्ट्रोगॉथ और रोमन थी, लेकिन वह दोनों वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय था। ऑस्ट्रोगॉथों की अपनी कचहरियाँ थीं और अपने रस्मो-रिवाज थे, लेकिन जिन मुकदमों में वादी-प्रतिवादी गॉथ और रोमन होते थे उनका फैसला गॉथ न्यायाधीश रोमन परामर्शकों की सहायता से करता था। गॉथों को सैनिक सेवा के लिए बाध्य किया जा सकता था, पर रोमनों के साथ ऐसी बात नहीं थी। इटली की एक तिहाई भूमि पर गॉथों का अधिकार था, लेकिन उन्हें या तो युद्ध में मारे गये ओडोभकार के सैनिकों की भूमि मिली थी या साम्राजिक भू-सम्पत्ति से मिली थी। इससे बड़े-बड़े रोमन भू-स्वामियों पर प्रभाव नहीं पड़ा था। भूमि के मामलों में गॉथ भी रोमन कानूनों के अन्तर्गत थे। फौजदारी मामलों में भी यही बात थी। नागरिक प्रशासन रोमन व्यवस्था पर आधारित था। रोमन–साम्राज्य के उच्च प्रशासनिक पद कायम रहे और इन पदों पर अधिकांशत: विशिष्ट रोमन नागरिक ही आसीन थे। रोमन सिनेट के साथ भी थियोडोरिक के सम्बन्ध अच्छे थे। धार्मिक सहिष्णुता की नीति द्वारा उसने गॉथों और रोमनों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया। यहूदियों को भी धार्मिक सुरक्षा प्रदान की गई थी और उन पर अत्याचार करनेवालों को कठोर दंड दिया जाता था।

थियोडोरिक की वैदेशिक नीति नव स्थापित जर्मन-राज्यों के सामूहिक स्वार्थ पर आधारित थी। वह सभी जर्मन-राज्यों में मेल-जोल बढ़ाना चाहता था जिससे कि रोमन साम्राज्य की पुनर्स्थापना के प्रयासों को विफल किया जा सके और विभिन्न राज्यों के पारस्परिक द्वेष को कम किया जा सके। इस उद्देश्य से उसने कई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। सन् ५०० ई० में उसकी विधवा बहन अमलाफ्रिद का विवाह थ्रेशमंड नामक भंडाल से हुआ। उसकी एक भ्रातृकन्या थुरिंगियन हरमनफ्रिद से ब्याही गई। उसकी लड़कियों में एक का विवाह भिसिगॉथ एलेरिक द्वितीय से, दूसरी का बर्गंडियन सिजिस्मंड से और तीसरी का अमल थ्येरिक से हुआ। स्वयं थियोडोरिक की दूसरी पत्नी ऑडोफ्लेडा फ्रैंक क्लोविश की बहन थी, यद्यपि इस विवाह से फ्रैंकों के साथ उसके राजनीतिक सम्बन्ध में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ।

थियोडोरिक के राज्य का पतन उस समय आरम्भ हो गया जब ५१८ ई० में जस्टिन पूर्वी साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। भंडाल हिल्डेरि खुलेआम ऑस्ट्रोगॉथ विरोधी बन गया और ५२३ ई० में पूर्वी सम्राट् से मिल गया। सम्राट् जस्टिन ने अपने साम्राज्य में एरियनों को सताना आरम्भ कर दिया और रोमन सिनेट के कुछ सदस्य गुप्त रूप से जस्टिन से पत्राचार करने लगे। थियोडोरिक विरोधियों के दमन

की तैयारी करने लगा, लेकिन इसी बीच अगस्त, ५२६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका अल्पवयस्क पुत्र एथेलेरिक अगले आठ वर्षो तक शासन करता रहा। उसके बाद ऑस्ट्रोगॉथ राज्य का पतन आरम्भ हुआ और ५५३ ई० में पूर्वी सम्राट् जस्टिनियन के सेनापतियों ने इटली पर अधिकार कर लिया।

भिसिगॉथ-राज्य :—भिसिगॉथ राजा यूरिक (४६६-४८४ ई०) के समय गॉल और स्पेन में भिसिगॉथ-राज्य का दृढ़ीकरण एवं संस्थापन हुआ। सम्राट् नेपोस ने ४७५ ई० की सन्धि द्वारा रोम तथा भूमध्यसागर को उसके राज्य की सीमा के रूप में मान लिया एक अन्य सन्धि के द्वारा ओडोभकार ने प्रॉवेन्स का क्षेत्र उसे दे दिया। सन् ४६९ ई० में उसने स्पेन पर आक्रमण किया और ४८४ ई० में उसकी मृत्यु तक उसका राज्य पिरेनीज पर्वतमाला से जिब्राल्टर की खाड़ी तक फैल गया।

यूरिक का उद्देश्य था पश्चिमी यूरोप में गॉथ-साम्राज्य की स्थापना। उसे लैटिन का अल्प ज्ञान था और वह कैथोलिक मत एवं रोमन साम्राज्य का समान रूप से विरोधी था। उसकी इस नीति का उसके राज्य के स्थायित्व पर घातक प्रभाव पड़ा। जर्मन राजाओं में सर्वप्रथम उसने भिसिगॉथ-रिवाजों एवं रोमन परम्परा पर आधारित एक कानून-संहिता को लागू किया। अपनी रोमन एवं गॉथ-प्रजा का पार्थक्य बनाये रखने के लिए उसने दोनो में वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया और दोनों अपने-अपने परम्परागत कानूनों द्वारा शासित होते रहे। उसके राजत्व-काल में रोमनों पर करों का बोझ बढ़ता गया और उनकी समृद्धि घटती गयी। पारस्परिक द्वेष, उत्पीड़न, हिंसा एवं असन्तोष के कारण रोमनों एवं गॉथों का विभेद बढ़ता गया। अतः राज्य की विशालता के बावजूद उसकी आंतरिक दुर्बलता यूरिक की मृत्यु के बाद तत्काल प्रकट होने लगी। यूरिक का उत्तराधिकारी एलेरिक द्वितीय (४८५-५०७ ई०) फ्रैंक-विजेता क्लोविस का सामना करने में असमर्थ रहा और ५०७ ई० में उसके हाथों मारा गया। थियोडोरिक महान् के प्रयास से अब केवल स्पेन भिसिगॉथों के अधिकार में रह गया। सन् ५३१ ई० में इस वंश के अन्तिम शासक अमलरिक की हत्या हो गई, लेकिन थियोडोरिक के एक पूर्व राजप्रतिनिधि थ्यूडिस ने स्थिति को सँभाल लिया। वह अगले सत्रह वर्षों तक फ्रैंक-आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करता रहा। उसकी मृत्यु के बाद स्पेनिश सामन्तों के विद्रोह होने लगे और उन्होंने ५५४ ई० में राजा एजिला को परास्त किया। एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी भिसिगॉथ नेता अथनागिल पूर्व सम्राट जस्टिनियन की सहायता से टोलेडो को राजधानी बनाकर राजा बन बैठा। वह ५५४ ई० से ५६७ ई० तक शासन करता रहा। उनका उत्तराधिकारी लियोमिगिल (५६७-५८६ ई०) भिसिगॉथ स्पेन का सर्वश्रेष्ठ शासक सिद्ध हुआ। उसने कॉर्डोवा को पूर्वी सम्राट् से छीन लिया।

उसके उत्तराधिकारी रिकारेड प्रथम ने कैथोलिक मत को स्वीकार कर लिया और जीवन पर्यन्त अपने राज्य को सुदृढ़ करने में लगा रहा। सन् ६१२ ई० में सिसबुट राजगद्दी पर बैठा। यहूदियों को बलपूर्वक ईसाई बनाने की उसकी नीति के कारण हजारों की संख्या में यहूदी स्पेन से भागकर गॉल चले गए। उसके उत्तराधिकारियों में स्वीनथिला ने ६२९ ई० में अटलांटिक सागर के तट पर स्थित शेष वैजन्ति प्रदेशों को जीत लिया। वम्बा के समय से स्पेन के भिसिगॉथ राज्य का पतन आरम्भ हुआ। एगिका के समय (६८६-७०१ ई०) से व्यापक विद्रोह और बाह्य आक्रमण होने लगे। एगिका के पौत्र एचिला को अंडाभुसिया के विद्रोही ड्यूक रोडेरिक ने ७१० ई० में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। एचिला और उसके अनुयायियों ने मुसलमानों से सहायता माँगी। परिणामस्वरुप तारीक ने बारह हजार सैनिकों के साथ स्पेन पर आक्रमण किया। १९ जुलाई, ७११ ई० के दिन रोडेरिक जन्दा झील के समीप मुसलमानों द्वारा पराजित हुआ। सन् ७२० ई० तक सेप्टिमेनिया तक का स्पेनिश प्रदेश मुसलमानों के अधिकार में आ गया।

बरगंडीयन राज्य :—बरगंडीयन गॉथ प्रजाति के थे। पाँचवीं शताब्दी के मध्य में रोमनों की अनुमति से वे सवाय प्रदेश में बस गये थे। कालान्तर में विजय और कूटनीति द्वारा उन्होंने आधुनिक स्विट्जरलैंड और फ्रांस के एक बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। फ्रांस का एक भाग, बरगंडी, आज भी उनके नाम पर विख्यात है। बरगंडीयनों को फ्रैंकों का सामना करना पड़ा और वे फ्रैंक राजा क्लोविश द्वारा पराजित हुए। सन् ५३४ ई० में अन्तिम बरगंडीयन शासक गांडमार फ्रैंकों द्वारा पराजित हुआ और बरगंडीयन राज्य का अन्त हो गया।

भंडाल राज्य :—चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पेनोनिया से निकल कर भंडाल जाति के लोग गॉल, स्पेन और उत्तरी अफ्रिका में फैल गए। अफ्रिका स्थित उनके राज्य की राजधानी कार्थेज में थी। जर्मन जातियों में भंडाल सर्वाधिक निर्मम, हिंसक और अत्याचारी थे। अतः, आज भी उनका नाम विध्वंस, विलुण्ठन और अपहरण का पर्यायवाची है। उनका आतंक सम्पूर्ण भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्र में फैला हुआ था, यहाँ तक कि प्राचीरमय और मोर्चाबन्दी से युक्त नगर भी भंडाल-आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में अक्षम थे। उत्तरी अफ्रिका के अतिरिक्त भंडालों ने सारडिनिया, कॉर्सिका और बालेरिक टापुओं पर भी अधिकार कर लिया था। अफ्रीकी कैथोलिकों पर भंडालों ने अमानुषिक अत्याचार किए। अतः पूर्वी सम्राट् जस्टिनियन ने एक विशाल सेना भेजकर भंडालों को उत्तरी अफ्रिका से मार भगाया। अब बहुत बड़ी संख्या में भंडाल पूर्वी साम्राज्य की सेना में शामिल हो गये और शेष

स्थानीय लोगों में घुल-मिल गए। कुछ पीढ़ियों के बाद उनका कोई पृथक अस्तित्व नहीं रह गया।

लोम्बार्ड राज्य :—मध्य डेन्यूबियन क्षेत्र से निकल कर बर्बर लोम्बार्ड जाति ने एप्रिल, ५६८ ई० में इटली में प्रवेश किया। लगभग उसी समय सम्राट् जस्टिन द्वितीय ने वृद्ध नार्सस को इटली से वापस बुला लिया जिससे लोम्बार्ड आक्रमण-कारियों का काम और भी आसान हो गया। सिविडेल, वेरोना, मिलान और पेविया पर उनका अधिकार हो गया और मिलान का आर्कबिशप जिनेवा भाग गया। लोम्बार्ड नेता अलबोइन पश्चिमीय आल्प्स तक पहुँच गया लेकिन रोमनों ने उसे पो नदी को पार नहीं करने दिया। लोम्बार्डों से त्रस्त बहुत-से लोग भागकर भेनेसिया के दलदलों और समुद्रताल में बस गए और इस तरह भविष्य के वेनिस-राज्य का आरम्भ हुआ। सन् ५७२ ई० में अपनी ही पत्नी के षड्यंत्र से अलबो इन हत्या हो गई। अगले दस वर्षों तक ३५ लोम्बार्ड ड्यूकों का दल इटली के विभिन्न भागों को जीतता रहा। वेनिभेन्टो और स्पोलेटो के ड्यूकों ने दक्षिण इटली में एक बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया। उत्तरी इटली और उनके प्रदेशों के मध्य रेवेना से रोम तक अविजित क्षेत्र था। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी इटली के ऐतिहासिक विभाजन का आरम्भ हुआ। सन् ५८४ ई० में लोम्बार्डों ने सेल्फ के पुत्र औथारी को अपना राजा चुना। उसके उत्तराधिकारी एजिलुल्फ ने नवोदित लोम्बार्ड राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। उसने विरोधी ड्यूकों का दमन किया, अमीरों से मित्रता कर ली और इटली स्थित बैजन्ति प्रदेशों को जीतना आरम्भ किया। पदुआ, पारमा और मान्टुआ पर उसका शीघ्र ही अधिकार हो गया। इस तरह ६०५ ई० तक लोम्बार्ड राज्य निश्चित रूप से स्थापित हो गया। लोम्बार्ड-विजेता भंडालों से कुछ ही कम अत्याचारी थे। रोमन किसान बहुत बड़ी संख्या में कत्ल किये गये, गुलाम बना लिये गये या इटली से निकाल बाहर किये गये। अन्य सभी जर्मन विजेताओं की तरह लोम्बार्डों ने भी सर्वश्रेष्ठ भूमि को हस्तगत कर लिया। लेकिन धीरे-धीरे लोम्बार्डों पर भी रोमन सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा। उन्होंने रोमन बहुसंख्यकों की भाषा को अपना लिया, यद्यपि उनकी अपनी भाषा के अनेक शब्द भी रोमन शब्दावली में शामिल हो गये। ईसाई धर्म एवं इटली की सभ्यता का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और कुछ लोम्बार्ड शासकों ने कला और साहित्य की अभिवृद्धि में भी योगदान किया। लेकिन इस रोमन-लोम्बार्ड-संरसन का लोम्बार्ड राज्य पर घातक प्रभाव पड़ा। सर्वप्रथम, लोम्बार्डों की युद्धप्रियता का शनैः-शनैः ह्रास होता गया। चर्च और अन्य लोगों को निरन्तर भूमि देते रहने की राजाओं की नीति के कारण राज्य की आमदनी घटती गई। विभिन्न ड्यूकों की अतिशय स्थानीयता लोम्बार्ड

राज्य के लिए विघटनकारी सिद्ध हुई। विभिन्न पोपों के विरोध के कारण लोम्बार्ड-राज्य को नैतिक मान्यता नहीं मिल सकी। इस तरह लोम्बार्ड राज्य का ह्रास होता गया और ७७४ ई० में शार्लमन ने इसे सदा के लिए समाप्त कर दिया।

इंग्लैंड के ऐंग्लो-सैक्सन राज्य :—सन् ४१० ई० में सम्राट् होनोरियस ने इटली पर बर्बर आक्रमणों का सामना करने के लिए ब्रिटेन स्थित रोमन सैन्यवाहिनी को वापस बुला लिया। ब्रिटेन की असुरक्षा की स्थिति का लाभ उठाकर उत्तर से पिक्ट तथा स्कॉट और समुद्र की ओर से जर्मन आंग्ल-सैक्सन जाति ने लगभग एक ही साथ आक्रमण कर दिया। ब्रिटेनों ने रोम से सहायता की याचना की। परन्तु, उस समय रोम उनकी सहायता करने की स्थिति में नहीं था। अतः बिना किसी रोक-टोक के जूट, आंग्ल और सैक्सन ब्रिटेन में प्रवेश करने लगे और देश के विभिन्न भागों में अपने राज्य स्थापित करने लगे। इस तरह छठी शताब्दी के अन्त तक आक्रमणकारियों के आठ-दस अलग-अलग राज्य स्थापित हो गये। इन राज्यों में मर्सिया, नॉरदम्ब्रिया, वेसेक्स और इसेक्स के राज्य प्रमुख थे। ये सभी राज्य हमेशा आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे। अन्त में, वेसेक्स के शासक एगबर्ट ने ८०२ से ८३९ ई० के मध्य इन सभी राज्यों को जीतकर संयुक्त राज्य की स्थापना की। इस तरह एगबर्ट इंग्लैंड का सर्वप्रथम राजा था।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि रोमन साम्राज्य के जिस किसी भाग पर जर्मन आक्रमणकारियों ने अधिकार किया वहाँ उनकी संख्या प्रारम्भ में अल्प ही थी। उनकी शक्ति उनके सैन्य-बल पर आधारित थी। जहां कहीं भी उनकी सैनिक-शक्ति दुर्बल पड़ गई, बर्बर विजेता एक पृथक् वर्ग के रूप में लुप्त हो गये और बहुसंख्यक विजित लोगों में उनका विलयन हो गया।

❀

अध्याय २

मेरोभींगयन वंश

481 - 751 AD

पश्चिमी रोमन-साम्राज्य के पतन के बाद यूरोप के विभिन्न भू-भागों में जिन छोटे-छोटे वर्बर राज्यों की स्थापना हुई उनमें फ्रैंकों का राज्य शीघ्र ही सर्वाधिक शक्तिशाली हो गया। फ्रैंक जाति, जिसके नाम पर गॉल का नाम फ्रांस पड़ा, रोम के पतन से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व राइन नदी के पश्चिम में बस गयी थी। उस समय तक फ्रैंक विधर्मी ही थे और उन्होंने सभ्यता के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की थी। फ्रैंकों की दो शाखायें थीं—रिपुएरियन और सेलियन। इन दोनों में सेलियन अधिक शक्तिशाली थे। सेलियन शाखा का एक प्रमुख परिवार जो अपने को मेरोविग का वंशज कहता था धीरे-धीरे सेलियन शाखा का नेता बन गया। सेलियन योद्धाओं ने मेरोविग परिवार से एक के बाद एक कई राजा चुने। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सेलियन फ्रैंकों ने रोम के आधिपत्य को अस्वीकार कर अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। सेलियन राजा क्लोडियन ४३१ ई० में गॉल के रोमन शासक एइटियस द्वारा पराजित हुआ, परन्तु उसने अन्त में विजय हासिल की और सोम तक का प्रवेश अपने कब्जे में कर लिया। इन दिनों टूर्ने सेलियन फ्रैंकों की राजधानी थी। इसी क्लोडियन का उत्तराधिकारी मेरोवेक था जिसके नाम पर इस वंश का नाम मेरोमींगयन पड़ा।

मेरोवेक के एक पुत्र का नाम चिल्डेरिक था। उसका राज्य भी टूर्ने के आस-पास ही सीमित था, परन्तु वह रोम के उन शत्रुओं के साथ हमेशा युद्ध करता रहा जो गॉल को साम्राज्य से पृथक् कर देना चाहते थे। जब ४६३ ई० में भिसिगॉथों ने ल्वायर तक बढ़ने का प्रयास किया तो चिल्डेरिक ने उनका विरोध किया। कुछ समय बाद जब सैक्सनों ने एंजर्स नगर पर आक्रमण किया तो चिल्डेरिक ने उनके नेता ओडोभकार को मार भगाया। पराजित ओडोभकार चिल्डेरिक की ही तरह रोम का समर्थक बन गया। इस तरह चिल्डेरिक रोमन समर्थक के रूप में अन्य वर्बर आक्रमणकारियो से गॉल की रक्षा करता रहा। उसकी मृत्यु सम्भवतः ४८१ ई० में हुई और वह टूर्ने में दफनाया गया। इसकी कब्र का पता १६५३ ई० में चला। कब्र में प्राप्त अनेक वस्तुओं से मेरोभींगयन राजाओं के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का पता चलता है।

मेरोभींगयन राज्य को सुदृढ़ एवं व्यापक बनाने का श्रेय चिल्डेरिक के पुत्र क्लोविश को है। वह ४८१ ई० में पन्द्रह वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। उस समय मेरोभींगयन राज्य गॉल के एक छोटे भाग तक ही सीमित था। अन्य फ्रैंक कबीले गॉल के विभिन्न भागों पर शासन कर रहे थे। क्लोविश के गद्दी पर बैठने के समय गॉल में उसके राज्य को छोड़कर अन्य पाँच प्रायः स्वतन्त्र राज्य थे। ये राज्य रिपुएरियनों, भिसिगॉथों, बरगंडियनों, सियेग्रियस तथा आरमोरिका के थे। उत्तर-पश्चिम गॉल पर रोमन सामन्त सियेग्रियस का शासन था। यद्यपि वह रोम के अधीन था, उसे रोम से कोई सहायता नहीं मिलती थी। सियेग्रियस की प्रसिद्धि एक कुशल कानूनवेत्ता तथा निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में थी। अतः क्लोविश को इस बात का भी भय था कि कहीं सियेग्रियस गॉल में एक स्थायी रोमन राजवंश का संस्थापक न बन जाए। क्लोविश यह भी समझता था कि गॉल के अन्य राज्यों के विरूद्ध उसकी लड़ाइयों में सियेग्रियस उसका विरोधी भी सिद्ध हो सकता था। दूसरी ओर, सियेग्रियस से युद्ध की स्थिति में क्लोविश को अन्य फ्रैंक राज्यों से सहायता भी मिल सकती थी। अतः अकारण ही उसने सियेग्रियस पर हमला कर ४८६ ई० में उसे स्वाइसंस की लड़ाई में पूर्णतया पराजित कर दिया। इस विजय से मेरोभींगयन राज्य की सीमा ल्वायर नदी तक पहुँच गयी। अगले दस वर्षों तक क्लोविश अपनी शक्ति का संचय करता रहा। सन् ४९६ ई० में उसके विजय-अभियान पुनः शुरू हो गये और उसकी मृत्यु तक चलते रहे। उन दिनों मेन तथा डेन्यूब के बीच रहने वाले अलमेनियों से कोलोन के फ्रैंक राजा सिगबर्ट की लड़ाई चल रही थी। क्लोविश सिगबर्ट की ओर से युद्ध में शामिल हो गया और उसने अलमेनियों को जुलपिक की लड़ाई में पराजित किया। क्लोविश यह अच्छी तरह समझता था कि फ्रैंक जाति तथा राजतन्त्र को सुदृढ़ बनाने का एकमात्र उपाय यही था कि सम्पूर्ण फ्रैंक जाति को एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध कर दिया जाए। उसने देखा कि गॉल में रोमन शक्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी और उसकी जगह पर किसी न किसी द्वारा एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की सम्भावना थी। इस कार्य को स्वयं सम्पन्न करने का उसने निश्चय किया। सियेग्रियस को पराजित करने के कुछ वर्ष बाद उसने पेरिस पर कब्जा कर लिया। यह नगर उसका प्रिय निवास-स्थान बन गया। धीरे-धीरे उसने एक-एक कर विरोधी बर्बर राजाओं को परास्त किया और उसकी मृत्यु तक मेरोभींगयन राज्य प्रायः सम्पूर्ण गॉल में फैल गया।

राज्य-विस्तार के लिए क्लोविश पूर्णतया केवल सैनिक शक्ति पर ही निर्भर रहा हो, सो बात नहीं थी। सन् ४९६ ई० में ईसाई मत को स्वीकार कर उसने चर्च का

समर्थन प्राप्त कर लिया। उसका विवाह वरगंडियन राजा चिलपेरिक की कन्या क्लोटिल्डा से हुआ था। क्लोविश की ही तरह क्लोटिल्डा भी विलक्षण बुद्धिवाली थी। परन्तु वह अपने पति के विपरीत दयालु तथा दानी थी। वह कट्टर ईसाई थी और उसी के प्रभाव से क्लोविश ने इसाई धर्म को स्वीकार किया। शुरू में क्लोविश को कुछ हिचक अवश्य थी, परन्तु ईसाई मत को स्वीकार करने के राजनीतिक लाभ को भी वह भलीभाँति समझता था। उस समय तक गॉल में ईसाइयों की संख्या काफी बढ़ गयी थी और उनका पर्याप्त प्रभाव था। क्लोविश जानता था कि ईसाई मत को अंगीकार कर लेने से प्रत्येक विशप, पादरी तथा ईसाई स्त्री-पुरुष उसके समर्थक हो जाएँगे। कुछ इस कारण से और कुछ अपनी पत्नी के धर्म में सहज स्वाभाविक रुचि के कारण उसने अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर दिया। उस दिन से चर्च उसका समर्थक बन गया, यद्यपि धर्म-परिवर्तन के बावजूद क्लोविश के कुछ पुराने अन्धविश्वास ज्यों-के-त्यों बने रहे। उसके रक्त-पिपासु स्वभाव में भी परिवर्तन नहीं आया और फ्रैंकों के इतिहासकार टूर्स के विशप ग्रिगोरी ने लिखा है कि "राजा (क्लोविश) हमेशा किसी सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी की हत्या करने के लिए खोजता रहता था।" जो भी हो ईसाई मत को स्वीकार करने के राजनीतिक लाभ क्लोविश को तत्काल मिलने लगे। विभिन्न वर्बर राज्यों में रहनेवाली ईसाई जनता उसकी ओर आशापूर्ण दृष्टि से देखने लगी। एक वर्ष के भीतर ही, ४९७ ई० में सीन तथा ल्वायर के बीच रहनेवाले ओरमारिकन, जो तबतक विधर्मी फ्रैंकों का डटकर मुकाबला करते रहे थे, इस नवीन ईसाई राजा के समक्ष सहर्ष नतमस्तक हो गये। तीन वर्ष बाद, सन् ५०० ई० में उसने वरगंडियन राजा गुंडोवाल्ड को डिजोन की लड़ाई में परास्त किया। इस सफलता से वरगंड लगभग उसके अधिकार में आ गया।

भिसिगॉथ राजा अलेरिक से क्लोविश का युद्ध लगभग धर्म-युद्ध था। जैसे-जैसे वह भिसिगॉथ प्रदेश में आगे बढ़ता गया, ईसाई चर्च से उसे सहायता मिलती गयी। अलेरिक द्वारा अपने पदों से हटाये जादू के बावजूद ईसाई पादरी और विशप क्लोविश का खुलेआम समर्थन करते रहे। बाध्य होकर अलेरिक को पीछे हटना पड़ा। इस घटना के कुछ ही समय बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राट् अनेस्टेसियस ने क्लोविश को रोमन पेट्रिसियस तथा कौंसल के रूप में स्वीकार कर लिया। इन विरोधों का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं था, परन्तु पिपिन तथा शार्लमन-जैसे बाद के फ्रैंक शासक भी इनका उपयोग करते रहे। यह इस बात का प्रमाण था कि रोम के पतन के बाद भी जन-मानस में उसकी महत्ता का बोध दीर्घ काल तक बना रहा।

सन् ५०७-८ ई० में क्लोविश ने अपने ऑस्ट्रोगॉथ प्रतिद्वन्द्वी थियोडोरिक महान् के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। ऐसा जान पड़ता है कि इस युद्ध में क्लोविश की हार हुई। परन्तु, इससे उसकी विस्तारवादी नीति में कोई रुकावट नहीं आयी। उसने अपने मित्र तथा समर्थक कोलोन के रिपुएरियन राजा सिगवर्ट के विरुद्ध उसके पुत्र क्लोटेरिक को भड़काया। क्लोटेरिक ने अपने पिता की हत्या कर दी और पैतृक खजाने को क्लोविश के साथ बाँट लिया। दूसरी ओर क्लोविश ने क्लोटेरिक के इस जघन्य कृत्य के विरुद्ध कृत्रिम रोष प्रकट किया और उसकी हत्या करा दी। अब उसने अपने आप को क्लोटेरिक का उत्तराधिकारी बनने का विचार रिपुएरियन फ्रैंकों के समक्ष रखा और उनके परम्परागत अधिकारों को मान्यता देने का आश्वासन दिया। फलस्वरूप, ५०९ ई० में वह में कोलोन का राजा चुना गया और उसके चुनाव का रिपुएरियन फ्रैंकों ने सामान्यतः स्वागत किया।

कोलोन घराने को समाप्त करने के बाद क्लोविश की दृष्टि कैरेरिक थता रैगनाचर के फ्रैंक घरानों की ओर गयी। कैरेरिक के अनुयायियों को अपनी ओर मिलाकर उसने पिता-पुत्र की हत्या करा दी। रैगनाचर के समर्थकों को भी अपनी ओर कर उसने उसे बन्दी बना लिया। रैगनाचर की भी निर्ममतापूर्वक हत्या कर दी गयी। रैगनाचर के दो भाइयों को भी मौत के घाट उतार दिया गया। इसी तरह अन्य कई फ्रैंक शासकों को समाप्त कर क्लोविश ने अपना मार्ग निष्कंटक बनाया। सन् ५११ ई० में उसकी मृत्यु तक उसका राज्य समूचे गॉल में फैल गया था।

क्लोविश के चरित्र का सही मूल्यांकन करना कठिन है। उसके प्रशंसकों की भी कोई कमी नहीं थी। उसके ईसाई धर्म के स्वीकार करने तथा विभिन्न प्रदेशों में बिखरे ईसाइयों को एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध करने के कारण टूर्स के ग्रिगोरी सदृश इतिहासकारों ने भी उसके अनेक कुकृत्यों को नजरअन्दाज कर दिया है। क्लोविश के प्रशंसकों ने उसकी बेईमानी, निष्ठुरता तथा अनेक चारित्रिक दोषों पर पर्दा डालने की कोशिश की है। परन्तु तब भी यह स्पष्ट है कि उसने अनेक लोगों को उनकी सम्पदा तथा शक्ति से अकारण ही वंचित किया। अनेक राजाओं की उसने धोखाधड़ी से हत्या की। ऐसे लोगों में उसके कुछ सच्चे हितैषी भी शामिल थे, जैसे सिगवर्ट। अनेक अवसरों पर उसका निष्ठुर, रक्तपिपासु, लोभी तथा आततायी स्वरूप सामने उभर कर आया। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि ईसाई चर्च की उसने बहुमूल्य सेवा की। उसने कैथोलिक मत की सफलता का मार्ग प्रशस्त किया और रोमन चर्च की विधर्मियों से रक्षा की। साथ ही उसने रोमन साम्राज्य के पतन से उत्पन्न अराजकता को समाप्त कर पश्चिमी यूरोप को राजनीतिक एकता

प्रदान की। इसका यूरोप के परवर्ती इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने राजतन्त्र को सुदृढ़ बनाया और परस्पर विरोधी फ्रैंक कबीलों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया। यह सही है कि यह एकता अस्थायी सिद्ध हुई, परन्तु इसकी वांछनीयता पर किसी को सन्देह न रहा। इस प्रकार की एकता स्थापित करने का आदर्श बाद के यूरोपीय राजाओं तथा राजनीतिज्ञों को भी सदैव अनुप्राणित करता रहा। गॉल के एक छोटे से भू-भाग के स्वामी के रूप में अपना जीवन आरम्भ कर क्लोविश ने एक विशाल राज्य की स्थापना की। इस राज्य को रोमन पद्धति पर आधारित कुशल प्रशासन प्रदान करने के अतिरिक्त उसने ईसाई मत को स्वीकार कर धार्मिक एकता भी प्रदान की। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि राजनीतिक तथा धार्मिक एकता पर आधारित उसका राज्य किसी-न-किसी रूप में शार्लमन के शासनकाल तक बना रहा। शार्लमन द्वारा पुनर्स्थापित साम्राज्य का केन्द्र निःसंदेह क्लोविश का ही राज्य था।

क्लोविश के उत्तराधिकारी :

सन् ५११ ई० में क्लोविश की मृत्यु के बाद, जर्मन उत्तराधिकार के नियमों के अन्तर्गत, उसका विस्तृत राज्य उसके चार पुत्रों के बीच विभक्त हो गया। थियोडोरिक को रिह्म्स, कॉल्डोमीर को ऑरलियन्स, चिल्डेबर्ट को पेरिस तथा क्लोटार को स्वाइसस का प्रदेश मिला। क्लोविश के ये चारों पुत्र स्वार्थ से अभीभूत हो परस्पर लड़ते-झगड़ते रहे। सन् ५२४ ई० में कॉल्डोमीर की मृत्यु के बाद चिल्डेबर्ट तथा क्लोटार ने उसके दो पुत्रों की हत्या कर ऑरलियन्स को आपस में बाँट लिया। परन्तु, ५५८ ई० में चिल्डेबर्ट की मृत्यु के बाद उसका वंश समाप्त हो गया। सन् ५५५ ई० में थियोडोरिक के निकम्मे पौत्र थियोडबाल्ड की मृत्यु से उसकी वंश-परम्परा भी समाप्त हो गयी। इस तरह क्लोटार मेरोभींगयन राज्य का एकछत्र शासक के रूप में बच गया। क्लोविश के पुत्रों की आपसी शत्रुता के बावजूद मेरोभींगयन प्रदेशों में वृद्धि होती गयी थी और उन्होंने बरगंडी, प्रोभेन्स तथा थुरिंगया पर कब्जा कर लिया था। थियोडोरिक के पुत्र थियोडबर्ट ने इटली पर आक्रमण किया था। उसने तो पूर्वी साम्राज्य के विरुद्ध जर्मन जातियों का एक सम्मिलित मोर्चा बनाने का भी विचार किया था, यद्यपि उसकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी।

सन् ५५८ से ५६१ ई० तक क्लोटार मेरोभींगयन राज्य का एकछत्र शासक बना रहा। परन्तु, ५६१ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसके पौत्रों ने राज्य का पुनः विभाजन किया। चेरीबर्ट को पेरिस, सिगबर्ट को मेत्ज़, चिल्पेरिक को स्वाइसंस और

गुन्तमन को वरगंडी प्राप्त हुआ। क्लोविश के ये पौत्र एक दूसरे के घोर शत्रु थे। उनकी क्रूर प्रकृति तथा दुश्चरित्रता अन्त में मेरोभींगयन राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। इन भाइयों में चिल्पेरिक बुद्धिमान् तथा विद्वान् था। परन्तु साथ-साथ वह क्रूर, लालची, चरित्रहीन तथा पेटू भी था। अपनी प्रथम पत्नी की हत्या कर उसने दूसरी शादी की, परन्तु पूर्ण आसक्ति रखता था रखैल फ्रिडगुंड के प्रति। सन् ५८४ ई० में उसकी हत्या हो गयी और क्लोटार द्वितीय (५८४-६२९) शासक बना। परन्तु वास्तविक शक्ति उसकी माता फ्रिडगुंड के हाथों में सीमित थी। पारस्परिक झगड़ों तथा षड्यन्त्रों के फलस्वरूप सभी प्रतिद्वन्द्वी राज्य-परिवारों का अन्त हो गया और क्लोटार द्वितीय सम्पूर्ण फ्रैंकोनिया का एकमात्र शासक बन बैठा। इसमें उसे आस्ट्रेसियन तथा वरगंडीयन सामन्तों के अपने राजाओं के प्रति विश्वासघात से भी सहायता मिली। उसने बरनाचर और राथो नामक ड्यूकों को क्रमशः आस्ट्रेसिया तथा वरगंडी का "राजमहल का मेयर" नियुक्त किया। राजमहल के इन मेयरों का कार्यकाल उनके जीवन-पर्यन्त माना गया। इस तरह राजमहल के मेयर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया और अन्त में स्वयं मेरोभींगयन वंश के लिए घातक सिद्ध हुआ। साथ ही, राजा अब बिशपों, काउंटों तथा ड्यूकों की सलाह एवं स्वीकृति से कानून बनाने लगा। इससे भी राजा की शक्ति घटने लगी। सन् ६२० ई० में क्लोटार द्वितीय ने स्वेवियनों के लिए जो कानून संहिता बनाई उसके लिए उसे तेंतीस विशपों, चौंतीस ड्यूकों और पैंसठ काउंटों की स्वीकृति लेनी पड़ी थी। संक्षेप में, परवर्ती मेरोभींगयन राजा क्लोविश तथा थियोडोरिक की तरह शक्तिशाली नहीं रह गये। वरनाचर-जैसे राजमहल के मेयरों तथा शक्तिशाली ड्यूकों आदि ने राजतन्त्र की शक्ति को निश्चित रूप से सीमित कर दिया था। अपने शासन के अन्तिम वर्ष में क्लोटार द्वितीय ने आस्ट्रेसियनों तथा वरगंडीयनों की एक राष्ट्रीय सभा क्लिची में बुलाई थी। इस सभा में भारी हंगामा हुआ और राजमहल के एक उच्चस्थ अधिकारी की हत्या तक हो गयी। वरगंडीयनों की सहायता से राजा ने किसी तरह शान्ति स्थापना की। वह न तो हत्यारे को दंडित कर पाया और न हंगामा करनेवालों को ही सजा दे सका।

अपनी निरन्तर क्षीण पड़ती शक्ति के कारण क्लोटार द्वितीय मेरोभींगयन राज्य के विस्तार में भी सर्वथा अक्षम था। सामों नामक फ्रैंक नेता ने उसके देखते-देखते ही स्लावों के एक विशाल किन्तु अस्थायी राज्य का निर्माण कर लिया। सामों का राज्य मेरोभींगयन राज्य का कट्टर विरोधी था। अपने शासन के अन्तिम दिनों में क्लोटार द्वितीय ने अपने युवा पुत्र डागोबर्ट को आस्ट्रेसिया की गद्दी पर बैठाया। डागोबर्ट की सहायता के लिए मेत्ज के विशप आरनुल्फ तथा बड़े पिपिन को नियुक्त

किया गया। इसी बड़े पिपिन ने कैरोलिंगियन राजवंश की स्थापना की। सन् ६२३ ई० के लगभग क्लोटार द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र डागोबर्ट प्रथम समूचे मेरोभींगयन राज्य का शासक बना।

डागोबर्ट प्रथम (६२३-६३९ ई०) मेरोभींगयन वंश का एक अत्यन्त सफल शासक सिद्ध हुआ। उसका व्यक्तिगत जीवन सर्वथा दोषरहित नहीं था, परन्तु मेरो-भींगयन घराने का वह अन्तिम शक्तिशाली राजा था जिसकी बात राज्य-भर में सुनी जाती थी। उसके प्रायः सभी उत्तराधिकारी कठपुतले मात्र थे। स्वयं डागोबर्ट के राजत्वकाल में आस्ट्रेसिया पर राजा का नियन्त्रण केवल नाम मात्र का था और वास्तविक शक्ति राजमहल के मेयर पिपिन में निहित थी। कई अवसरों पर डागोबर्ट को पिपिन से काफी चिढ़ हुई, परन्तु उसके पद से उसे अपदस्थ करने की हिम्मत कभी भी नहीं हुई। न्युस्ट्रिया में राजमहल के मेयर का पद अभी तक नहीं था। अतः वहाँ डागोबर्ट की शक्ति ही सर्वोच्च थी। वह अन्तिम राजा था जिसने मेरोभींगयन राज्य को फैलाने का प्रयास किया। उसने सम्राट हेराक्लियस से लोम्बार्डों के खिलाफ दोस्ती की। पूर्वी स्लावों के साथ उसका दीर्घकालीन संघर्ष चलता रहा।

डागोबर्ट की मृत्यु ६३९ ई० में हुई। उस समय उसके दोनो लड़कों, सिगबर्ट तथा क्लोविश की आयु क्रमशः नौ और छह वर्ष मात्र थी। इसका मेरोभींगयन राज्य के भविष्य पर घातक प्रभाव पड़ा। अब वास्तविक शक्ति राजमहल के मेयरों के हाथ में आ गयी। ये मेयर अबोध बालकों को गद्दी पर बैठाते तथा उतारते रहे। जो युवा हुए भी, उनका नैतिक जीवन जान-बूझकर गर्हित बनाया गया। ये नामधारी राजा साधारणतः अपने महलों में पड़े रहते थे और कभी-कभी ही रथ में सवार होकर बाहर निकलते थे। डागोबर्ट प्रथम का पुत्र सिगबर्ट तृतीय आस्ट्रेसिया में बस नाममात्र का राजा था। वहाँ सामन्तों की ही शक्ति प्रमुख थी। पिपिन का पुत्र ग्रिमोल्ड सिगबर्ड के शासनकाल के अन्त में राजमहल का मेयर था। सिगबर्ट की मृत्यु के बाद ग्रिमोल्ड ने अपने पुत्र को आँस्ट्रेसिया का राजा बनाया। सिगबर्ट के पुत्र डागोबर्ट द्वितीय को आयरलैंड के एक मठ में भेज दिया गया। परन्तु, फ्रैंक किसी ऐसे व्यक्ति को अपना राजा मानने को तैयार नहीं थे जो मेरोभींगयन न हो। उन्होंने ग्रिमोल्ड को बन्दी बनाकर न्युस्ट्रिया के राजा के हवाले कर दिया। इस तरह, एक बार फिर से पूरा फ्रैंक साम्राज्य क्लोविश द्वितीय के अधीन एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया, परन्तु यह एकता अस्थायी सिद्ध हुई। कुछ समय बाद क्लोविश द्वितीय की मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र क्लोटार तृतीय भी सुयोग्य शासक

था, परन्तु विघटनकारी प्रवृत्ति पुनः उभरने लगी। आस्ट्रेसियनों ने क्लोविश द्वितीय के एक अन्य पुत्र, चिल्डेरिक द्वितीय को आस्ट्रेसिया की गद्दी पर बैठाया और वुल्फवाल्ड को राजमहल के मेयर पद पर नियुक्त किया।

सन् ६७० ई० में क्लोटार तृतीय की मृत्यु के बाद सम्पूर्ण मेरोभींगयन साम्राज्य में अराजकता फैल गयी। इसका प्रमुख कारण राजमहल के मेयर इब्रोईन की महत्वाकांक्षा थी। वह क्लोटार के सबसे छोटे भाई थियेरी तृतीय को, जो महज बालक था, गद्दी पर बैठाकर स्वयं वास्तविक शासक बने रहना चाहता था। परन्तु, सामन्तों ने उसका विरोध किया और थियेरी सहित उसे खदेड़ दिया। उन्होंने आस्ट्रेसिया के राजा चिल्डेरिक द्वितीय को न्युट्रेसिया का भी राजा बनाया और इब्रोईन को भागकर एक मठ में शरण लेनी पड़ी। परन्तु चिल्डेरिक की केन्द्रीयकरण की नीति के कारण शीघ्र ही उसका विरोध भी शुरू हो गया। रानी सहित उसकी हत्या हो गयी और राजमहल के मेयर वुल्फवाल्ड को आस्ट्रेसिया भागना पड़ा। न्युस्ट्रियन सामन्तों ने अब चिल्डेरिक द्वितीय के एक पुत्र चिलवर्ट तृतीय को गद्दी पर बैठाया। परन्तु थियेरी अपने निर्वासन से लौटकर गद्दी हथियाने में सफल हुआ और इब्रोईन राजमहल का मेयर नियुक्त हुआ। इसी बीच डागोवर्ट द्वितीय आस्ट्रेसिया की गद्दी पर पुनः स्थापित हो गया था। परन्तु इब्रोईन तथा न्युस्ट्रियन दल सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने नियन्त्रण में लाना चाहता था। आस्ट्रेसियन राजा के सौभाग्य से उसकी सेवा में दो अति कुशल व्यक्ति थे—ड्यूक मार्टिन और हेरिस्टाल का पिपिन। ये दोनों व्यक्ति सम्भावित न्युस्ट्रियन हमले से आस्ट्रेसिया की रक्षा की तैयारी में लगे थे। परन्तु उनकी तैयारी पूरी होने से पहले ही न्युस्ट्रियनों ने हमला कर दिया। ड्यूक मार्टिन को भागकर लेओन नगर में शरण लेनी पड़ी। परन्तु पिपिन बहुसंख्यक न्युस्ट्रियन भगोड़ों की सहायता से इब्रोईन का सामना करता रहा। इसी बीच ६८१ ई० में इब्रोईन की हत्या हो गयी। न्युस्ट्रिया का नवीन राजमहल का मेयर बराटो शान्ति चाहता था। अतः कुछ दिनों के लिए लड़ाई स्थगित हो गयी। बराटो के बाद बर्चर राजमहल का मेयर बना। उसकी जन-विरोधी नीति के कारण बहुत से न्युस्ट्रियन पिपिन से मिल गये। पिपिन न्युस्ट्रिया से युद्ध टालना चाहता था। किन्तु, उसकी शान्तिप्रिय नीति को न्युस्ट्रियनों ने उसकी कमजोरी समझने की भूल की। अतः पिपिन को युद्धक्षेत्र में उतरना पड़ा। टेक्सट्री की लड़ाई में न्युस्ट्रिया की पूर्ण पराजय हुई। थियेरी और बर्चर युद्धक्षेत्र से भाग खड़े हुए। बर्चर के सैनिकों ने ही उसकी हत्या कर दी। थियेरी पकड़ा गया, किन्तु पिपिन ने उसे क्षमा कर दिया।

टेक्सट्री की लड़ाई का मेरोभींगयन राजवंश पर घातक प्रभाव पड़ा। इस लड़ाई के बाद मेरोभींगयन राजा केवल नाममात्र के राजा रह गये। गद्दी छोड़कर उनके पास राजत्व का कोई चिह्न नहीं रह गया। लम्बी-दाढ़ी-शिखा बढ़ाये वे राजदूतों का स्वागत करते थे और राजमहल के मेयर द्वारा दिये गये निर्देश को तोते की तरह दुहराते थे। टेक्सट्री की विजय ने आस्ट्रेसिया, न्युस्ट्रिया तथा बरगंडी में पिपिन की शक्ति को अपरिमित बना दिया था; परन्तु स्वयं राजपद ग्रहण न कर उसने नामधारी मेरोभींगयनों को गद्दी पर बने रहने दिया। उसके दो पुत्र, ड्रोगो और ग्रीमोल्ड राज्य के दो अन्य भागों के मेयर थे। उसने कैम्पस मार्टिन्स नामक जर्मन सभा को पुनर्स्थापित किया। इससे उसकी शक्ति और लोकप्रियता और भी बढ़ गयी। उसने फ्रैंक साम्राज्य को विस्तृत करने का भी सफल प्रयास किया। सन् ६९७ ई० में फ्रिसियन तथा स्वेवियन पराजित हुए। विजित प्रदेशों में शान्तिपूर्ण ढंग से ईसाई मत को फैलाने की भी व्यवस्था की गयी। पिपिन दो दशकों तक राजमहल के मेयर पद पर बना रहा। इस अवधि में कई नामधारी मेरोभींगयन राजा आते जाते रहे। थियेरी तृतीय ६९१ ई० में मरा। उसके उत्तराधिकारी क्लोविश तृतीय का ६९५ ई० में अन्त हुआ। चिलबर्ट तृतीय की मृत्यु ७११ ई० में हुई। पिपिन की मृत्यु के समय डागोबर्ट तृतीय राजा था। सन् ७१४ ई० में उसकी मृत्यु से पूर्व उसके दोनो पुत्रों की, जो न्युस्ट्रिया तथा बरगंडी के मेयर थे, हत्या हो गयी। परन्तु पिपिन ने न केवल अपने पुत्रों के हत्यारों को कठोर दंड दिया, ग्रीमोल्ड के एक अवैध पुत्र को न्युस्ट्रिया तथा बरगंडी का सम्मिलित मेयर बनाने में भी सफल हुआ।

डागोबर्ट तृतीय की मृत्यु के बाद न्युस्ट्रियनों ने उसके पुत्र को राजा न बनाकर चिल्डेरिक के एक तथाकथित पुत्र डेनिएल को चिल्पेरिक द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया। पर पिपिन की दूसरी पत्नी से उत्पन्न पुत्र चार्ल्स (मार्टेल) ने आस्ट्रेसियनों के नेता के रूप में ७१७ ई० में चिल्पेरिक द्वितीय को पराजित कर न्युस्ट्रियनों को पेरिस तक खदेड़ दिया। तदुपरान्त उसने अपनी विमाता से कोलोन का प्रदेश भी छीन लिया। अब उसने डागोबर्ट द्वितीय के पौत्र क्लोटार चतुर्थ को गद्दी पर बैठाया और स्वयं राजमहल का मेयर बना। वस्तुतः क्लोटार उसके हाथ का कठपुतला था। स्वाइसन्स की लड़ाई में चिल्पेरिक द्वितीय को अंतिम बार पराजित कर उसने न्युस्ट्रिया को भी अपना आधिपत्य मानने को बाध्य किया। सन् ७१८ ई० में नामधारी राजा क्लोटार चतुर्थ की मृत्यु हुई। अब उसने उसी चिल्पेरिक को, जिसे उसने स्वाइसन्स की लड़ाई में पराजित किया था, न्युस्ट्रिया की गद्दी पर बैठाया। चिल्पेरिक ने उसे साम्राज्य के दोनों भागों के राजमहल के मेयर के रूप

में स्वीकार कर लिया। अगले वर्ष चिल्पेरिक की मृत्यु हो गयी। गद्दी की शोभा के रूप में थियोडोरिक चतुर्थ को राजा बनाया गया, हालाँकि राज्य की सम्पूर्ण शक्ति राजमहल के मेयर के हाथों में सीमित रही। सन् ७३७ ई० में थियोडोरिक चतुर्थ की मृत्यु के बाद चार्ल्स ने छह वर्ष तक किसी को गद्दी पर बैठाया ही नहीं और स्वयं शासन करता रहा। परन्तु, उसके पुत्रों— कार्लोमन और छोटा पिपिन—ने कुछ समय के लिए चिल्डेरिक तृतीय (७४३-५१ ई०) को गद्दी पर बैठाया। परन्तु मेरोभींगयन वंश की शक्तिपूर्णतया समाप्त हो गयी थी; अतः ७५१ ई० में छोटा पिपिन ने स्वयं राजा का विरुद धारण कर चिल्डेरिक तृतीय को गद्दी से उतार दिया। उसे एक मठ में भेज दिया गया, और इस तरह मेरोभींगयन राजवंश का हमेशा के लिए अन्त हो गया।

मेरोभींगयन शासन-व्यवस्था

मेरोभींगयन राजाओं का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य राज्य को सैनिक नेतृत्व प्रदान करना था। राजा का प्रमुख विशेषाधिकार था—प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को सैनिक सेवा के लिये बाध्य करना। राजपरिवार का उद्भव दैवी समझा जाता था। राजपद को पारिवारिक सम्पदा समझकर राजा के पुत्रों में विभाज्य माना जाता था। मेरोभींगयन राजाओं की राजकीय कर्त्तव्यों सम्बन्धी धारणा निस्संदेह अति संकुचित थी। युद्ध में नेतृत्व प्रदान करने तथा पारम्परिक विधि का जनता द्वारा पालन करवाने में ही वे अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझते थे। इसके आलावा उनका मुख्य काम रह जाता था सोना, चाँदी, जवाहरात तथा सुन्दर महिलाओं को एकत्रित करना तथा डटकर मांस-मदिरा का सेवन करना। जब क्लोविश ने पेरिस के इलाके पर कब्जा किया (४८६ ई०) उस समय वह रोमन सेना में था तथा उसके अनुयायी रोमनों को मित्र-सेना के सदस्य थे। वह रोमन कौंसल का विरुद और वस्त्र धारण करता था और उसके योद्धा उसे ढाल पर बैठाकर पेरिस में घुमाते थे। कई पीढ़ी तक मेरोभींगयन सिक्कों पर रोमन सम्राट् का सिर अंकित रहता था। मेरोभींगयन राजदरबार रोमन विरुदधारी पदाधिकारियों से भरा रहता था। प्रत्येक रोमन सिभिटास में अब "कोम्स" नामधारी फ्रैंक पदाधिकारी रहता था। सिभिटास के उप-प्रमण्डलों में अब फ्रैंक सेंटुरियन रहता था। इस तरह, किसी अर्थ में, मेरोभींगयन राजा गाल के रोमन शासकों के फ्रैंक उत्तराधिकारी थे। फिर भी रोमन पूर्व से यह राजनीतिक लगाव वास्तविक नहीं था। क्लोविश तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा शासित राज्य वस्तुतः जर्मन राजतत्र था जिसपर रोमन राजनीतिक परम्परा का प्रभाव लगभग शून्य था। मेरोभींगयन राजवंश एक जर्मन

देव से उत्पन्न माना जाता था और राजपरिवार के पुरुष-सदस्य अपनी दैवी उत्पत्ति को दर्शाने के लिए कंधे तक विपुल केशराशि धारण करते थे। राजपद निर्वाचन पर आधारित होते हुए भी राजपरिवार तक सीमित था। राज्यारोहण के समय प्रमुख योद्धाओं द्वारा ढाल पर धारण किया जाना ही चुनाव का प्रतीक माना जाता था। राज्य को राजपरिवार की लगभग निजी सम्पदा समझा जाता था। क्लोविश की मृत्यु के वाद उसका राज्य उसके पुत्रों के वीच विभक्त हुआ और कुछ समय को छोड़कर विभाजन की यह प्रक्रिया हमेशा वनी रही। यद्यपि राज्य की सीमा युद्धों तथा पारिवारिक समझौतों के कारण हमेशा वनती-विगड़ती रही, फिर भी, राज्य के तीन प्रमुख भाग लगभग हमेशा माने जाते रहे। राइन के दोनों तटों पर स्थित प्राचीन फ्रैंक प्रदेश को आस्ट्रेसिया कहा जाता था। उत्तरी गाल न्युस्ट्रिया के नाम से विख्यात था। रोन और सायोन की घाटी में वरगंडी का प्रदेश था। दक्षिण-पश्चिमी गाल, जिसे अक्विटेन कहा जाता था, कभी मेरोभींगयन राज्य में शामिल होता था तो कभी स्वतंत्र हो जाता था।

प्रत्येक मेरोभींगयन राजा के व्यक्तिगत अनुयायी होते थे जो उसके प्रति वफादारी की शपथ लेते थे। ये लोग अधिकारियों, अंगरक्षकों तथा राजपरिवार के सदस्यों के रूप में राजा की सेवा करते थे। उन्हीं लोगों में से संभवतः काउंट भी चुने जाते थे जो राजा की ओर से सिभिटेट्स अथवा काउंटियों की देख-रेख करते थे। इन काउंटों के कर्त्तव्य प्रत्येक क्षेत्र में एक ही जैसे नहीं थे। जर्मनप्रधान गाँवों में ये कचहरियों का काम देखते थे। जिन प्रदेशों में फ्रैंकों की संख्या कम थी वहाँ ये लोग रोमन न्यायाधीशों की तरह परम्परागत रोमन कानूनों का पालन कराते थे।

मेरोभींगयन राजा और चर्च :

क्लोविश तथा उसके वंशज चर्च के साथ सहयोग का महत्त्व समझते थे और इसका पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे। अतः चर्च की सम्पदा तथा विशेषाधिकारों में ये निरंतर वृद्धि करते रहे। विशप वड़े भू-स्वामी वन गए तथा समृद्ध मठों की स्थापना हुई। रोमन शासनकाल में प्राप्त चर्च के विशेषाधिकारों में अव और वृद्धि हुई। जर्मन कानूनों तथा फ्रैंक काउंटों के नियंत्रण के मुक्त चर्च की शक्ति काफी वढ़ गई। अव कोई राजकीय पदाधिकारी चर्च की भूमि का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। विवाह तथा वैधता का मेरोभींगयन राजाओं की दृष्टि में कोई विशेष महत्त्व नहीं था। सच तो यह है कि यद्यपि फ्रैंक जाति ईसाई मतावलम्बी हो गई थी, ईसाई नैतिकता का उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। चर्च ज्यादा से ज्यादा यही करता था कि राजा की अनेक स्त्रियों में से किसी एक को उसकी पत्नी मनवा लेता

था। हाँ, सामान्य जनता पर अपनी नैतिकता को थोपने की छूट चर्च को मिली हुई थी। इस तरह, विवाह तथा वैधता के मामले चर्च तथा उसकी कचहरियों द्वारा देखे जाते थे। राजा केवल इतना ही चाहता था कि किसी अवांछित पत्नी से छुटकारा पाने में चर्च बाधक न बने। विधवाओं तथा अनाथों की रक्षा करना चर्च अपना कर्त्तव्य समझता था। इसमें राजा को कोई आपत्ति नहीं थी। संक्षेप में, चर्च के जिम्मे अब ऐसे कई काम आ गए जो पहले रोमन नागरिक अधिकारियों द्वारा देखे जाते थे और जिनमें मेरोभींगयन राजाओं को कोई दिलचस्पी नहीं थी।

यद्यपि मेरोभींगयन राजा चर्च को उदारतापूर्वक भूमि एवं विशेपाधिकार प्रदान करते रहे, उन्होंने चर्च पर अपना नियंत्रण कभी भी शिथिल नहीं पड़ने दिया। रिम्स के आर्कबिशप ने चर्च के चुनावों में राजा द्वारा हस्तक्षेप न किए जाने का अनुरोध किया था, परन्तु क्लोविश ने उसे ठुकरा दिया। उसके उत्तराधिकारी भी इस नीति पर अडिग बने रहे। उनका कहना था कि केवल वे ही पादरी चर्च की सेवा में रह सकते थे जिन्हें राजा चाहता हो। किसी भी मेरोभींगयन राजा ने अपनी अनुमति के बिना चर्च-सभाओं को नहीं होने दिया। चर्च-सभाओं के किसी निर्णय को तब तक वैध नहीं माना जाता था जब तक उसे राजकीय-स्वीकृति न मिल जाती थी। इस तरह, चर्च के पदाधिकारी तथा कानून, दोनों ही, कठोर राजकीय नियंत्रण में थे। उत्तरकालीन मेरोभींगयन राजा तो बिशपों को प्रशासन का एक अंग ही समझने लगे थे। जब राजा बदलता था तो अन्य पदाधिकारियों की तरह कई बिशप भी बदल जाते थे। संक्षेप में, मेरोभींगयन चर्च वस्तुतः राज्य का एक अंग ही बन गया था और इसकी स्थिति बहुत कुछ राजेच्छा पर आधारित थी। क्योंकि अधिकांश मेरोभींगयन राजा प्रायः असभ्य थे, चर्च की स्थिति भी सामान्यतः दयनीय ही बनी रही।

❀

अध्याय ३

बैजनटाइन-साम्राज्य

सन् ३३० ई० में सम्राट् कान्स्टेनटाइन ने काला सागर के तट पर रोमन-साम्राज्य की दूसरी राजधानी के रूप में बैजनटियम की स्थापना की। यह नगर अपने संस्थापक के नाम पर कान्स्टेण्टीनोपुल के नाम से विख्यात हुआ। वस्तुतः, विशाल रोमन-साम्राज्य के दो प्रमुख विभाग थे—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी भाग का शासन साम्राजिक राजधानी रोम से चलाया जाता था और पूर्वी भाग की देख-रेख नवस्थापित राजधानी कान्स्टेण्टीनोपुल के जिम्मे थी। पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बर्बर आक्रमणकारियों ने साम्राज्य के पश्चिमी भाग को नष्ट कर दिया, किन्तु पूर्वी भाग, जिसे बैजनटाइन-साम्राज्य भी कहा जाता था, अगले हजार वर्षों तक बना रहा।

जस्टिनियन (५२७-६५ ई०) :

रोमन-साम्राज्य के अन्तिम सम्राट रोमुलस-ऑगस्टस को जब बर्बर ओडोभकार ने गद्दी से उतारा (४७६ ई०), साम्राज्य के पूर्वी भाग का शासन जेनो के हाथ में था। जेनो कान्स्टेण्टीनोपुल पर सत्रह वर्षों तक (४७४-९१ ई०) शासन करता रहा। जेनो तक उसके उत्तराधिकारी किसी पूर्वी साम्राज्य को अपने कब्जे में रखने में सफल हुए, यद्यपि साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों को पुनः हस्तगत करने के लिए वे कुछ न कर सके। सन् ५२७ ई० में बैजनटाइन गद्दी पर प्रतापी सम्राट् जस्टिनियन आसीन हुआ। वह असाधारण योग्यता का व्यक्ति था जिसने पहले अपने चाचा के नायब तथा पुनः स्वयं सम्राट् के रूप में सैंतालीस वर्षों तक शासन किया। जस्टिनियन (५२७-६५ ई०) की सेवा में दो कुशल सेना-नायक थे—बेलिसेरियस और नारसेस। इन दोनों ने साम्राज्य के सभी शत्रुओं को एक-एक कर पराजित किया। फारस से संक्षिप्त युद्ध के बाद साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर अस्थायी शान्ति स्थापित हो गई। इससे जस्टिनियन के सेनानायकों को पश्चिम की ओर ध्यान देने का मौका मिला। दस वर्षों के सतत प्रयास के बाद भंडाल-राज्य नष्ट कर दिया गया और उत्तरी अफ्रिका पर साम्राज्य का पुनः नियन्त्रण हो गया। ऑस्ट्रोगॉथों को पराजित करने और इटली को पुनः साम्राज्य में शामिल करने में बीस वर्ष लगे। स्पेन का दक्षिणी भाग भी भिसिगथों से छीन लिया

गया। यद्यपि इंगलैण्ड, गॉल तथा स्पेन के अधिकांश भाग उसके नियन्त्रण से बाहर थे, जस्टिनियन ने प्राचीन रोमन-साम्राज्य के मूल भाग को अपने कब्जे में कर लिया था। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि बाह्य तौर पर उसकी साम्राजिक पुनर्स्थापना भले ही महान जान पड़ती हो, इसमें कई प्रकार की कमजोरियाँ भी निहित थीं। जस्टिनियन की साम्राजिक नीति का सबसे बड़ा दोष यह था कि रोमन-साम्राज्य के पश्चिमी भाग को कब्जे में लाने के लिए उसने जिस शक्ति का अपव्यय किया उसका उपयोग पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए किया जाना चाहिए था। अफ्रिका में उसकी सफलता अपूर्ण थी क्योंकि स्पेन तथा सेपटिमेनियाँ के अधिकांश भागों पर अभी भी भिसिगाथों का ही अधिकार था। इटली में पेनोनियाँ, नॉरसियुम तथा रेहटिया के प्राचीन प्रांत उसके नियन्त्रण से बाहर थे। जिन प्रदेशों पर जस्टिनियन ने पुनः कब्जा किया भी था, उन पर उसकी पकड़ कमजोर थी। वस्तुतः, प्राचीन रोमन-साम्राज्य की पुनर्स्थापना की उसकी योजना ही व्यर्थ थी। इस योजना की पूर्ति के चक्कर में स्वयं पूर्वी साम्राज्य दुर्बल पड़ गया। जस्टिनियन के इटली-अभियान के फलस्वरूप वह देश कई राज्यों में विभक्त हो गया, जैसे, लोम्बार्ड-इटली, बैजन्टाइन इटली और पोपतंत्रीय इटली। इससे इटली सन् १८७० ई० तक "भौगोलिक अभिव्यक्ति" मात्र बन कर रह गया।

रोमन-साम्राज्य की पुनर्स्थापना की तरह ही जस्टिनियन की धार्मिक नीति भी आंशिक रूप में ही सफल हुई। वह अपनी सम्पूर्ण प्रजा को अपने संरक्षण में एक चर्च के अधीन लाना चाहता था। चर्च पर नियन्त्रण वह अपना साम्राजिक कर्त्तव्य समझता था। चर्च को अपने पूर्ण नियन्त्रण में लाकर वह पादरियों की नियुक्ति, चर्च की कार्यविधि तथा नियम-कानून को अपने मातहत करना चाहता था। वह चर्च तथा राज्य, दोनों का एकच्छत्र शासक बनने का इच्छुक था। उसकी यह नीति पश्चिमी यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति के विपरीत थी। वहाँ पोप चर्च के साथ-साथ, दैवी प्रतिनिधि के रूप में, राज्य को भी अपने मातहत समझता था। पूर्वी साम्राज्य के भीतर ही सीरिया, फिलस्तीन तथा मिस्र के नेष्टोरियन तथा मोनोफिसाइट बैजनटाइन-चर्च के प्रभुत्व को मानने को तैयार नहीं थे। उनकी नीति अपने राष्ट्रीय चर्च को बनाए रखने की थी। सम्राट् जेनो ने परम्परागत चर्च तथा उनके बीच समझौता कराने का पहले ही निष्फल प्रयास किया था। पोप के सहयोग से चर्च में एकता स्थापित करने की जस्टिनियन की नीति भी असफल रही क्योंकि उसकी रानी थियोडोरा मोनोफिसाइट थी। फलस्वरूप, जस्टिनियन सीरिया, फिलस्तीन तथा मिस्र के ईसाइयों द्वारा अपनी धार्मिक नीति को न मनवा सका।

साम्राज्य के शेष भाग में वह ईसाईकरण के पक्ष में था। इस उद्देश्य से उसने एथेन्स के सभी विधर्मी विद्यालयों को बन्द करा दिया। उन विद्यालयों के शिक्षक फारस चले गए। बाद में उन्हें कान्स्टेण्टीनोपुल लौटने की अनुमति मिल गई। जस्टिनियन ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को रोम पर लादने की दृष्टि से एक पोप को निकाला तथा एक अन्य को कान्स्टेण्टीनोपुल लाकर उसे अपनी बात को मानने के लिए बाध्य किया। जस्टिनियन की उपस्थिति में एक धर्म-सभा ने भी उसके विचारों का समर्थन किया। इस तरह वह समझता था कि उसकी धार्मिक नीति पूर्णतया सफल हुई। परन्तु वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत थी। उसकी नीति से चर्च का आन्तरिक मतभेद और भी तीव्र हो गया। उसकी धार्मिक तानाशाही के कारण पोपतन्त्र उसका विरोधी बन गया। इससे इटली में उसकी स्थिति कमजोर पड़ गई। ठीक ही कहा गया है कि "जस्टिनियन के राजत्वकाल की सहज परिणति ग्रिगोरी महान के धर्माध्यक्षाधिकार में हुई।"

जस्टिनियन की विस्तारवादी एवं धार्मिक नीतियों की असफलता के साथ-साथ उसके राजत्वकाल से कई अन्य दुर्योग भी जुड़े हुए थे। प्राकृतिक एवं मानवीय विपत्तियों के कारण जनसाधारण को असीम कष्ट भोगना पड़ा। कान्स्टेण्टीनोपुल षड्यन्त्रों का केन्द्र था। षड्यन्त्रों के फलस्वरूप धन-जन की अपार क्षति हुई। रथ-धावन-प्रतियोगिता के दर्शक कान्स्टेण्टीनोपुल निवासी "नील" एवं "हरित" दो वर्गों में बँटे हुए थे। उनकी क्रीड़ाक्षेत्र की यह प्रतिद्वन्द्विता उनके राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन में भी परिलक्षित होती थी। सन् ५३२ ई० में इन वर्गों ने राज्य के विरुद्ध भीषण उत्पात किए और राजधानी को प्रायः ध्वस्त कर दिया। अंत में सम्राट् के सैनिकों ने पैंतीस हजार उपद्रवियों की हत्या कर बलवे को दबा दिया। निरन्तर युद्ध, अकाल तथा महामारी से जनता पीड़ित रही। साम्राज्य के कुछ भाग हमेशा के लिए उजाड़ हो गए। भंडालों, गॉथों तथा ईरानियों के विरुद्ध युद्धों और तूरानी, स्लाव तथा जर्मन बर्बर जातियों के आक्रमणों से लाखों लोगों की जान गई। एक एक के बाद एक भूकम्पों से बेरिटस तथा एन्टिओक जैसे समृद्ध नगर ध्वस्त हो गए। सन् ५४२ ई० में साम्राज्य में महामारी फैल गई। प्लेग से साम्राज्य की लगभग एक-तिहाई प्रजा समाप्त हो गई। जस्टिनियन की फिजूलखर्ची के कारण उसे प्रजा पर भारी कर लगाना पड़ा। इससे जन-सामान्य का कष्ट बढ़ा। संक्षेप में, जस्टिनियन के विशाल साम्राज्य का बाह्य स्वरूप जितना आकर्षक था, उसका अन्तः उतना ही खोखला था। इस दृष्टि से हम उसकी तुलना बोरबन सम्राट् लुई चौदहवाँ अथवा मुगल सम्राट् शाहजहाँ से कर सकते हैं।

आदि का पुनः बोलवाला हो गया और राजाज्ञा द्वारा इन्हें रोकने में वह अक्षम सिद्ध हुआ। साम्राजिक खजाना खाली हो गया, राजधानी की किलेबन्दी कमजोर पड़ गई, सैनिकों की संख्या घट गई और बर्बर आक्रमणकारियों से साम्राज्य को खतरा उत्पन्न हो गया। राज्य के आय-व्यय का संतुलन बिगड़ गया। और, जब ५६५ ई० में उसकी मृत्यु हुई, राज्य आर्थिक दृष्टि से प्रायः दिवालिया हो चुका था। सीमाओं पर बर्बर आक्रमणकारी मँडरा रहे थे, बड़े भू-स्वामियों की शक्ति प्रबल हो गई थी तथा धार्मिक मतभेद पहले से तीव्र हो गए थे। केवल बैजनटाइन कला तथा रोमन कानूनों की संहिता ही जस्टिनियन की मूर्त्त यादगार के रूप में बच गई थी।

जस्टिनियन के उत्तराधिकारी

जस्टिनियन की मृत्यु के पचास वर्ष बाद तक बैजनटाइन साम्राज्य के इतिहास में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं हुई। जस्टिनियन का उत्तराधिकारी जस्टिन द्वितीय (४६५-७८), साम्राज्य-विस्तार की बात तो दूर रहे, साम्राज्य की रक्षा करने में भी अक्षम था। साम्राज्य की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। सैनिक शक्ति दुर्बल पड़ गई थी। धार्मिक मतभेद बढ़ गया था। तुर्कों से सम्बन्ध अच्छा नहीं था और लोम्बार्डों तथा अभारों ने एकसाथ आधुनिक हंगरी वाले इलाके पर हमला कर दिया था। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि फारस के साथ पुनः लड़ाई शुरू हो गयी थी। जस्टिन द्वितीय के उत्तराधिकारी तिबेरियस द्वितीय (५७८-८२) के शासनकाल में भी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। तिबेरियस द्वितीय के बाद मोरिस (५८२-६०२) शासक बना। उसके समय में स्थिति कुछ सुधरी भी, किन्तु ६०२ ई० में साम्राजिक सेनापति फोकस ने मौरिस को हटाकर स्वयं गद्दी पर अधिकार कर लिया। फोकस में चरित्र तथा योग्यता दोनों का अभाव था। उसे सहारा था तो केवल सेना तथा पोप ग्रिगोरी का। उसके दुर्भाग्य से फारस के शासक चोसरोज द्वितीय ने डेरियस के साम्राज्य की पुनः स्थापना की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर रोमन आरमेनिया, सीरिया तथा मेसोपोटामिया पर कब्जा कर लिया। उत्तरी एशिया माइनर में वह हेलेसपोंट तक बढ़ आया। इसी बीच, अपदस्थ मौरिस के एक विश्वासी सेनानायक हेराक्लियस ने कान्स्टेण्टीनोपुल पर हमला कर राजधानी पर कब्जा कर लिया। फोकस की हत्या कर दी गई और वृद्ध हेराक्लियस का समनामधारी पुत्र हेराक्लियस गद्दी पर बैठाया गया।

हेराक्लियस का शासनकाल (६१०-६४१ ई०)

जिस समय हेराक्लियस गद्दी पर बैठा बैजनटाइन साम्राज्य के समक्ष कई आंतरिक एवं बाह्य समस्याएँ थीं। साम्राज्य के भीतर परम्परागत चर्च तथा

मोनोफिसाइटों का संघर्ष उग्र हो उठा था। सेना निकम्मी हो गई थी। खजाना खाली था। साम्राज्य के बाहर से स्लाव बाल्कन-प्रदेश को उजाड़ रहे थे तथा फारस का सम्राट् चोसरोस द्वितीय हेराक्लियस से युद्ध की तैयारी कर रहा था। हेराक्लियस के गद्दी पर बैठने के तीन वर्ष के भीतर ही फारस की सेना ने साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। आक्रमणकारियों ने सीरिया जथा जरुसलम पर कब्जा कर लिया और बौसफोरस तक पहुँच गए। कठिनाइयों से घबड़ाकर हेराक्लियस ने, कान्स्टेण्टीनोपुल को खाली करने का निश्चय किया। किन्तु राजधानी के धर्माध्यक्ष सरजियस के समझाने-बुझाने से उसने अपना विचार बदल दिया। कई वर्षों तक वह आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक सामना करता रहा। आक्रमणकारी फारसी सेना स्वदेश लौट जाए इस उद्देश्य से उसने परसिया पर ही आक्रमण कर दिया। केवल पाँच हजार सैनिकों के साथ वह काला सागर पार कर परसियन साम्राज्य में प्रविष्ट हुआ। एक-एक कर परसियन नगरों को जीतता हुआ वह आगे बढ़ता गया। इन विजयों के बाद वह स्वदेश लौट गया। परन्तु इससे लड़ाई खत्म नहीं हो गई। परसियनों ने प्रत्याक्रमण कर कान्स्टेण्टीनोपुल का घेरा डाला। इसमें उन्हें अभारों तथा स्लावों से भी सहायता मिली। परन्तु फारसी सेना निन्नेव की लड़ाई (६२७ ई०) में पराजित हो गई। चोसरोस द्वितीय के एक पुत्र ने फारसी गद्दी पर कब्जा कर लिया। बंदी अवस्था में चोसरोस की मृत्यु हो गई। उसके साथ ही द्वितीय फारसी साम्राज्य की महानता का अंत हो गया। नये राजा सिरोस ने ६२८ ई० में हेराक्लियस से संधि कर ली। इस संधि से दोनों साम्राज्यों की युद्ध से पहले की सीमा पुनःस्थापित हो गई।

फारसी आक्रमणों से मुक्त होने के बाद हेराक्लियस ने आंतरिक पुनर्गठन की ओर ध्यान दिया। बर्बर जातियों तथा परसियनों के आक्रमणों से बड़े भू-स्वामियों की शक्ति कमजोर पड़ गई थी। इससे हेराक्लियस का काम सरल हो गया था। डायोक्लेसियन के समय से नागरिक तथा सैनिक प्रशासन में जो पूर्ण पार्थक्य चला आ रहा था, उसमें परिवर्तन की आवश्यकता थी। हेराक्लियस ने थिम्स के सैनिक प्रशासन का पुनर्गठन किया। प्रत्येक को अब एक सेनानायक के अधीन रखा गया। साम्राज्य के महत्वपूर्ण प्रान्तों में सैनिक छावनियाँ स्थापित की गईं। थिम्स नागरिक प्रशासन की इकाई भी थे। उनमें सैनिक तथा नागरिक प्रशासन के स्पष्ट विभाजन को अब समाप्त कर दिया गया। इससे साम्राज्य को बहुत लाभ हुआ क्योंकि अब एक स्वदेशी सेना तथा कुशल प्रशासन की स्थापना सभव हुई। प्रशासन में अब रोमन तत्त्वों की जगह यूनानी तत्त्वों की प्रधानता हो गई। राजकीय भाषा भी अब लैटिन की जगह ग्रीक हो गई।

हेराक्लियस ने धार्मिक क्षेत्र में भी एक नया सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। कान्स्टेण्टीनोपुल के धर्माध्यक्ष ने पूर्वी ईसाई सम्प्रदाय तथा मोनोफिसाइटों के बीच समझौता कराने का एक नया निवारक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। किन्तु येरूसलम के धर्माध्यक्ष के विरोध के कारण यह अस्वीकृत हुआ। अब सर्वत्र मोनोफिसाइटों का उत्पीड़न शुरू हुआ। चर्च के लिए गए कर्ज की अदायगी के लिए सम्राट् को नये कर लगाने पड़े। इसी बीच अरब देश में इस्लाम का उदय हो चुका था। वैजन्टाइन साम्राज्य पर अरबों के हमले शुरू हो गए और उन्होंने सीरिया पर कब्जा कर लिया था। इस तरह हेराक्लियस के अंतिम वर्ष कठिनाई में बीते और घोर निराशा के बीच फरवरी, ६४१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। वस्तुत: पूर्वी सम्राटों में हेराक्लियस अत्यन्त महान, परन्तु साथ ही अति भाग्यहीन, सिद्ध हुआ। उसने साम्राज्य को नष्ट होने से बचा लिया था। उसने आंतरिक दुर्बलताओं को समाप्त करने की कोशिश की थी। किन्तु इस्लाम की नवोदित शक्ति के समक्ष उसकी एक न चली। आधा इटली लोम्बार्डों के कब्जे में आ चुका था। बालकन प्रदेश पर स्लाव हावी हो गये थे। चर्च के ऋण की अदायगी के लिए उसे अपनी प्रजा का शोषण करना पड़ा। फिर भी, उसकी उपलब्धियों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। युद्ध और शांति विषयक उसकी क्षमता सचमुच प्रशंसनीय थी।

हेराक्लियस के उत्तरदायित्व :

हेराक्लिस की मृत्यु के समय पूर्वी रोमन साम्राज्य की स्थिति बड़ी नाजुक थी। साम्राज्य के अवशिष्ट भागों पर मुसलमानों के हमले हो रहे थे। हेराक्लियस के उत्तराधिकारी—कन्सटनटाइन तृतीय, हेराक्लिओनस, कॉन्सटान्स, कन्स्टनटाइन चतुर्थ तथा जस्टिनियन द्वितीय आदि—मुस्लिम आक्रमणों को रोकने में असमर्थ थे। जस्टिनियन द्वितीय की मृत्यु के बाद छह वर्षों तक (७११-७१७) साम्राज्य में पूर्ण अराजकता फैली रही। इस अल्प अवधि में भी फिलिपिकस, अनसटेसियस तथा थियोडोसियस तृतीय नामक तीन नामधारी सम्राट् हुए। इन दुर्बल सम्राटों के विरुद्ध प्रारम्भिक सफलता से उत्साहित होकर खलीफा सुलेमान ने कान्स्टेण्टीनेपुल पर आक्रमण करने की बृहत् तैयारी की। खलीफा की सेना को अमोरियम पर घेरा डाले देखकर अनातोल थिम के प्रशासक इसोरियन लियो ने उससे सन्धि कर ली। उसने अपने-आपको सम्राट् घोषित किया और कान्स्टेण्टीनोपुल की ओर बढ़ चला। थियोडोसियस पराजित होकर गद्दी से उतार दिया गया। सिनेट तथा धर्माध्यक्ष ने लियो को सम्राट् के रूप में स्वीकार कर लिया। इस तरह वैजनटाइन साम्राज्य के इतिहास के प्रथम महान युग का अंत हो गया।

जस्टिनियन तथा हेराक्लियस के राजवंशों के शासनकाल में वैजनटाइन साम्राज्य की विभिन्न संस्थाओं का तीव्र गति से विकास हुआ। इस युग के शासक

यह भलीभाँति जानते थे कि साम्राज्य का स्थायित्व उसकी आर्थिक समृद्धि पर आधारित था। साम्राज्य की अर्थ-व्यवस्था में कृषि का विशिष्ट स्थान था, क्योंकि इससे न केवल आवश्यक खाद्यानों की पूर्ति होती थी बल्कि सेना के सैनिक भी कृषक-वर्ग से ही आते थे। अतः विभिन्न सम्राट् बंजर एवं उजाड़ भूमि को भी कृषि योग्य बनाने में विशेष अभिरुचि रखते थे। स्लावों में से कुछ साम्राज्य के यूरोपीय भागों में आक्रमणकारियों के रूप में प्रविष्ट हुए थे, किन्तु शेष को लाकर बसाया गया था। इन सभी लोगों ने बस जाने के बाद खाद्यानों की वृद्धि में महत्व-पूर्ण योग दिया था। इस प्रथम युग की समाप्ति तक यूरोप तथा एशिया माइनर के प्रान्तों की आबादी काफी बढ़ चुकी थी और कृषि की अवस्था उन्नत हो गई थी। लहलाते खेतों, बागीचों, बागानों तथा अंगूर-बेलियों से साम्राज्य ढँक-सा गया था। जस्टिनियन के शासनकाल में रेशम-उद्योग की शुरुआत हुई और शीघ्र ही यह मूल्यवान वस्तु काफी मात्रा में तैयार की जाने लगी।

साम्राज्य के अनेक नगर उद्योग तथा व्यापार के केन्द्र थे। कान्स्टेण्टीनोपुल की आबादी प्रायः दस लाख की थी और थेसालोनिका में पाँच लाख लोग रहते थे। महत्वपूर्ण उद्योग राज्य की देख-रेख में व्यावसायिक संघों द्वारा चलाए जाते थे। प्रत्येक संघ को किसी न किसी उद्योग-विशेष का एकाधिकारी प्राप्त था। कच्चे माल की खरीद, तैयार माल की बिक्री, उत्पादन-विधि, मूल्य तथा मुनाफे का निदेशन राज्य द्वारा होता था। इन सभी बातों पर राजकीय निरीक्षक कड़ी निगाह रखते थे। वस्तुतः विभिन्न शिल्पी राजकीय कर्मचारी थे जो राज्य निदेशन में अपना काम करते थे। परिणामस्वरूप औद्योगिक स्थिरता तो थी, किन्तु तक-नीकी विकास का अभाव था। अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त शेष उत्पादन विलास की वस्तुओं का ही होता था—जैसे, रेशमी-ऊनी वस्त्र तथा आभूषण आदि। बैजन-टाइन कारखानों की बनी चीजें मूल्यवान तथा लोकप्रिय होती थीं।

उद्योग की ही तरह व्यापार पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। अन्न तथा रेशम के व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था। अन्य वस्तुओं के व्यापारियों पर भी राज्य का नियंत्रण था। परिणामस्वरूप, साम्राज्य के व्यापारी आंतरिक, थोक तथा खुदरा व्यापार में रुचि लेते तो थे, किन्तु आयात-निर्यात उन्होंने विदेशी व्यापारियों के हाथ में छोड़ दिया था। उन दिनों कान्स्टेण्टीनोपुल विश्व का संभवतः सबसे बड़ा बाजार था। पूर्व से यहाँ रेशम, सूती वस्त्र तथा गरम मसाले पहुँचते थे। वेनिस, रेवेना तथा अमल्फी के नाविक पश्चिम का सामान यहाँ तक पहुँचाते थे। विदेश से आए व्यापारी साम्राज्य का सामान लादकर लौटते थे।

साम्राज्ञिक सिक्का बैजन्त पश्चिमी जगत् का मानक सिक्का था। इससे भी व्यापार की उन्नति हुई।

बैजनटाइन सेना सुसंगठित, अनुशासित तथा सुसज्जित थी। सैनिकों को वेतन भी पर्याप्त मिलता था। *अश्वारोही सेना का बैजनटाइन सामरिकता में* विशिष्ट स्थान था। अतः इसकी संख्या भी बहुत बड़ी थी। घुड़सवार सैनिक लोहे की टोपी, जिरह-बख्तर तथा जूते पहनते थे। उनके हथियारों में तलवार, भाला तथा तीर-धनुष की प्रधानता थी। अश्वारोही सेना पदाति सेना की सहायता के बिना भी लड़ लेती थी। सैनिकों के सेवक भी होते थे जो पड़ाव डालने, रसद जुटाने, खाना पकाने तथा घोड़ों की देखभाल करने का भी काम करते थे। अश्वारोही सेना के अधिकारी निश्चित रूप से बैजनटाइन सामन्त ही होते थे। सामान्य सैनिकों में किसानों की ही संख्या ज्यादा थी। पदाति सेना दो प्रकार की थी—लघु एवं प्रशस्त। लघु पदाति सेना में धनुर्धरों की प्रधानता थी। प्रशस्त पदाति सेना में जिरह बख्तर से सुसज्जित सैनिक रहते थे। ये लोग ढाल के अतिरिक्त तलवार, भाले तथा फरसे का प्रयोग करते थे।

साम्राज्य जिलों में बँटा था जिन्हें **थिम्स** कहते थे। प्रत्येक **थिम** में एक उच्च पदाधिकारी होता था जो नागरिक एवं सैनिक सेवा साथ-साथ करता था। उसके अधीन आठ से दस हजार तक सैनिक रहते थे। बैजनटाइन सम्राट और उनके सेनापति सैन्य-विज्ञान में विशेष रुचि रखते थे और इस विषय पर उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे। सम्राट् मौरिस ने **ट्रैटेजिकॉन** नामक पुस्तक लिखी। नवीं शताब्दी में सम्राट् लियो षष्ठ द्वारा लिखित एक पुस्तक से पता चलता है कि सामरिक-विधि में तबतक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था। दोनों लेखकों ने सैन्य-संगठन और आयुध के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध काम में लाए जाने वाले कौशल का भी वर्णन किया है। इस तरह अरबों का सामना करने का एक विशेष तरीका था। अरब-आक्रमण का समाचार मिलते ही **थिम** का सेनापति एक सैनिक टुकडी दुश्मन को परेशान करने के लिए भेजता था। इसी बीच सेनापति अपनी घुड़सवार-सेना को बटोरता था। पदाति सेना का अधिकांश भाग थिम तक पहुँचनेवाली सड़कों की रक्षा करता था और दुश्मन के लौटने का मार्ग अवरुद्ध कर देता था। सेना-नायक साधारणतः प्रयास करते थे कि दुश्मन बिना लड़े ही लौट जाए। यदि वह ऐसा नहीं करता था तो मार्ग रोकने वाली पदाति सेना से उलझे रहने के समय ही उस पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया जाता था। इसी प्रकार के युद्ध-कौशल से कई आक्रमण अरब सैन्य-दलों को पराजित किया गया था।

वैजनटाइन सेनापति पेशेवर योद्धा थे। वे पश्चिमी नाइटों की तरह बिना तैयारी के ही युद्ध में कूद पड़ने में विश्वास करते थे। अपने सीमित सैनिक साधनों को अकारण ही गँवा देना उनके लिए सम्भव था भी नहीं। वे हमेशा बहुसंख्यक शत्रुओं से लड़ते रहते थे, अतः उनका रण-कुशल तथा धूर्त होना आवश्यक था। युद्ध उनके लिए पेशा था जब कि पश्चिमी नाइट इसे खेल समझते थे। पश्चिमी रण-नीति को अपनाने का अर्थ होता साम्राज्य का विनाश।

वैजनटाइन साम्राज्य का प्रशासन संकुल नौकरशाही पर आधारित था। व्यापक और व्यय-साध्य होने पर भी यह सक्षम था। कमजोर शासकों के समय में शासन-तंत्र भ्रष्ट हो जाता था, परन्तु शक्तिशाली सम्राट् इसमें आवश्यक सुधार भी करते रहते थे। शासन में सर्वोच्च स्थान सम्राट् ही का था। जस्टिनियन तथा हेराक्लियस के वंशधरों का सम्राट् पद सैद्धान्तिक रूप से चुनाव पर आधारित था, किन्तु व्यावहारिक रूप में सम्राट् पुत्र ही प्रायः गद्दी पर बैठता था। उसके कमजोर तथा अयोग्य होने पर ही कोई बागी गद्दी पर कब्जा कर लेता था। समय के साथ वंशानुगत उत्तराधिकार का सिद्धान्त ही मान्य होता गया। वैजनटाइन सम्राट् को दैवी अधिकार से युक्त समझा जाता था। उसका अभिषेक अनुष्ठान की तरह सम्पन्न होता था। सम्राट् की प्रजा उसे साष्टांग प्रणाम करती थी। वह बड़े ठाट-बाट से रहता था। सब समय राजकीय पदाधिकारी नौकर-चाकर तथा अंग-रक्षक उसे घेरे रहते थे। उसकी शान-शौकत से उसके शत्रु भी दंग रह जाते थे। मंगोल राजदूत वैजनटाइन दरबार की समृद्धि तथा शान-बान से इतने प्रभावित हुए कि साम्राज्य को लगभग अजेय समझकर उन्होंने अपने स्वामियों को इसपर आक्रमण न करने का परामर्श दिया। वस्तुतः वैजनटाइन सम्राट् निरंकुश शासक था जिसकी शक्ति पर उसकी हत्या द्वारा ही अंकुश लगाया जा सकता था। जबतक वह शक्तिशाली रहता था नागरिक तथा सैनिक प्रशासन पर उसका पूर्ण नियंत्रण रहता था। चर्च पर भी उसका नियंत्रण प्रायः पूर्ण ही था। धार्मिक संगठन के प्रमुख, कान्स्टेण्टीनोपुल के धर्माध्यक्ष की नियुक्ति पर उसका नियंत्रण था। वह चर्च-सभाओं का अह्वान करता था और उनके निर्णयों को राजाज्ञा के रूप में प्रसारित करता था। धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वह भले ही स्वयं न करता हो, किन्तु राजधानी के धर्माध्यक्ष के माध्यम से वह पूर्वी चर्च पर नियंत्रण तो बनाए ही रखता था। फिर भी चर्च पर उसका नियंत्रण पूर्ण नहीं था। साम्राज्य की जनता अत्यंत धर्मप्राण थी और धार्मिक मामलों में गहरी दिलचस्पी रखती थी। अतः साधारणतः सम्राट् उन मामलों में धर्माध्यक्ष का विरोध नहीं

कर सकता था जिनमें उसे जनता का समर्थन प्राप्त था। इस तरह, हम देखते हैं कि शक्तिशाली सम्राट् भी राजधानी के धर्माध्यक्ष के समक्ष नतमस्तक रहते थे, विशेषत: उन मामलों में जिनका उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रहता था।

लियो तृतीय और उसके उत्तराधिकारी (७१७-८६७ ई०)

बैजनटाइन साम्राज्य के इतिहास का द्वितीय चरण इसोरियन लियो तृतीय से शुरू होता है। काफी लम्बी अवधि के बाद कान्स्टेण्टीनोपुल की गद्दी पर लियो तृतीय (७१७-४० ई०) के रूप में ऐसा सम्राट् आसीन हुआ जो साम्राज्य के अवशिष्ट भाग को इसके दुश्मनों से बचा सका। लियो समृद्ध माता-पिता का पुत्र था। सम्राट् अनसटेशियस द्वितीय के शासनकाल में वह अनातोल थिम का शासक नियुक्त हुआ। वह एक कुशल प्रशासक, वीर सैनिक तथा सुयोग्य संगठनकर्त्ता था। राजनीति तथा धर्म सम्बन्धी उसके विचार प्राय: मौलिक थे। उसके गद्दी पर बैठने के पाँच मास के भीतर ही अस्सी हजार अरबों की सेना ने साम्राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु, इस अल्प काल में ही लियो ने आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए समुचित तैयारी कर ली थी। अत: थल तथा जल मार्ग से अरबों द्वारा कान्स्टेण्टीनोपुल का डाला गया घेरा असफल रहा। लियो ने आक्रमण-कारियों के लौटने का मार्ग भी अवरुद्ध कर दिया। उसके आह्वान पर बुलगारियन राजा तरबेल भी अपनी विशाल सेना के साथ आ धमका। तरबेल की सेना ने बाईस हजार मुसलमानों को युद्ध क्षेत्र में ही मार डाला। केवल एक तिहाई आक्रमणकारी ही स्वदेश लौट सके। ईसाई यूरोप की रक्षा करने का श्रेय लियो को मिला। इस दृष्टि से उसकी सफलता चार्ल्स मार्टल की सफलता से कहीं अधिक महान थी।

अरब आक्रमणकारियों से निपटने के बाद लियो तृतीय ने साम्राज्य के आंत-रिक संगठन की ओर ध्यान दिया। उसके समय में कम्मियों की संख्या काफी घट गई और स्वतंत्र-किसानों की संख्या में वृद्धि हुई। उसकी शासन व्यवस्था का हमें विषद ज्ञान नहीं है, किन्तु कानून ग्रन्थ **इक्लोगा** से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि उसका शासन उच्च कोटि का था।

मूर्त्ति-भंजन विवाद (७२६-८४२ ई०)

सातवीं शताब्दी में यूरोप में अंधविश्वास, जादू-टोना तथा प्रकृति सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं का बोलबाला था। ईसाई परम्परा एवं विश्वासों के ठीक विप-रीत, चर्च के विभिन्न प्रतीकों में अब जादुई एवं रहस्यमय शक्तियों का अभ्यास

लोगों को होने लगा था। परिणामस्वरूप, लियो तृतीय को धर्म के क्षेत्र में अत्यंत विवादग्रस्त सुधार करना पड़ा जिसे इतिहास में मूर्ति-भंजन की संज्ञा दी गई है।

अंधविश्वासों का एक रूप था मूर्त्तिपूजा। इसके विरोधी इसे आइकोनोड्ली कहते थे। मूर्त्तिपूजा से सम्बद्ध यह विवाद चर्च के इतिहास में मूर्त्तिभंजकों का युद्ध कहा गया है। अरब देश में इस्लाम का जन्म होने तक वैजनटाइन साम्राज्य में ईसाई धर्म के स्वरूप में काफी परिवर्त्तन आ चुका था। धर्म की प्रारम्भिक सरलता एवं पवित्रता का उस समय तक लोप हो चुका था। इसपर विधर्मियों का प्रभाव स्पष्ट था। गिरजाघर अब संतों, देवदूतों तथा ईसामसीह की मूर्तियों, चित्रों आदि से भरे पड़े थे। इन्हें लोग श्रद्धायुक्त भय की दृष्टि से देखते थे। लोगों का विश्वास था कि इन मूर्त्तियों, चित्रों में अद्‌भुत चमत्कारी शक्ति निहित थी। प्रत्येक नगर तथा गाँव के गिरजाघर में कोई न कोई इस प्रकार की चमत्कारी वस्तु रहती ही थी। वस्तुत: वह नगर-गाँव उस देव-विशेष का धाम माना जाता था। ऐसी स्थिति में जब पूर्वी साम्राज्य के ईसाई देव-स्थान अरबों द्वारा ध्वस्त किए जाने लगे तब लोगों को निराशा हुई। तथाकथित अद्‌भुत शक्ति से युक्त उनके देव अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ थे। लोगों पर ठीक उसी तरह का प्रभाव पड़ा जैसा महमूद गजनी अथवा मुहम्मद गोरी के हमलों का उत्तरी भारत के हिन्दुओं की धार्मिक भावना पर पड़ा था। उन्होंने देखा कि अरब आक्रमणकारी उनकी पवित्र मूर्त्तियों को गिरजाघर में ही नष्ट कर देते थे, किन्तु दैवी प्रकोप उन्हें नहीं सताता था। इससे ईसाई निराश, भयभीत और त्रस्त हो उठे। एक ऐसा सुधारक दल उठ खड़ा हुआ जो कहने लगा कि भगवान ने चर्च को विधर्मियों द्वारा इसलिए ध्वस्त होने दिया है कि ईसाई सही उपासना का परित्याग कर घोर मूर्त्तिपूजक हो गए हैं। मूर्त्तिपूजा के ये विरोधी मूर्त्ति-भंजक कहे जाने लगे। पूर्वी साम्राज्य के इन सुधारकों ने ७५४ ई० में कान्स्टेण्टी-नोपल में हुई एक धर्मसभा में यह घोषणा की कि मूर्ति-पूजा ईसाई धर्म को भ्रष्ट रूप तथा विधर्मिता की पुनर्स्थापना है और मूर्त्तिपूजा के सभी स्मारकों को तोड़ या मिटा दिया जाना चाहिए।"

लियो तृतीय अत्यन्त उग्र मूर्त्तिभंजक था। पूर्वी साम्राज्य के ग्रीक गिरजाघरों को मूर्त्तियों से एकदम खाली करने के बाद उसने पश्चिमी रोमन गिरजाघरों को भी मूर्त्तिपूजा के सभी चिह्नों से मुक्त करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से उसने एक आदेश भी निकाला। दूसरी ओर रोम स्थित पोप ग्रिगोरी द्वितीय ने इस आदेश का न केवल विरोध किया, बल्कि जातिबहिष्कार द्वारा लियो तथा पूर्वी चर्च को भी कैथोलिक चर्च संसर्ग से वंचित कर दिया। संभवत: पोप समझता था कि यदि चर्च में इतना

बड़ा परिवर्त्तन लाया भी जाए, तो उसकी शुरूआत रोम द्वारा की जानी चाहिए न कि कान्स्टेण्टीनोपुल द्वारा। अतः पोप ने उन सभी लोगों को जातिबहिष्कृत कर दिया जो मूर्त्तिभंजक आंदोलन के समर्थक थे। सम्राट् की जगह पर एक नये सम्राट् कॉसमस को खड़ा भी किया गया, किन्तु लियो ने उसे पकड़ कर मार डाला।

लियो धर्म के मामले में कट्टरपंथी था और उसकी धार्मिकता में कोई संदेह नहीं है। परन्तु अन्य कट्टरपंथियों की तरह वह मूर्त्तिपूजा का समर्थक नहीं था। वह ईसा-मसीह के मानवीकरण के विरुद्ध था। मूर्त्तिपूजा का विरोध वह केवल तर्क अथवा धार्मिकता के आधार पर करता रहा हो, सो बात नहीं थी। उसका विरोध शायद उसकी एक विशिष्ट दार्शनिक चिंतनधारा एवं प्रौढ़ विवेक पर आधारित था। साम्राज्य के पढ़े-लिखे लोगों, उसकी सेना तथा अधिकारी-वर्ग ने उसका साथ दिया। किन्तु ईसाई भिक्षुओं तथा पादरियों ने उसका विरोध किया क्योंकि भारतीय पंडे-पुजारियों की तरह मूर्त्तिपूजा में उनका आर्थिक स्वार्थ निहित था। धर्मभीरु, निरक्षर सामान्य जनता ने भी उसका विरोध किया। मोटे तौर पर साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों ने उसका साथ दिया और मूर्त्तिपूजक पश्चिमी प्रांतों ने उसका विरोध किया। यूनान तथा इटली में दंगे हुए। कान्स्टेण्टीनोपुल के वयोवृद्ध धर्माध्यक्ष ने लियो का विरोध किया अतः उसे उसके पद से हटा दिया गया। किन्तु पोप पर इस तरह का दबाव डाल सकना लियो के लिए संभव न था। फिर भी, अपने शासन के अंतिम वर्षों तक लियो को काफी सफलता मिली। पोप तथा इटली को छोड़कर साम्राज्य के अधिकांश भाग ने मूर्त्तिभंजन-कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था। अरबों के चार हमले विफल किए जा चुके थे। लियो की सफलता के कारण ही अगले तीन सौ वर्षों तक मुसलमानी आक्रमणों की बाढ़ को रोका जा सका।

लियो तृतीय के बाद उसका पुत्र कन्स्टनटाइन कापरोनिमस (७४०-७५) गद्दी पर बैठा। अपने पिता के जीवनकाल में ही उसे पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव प्रशासकीय अनुभव प्राप्त हो चुका था। पिता के मूर्त्तिभंजक सिद्धान्तों में उसकी भी अटूट आस्था थी। उसके गद्दी पर बैठते ही मूर्त्तिपूजकों का एक भीषण विद्रोह हुआ। किन्तु, इस विद्रोह को बलपूर्वक दबा दिया गया। विद्रोही नेता अंधे बनाकर एक मठ में भेज दिए गए। इससे अन्य मूर्त्तिपूजक भयभीत हो उठे। मूर्त्तिपूजकों को बलपूर्वक दबाने की अपनी नीति को मान्यता दिलाने के लिए कन्स्टनटाइन ने कान्स्टण्टीनोपुल में एक धर्मसभा का आह्वान किया। इस सभा में एंटिओक, येरुसलम तथा अलेक्जेंड्रिया के धर्माध्यक्ष शामिल नहीं हुए। किन्तु सभा में उपस्थित तीन सौ से भी अधिक बिशपों ने मूर्त्तिभंजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। इससे सम्राट् को बल

मिला और मूर्त्तिपूजकों का विधर्मियों के रूप में दमन किया जाने लगा। मठवासी मूर्त्तिपूजा के सबसे कट्टर समर्थक थे। अतः सम्राट् ने मठवाद को ही समाप्त करने का निश्चय किया। मठवासियों को या तो विवाह कर गृहस्थ जीवन धारण करने को वाध्य किया गया या सीधा निष्कासित कर दिया गया। अनेक खाली मठों को गिरा दिया गया अथवा फौजी छावनियों में वदल दिया गया। फिर भी, मूर्त्तिपूजकों को पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सका।

कन्स्टनटाइन का उत्तराधिकारी लियो चतुर्थ (७७५-८०) भी मूर्त्तिभंजक था। किन्तु, उसने अपने पिता की तरह कठोर नीति को नहीं अपनाया। उसने अनेक मूर्त्तिपूजकों को कोड़े लगवाकर निर्वासित किया, किन्तु मठवासियों को मठों का पुनर्निर्माण करने दिया। सन् ७७७ ई० में मूर्त्तिपूजकों ने उसके भाइयों के साथ मिल कर उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया। फिर भी उसने षड्यंत्रकारियों को मृत्युदंड न देकर केवल निर्वासित कर दिया।

लियो चतुर्थ के वाद उसका नाबालिग पुत्र कन्स्टनटाइन षष्ठ अपनी माता आरेनी के संरक्षण में सम्राट् वना। आरेनी स्वयं मूर्त्तिपूजक थी, यद्यपि अपने पति के जीवन-कालमें वह इस वात को छिपा गई थी। फलस्वरूप, मूर्त्तिपूजकों का उत्पीड़न तत्काल वंद हो गया। मूर्त्तिपूजक तारसियस को धर्माध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् ७८७ ई० में तारसियस ने एक धर्मसभा का आह्वान किया जिसमें मूर्त्तिपूजा को पुनः वैध ठहराया गया। मूर्त्तिभंजन विशपों को जातिवहिष्कृत किया गया और मूर्त्ति-भंजक-सिद्धान्त के अनुयायी सैनिकों को भी वलपूर्वक दवा दिया गया। कन्स्टन-टाइन षष्ठ के वालिग होने पर भी आरेनी ने शासन-सूत्र को अपने हाथ में ही रखा। परन्तु अनातोलिक फौज की सहायता से कन्स्टनटाइन ने गद्दी एवं शासन पर कब्जा कर लिया और आरेनी को कुछ समय के लिए राजमहल में ही वंदी वना कर रखा। कुछ समय वाद उसने अपनी माता को शासन-कार्य में हाथ वँटाने का मौका दिया, किन्तु आरेनी उसका विरोध करती ही रही। अंत में उसने अपने पुत्र को गद्दी से उतारकर शासन पर अपना एकाधिकार कायम कर लिया। अगले छः वर्षों तक वह निर्वाध शासन करती रही। परन्तु ८०२ ई० में उसके कोषाध्यक्ष निसेफोरस ने उसे गद्दी से उतार कर अपने आप को सम्राट् घोषित कर दिया। मूर्तिभंजन का विवाद यहीं समाप्त हो गया होता। किन्तु, आरेनी के समर्थन से, मूर्त्तिपूजक मठवासी इतने उद्दंड हो गए थे कि वे अपनी सफ-लता का दुष्प्रयोग करने लगे। वे अपने आपको सामाजिक नियंत्रण से सर्वथा मुक्त समझने लगे। अतः सम्राट् लियो पंचम (८१३-२०) को ८१५ ई० में इस विवाद

में पुनः पड़ना पड़ा। उसने सभी मूर्त्तियों को नष्ट करने का आदेश निकाल दिया। अंत में अन्तिम इसोरियन सम्राट् माइकल तृतीय ने ८४३ ई० में पुनः मूर्त्तिपूजा को वैध करार दिया। इस तरह मूर्त्तिभंजन-विवाद समाप्त हुआ। परन्तु इस समय तक रोमन तथा ग्रीक चर्चों में इतना अलगाव आ गया था कि ईसाई जगत के इन दो भागों में मेल-मिलाप करना प्रायः असंभव हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूर्वी तथा पश्चिमी चर्च एक दूसरे से बिल्कुल अलग हो गए।

मूर्त्तिभंजन-विवाद का रोमन चर्च पर एक अन्य प्रभाव भी पड़ा। बैजनटाइन सम्राटों से अपने संघर्ष में रोमन चर्च को किसी शक्तिशाली पश्चिमी शासक की सहायता की आवश्यकता पड़ी। उसने पहले लोम्बार्डों का दामन थामा, किन्तु शीघ्र ही लोम्बार्ड खतरनाक संरक्षक सिद्ध हुए। अतः रोमन चर्च ने फ्रैंकों की सहायता प्राप्त की। कैरोलिंगियन सम्राटों तथा रोमन चर्च में मित्रता स्थापित हुई। दोनों ने एक दूसरे की पूरी सेवा की। पोपों ने पिपिन के वंशधरों को रोमन सम्राटों के रूप में अभिषिक्त किया। कैरोलिंगियन शासकों ने पोपतंत्र की उसके शत्रुओं से रक्षा की और नगरों तथा प्रांतों का उपहार देकर उसे समृद्ध बनाया। इससे पोपतंत्र की राजनीतिक प्रभुता की स्थापना हुई। धीरे-धीरे पोपतंत्र ईसाई जगत में आध्यात्मिक के साथ-साथ राजनीतिक सम्प्रभुता भी प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। परिणामस्वरूप, पदप्रतिष्ठान-संघर्ष का सूत्रपात हुआ।

मेसिडोनियन राजवंश (८६७-१०५७ ई०)

अंतिम इसोरियन सम्राट् माइकल तृतीय शराबी और दुराग्रही था। उसका एक प्रिय पात्र था बेसिल जिसका जन्म मेसिमेडोन में हुआ था। उसने सम्राट् की रक्षिता युडोसिया इंगेरिना से विवाह किया था। सन् ८६७ ई० में माइकल ने उसे सह-सम्राट् के रूप में स्वीकार किया। उसी वर्ष बेसिल ने माइकल की हत्या कर गद्दी पर पूर्ण अधिकार कर लिया। इस तरह, मेसिडोनियन राजवंश ने आरम्भ हुआ। इस राजवंश ने प्रायः दो सौ वर्षों तक शासन किया। यह काल बैजनटाइन साम्राज्य के इतिहास का स्वर्ण युग था।

यद्यपि बेसिल प्रथम (८६७-८६) षड्तन्त्र तथा हत्या द्वारा गद्दी पर आसीन हुआ था, वह एक महान तथा प्रजावत्सल शासक सिद्ध हुआ। वह उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ तथा कुशल सेनापति था। सामरिकता एवं वैदेशिक नीति के अतिरिक्त शासन एवं न्याय के क्षेत्र में उसे महान सफलता मिली। उसने ईमानदारी पदाधिकारी तथा निष्पक्ष न्यायाधीश नियुक्ति किए। राजस्व विभाग में फैले

भ्रष्टाचार को भी दूर किया गया। बड़े भूस्वामियों से छोटे किसानों की रक्षा की गई। कानून के क्षेत्र में जस्टिनियन काड में आवश्यक परिवर्तन किए गए। कानूनों की एक वृहत् संहिता तैयार करने का काम भी शुरू किया गया। वेसिल प्रथम कला का भी सरक्षक था। उसके नये गिरजाघर में पच्चीकारी का सुन्दर काम किया गया था। उसके समय की पाण्डुलिपियों में रंग का जितना सुन्दर काम हुआ वह कलात्मक पुनरुत्थान का प्रतीक था। बैजनटाइन वास्तुकला में भी इस युग में नवीन अध्याय जोड़े गए।

वेसिल प्रथम का पारिवारिक जीवन दुःखमय था। उसके बड़े लड़के कान्स-टनटाइन का उसके जीवनकाल में ही देहान्त हो गया। उसका द्वितीय पुत्र लियो वस्तुतः माइकल के शुक्र से उत्पन्न हुआ था, अतः पिता के मानसिक क्षोभ का कारण था। तीसरा पुत्र अलेक्जेंडर सर्वथा अयोग्य था। अन्त में स्वयं वेसिल का अन्त हत्या के फलस्वरूप हुआ। वेसिल के बाद लियो षष्ठ (८८६-९१२) गद्दी पर बैठा। वह भले ही माइकल का पुत्र रहा हो, किन्तु उसने वेसिल की नीति का ही अनुसरण किया। यद्यपि समरक्षेत्र में उसे विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु शान्तिकालीन कार्यों में वह अवश्य सफल रहा। वह एक विद्वान तथा न्यायप्रिय शासक था। बैजनटाइन कानूनों की पूर्ण संहिता उसी के समय से तैयार की गई। चर्च तथा राज्य के प्रशासन पर उसका पूर्ण नियन्त्रण था। राजकीय समारोहों, पुलिस-व्यवस्था, व्यापार तथा धार्मिक संस्थानों में वह समान रूप से रुचि रखता था। परन्तु विवाह तथा पुत्रोत्पत्ति उसकी प्रमुख असफलताएँ थीं। प्रथम तीन विवाहों से केवल कन्याओं ने जन्म लिया। बैजनटाइन कानून के अन्तर्गत चौथा विवाह निषिद्ध था। फिर भी, जब उसकी रक्षिता जो ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया तो लियो ने जो से विधिवत् विवाह करने का निश्चय किया। पोप तथा पूर्वी धर्माध्यक्षों ने इसे जायज करार दिया, किन्तु कान्स्टेण्टीनोपुल के धर्माध्यक्ष निकोलस ने इसका विरोध किया। यह विवाद चल ही रहा था कि इसी बीच लियो की मृत्यु हो गई। उसके बाद कन्स्टनटाइन सप्तम (९१२-५९) गद्दी पर बैठा। वह सज्जन पुरुष, कलाकार तथा विद्वान था, परन्तु प्रशासनिक गुणों का उसमें सर्वथा अभाव था। उसके समय में वास्तविक शक्ति सह-सम्राट् रोमानुस प्रथम (९१९-४४) में निहित थी। रोमानुस प्रथम स्वयं अपने राजवंश की स्थापना करना चाहता था। एक-एक कर उसके लड़के सह-सम्राट् बने और असफल होते रहे। अन्त में गद्दी पर कन्स्टनटाइन का एकाधिकार कायम हो गया। वह विद्वानों का आश्रयदाता तथा स्वयं प्रकाण्ड विद्वान था। उसकी अनेक रचनाएँ

थीं जिनमें सर्वाधिक विख्यात बेसिल प्रथम की जीवनी है। राजकीय समारोहों, प्रशासन तथा साम्राज्य के थिम्स पर लिखित उसकी पुस्तकें ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। उसकी शासन-व्यवस्था एक सुसंगठित, प्रशिक्षित और सुयोग्य नौकरशाही तथा सेना पर आधारित थी।

विष द्वारा कन्स्टनटाइन की हत्या कर उसका पुत्र रोमानुस द्वितीय (९५९-६३) गद्दी पर बैठा। उसके संक्षिप्त शासनकाल में साम्राज्य को सैनिक सफलताएँ मिलीं और उसका विस्तार हुआ। इसका प्रमुख श्रेय सेनापति निसेफोरन को था। उसने क्रीट का उद्धार किया और अपनी सेना के साथ तो रूस पर्वतमाला के पार तक पहुँच गया। रोमानुस द्वितीय की मृत्यु के बाद निसेफोरेस स्वयं सम्राट् बन बैठा और ९६९ ई० तक शासन करता रहा। उसने रोमानुस द्वितीय की विधवा थियोफानो से विवाह किया और विरोधी मठवासियों की सम्पत्ति को जब्त कर लिया। निरन्तर बढ़ते खर्च के कारण उसे नये कर लगाने पड़े। उधर उसकी रानी थियोफानो की सेनापति जॉन जिमिस्क से प्रेम-लीला चल रही थी। दिसम्बर ९६९ ई० में जिमिस्क ने राजमहल में घुसकर निसेफोरस की हत्या कर दी। वह स्वयं सम्राट् बना और बाद में थियोफानो को भी निकाल बाहर किया। अपने शासन को वैधता प्रदान करने की दृष्टि से उसने कन्स्टनटाइन सप्तम की एक कन्या से विवाह किया।

जॉन जिमिस्क लोकप्रिय शासक सिद्ध हुआ। साम्राज्य का आन्तरिक प्रशासन राजमहल के महाप्रतिहार बेसिल के जिम्मे था। जॉन ने साम्राज्य का विस्तार किया और जर्मन सम्राट् ओटो महान के पुत्र से एक बैजनटाइन राजकुमारी का विवाह करके उसके विरोध को मिटाने का प्रयास किया। परन्तु, उसकी आन्तरिक स्थिति बराबर डांवांडोल बनी रही क्योंकि एशिया माइनर के बड़े भू-स्वामी हमेशा गद्दी को हथियाने की ताक में रहते थे। जिमिस्क की अचानक मृत्यु के बाद बेसिल द्वितीय सम्राट् बना। उसने एशिया माइनर के अपने विरोधियों का रूस की सहायता से दमन किया। सन् १०२५ ई० में उसकी मृत्यु के समय तक साम्राज्य का विस्तार डेन्यूब से फरात तक हो चुका था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मेसिडोनियन राजवंश का पतन होने लगा। कन्स्टनटाइन अष्टम (१०२५-२८) तथा रोमानुस तृतीय (१०२८-३४) केवल नाममात्र के सम्राट् थे। माइकल चतुर्थ (१०३४-४१) मिरगी-रोग-ग्रस्त व्यक्ति था। कन्स्टनटाइन नवम् (१०४२-५४) की मृत्यु के तीन वर्ष के भीतर ही मेसिडोनियन राजवंश का अन्त हो गया। कन्स्टनटाइन के बाद थियोडोरा ने एक वर्ष तक शासन किया। सन् १०५६ ई० में उसकी मृत्यु के बाद मन्त्रियों ने माइकल षष्ठ (१०५६-५८) को गद्दी पर बैठाया। परन्तु, शीघ्र ही साम्राज्य के

शक्तिशाली सेनापतियों ने विद्रोह कर दिया। धर्माध्यक्ष सेरूलेरियस के सहयोग से इन्होंने माइकल को पराजित किया। उसे एक मठ में भेज दिया गया। विद्रोहियों का नेता इसाक प्रथम (१०५७-५९) नया सम्राट् बना।

मेसिडोनियम राजवंश की समाप्ति के साथ ही वैजनटाइन साम्राज्य के उत्कर्ष काल का अन्त हो गया। यद्यपि साम्राज्य अगले चार सौ वर्ष तक कायम रहा (१०५७-१४५३), किन्तु यह लगातार कमजोर पड़ता गया। अन्तिम सौ वर्षों में तो साम्राज्य राजधानी की चहारदिवारी तक ही सीमित था। यद्यपि स्वतन्त्र किसानों का खात्मा और बड़ी जमींदारियों में वृद्धि से साम्राज्य अन्दरूनी तौर पर कमजोर हुआ, किन्तु वाह्य आक्रमणों के कारण ही इसकी शक्ति पूर्णतया समाप्त हुई। ये वाहरी आक्रमण लगभग सभी दिशाओं से हुए। सेलजुक सुल्तान अल्प अरसलान (१०६३-७३) ने मेंजिकर्ट की लड़ाई में सम्राट् रोमानुस चतुर्थ (१०६७-७१) को पराजित किया। अल्प अरसलान के भतीजा सुलेमान ने वैजनटाइन के सभी एशियाई प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। तुर्क आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा करने के लिए सम्राट् एलेक्सियस कोमेनस (१०८१-१११८) ने पश्चिमी यूरोपियन राजाओं तथा पोप से सहायता की याचना की। यूरोपियन धर्मयोद्धाओं की सहायता से तुर्क एशिया माइनर में पराजित किए जा सके। एलेक्सियम के पुत्र जॉन द्वितीय (१११८-४३) तथा पौत्र मैनुएल प्रथम (११४३-८०) के शासनकाल में वैजनटाइन साम्राज्य पुनः शक्तिशाली वन गया। किन्तु सम्राट् एनड्रोनिकस कोमेनस (११८३-८५) को इसाक अंजेलस (११८५-९५) नामक एक सामंत ने गद्दी से उतार दिया। एनड्रोनिकस कोमेनस एक कमजोर तथा प्रभावहीन सम्राट् सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में साम्राज्य तीव्र गति से छिन्न-भिन्न होने लगा। सर्विया का राज्य साम्राज्य से अलग हो गया। लगभग इसी समय वुलगारों ने भी अपने खोए राज्य को प्राप्त कर लिया। पूर्ववर्ती सम्राट् इसाक कोमेनस के एक सम्बन्धी ने साइप्रस के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। संक्षेप में, वैजनटाइन साम्राज्य लड़खड़ा उठा और उसे धराशायी करने के लिए मात्र शक्तिशाली धक्के की आवश्यकता थी। यह काम चतुर्थ धर्मयुद्ध के नेताओं ने किया। उन्होंने कान्स्टेण्टीनोपुल पर कब्जा कर लिया और इस तरह कान्स्टेण्टीनोपुल के रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। काउन्ट वाल्डविन इसका सम्राट् बना। इसी बीच अनेक वैजनटाइन राजकुमारों ने उन भागों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की जहाँ तक धर्मयोद्धा नहीं पहुँच पाए थे।

अगले ५७ वर्ष वैजनटाइन साम्राज्य के इतिहास में अभूतपूर्व अराजकता के वर्ष रहे। साम्राज्य के अवशेष पर जिन राज्यों की स्थापना हुई थी, वे हमेशा एक दूसरे

से लड़ते रहते थे। ऐसी परिस्थिति में कान्स्टेन्टीनोपुल के रोमन राज्य के बने रहने की संभावना बहुत कम थी। कान्स्टेन्टीनोपुल तथा आसपास के निवासी नवीन शासकों से घृणा करते थे। सम्राट् बुलगारों तथा निकाईया के बैजनटाइनों का सामना करने में असमर्थ था। अन्य लैटिन राज्य तथा वेनेसियन भी कभी-कभी सम्राट् के शत्रुओं से मिल जाते थे। अन्त में एक नवीन बैजनटाइन राजवंश के संस्थापक माइकल पेलियोलोगस (१२६१-८२) से कान्स्टेण्टीनोपुल के लैटिन राज्य को समाप्त कर बैजनटाइन साम्राज्य की पुनर्स्थापना की। नवीन साम्राज्य भूतपूर्व साम्राज्य के एक अत्यंत छोटे भाग तक ही सीमित था। इस संकुचित साम्राज्य के भी अनेक शत्रु थे, जैसे, बुलगारिया तथा सर्विया। किन्तु अभी भी साम्राज्य के सबसे बड़े शत्रु तुर्क ही थे। ओटोमन तुर्कों ने १३२६ से १३५९ ई० के बीच साम्राज्य के समस्त एशियाई प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। सन् १३९५ ई० तक तुर्कों ने बाल्कन प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। बुलगार राज्य नष्ट हो गया और सर्बिया को भी तुर्कों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १३९७ ई० में सुल्तान बयाजिद (१३८९-१४०२) ने कान्स्टेण्टीनोपुल का घेरा डाला, किन्तु एशिया माइनर पर तैमूर लंग के हमले के कारण बयाजिद को पीछे हटना पड़ा। अगले पचास वर्षों तक ओटोमन सुल्तान हंगरी, पोलैंड तथा वेनिस के शासकों से लड़ते रहे। अतः असहाय बैजनटाइन सम्राट् को कुछ समय के लिए बचने का मौका मिल गया। किन्तु १४५३ ई० में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय (१४५१-८१) ने कान्स्टेण्टीनोपुल पर हमला कर दिया। उस वर्ष २९ मई के दिन कान्स्टेण्टीनोपुल पर तुर्कों का अधिकार हो गया। बैजनटाइन साम्राज्य अंतिम रूप से नष्ट हो गया और कुस्तुनतुनियाँ में ओटोमन साम्राज्य की राजधानी स्थापित हुई।

योरोपीय सभ्यता को बैजनटाइन साम्राज्य की देन :

योरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास पर बैजनटाइन साम्राज्य का बहुमुखी प्रभाव पड़ा। एक सैनिक चौकी के रूप में इस साम्राज्य ने प्रायः हजार वर्ष तक योरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति को एशियाई आक्रमणकारियों से आक्रान्त होने से बचाया। इसने सदियों तक प्राचीन सभ्यता की अमूल्य निधियों को सुरक्षित रखा। परवर्ती योरोपीय राज्यों को कानून, प्रशासन, साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला और औद्योगिक शिल्प के क्षेत्र में इस पूर्वी साम्राज्य से बहुत कुछ सीखने को मिला। बैजनटाइन साम्राज्य ने साम्राजिक आदर्श तथा सिद्धान्त को जीवित रखकर यूरोप में साम्राज्य की पुनर्स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। शार्लमन के समय में इस विचारधारा ने यूरोप में मूर्तरूप ग्रहण किया। ठीक ही कहा गया है कि "परवर्ती

पूर्वी रोमन साम्राज्य के बिना पश्चिमी रोमन जर्मन साम्राज्य की स्थापना कभी नहीं हो पाती।" पुनः पूर्वी यूरोप की स्लाव जाति ने धर्म एवं सभ्यता का पाठ इस साम्राज्य से पढ़ा। "रूस आज सभ्य जगत का भाग इसीलिए है कि उसने 'नवीन रोम' से बहुत कुछ सीखा था।" विकासोन्मुख सभ्यताओं के लिए प्रेरणा का अक्षय स्रोत होने के अतिरिक्त बैजनटाइन साम्राज्य ने स्वयं एक ऐसी सभ्यता का सृजन किया जो पूर्वी यूरोप में दीर्घकाल तक प्रतिष्ठापित रही। बाल्कन प्रदेश तथा रूस की सभ्यता में आज भी कई बैजनटाइन तत्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

बैजनटाइन-सभ्यता की मौलिकता उसकी कला में निहित थी। उत्तरकालीन रोमन साम्राज्य में ईसाई कला की दो प्रायः भिन्न विधाओं का विकास हुआ। इनमें एक विधा निःसंदेह यूनानी थी। लौकिक सौन्दर्य और आनन्द इसके प्रमुख लक्षण थे। इस विधा के कलाकारों के लिए ईसा सुन्दर, दाढ़ीरहित युवा व्यक्ति थे जिन्हें अक्सर नग्न रूप में दर्शाया जाता था। दूसरी विधा का विकास फिलस्तीन एवं सीरिया में हुआ था। रोबदार अभिजात्य इसका प्रमुख लक्षण था। इसके अंतर्गत ईसा लम्बी पूर्वी पोशाक से सुसज्जित श्मश्रुल व्यक्ति थे। इन दोनों विधाओं का पश्चिमी तथा पूर्वी यूरोप की मध्यकालीन कला पर गहरा प्रभाव पड़ा। बैजनटाइन साम्राज्य में इन दोनों विधाओं के संलयन से उस कला का जन्म हुआ जिसे हम बैजनटाइन कला के नाम से जानते हैं। इस कला की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई—पच्चीकारी के रूप में तथा पाण्डुलिपियों की सज्जा के रूप में। बैजनटाइन गिरजाघर वस्तुतः पच्चीकारी के प्रदर्शन का माध्यम था। इसका वाह्य उच्चस्थ गुम्बद के कारण अवश्य रोबदार लगता था, किन्तु यह साथ ही सज्जा के अभाव में सपाट भी लगता था। दूसरी ओर इसका अन्तः सुन्दर पच्चीकारी से अद्भुत जान पड़ता था। यह प्रभ-विष्णुता वस्तुतः सुनहरे, नीले, लाल तथा गुलाबी रंगों के कारण आती थी। आकृतियों को यथासंभव अस्वाभाविक बनाया जाता था। आकार और अभिप्राय की दृष्टि से सज्जा में उनका प्रयोग प्रतीकात्मक ही होता था। बैजनटाइन पाण्डुलिपियों के सूक्ष्म चित्रों में भी इन्हीं विशेषताओं का प्रदर्शन होता था सामान्य और धार्मिक उपयोग के निमित्त निर्मित तत्कालीन आभूषणों में भी सज्जा की ऐसी ही झलक मिलती है। संक्षेप में, बैजनटाइन साम्राज्य ने ऐसी विशिष्ट एवं प्रभावशाली कला का विकास किया जो इसकी सभ्यता का अभिन्न अंग थी। पश्चिमी यूरोप में यह कला वस्तुओं तथा पाण्डुलिपियों के माध्यम से पहुँची। पाश्चात्य शिल्पियों तथा सज्जाकारों ने अपनी कृतियों में बैजनटाइन आदर्शों का अनुकरण किया। पश्चिमी यूरोप के गिरजाघरों को सजाने वाले चित्रकार तथा शिल्पी बैजनटाइन चित्रयुक्त पाण्डुलिपियों से प्रेरणा

ग्रहण करते थे। इस तरह प्रारम्भिक ईसाई कला से मिलकर बैजनटाइन कला ने योरोपीय कला को विविधता प्रदान की।

विशुद्ध बौद्धिकता के क्षेत्र में बैजनटाइन सभ्यता की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई—धार्मिक विवाद द्वारा और ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग द्वारा। बैजनटाइन साम्राज्य के विद्वान धर्मप्राण थे और आध्यात्मिक प्रश्नों में गहरी अभिरुचि रखने वाले थे। विधर्मिता के समर्थन तथा विरोध में भी पर्याप्त साहित्य की सृष्टि हुई। सामान्य आध्यात्मिक प्रश्नों पर तो हमेशा ही कुछ-न-कुछ लिखा ही जाता था। बैजनटाइन लेखकों ने ऐसे विषयों पर भी बहुत कुछ लिखा जिनका व्यावहारिक महत्त्व था। युद्ध-कौशल पर कई ग्रन्थ लिखे गए। प्रशासन तथा कानून पर भी साहित्य की कोई कमी नहीं थी। अंततः बैजनटाइन लोगों की इतिहास में भी गहरी दिलचस्पी थी। प्रायः प्रत्येक राजवंश के अपने इतिहासकार हुए।

दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में बैजनटाइन सभ्यता ने पूर्ववर्ती ज्ञान के संरक्षण का काम किया। प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करने के अतिरिक्त उनका अध्ययन-विश्लेषण बराबर चलता ही रहता था। संचित ज्ञान को अधिक उपयोगी बनाने के लिए भाष्य, व्याकरण, शब्दकोश तथा विश्वकोश आदि की रचना हुई। परन्तु मौलिक वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। लेखन-कार्य में प्राचीन यूनानी भाषा का ही प्रयोग होता रहा, यद्यपि बोलचाल की भाषा निरन्तर बदलती गई। कुछ समय बाद, साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में काफी अन्तर आ गया। इससे साहित्य की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होता गया। यद्यपि बैजनटाइन बौद्धिकता का स्वरूप रचनात्मक नहीं था, फिर भी उसका प्रभाव व्यापक था। कान्स्टेण्टीनोपुल विश्वविद्यालय और साम्राज्य के अनेक विद्यालयों में लोग प्राचीन ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठा रहे थे। राजकीय सेवा में प्रवेश पाने के लिए प्रबुद्ध होना आवश्यक था। फलतः, सामन्त तथा मध्यवर्ग के लोग विद्वान नहीं तो कम-से-कम पढ़े-लिखे अवश्य थे।

कुछ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों को छोड़कर शेष बैजनटाइन रचनाओं का पश्चिमी यूरोप की सभ्यता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु, प्राचीन रोमन तथा यूनानी साहित्य की बैजनटाइन पाण्डुलिपियों का महत्त्व अवश्य था। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पाश्चात्य विद्वान यूनानी भाषागत दर्शन तथा विज्ञान का लैटिन में अनुवाद करने लगे थे। यद्यपि यूनानी साहित्य का अधिकांश भाग बौद्धिक पुनर्जागरण-काल से पूर्व यूरोप न पहुँच सका, फिर पाश्चात्य विद्वद्वाद के प्रारम्भिक विकास पर बैजनटाइन दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पाण्डुलिपियों का गहरा का प्रभाव पड़ा।

मध्यकाल के उत्तरार्ध में, अरब सभ्यता के माध्यम से यह प्रभाव और अधिक पड़ा। जब अरबों ने साम्राज्य के एशियाई तथा अफ्रिकी प्रदेशों पर कब्जा किया, प्राचीन रोमन तथा यूनानी साहित्य की कई अमूल्य रचनाएँ उनके हाथों में पड़ीं। अरबों ने इनका सूक्ष्म अध्ययन-विश्लेषण किया। अरस्तु का अरबी में अनुवाद कर मुस्लिम संस्कृति तथा उसके विचारों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। युक्लिड की ज्यामिति, टालमी का ज्योतिष-शास्त्र, गेलेन का चिकित्सा-शास्त्र, सभी का अरबों ने अनुवाद और उपयोग किया। इतना ही नहीं, अरबों ने वैजनटाइन ज्ञान-राशि के उपयोग के साथ-साथ उसका संवर्धन भी किया। अंकगणित जिसका जन्म भारत में हुआ था, अरबों के माध्यम से यूरोप तक पहुँचा। बीजगणित को एक अरब विद्वान ने ही जन्म दिया था। इस तरह, अरबों द्वारा परिष्कृत एवं अभिवर्धित यूनानी दर्शन एवं विज्ञान ने उत्तर-मध्यकालीन पाश्चात्य पाण्डित्य को ठोस आधार प्रदान किया।

अध्याय ४
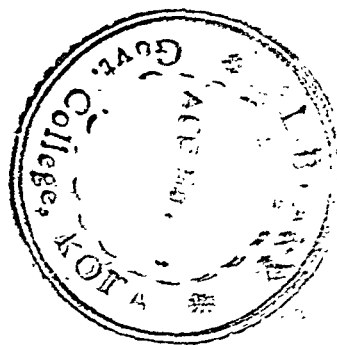
कैरोलिंगियन राजवंश

क्लोविश के समय से अगले डेढ़ सौ वर्षों तक उसके नेरोभींगियन वंशजों ने शासन किया, परन्तु आगे चलकर वे केवल नाममात्र के शासक रह गए और सातवीं शताब्दी में वास्तविक शक्ति उनके प्रधान मन्त्रियों के हाथ में आई, जिन्हें 'राजमहल के मेयर' की उपाधि दी गई थी। साधारणत: मेरोभींगियन राजवंश का अंत चिल्डेरिक के गद्दी से उतारे जाने के समय से माना जाता है, परन्तु इस वंश के राजाओं की वास्तविक शक्ति बहुत पहले खत्म हो गई थी। राजमहल के मेयरों ने शासन-सूत्र अपने कब्जे में कर लिया था और राज्य की आंतरिक एवं वैदेशिक नीति का निर्धारण एवं कार्यान्वियन उनके द्वारा ही होने लगा था। क्लोटार द्वितीय का उत्तराधिकारी डागोवर्ट (६२९-३९ ई०) अंतिम महत्त्वपूर्ण मेरोभींगियन राजा था। उसके बाद केवल नाममात्र के दुर्बल एवं अल्पायु राजा हुए जिनकी अकर्मण्यता का विशद वर्णन चार्ल्स के जीवनी-लेखक, आईनहार्ड ने किया है। शीघ्र ही मेरोभींगियन वंश का स्थान कैरोलिंगियन वंश ने ले लिया।

कैरोलिंगियन वंश की उत्पत्ति फ्रैंक राज्य के जर्मन-प्रधान भाग आस्ट्रेसिया में हुई थी। मेन्ज के विशप आरनुल्फ के लड़के ने लैंडेन के काउंट पिपिन की पुत्री से विवाह किया था। अतः आरनुल्फ और पिपिन कैरोलिंगियन वंश से सम्बन्धित प्रथम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। अदम्य रानी ब्रुनहिल्ड पर आस्ट्रेसियन सामंतों की विजय के लिए ये दोनों व्यक्ति सर्वाधिक जिम्मेदार थे। बाद में ये राजा डागोवर्ट के प्रमुख सलाहकार बन गये और पिपिन 'राजमहल का मेयर' बन बैठा। पिपिन के पुत्र ग्रिमवाल्ड ने तो मेरोभिंगियन गद्दी को ही हस्तगत करना चाहा, परन्तु वह असफल हुआ क्योंकि सामंत एवं पादरी वर्ग अभी तक मेरोभींगियन वंश को समाप्त करने के पक्ष में नहीं था। वस्तुतः कुछ समय के लिए इस वंश के प्रति भक्ति का ऐसा उद्रेक जनता में हुआ कि इसका लाभ उठाकर न्युस्ट्रिया के राजमहल के मेयर ईब्रोइन अपने आपको राज्य के तीनों भागों का मेयर बना लिया। लैंडेन के काउंट पिपिन के पौत्र, हेरिस्टाल निवासी पिपिन ने ईब्रोइन का विरोध किया और ६८१ ई० में उसकी हत्या के फलस्वरूप मेरोभिंगियन वंश का क्षणिक उत्कर्ष और न्युस्ट्रियन मेयरों का प्रभाव भी समाप्त हो गया। सन् ६८७ ई० में टरसी की लड़ाई में न्युस्ट्रियनों

को पराजित कर हेरिस्टाल का पिपिन सम्पूर्ण फ्रैंक राज्य का एकमात्र 'राजमहल का मेयर' वन वैठा। उस समय फ्रैंक राज्य लगभग छिन्न-भिन्न हो गया था। सामंत वर्ग केन्द्रीय सरकार की अवज्ञा कर राजकीय अधिकारों को हस्तगत कर रहा था। अतः पिपिन ने विघटनकारी तत्त्वों का दमन करना शुरू किया। परन्तु ७१४ ई० में उसकी मृत्यु के वाद उत्तराधिकार के प्रश्न पर संघर्ष के कारण, उसके द्वारा आरम्भ की गई केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया कुछ समय के लिए शिथिल पड़ गई। उसकी स्त्री ने शासन-सूत्र को अपने पौत्रों को सौंपना चाहा, लेकिन पिपिन के अवैध पुत्र चार्ल्स ने, जो इतिहास में मार्टेल के नाम से विख्यात हुआ, उसका सफलतापूर्वक विरोध किया। चार्ल्स मार्टेल, क्लोविश से लेकर चार्ल्स महान तक, फ्रैंक जाति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। कैरोलिंगियन राज्य का वह वास्तविक संस्थापक था।

चार्ल्स मार्टेल (७१४-४१ ई०) -

चार्ल्स मार्टेल को ऑस्ट्रेसियनों का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। उनकी सहायता से उसने एक छोटी किन्तु अत्यन्त कुशल सेना का गठन किया। उसके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ थीं, लेकिन उसने साहसपूर्वक उनका सामना किया और विघटनकारी तत्वों के दमन की अपने पिता की नीति का अनुसरण किया। डागोवर्ट की मृत्यु हो चुकी थी और न्युस्ट्रियनों ने चिलपेरिक द्वितीय को अपना राजा चुन लिया था। प्रिसियनों के साथ मिलकर चिलपेरिक कोलोन पर आक्रमण करना चाहता था, लेकिन चार्ल्स मार्टेल ने प्रिसियनों पर आक्रमण कर चिलपेरिक की योजना को असफल वना दिया। सन् ७१७ ई० में उसने न्युस्ट्रिया पर आक्रमण कर चिलपेरिक को भिसी की लड़ाई में पराजित किया और न्युस्ट्रियनों को पेरिस तक खदेड़ दिया। अपनी विमाता प्लेकटुडिस से कोलोन को छीनकर उसने उसके समर्थकों को मार भगाया। इस प्रकार फ्रैंक राज्य का पूर्वी भाग उसके अधिकार में आ गया और स्वयं राजमहल का मेयर वनकर उसने क्लोटार चतुर्थ को गद्दी पर विठाया। क्लोटार चतुर्थ संभवतः डागोवर्ट द्वितीय का पौत्र था। वह केवल नाममात्र का राजा था और सम्पूर्ण शक्ति राजमहल के मेयर चार्ल्स मार्टेल के हाथों में सीमित थी। उसने पश्चिमी फ्रिसलैंड पर कब्जा कर लिया। सैक्सनों को वेसर के पार भगा दिया गया। स्वाईसंस की लड़ाई में चिलपेरिक और इयूडो पराजित होकर ल्वायर नदी के पार भाग गए। इस लड़ाई के बाद न्युस्ट्रिया पर भी चार्ल्स मार्टेल का अधिकार हो गया। सन् ७१८ ई० में क्लोटार चतुर्थ की मृत्यु के वाद चार्ल्स आसानी से अपने आप को राजा घोषित कर सकता था, लेकिन उसने धैर्य से काम लिया और स्वयं द्वारा पराजित चिलपेरिक को

न्युस्ट्रिया की गद्दी पर बिठाया। चिलपेरिक ने उसे न्युस्ट्रिया और आॅस्ट्रेसिया, दोनों का ही एकमात्र मेयर स्वीकार कर लिया। अगले वर्ष चिलपेरिक की मृत्यु हो गई। थियोडोरिक चतुर्थ को कठपुतले के रूप गद्दी पर बिठाया गया और राज्य के सभी आन्तरिक्त एवं वाह्य कार्य राजमहल के मेयर द्वारा संपादित होते रहे। थियोडोरिक चतुर्थ ७२० से ७३७ ई० तक गद्दी पर बना रहा। उसके बाद किसी नाममात्र के राजा को भी गद्दी पर बिठाए बिना ही चार्ल्स अगले चार वर्षों तक शासन करता रहा।

चार्ल्स मार्टेल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी— स्पेन से मुसलमानी आक्रमणों से फ्रैंक राज्य की रक्षा। मुसलमानों पर निरंतर आक्रमणों के कारण वह इतिहास में 'मार्टेल' अथवा 'हथौड़ा' के नाम से विख्यात हुआ। सन् ७३२ ई० में नारबोने के नए शासक अब्द-उर-रहमान ने एक्विटेन के शासक इयूडो को पराजित किया और बोर्डियोक्स को ध्वस्त कर प्वायटिअर्स को पार करता हुआ टूर्स तक पहुँच गया। वह सम्पूर्ण फ्रांस पर कब्जा करना चाहता था, परन्तु ७३२ ई० में टूर्स के युद्ध में चार्ल्स मार्टेल ने उसके छक्के छुड़ा दिए। इस युद्ध का परिणाम बड़ा ही युगान्तरकारी हुआ। यूरोप वालों की विजय हुई और यूरोप मुसलमानों के चंगुल से निकल गया। कहते हैं कि "टूर्स के युद्ध में अरबों ने उस समय सारी दुनिया का साम्राज्य अपने हाथ से खो दिया जो इनकी मुट्ठी में आ चुका था।" अब वे पीरेनीज से आगे नहीं बढ़ सकते थे। यदि कहीं उनकी विजय हुई होती तो यूरोप के इतिहास की धारा ही कुछ और होती। यूरोप ईसाई धर्मावलम्बी न होकर इस्लाम को माननेवाला हो गया होता—नॉट्रेडम और संत पॉल गिरजाघरों की जगह मस्जिदें होता जिनमें ईसाई प्रार्थना की जगह कुरान का पाठ होता। अतः इस युद्ध को ठीक ही विश्व के निर्णायक युद्धों में से एक माना गया है। चार्ल्स मार्टेल की सफलता से सम्पूर्ण इस्लामी जगत में दहशत फैल गई और यूरोप में इस्लाम के विस्तार की गति हमेशा के लिए अवरुद्ध हो गई।

टूर्स की लड़ाई में सफलता के बावजूद, चार्ल्स मार्टेल की आंतरिक कठिनाइयों में कोई कमी नहीं हुई। जिस समय वह मुसलमानों से जीवन-मरण के संघर्ष में रत था, न्युस्ट्रियनों और वरगण्डीयनों ने विद्रोह का झंडा फहरा दिया। अतः अरबों को पराजित कर वह तत्काल बरगण्डी की ओर चल पडा। विद्रोही कुचल दिए गए और राज्य के सभी महत्वपूर्ण पदों पर विश्वासी व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। सन् ७३७ ई० में मुसलमान दक्षिण गॉल में पुनः घुस आए लेकिन चार्ल्स मार्टेल ने उन्हें मार भगाया। इसी तरह सैक्सनों के आक्रमण भी विफल

कर दिए गए। सन् ७३९ ई० में पोप ग्रिगोरी तृतीय के आह्वान पर उसने लोम्बार्ड राजा लियुटप्रैंड से रोम की रक्षा की। अगले वर्ष लोम्बार्डों ने रोम पर पुनः आक्रमण किया। पोप ने चार्ल्स मार्टेल को रोमन पेट्रिसियस की उपाधि दी जिसका अर्थ था कि ग्रिगोरी ने उसे रोमन प्रजा का प्रभु स्वीकार कर लिया। यह रोम का पूर्व साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद का भी परिचायक था। चार्ल्स के हस्तक्षेप से एक बार पुनः रोम की रक्षा हो गई। ग्रिगोरी और चार्ल्स मार्टेल की इस सहयोग-भावना का केरोलिंगियन वंश और पोपतंत्र के भविष्यत् सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा। चार्ल्स मार्टेल की राजनैतिक उपलब्धियाँ महान थीं, परन्तु पोप और ईसाई धर्म के प्रति उसकी नीति का भावी प्रभाव कहीं और अधिक हुआ। वह फ्रैंक जाति की राजनैतिक महानता का वास्तविक संस्थापक तो था ही, साथ-ही-साथ इस्लाम की बाढ़ से यूरोप का रक्षक भी सिद्ध हुआ। वस्तुतः उसकी तुलना सिकन्दर और हैनिबाल से की जा सकती है। जीवन-पर्यन्त कठिन संघर्ष का चार्ल्स मार्टेल के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ा और अक्टूबर ७४१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

कार्लोमन और छोटा पिपिन

चार्ल्स मार्टेल को अपनी विवाहिता पत्नी से दो पुत्र थे—कार्लोमन और पिपिन छोटा। बंदिनी बैभेरियन राजकुमारी स्वानहिल्ड से ग्रिफो नामक एक तीसरा पुत्र भी था। मृत्यु से पूर्व चार्ल्स ने साम्राज्य का विभाजन कार्लोमन और पिपिन के बीच किया था। कार्लोमन को आस्ट्रेसिया, स्वेविया और थुरिंगिया के प्रदेश मिले थे। न्यूस्ट्रिया, बरगंडी और प्रोवेंस पिपिन को मिले। परन्तु, मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व स्वानहिल्ड के प्रभाव से उसने दोनों भाइयों के हिस्सें से कुछ भाग लेकर ग्रिफो को दे दिया। इससे आगे चलकर तीनों भाइयों के बीच संघर्ष का बीजारोपण हुआ। ग्रिफो की प्रजा साम्राज्य के शेष भाग से अलग-अलग पड़ जाने से असंतुष्ट थी। प्रजा ग्रिफो की माता को चार्ल्स की रक्षिता मानती थी, अतः उसे अपना राजा मानने से हिचकती थी। इसी बीच कार्लोमन और पिपिन की बहन हिलट्रूड ने बेभेरिया के ड्यूक ओटिलो से विवाह कर लिया। इस विवाह से कार्लोमन और पिपिन ग्रिफो एवं ओटिलो, दोनों के ही विरोधी बन जाते। उन्होंने ग्रिफो एवं स्वानहिल्ड को पराजित कर बन्दी बना लिया। इस प्रकार कार्लोमन एवं पिपिन फ्रैंक साम्राज्य के एकमात्र शासक बच गए।

सुयोग्य एवं प्रतिष्ठित चार्ल्स मार्टेल कई वर्ष तक किसी नाममात्र के मेरोवींगियन शासक को गद्दी पर बिठाए बिना भी शासन कर सका था, किन्तु कार्लोमन एवं

पिपिन में न तो अपने पिता के समान योग्यता थी और न उनके शासनकाल के प्रारम्भिक दो वर्ष शांतिपूर्ण ही थे। अतः अपने शासन को वैधता प्रदान करने के लिए उन्होंने मेरोभींगयन चिल्डेरिक तृतीय (७४३-५१) को गद्दी पर बिठाया। दोनों भाइयों ने आपस में मिलकर स्वेवियनों, बेभेरियनों और सैक्सनों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया। सन् ७४७ ई० में कार्लोमन ने संन्यास ग्रहण कर लिया और पूरा फ्रैंक साम्राज्य पिपिन छोटे के कब्जे में आ गया। इसी बीच ग्रिफो को मुक्त कर दिया गया था। उसने बेभेरियनों से मिलकर पिपिन का विरोध किया किन्तु बेभेरियन शीघ्र ही पराजित हुए और उन्होंने पिपिन के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे कैरोलिंगियन वंश के प्रति सामान्य एवं पादरीवर्ग के असंतुष्ट लोगों का विरोध समाप्त हो गया। पिपिन के अंतिम वर्ष उसके पिता अथवा पितामह की अपेक्षा अधिक शांतिपूर्वक बीते।

पिपिन का शासनकाल चर्च एवं चर्च की संपत्ति के धर्मनिरपेक्षीकरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। बेनिफेस सदृश अनुशासन-प्रिय व्यक्ति ने भी राष्ट्रीय हित में चर्च की सम्पत्ति का सैनिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाना परोक्ष रूप में स्वीकार कर लिया था। अपनी आंतरिक इच्छा के विरुद्ध पिपिन ने राज्य-हित के निमित्त चर्च की अपार सम्पत्ति का उपयोग शुरू किया। इससे कैरोलिंगियन वंश की स्थिति सुदृढ़ हुई और सामंतों को चर्च से ली गई भूमि का दान देकर उनका सहयोग प्राप्त किया जा सका। सन् ७५१ ई० तक पिपिन की स्थिति इतनी सुदृढ़ हो गई कि गद्दी पर नाममात्र के मेरोभींगियन राजा को बिठाए रखना भी आवश्यक नहीं रह गया। अतः पोप एवं प्रजा की सहमति से उसने चिल्डेरिक को गद्दी से उतारकर एक मठ में भेज दिया और स्वयं राजा का विरुद धारण किया। तीन वर्ष बाद जब लोम्बार्ड राजा ऐसतुल्फ ने रोम पर आक्रमण किया तो नवीन पोप स्टेफेन द्वितीय गाल आया और पिपिन को फ्रैंकों के राजा के रूप में अभिषिक्त कर उसे पेट्रिसियस रोमानोरूम की उपाधि दी। कृतज्ञ पिपिन अपनी विशाल सेना के साथ इटली में प्रविष्ट हुआ। ऐसतुल्फ पराजित होकर सन्धि करने को बाध्य हुआ। पोप स्टेफेन सम्मानपूर्वक रोम लौटा और लोम्बार्डी फ्रैंकों के अधीन राज्य में गिना जाने लगा। अगले वर्ष (७५६ ई०) बदले की भावना से अभिप्रेरित होकर ऐसतुल्फ ने पुनः रोम पर आक्रमण किया। पोप स्टेफेन ने पिपिन एवं उसके पुत्रों से सहायता की याचना की। स्वयं पिपिन अपने राज्य की सुरक्षा एवं ऐसतुल्फ के विश्वासघात के कारण उसे दंड देना आवश्यक समझता था। किन्तु उसके अधिकांश सामंत युद्ध के विरुद्ध थे और कुछ ने तो उसका साथ तक छोड़ देने की धमकी दी। फिर भी पिपिन अपनी सेना

के साथ दूसरी बार इटली पहुँचा और पेमिया को घेर लिया। विरोध की निरर्थकता का बोध होते ही ऐसतुल्फ ने संधि की याचना की। पेमिया के राजकोष का तीसरा भाग उसने पिपिन को समर्पित किया और सलाना कर देने का भी वचन दिया। इस प्रकार दूसरी बार पोप को लोम्बार्ड संकट से मुक्ति मिली। बार-बार की पराजय से दुःखी ऐसतुल्फ की संभवतः उसी वर्ष मृत्यु हो गई। डेसिडेरियस और ऐसतुल्फ के भाई रेटचिस के बीच लोम्बार्ड गद्दी के लिए प्रतिद्वंद्विता थी। पोप स्टेफेन ने डेसिडेरियस का पक्ष लिया और बदले में फेमेंसिया नगर और फेरारा की डची की माँग की, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि डेसिडेरियस पोप की सहायता बिना ही राजा हो गया और उसने उपरोक्त प्रदेश पोप को नहीं दिए।

सन् ७६० से ७६७ ई० के बीच पिपिन एक्विटेन के शासक ड्यूक वेफर से संघर्ष करता रहा। ऐक्विटेन की राजधानी तूलां पर ७६७ ई० में फ्रैंकों का अधिकार हो गया और वेफर की निरर्थक लड़ाइयों से तंग आकर उसके अपने ही लोगों ने उसकी हत्या कर दी। वेफर के विद्रोह का लाभ उठाकर वेभेरिया के ड्यूक टेसिलों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी, किन्तु पिपिन ने उसे भी पराजित किया। सैक्सनों के साथ मामूली लड़ाई के बाद वेस्टफेलिया भी पिपिन के कब्जे में आ गया। इस तरह अपनी मृत्यु से पूर्व पिपिन यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण शासक बन चुका था। बगदाद के अब्बासी खलीफा ने स्पेन के विद्रोही उम्मैयाद अब्द-उर-रहमान के खिलाफ उससे संधि की याचना की, किन्तु पिपिन ने मुसलमानों के आपसी झगड़ों में न पड़ना ही उचित समझा। पुनः पूर्वी रोमन सम्राट् कन्स्टन-टाइन कोप्रोनिमस ने पिपिन के पास कई बार अपने दूत भेजे, किन्तु पिपिन ने कभी भी पूर्वी रोमन सम्राट् के प्रति उत्साह नहीं दिखलाया।

पिपिन के चरित्र का 'सही मूल्यांकन' करना कठिन है। संत आरनुल्फ के वंश के महान पुरुषों के उसमें सभी गुण थे। साहस, महत्वाकांक्षा, शक्ति, प्रशासनिक कुशलता तो उसमें थी, किन्तु अपनी विशिष्ट विशेषताएँ उसमें बहुत कम थीं।" यद्यपि गद्दी का लोलुप वह नहीं था, फिर भी अंतिम मेरोवींगियन राजा को हटाकर राजत्व ग्रहण करने में वह तनिक भी नहीं हिचकिचाया। शासक के रूप में वह नम्र और चालाक था। उसकी चारित्रिक पवित्रता प्रशंसनीय थी। उसमें साहित्यिक अभिरुचि भी थी जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति उसके पुत्र चार्ल्स महान में हुई। उसके व्यक्तिगत जीवन का हमारा ज्ञान अल्प है। किन्तु यह निर्विवाद है कि वह धर्मपरायण, अनुशासन-प्रेमी, न्यायप्रिय और नम्र स्वभाव का था।

चार्ल्स महान (शार्लमेन) ७६८-८१४ ई० :

फ्रैंकों की प्रथा के अनुसार पिपिन ने ७६८ ई० में अपनी मृत्यु से पूर्व राज्य का विभाजन अपने दो पुत्रों, चार्ल्स और कार्लोमन के बीच किया था। चार्ल्स को आस्ट्रेसिया, न्युस्ट्रिया, पश्चिमी अक्विटेन के प्रदेश मिले। कार्लोमन बरगंडी, स्वेविया आल्प्स से लेकर स्पेन की सीमा तक के भूमध्यसागरीय तट और पूर्वी अक्विटेन का स्वामी था। प्रारम्भ में ऐसा लगता था कि दोनों भाइयों के पारस्परिक वैमनस्य से नवोदित फ्रैंक राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा। परन्तु ७७१ ई० में कार्लोमन की मृत्यु हो गई और चार्ल्स संपूर्ण फ्रैंक राज्य का एकछत्र स्वामी बन गया। कार्लोमन की विधवा और पुत्र लोम्बार्डी भाग गए जहाँ डेसिडेरियस के दरबार में उन्हें शरण मिली। "इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कार्लोमन कुछ दिन और जीवित रहता तो आठवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में मेरोभींगयनों की भ्रातृघातक लड़ाइयों की पुनरावृत्ति होती।"

चार्ल्स के युद्ध :

चार्ल्स का ४६ वर्षों का शासन-काल प्रधानतः युद्धमय था। चौवन सैनिक अभियानों में से अधिकांश का नेतृत्व उसने स्वयं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ७९० ई० का साल युद्ध-रहित था, अन्यथा राजत्व के शेष सभी वर्षों में वह कभी फ्रिसियनों, डेनों, स्लावों, मुसलमानों अथवा बैजनटाइनों से लड़ता रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपनी सफल लड़ाइयों के कारण ही उसे महान अथवा शार्लमन के नाम से ख्याति मिली।

चार्ल्स के युद्धों के तीन उद्देश्य थे—राज्य-विस्तार, सीमाओं की सुरक्षा और विधर्मियों को ईसाईमत में शामिल करना। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चार्ल्स की राजनीति के दो पक्ष थे—क्षेत्रीय विस्तार और ईसाई मत का प्रसार। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में उसे असाधारण सफलता मिली और उस बर्बर युग में भी वह एक सुसंगठित साम्राज्य पर शासन करने और ईसाई धर्म को फैलाने में समर्थ हुआ। वस्तुतः उसके प्रयासों के फलस्वरूप कैरोलिंगियन साम्राज्य और ईसाई धर्म पश्चिमी यूरोप के अधिकांश भाग पर छा गए।

चार्ल्स का प्रथम सैन्य अभियान लोम्बार्ड राज्य के विरुद्ध था। लोम्बार्डों पर सर्वाधिपत्य और पोपतंत्र का पक्ष समर्थन उसे विरासत में प्राप्त थे। अपने शासन के प्रारंभ में ही उसने पोप की इच्छा के विरुद्ध लोम्बार्ड शासक डेसिडेरियस की कन्या से विवाह किया था। किन्तु एक वर्ष के बाद ही उसने अपनी परित्यक्ता पत्नी को

उसके पिता के पास लौटा दिया। डेसिडेरियस चार्ल्स के इस आचरण से क्षुब्ध था। पुनः पोपतंत्र से उसका पुराना विरोध-भाव था। अतः उसने रोम पर आक्रमण कर दिया। पोप के आग्रह पर चार्ल्स ने लोम्बार्ड राज्य की राजधानी पेभिया को घेर लिया। एक वर्ष के भीतर समस्त लोम्बार्ड राज्य पदाक्रांत हुआ और ७७६ ई० में लोम्वार्डी को फ्रैंक साम्राज्य में मिला लिया गया। विजयी चार्ल्स इटली में प्रविष्ट हुआ जहाँ उसका हार्दिक स्वागत हुआ। पिपिन-प्रदत्त रैभेना पोप के पास रहने दिया गया जिससे पोप की सांसारिक समृद्धि की अभिवृद्धि हुई। धीरे-धीरे लोम्वार्डों ने फ्रैंक संस्थानों को स्वीकार कर लिया और वेनिभेण्टुम के ड्यूक ने भी, जिसका राज्य पूर्णरूपेण जीता नहीं जा सका था, चार्ल्स को सलाना कर देना स्वीकार किया। लोम्बार्डो विजय का एक दूरस्थ प्रभाव यह हुआ कि इटली की राजनीतिक एकता की संभावना लम्बे अरसे के लिए समाप्त हो गई।

फ्रैंक राज्य के विस्तार के कारण इसकी सीमा पूर्वी साम्राज्य की सीमा से लग गई। साथ ही फ्रैंक राज्य के विस्तार से वेभेरिया और वेनिभेन्टुम के लिए भी ख़तरा उत्पन्न हो गया। अतः चार्ल्स के विरुद्ध इन तीनों शक्तियों का गठबंधन हुआ। परंतु चार्ल्स इस त्रिगुट को तोड़ने में सफल हुआ। उसने इटली में एक जलसेना तैयार करने की कोशिश की और अंत में कोर्सिका, वेनिस और डालमेसिया पर उसका अधिकार हो गया।

वेभेरिया के ड्यूक तासिलो ने ७८८ ई० में विद्रोह कर दिया। सैद्धान्तिक रूप में वेभेरिया वहुत दिनों से फ्रैंक सम्राट् के अधीन था, किन्तु वस्तुतः अपने ड्यूकों के अन्तर्गत वेभेरिया को स्वायत्तता प्राप्त थी जो लगभग स्वतंत्रता के बराबर थी। उसी तरह वेभेरियन चर्च को भी रोमन चर्च के अन्तर्गत स्वायत्तता प्राप्त थी। अतः एक ओर चार्ल्स एवं पोप वेभेरिया पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे तो दूसरी ओर तासिलो पूर्ण स्वतंत्रता की कामना करता था। सन् ७८८ ई० में उसने फ्रैंक सम्राट् के सैद्धांतिक आधिपत्य का विरोध किया। चार्ल्स ने वेभेरिया पर आक्रमण कर तासिलो एवं उसके वंशधरों के अधिकार को समाप्त कर दिया और वेभेरिया फ्रैंक साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। वहाँ का शासन एक फ्रैंक प्रिफेक्ट को सौंपा गया। डैन्यूब सीमा की रक्षा के लिए ऑस्टमार्क की स्थापना हुई। आगे चल कर यही ऑस्ट्रिया नामक देश बना।

वेभेरिया विजय के फलस्वरूप फ्रैंक अभारों के सम्पर्क में आए। अभार हूणों की एक शाखा थे। वे डैन्यूब नदी की घाटी के निवासी थे। अभार जाति मूर्तिपूजक तथा ईसाई धर्म की विरोधी थी। अभारों ने वेभेरिया के राजा की सहायता की थी।

आक्रमण करते ही अभार प्रदेश के निवासियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। चार्ल्स की सेना ने इस प्रदेश को इतना लूटा कि फ्रैंक जाति गरीब से अमीर बन गयी। अभारों ने चार्ल्स को कर देना स्वीकार किया। एक फ्रैंक प्रिफेक्ट के अधीन पूर्वी मार्क की स्थापना हुई, फ्रूइली के एक अन्य मार्क की भी स्थापना हुई।

चार्ल्स की सबसे अधिक भयंकर लड़ाई सैक्सनों के साथ हुई। जर्मन जाति में सैक्सन लोग ही अभी तक पूर्ण असभ्य और ईसाई धर्म के विरोधी थे। वे अभी तक अपने पुराने देवताओं की पूजा करते थे। वे फ्रैंक प्रदेशों पर प्रायः हमला कर गिरजाघरों को जलाते और पादरियों की हत्या करते रहते थे। शार्लमन ईसाई धर्म की रक्षा और प्रसार को अपना परम पावन कर्त्तव्य समझता था। अतः ७७५ ई० में चर्च के सहयोग से उसने सैक्सनी पर आक्रमण किया। अपने राष्ट्रीय नेता विटिकिंड के नेतृत्व में सैक्सन लोगों ने २० वर्षों तक इस आक्रमण का सामना किया। इससे शार्लमन बहुत ही क्रुद्ध हुआ। उसने कठोर नीति अपनाई और ७८२ ई० में सैक्सनों को ईसाई धर्म स्वीकार करने अथवा मृत्यु का वरण करने को कहा। सैक्सनों के देवस्थान धूल में मिला दिए गए, उनके देवताओं की मूर्तियाँ तोड़ दी गई, वर्डेन नामक स्थान में ४५०० सैक्सनों को कत्ल करवा दिया गया और १०,००० सैक्सनों को सैक्सनी से निकाल दिया गया और उनकी जगह पर बड़ी संख्या में फ्रैंक बसने के लिए भेजे गए। उनके इन कठोर कार्यों से सैक्सन लोग बहुत ही आतंकित हुए और उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया तथा शार्लमन की अधीनता स्वीकार कर ली। शीघ्र ही ब्रेमेन, वर्डेन, मिन्डेन और मैन्सटर आदि स्थानों में बिशपियों की स्थापना हो गयी। सैन्य-शक्ति द्वारा आरंभ किया गया विजय-अभियान ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा पूरा हुआ। शार्लमन की कठोर नीति के कारण सैक्सनों में भारी कटुता पैदा हुई और वे लंबे अरसे तक इसे नहीं भूल सके। कई सदियों तक सैक्सन बिशप सैक्सनों की विधर्मी प्रवृत्तियों की शिकायत करते रहे क्योंकि उनके लिए ईसा से वोतन कहीं अधिक प्रिय था। फ्रैंकों के प्रति उनकी घृणा प्रबल थी और आगे चलकर निर्वासित सैक्सनों ने नोर्स जाति से मिलकर फ्रैंकों से बदला लिया। फिर भी, सैक्सनों पर शार्लमन की विजय एक महान विजय थी। उस विजय के द्वारा उसने केवल राज्य-विस्तार ही नहीं किया, बल्कि धर्म-विस्तार भी किया और बर्बर सैक्सन जाति को सभ्यता का पाठ पढ़ाया।

सैक्सनी विजय के कारण फ्रैंकों का संपर्क स्लाव जाति से हुआ। सैक्सनी में चार्ल्स की व्यस्तता का लाभ उठाकर स्लावों की एक शाखा, एबोट्राइट्स फ्रैंक राज्य की उत्तरी सीमा पर गड़बड़ी मचा रहे थे। चार्ल्स उन्हें पराजित करने में

शार्लमन का साम्राज्य
मूल
विजित
उत्तरी सागर
लंदन
सैक्सोनिया
पेरिस
न्युस्ट्रिया
आस्ट्रिया
बरगंडी
आक्विटेन
लोम्बार्डी
इटली
स्पेनिश मार्क
कोर्सिका
सार्डीनियाँ
कार्दोवा
सिसिली
भूमध्य सागर
बुल्गारिया
काला सागर
कुस्तुन्तुनिया
कैस्पियन सागर
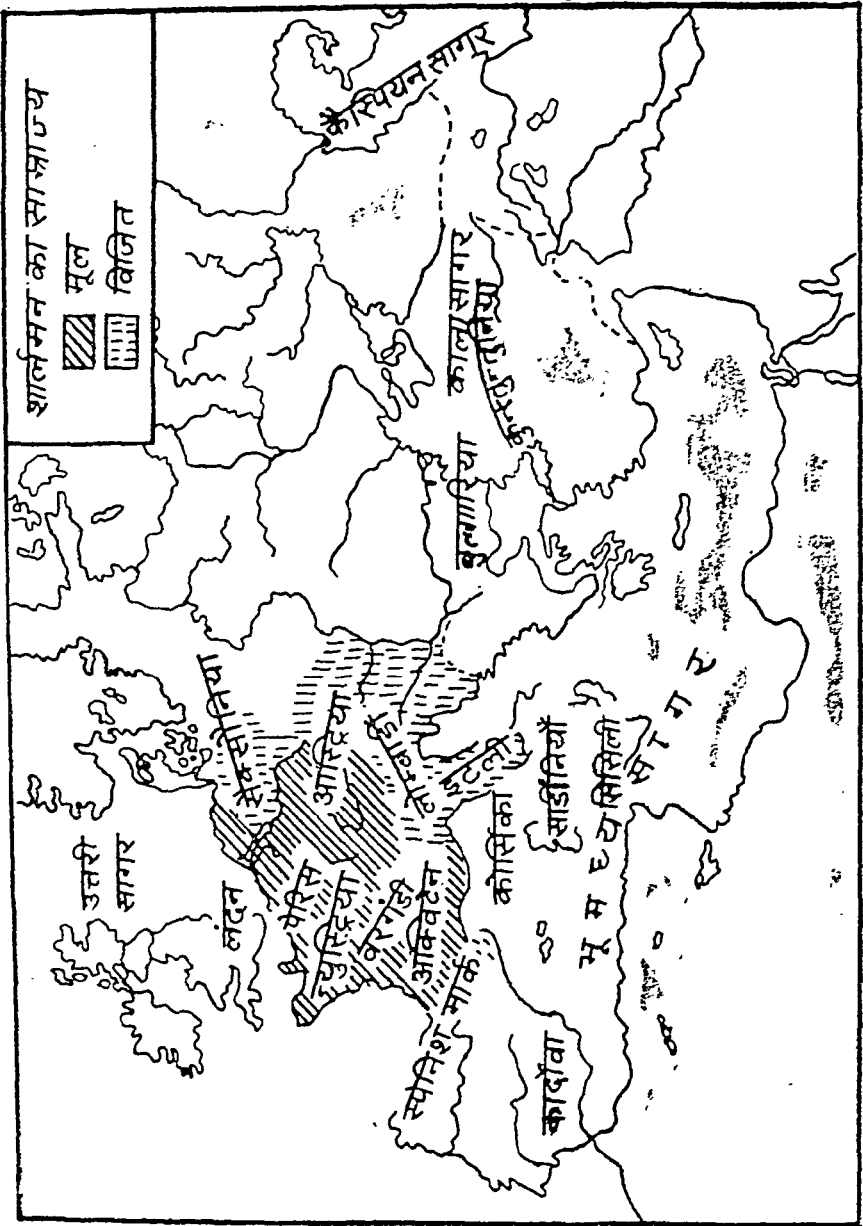
सफल हुआ। पूर्व की ओर बोहेमिया निवासी स्लाव ८०५-६ ई० में चार्ल्स द्वारा पराजित हुए। उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उनसे कर वसूल किया गया। स्लावों से राज्य की रक्षा के लिए कई सीमांतक मार्कों की स्थापना की गई, जैसे, थूरिंगिया और बोहेमिया आदि। फ्रैंकों ने चार्ल्स के नेतृत्व में सर्वप्रथम ब्रिटेनी पर अधिकार किया और वहाँ एक शक्तिशाली प्रशासन की स्थापना हुई। डेन जाति के लोग चार्ल्स के विरुद्ध सैक्सनों की सहायता कर रहे थे। अतः चार्ल्स ने उनसे युद्ध किया। इस युद्ध में उसे सफलता नहीं मिली किन्तु उनसे रक्षा के लिए डेनमार्क की स्थापना हुई जो आगे चलकर डेनमार्क के नाम से विख्यात हुआ। डैन्यूब की ओर हूण पराजित कर डैन्यूब क्षेत्र से निकाल बाहर किए गये। पिरेनीज को पार कर चार्ल्स ने स्पेन में अरबों पर हमला किया, परन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली। अरबों की बाढ़ को रोकने के लिए ७९५ ई० में स्पेनिश मार्क की स्थापना की गई और दो वर्ष बाद बार्सीलोना को जीतकर इस मार्क में शामिल कर लिया गया। मुसलमानों को कोर्सिका, सार्डिनिया और बेलियरिक द्वीप-समूह से भी मार भगाया गया।

चार्ल्स की विजयों का मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उस की मृत्यु के समय उसके विशाल साम्राज्य में आधुनिक फ्रांस, हॉलैंड, स्वीजरलैंड, स्पेन का उत्तरी भाग, उत्तरी इटली तथा जर्मनी का विशाल भाग सम्मिलित थे। वस्तुतः आंग्ल-सैक्सनों और स्केंडिनेवियनों को छोड़कर संपूर्ण जर्मन जाति उसकी छत्रच्छाया में आ गई थी। उसकी विजयों और सीमांतक मार्कों की स्थापना के कारण फ्रैंक साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा तो हुई ही, बर्बर जातियों के आक्रमणों का भी अंत हो गया। क्लोविश से लेकर चार्ल्स मार्टेल तक साम्राज्य-स्थापना की जो प्रक्रिया चल रही थी उसकी अंतिम परिणति चार्ल्स के समय में हुई। मध्य यूरोप की विजय अत्यन्त महत्त्व था। इससे जर्मनी सदृश आधुनिक राज्यों की आधारशिला रखी गई। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पहली बार पश्चिमी यूरोप का एकीकरण संभव हुआ। पश्चिमी यूरोप की एकता का यह आदर्श आनेवाली पीढ़ियों को सदैव अनुप्रमाणित करता रहा और भविष्य के कई राजा और राजनीतिज्ञ इस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे।

चार्ल्स का साम्राज्य पश्चिमी रोमन साम्राज्य के लगभग बराबर ही था। यह सही है कि उस ऐतिहासिक साम्राज्य के कई भाग इस नवीन साम्राज्य में शामिल नहीं थे, किंतु यह भी सही है कि जर्मनी, जो रोमन साम्राज्य का भाग था, इसमें शामिल था। अतः क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से चार्ल्स का साम्राज्य

रोमन साम्राज्य के प्राय: बराबर था। दोनों साम्राज्यों में एक समानता यह भी थी कि चार्ल्स नवीन साम्राज्य पर सीजर की तरह ही शासन करता था।

साम्राज्य के आशातीत विस्तार के बावजूद, यह विचारणीय है कि चार्ल्स अनुकुल परिस्थितियों के होते हुए भी दक्षिणी इटली एवं सिसली पर अधिकार न कर सका। पुन:, यद्यपि उसने अरबों को स्पेन से निकालने का प्रयास किया, परन्तु यह कार्य उसके जीवनकाल में पूरा न हो सका। संभवत: जर्मनप्रधान प्रदेशों की सुरक्षा एवं दृढ़ीकरण में व्यस्त रहने के कारण ही वह ऐसा न कर सका। हैलम के शब्दों में "चार्ल्स के लिए इटली से भी अधिक आकर्षण जर्मनी के घने जंगलों का था।"

चार्ल्स का राज्याभिषेक :

चार्ल्स के जीवन-काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना २५ दिसम्बर, ८०० ई० को रोम के सम्राट् के रूप में उसका राज्याभिषेक था। इसी आधार पर पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव पड़ी। रोमन साम्राज्य के पराभव के बाद नवोदित बर्बर राज्यों का रोम के साथ कोई राजनीतिक संबंध न था और धीरे-धीरे पश्चिमी रोमन साम्राज्य की भावना विलुप्त होती जा रही थी। परन्तु, ईसाई धर्म ने रोम को केन्द्र मानकर समस्त पश्चिमी यूरोप को एक धार्मिक सूत्र में बाँधने का सत्प्रयास किया और विचारों, कर्मकाण्डों एवं धार्मिक संगठन की एकरूपता के कारण राजनीतिक एकता की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। पुन:, बर्बर राज्यों की स्थापना के बावजूद, रोमन साम्राज्य का आदर्श खत्म नहीं हो गया था, और लोग उसकी पुनस्थपिना की आशा रखते थे। परन्तु उनका विश्वास था कि पुनस्थापिना का कार्य पतनोन्मुख रोम द्वारा संपादित न होकर फ्रैंक वंश द्वारा होगा जिसने हाल ही में ईसाई मत को ग्रहण किया था। पोपतंत्र भी कैरालिंगियन वंश का बहुत दिनों से मुखापेक्षी था। पोप ग्रिगोरी तृतीय (७३१-४१) ने लोम्बार्डों के विरुद्ध फ्रैंकों से सहायता की याचना की थी। उसके उत्तराधिकारी स्टेफेन द्वितीय ने चार्ल्स मार्टेल के पुत्र छोटा पिपिन से लोम्बार्ड राजा एसतुल्फ के विरुद्ध सहायता पाई थी। पिपिन के उत्तराधिकारी शार्लमन के समय में भी पोप को फ्रैंकों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। लोम्बार्डों के हमले पुन: आरंभ हो गए थे। पोप के आह्वान पर चार्ल्स ने लोम्बार्डों का दमन किया, लोम्बार्ड बेनेमेन्टो और स्पोलेटो पर कब्जाकर लिया और अपने को लोम्बार्डों का राजा घोषित किया। अन्य हमलों द्वारा कोर्सिका, डालमेसिया और इस्ट्रिया को भी फ्रैंक राज्य में, जो तब तक साम्राज्य में बदल चुका था, शामिल कर लिया गया। पोपतंत्र से सहयोग करने में फ्रैंकों का अपना

स्वार्थ भी निहित था। प्रारम्भ में पतनोन्मुख मेराभींगयन वंश को अपदस्थ करनेवाले नए राजवंश को नैतिक मान्यता की आवश्यकता थी। यह मान्यता पोप से ही प्राप्त की जा सकती थी। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से दोनों पक्षों को लाभ था। फ्रैंकों पर निर्भर करने की इसी प्रक्रिया का परिणाम था कि अपने श ुओं द्वारा अपमानित होने पर पोप लियो तृतीय को शार्लमन से ७९९ ई० में सहायता की याचना करनी पड़ी। चार्ल्स की सुरक्षा में लियो रोम लौटा और पोप-पद को पुनः प्राप्त करने में सफल हुआ। लियो ने स्पष्ट देखा कि चार्ल्स पश्चिमी यूरोप का वास्तविक सम्राट् बन चुका था। अतः कुछ व्यक्तिगत कृतज्ञता के कारण और उससे भी अधिक यह अनुभव करके कि चार्ल्स का पश्चिमी यूरोप का सम्राट् बनना अवश्यंभावी था, लियो को २५ दिसम्बर ८०० ई० में चार्ल्स का रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक करना पड़ा। उस दिन जब चार्ल्स संत पीटर गिरजाघर में प्रार्थना कर रहा था लियो ने रोमन सम्राटों का मुकुट उसके सिर पर रख दिया, चार्ल्स ऑगस्टस के रूप में उसके नाम की घोषणा कर उसके दीर्घायु और विजयी होने की कामना की। चार्ल्स के सैनिक पादरियों और एकत्रित नागरिकों ने सम्राट् के रूप में चार्ल्स का जयघोष द्वारा अभिनन्दन किया।

इस राज्याभिषेक के साथ अनेक प्रश्न संबद्ध थे। रोमन सम्राट् के रूप में चार्ल्स का अभिषेक करने का कानूनी अधिकार पोप को नहीं था। यह अधिकार कानून द्वारा रोम की जनता तथा सिनेट में निहित था। परन्तु उस समय रोमन जनता एवं सिनेट अपने कानूनी अधिकारों को मनवाने की स्थिति में नहीं थे। आठवीं शताब्दी के मध्य से ही पोप पश्चिमी रोमन साम्राज्य की पुनर्स्थापना के इच्छुक थे, क्योंकि पश्चिमी यूरोप में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना से वे स्वयं भी सुरक्षित अनुभव कर सकते थे। दूसरी ओर, चार्ल्स भी इस विचार के खिलाफ नहीं था। "रोमनों के पैट्रिसयन" की उपाधि उसे विरासत में मिली हुई थी और अपनी कन्या की बैजन्तिय राजकुमार से सगाई कर उसने पूर्वी सम्राट् से बराबरी का दावा किया था। पूर्वी सम्राट् से अपने सम्राट् पद की मान्यता प्राप्त करने का प्रयास भी वह कर चुका था। अतः चार्ल्स के सचिव और जीवन-लेखक आइनहार्ड का यह कथन कि मुकुट के सिर पर रखे जाने से चार्ल्स अप्रसन्न हुआ था, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। संभवतः चार्ल्स राजमुकुट को पोप से दान के रूप में पाना नहीं चाहता था। वस्तुतः बहुत दिनों से साम्राजिक मुकुट की प्राप्ति फ्रैंक राजाओं का लक्ष्य बन गया था। चार्ल्स के धार्मिक एवं साहित्यिक मामलों के प्रमुख सलाहकार, यार्क के अलकुइन ने अपने एक पत्र में चार्ल्स को—'imperialis potentise' कह कर सम्बोधित किया

था। विद्वानों का अनुमान है कि राज्याभिषेक की सम्पूर्ण भूमिका पहले से ही तैयार थी। पुनः चार्ल्स को पूर्वसूचना दिए बिना पोप शायद इतना महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाता। अतः जान पड़ता है कि चार्ल्स की कुछ-कुछ अस्पष्ट सहमति पहले से ही थी। संभवतः वह और अधिक उपयुक्त स्थान और अवसर की अपेक्षा करता था। कुछ लेखकों का कहना यह भी है कि चार्ल्स लियो द्वारा राज्याभिषेक किए जाने को पोपतंत्र एवं साम्राज्य के भविष्यत् सम्बन्धों के लिए खतरनाक समझता था। परन्तु ब्राइस ने इस मत का खंडन किया है और, उनके अनुसार, अधिक संभव यही जान पड़ता है कि चार्ल्स राज्याभिषेक-जनित भावी संकुलताओं से अनभिज्ञ था। फिर भी, यह स्पष्ट है कि लियो ने पहल करके सम्राट् से बाजी जीत ली थी, क्योंकि समसामयिक एवं भावी पीढ़ियों के लिए इस राज्याभिषेक की संपूर्ण प्रक्रिया में पोप ही प्रमुख अभिनेता जान पड़ता था न कि चार्ल्स।

राज्याभिषेक का महत्व :

ब्राइस के शब्दों में, चार्ल्स का राज्याभिषेक मध्य-युग की प्रमुख घटना थी। वस्तुतः इसकी परिगणना उन घटनाओं में की जा सकती है जिनके बिना यूरोप के इतिहास की संपूर्ण धारा ही भिन्न होती। इस राज्याभिषेक के कुछ प्रभाव तात्कालिक और कुछ दूरस्थ सिद्ध हुए। मध्यकालीन यूरोप की राजनीतिक मान्यताओं में इससे क्रांतिकारी परिवर्त्तन तो हुए ही, साथ ही, अनेक समस्याओं का जन्म हुआ जिनसे भावी पीढ़ियों को जूझना पड़ा।

चार्ल्स के राज्याभिषेक का तात्कालिक प्रभाव बैजनटाइन साम्राज्य से उसके संबंधों पर पड़ा। फ्रैंक और पूर्वी साम्राज्य के संबंध तनावपूर्ण हो गए। पहले चार्ल्स पूर्वी साम्राज्य से समझौते के पक्ष में था, किन्तु अब ऐसा लगता था कि वह बलपूर्वक कान्स्टेंटीनोपुल पर भी अधिकार करने का प्रयास करेगा। वह साम्राज्ञी आइरेनी से विवाह करना चाहता था, किन्तु वह गद्दी से उतार दी गई और नए सम्राट् ने चार्ल्स को पश्चिमी सम्राट् के रूप में स्वीकार नहीं किया। अतः लड़ाई छिड़ गई। अंत में माइकेल प्रथम ने ८१२ ई० में चार्ल्स को सम्राट् न मानकर राजा (Basileus) के रूप में स्वीकार किया। सिद्धांत रूप में अभी भी केवल एक ही रोमन साम्राज्य था, परन्तु वस्तुतः अब दो सम्राट् थे। रोम अभी भी सम्पूर्ण ईसाई जगत की एकता का प्रतीक था, परन्तु रोम की शक्ति के साथ फ्रैंक राजतंत्र का विकास हो रहा था। वस्तुतः चार्ल्स का राज्याभिषेक फ्रैंक, जर्मन और ईसाई तत्वों के विलयन का प्रतीक था।

इस राज्याभिषेक का राज्य और चर्च के संबंधों पर प्रभाव पड़ा। पोप के तत्त्वावधान में साम्राज्य की स्थापना हुई थी, अतः सम्राट् पर पोप की प्रधानता का दृष्टांत उपस्थित हुआ था और भविष्य में पोप की दृष्टि में उसकी स्वीकृति के बिना न तो कोई साम्राज्य हो सकता था और न सम्राट्। दूसरी ओर चार्ल्स अपने को चर्च का वास्तविक संरक्षक मानता था। वह अपने को पादरियों के उचित आचरण, अनुशासन और चर्च के प्रशासन के लिए जिम्मेदार समझता था। सम्राट् कन्स्टनटाइन की तरह वह अपने को चर्च और राज्य दोनों का अधिपति मानता था। इससे चर्च के लिए खतरा था, क्योंकि संरक्षक किसी भी दिन पूर्ण स्वामी बन सकता था। 'सम्राट् का राज्याभिषेक' का दावा करने के कारण भविष्य में चर्च का प्रवेश यूरोप की राजनीति में भी हो गया। अतः, जैसा कि ब्राइस ने लिखा है, इस राज्याभिषेक द्वारा साम्राज्य एवं पोपतंत्र के बीच लम्बे संघर्ष की शुरुआत हुई।

जहाँ तक राज्य का प्रश्न था, राज्याभिषेक के परिणाम अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के निकले। फ्रैंक सम्राट् के अधिकारों में वृद्धि हुई। वह अब रोमन मुकुट पर अधिकार जतला सकता था। साथ ही, कुछ बुरे परिणाम भी निकले। यद्यपि पुनर्स्थापित रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम न होकर अभी भी अयाचेन में ही थी, चार्ल्स के उत्तराधिकारी इटली को भी हस्तगत करने का स्वप्न देखने लगे। परिणामस्वरूप जर्मन राज्य के वास्तविक हितों की उपेक्षा होने लगी। चर्च और सामंतों के राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगे जो कालांतर में साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुए। ठीक ही कहा गया है कि साम्राजिक मुकुट अत्यन्त घातक उपहार था। फिर भी, मानना पड़ेगा कि इस राज्याभिषेक से अव्यवस्था एवं बर्बरता पर अमन और कानून की विजय हुई। प्राचीन रोमन साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। सर्वत्र अराजकता का बोलबाला था। चार्ल्स के राज्याभिषेक से, कुछ स्थानों को छोड़कर, संपूर्ण ईसाई जगत एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध हो गया जिससे रोमन साम्राज्य के प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों को पुनर्स्थापित करने के प्रयास सम्भव हुए। जहाँ तक जर्मनी का प्रश्न था, जर्मन राष्ट्र और उसके प्रतिनिधि चार्ल्स की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। जर्मन और रोमन सभ्यताओं के सम्मिश्रण से यूरोप में एक नवीन एवं प्रगतिशील संस्कृति का जन्म हुआ। इस राज्याभिषेक से पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना साकार हुई जो नेपोलियन के समय तक यूरोपीय राज्य-व्यवस्था की मुख्याधार बनी रही। पश्चिमी यूरोप की नवीन राजनीतिक एकता के फलस्वरूप, कला एवं साहित्य की उन्नति हुई जिसका कुछ-न-कुछ अवशिष्ट प्रभाव अभी तक परिलक्षित होता है। संक्षेप में, चार्ल्स के

राज्याभिषेक से मध्य-युग तो प्रभावित हुआ ही, साथ ही, कुछ नवीन प्रवृत्तियों का भी आरंभ हुआ जिनसे आधुनिक युग भी प्रभावित हुआ। वस्तुतः इस राज्याभिषेक से एक नवीन युग का आरंभ हुआ।

शार्लमन का शासन-प्रबन्ध

कहा गया है कि "कैरोलिंगियन साम्राज्य आदिम रूप में रोमन, विचार की दृष्टि से धर्मप्रधान और कार्य-विधि की दृष्टि से जर्मन था।" इस संबंध में प्रथम विचारणीय बात यह है कि कैरोलिंगियन साम्राज्य का स्वरूप एकजातीय नहीं था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में जातिगत, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बहुरूपता थी। जर्मन राष्ट्र की प्रत्येक जाति की अपनी पृथक् विधि थी। कैरो-लिंगियन शासन-प्रणाली में भी प्रत्येक जाति को अपनी कानूनी व्यवस्था को रखने की छूट थी। न्याय-व्यावस्था में यह बात विशेष रूप से परिलक्षित होती थी। चार्ल्स ने इन कानूनी विभिन्नताओं को स्वीकार किया गया था और चर्च का कानून ही एकमात्र सर्वमान्य कानून था। किन्तु चार्ल्स ने एक सुदृढ़ और सुचा-लित शासन-व्यवस्था को जन्म दिया। यदि साम्राज्य में नागरिक संस्थाओं की एकता का अभाव था तो दूसरी ओर इसमें निश्चित प्रशासनिक एकता थी और जर्मन संस्थानों का रोमन संस्थानों के साथ विलियन संभव हुआ था। चार्ल्स ने शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित किया। उसने जर्मन राज्य की अधारभूत त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया।

चार्ल्स का शासन पूर्णरूपेण वैयक्तिक था। जर्मनों में प्रत्येक नेता अपने अनुयायियों से घिरा रहता था। ये अनुयायी नेता के प्रति स्वामी-भक्ति की शपथ लेते थे। उसी तरह चार्ल्स की प्रत्येक प्रजा के लिए राजा के प्रति स्वामीभक्ति की शपथ लेना आवश्यक था। शपथ का स्वरूप व्यक्तिगत था और इसका उस व्यक्ति की सम्पत्ति से कोई संबंध न था। शासक और प्रजा के बीच महान् अन्तर के कारण इस शपथ का विशेष महत्त्व था। इस शपथ से एक राजा के अधीन प्रजा में एकता स्थापित होती थी और प्रजा राजा की इच्छा को ही कानून मानती थी।

कैरालिंगियन साम्राज्य की कोई निश्चित राजधानी नहीं थी। राजा का यदि कोई निश्चित निवासस्थान था तो वह आकेन ही था। राजकीय भूमि के मध्य में स्थित आकेन पर प्रकृति की विशेष कृपा थी। निश्चित राजधानी का अभाव पूर्व जर्मन परंपरा का प्रभाव था क्योंकि प्रारम्भ में जर्मन जाति के विभिन्न दल अपने

नेताओं के अधीन एक जगह बराबर आते-जाते रहते थे और उनकी कोई निश्चित राजधानी नहीं होती थी। चार्ल्स का एक विशाल राजपरिवार था जिसमें उसके परिवार के अतिरिक्त राजभवन का महाप्रतिहार, पुरोहित, काउण्ट और खानसामा आदि शामिल थे। किन्तु राजमहल के मेयर का पद समाप्त कर दिया गया था।

शार्मलन के शासनकाल में प्राचीन जर्मन जातीय सभाओं को समाप्त कर दिया गया और उनसे कानून बनाने के अधिकार ले लिए गए। किन्तु प्रत्येक वर्ष साम्राज्य के बिशपों और कुलीनों की एक सभा होती थी जो प्रशासनिक बातों में सम्राट् को परामर्श देती थी। इस सभा के परामर्शानुसार विशेष प्रकार के कानून लागू होते थे जिन्हें कैपीचुलरी कहते थे। इन कानूनों द्वारा सम्राट् प्रशासन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डालता था और उनका समाधान करता था। फ्रैंक प्लेसिटुम (जन-सभा) अथवा राज्य परिषद् प्रजातांत्रिक संस्था नहीं थी। नागरिक, सैनिक, धार्मिक अथवा व्यक्तिगत विषयों पर सम्राट् इससे केवल परामर्श करता था। पुनः चर्च-सभाओं और जन-सभा में कोई विशेष अन्तर नहीं रखा गया था। जन-सभा को प्रकार की थी—जनसभा अथवा राज्यपरिषद्, जिसकी बैठक वसंत ऋतु में होती थी और जिसमें स्वतंत्र नागरिक शामिल होते थे, छोटी सभा, जो शरद् ऋतु में बैठती थी और जिसमें बड़े सामंत और विशिष्ट सलाहकार भाग लेते थे। सभा का स्थान, समय और कार्यक्रम, सब कुछ सम्राट् द्वारा निश्चित किया जाता था। कुछ सभाओं का उपयोग न्यायालयों की तरह भी किया जाता था। कोई भी सभा कानून नहीं बना सकती थी। इसका काम केवल परामर्श देना था। चार्ल्स जब कभी कानून बनाता था तो कानूनों की भूमिका अवश्य प्रस्तुत करता था। चार्ल्स के कानूनों को कैपीचुलरिज की संज्ञा दी गई है। ये कैपीचुलरिज क्रमबद्ध नहीं है, परन्तु व्यापक अवश्य हैं। इनमें नैतिक, राजनीतिक, नागरिक, धार्मिक, सैनिक एवं अन्य विषयों पर कानून शामिल हैं। वस्तुतः रोम के पतन के बाद यूरोप में कानून का राज्य समाप्त हो गया था। इस कमी की पूर्ति शार्लमन की कैपीलचुरिज द्वारा हुई। वह जर्मनों के जातिगत कानूनों की जगह एक सर्वमान्य संहिता लागू करना चाहता था, किन्तु उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका। फिर भी,फौजदारी न्याय और कानून के क्षेत्र में उसे विशेष सफलता मिली। नवीन फौजदारी कानूनों का उद्देश्य था पारिवारिक कलहों और प्रतिहिंसा को समाप्त करना। इस प्रकार पश्चिमी यूरोप का मध्यकालीन राज्य सर्वप्रथम जन-शांति स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। न्याय के क्षेत्र में चार्ल्स ने जाँच-पड़ताल की विधि को अपनाया और फौजदारी न्याय का अधिकांश कार्य चर्च द्वारा देखा जाने लगा।

उसने ईश्वरीय दण्डविधान भी लागू किया जिसके द्वारा किसी को अपराधी या निर्दोष प्रमाणित किया जा सकता था। उसने यह भी आज्ञा निकाली थी कि किसी भी मुकदमे का ठीक-ठीक फैसला जल्द से जल्द होना चाहिए। उसने विधवाओं तथा अनाथ बच्चों के अधिकारों को निर्धारित करने के लिए भी नियम बनाए।

स्थानीय शासन के क्षेत्र में चार्ल्स ने जन-कल्याण की ओर ध्यान दिया। उसके पूर्वपुरुषों ने सामंतों की शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया था और विघटनकारी तत्वों का शमन किया था। स्थानीय सामंतों का दमन कर चार्ल्स ने साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। चार्ल्स ने पहले से आती हुई प्रशासनिक इकाइयों को बनाए रखा। स्थानीय शासन की इकाई काउण्ट के अधीन काउण्टी थी। काउण्टों की नियुक्ति भूमिपतियों के बीच से की जाती थी। संपूर्ण स्थानीय शासन काउण्ट के अधीन था। यह व्यवस्था फ्रैंक परंपरा पर आधारित थी क्योंकि फ्रैंक राज्य के आरंभिक दिनों में भी काउण्टी का शासन काउण्ट द्वारा ही संचालित होता था। धीरे-धीरे काउण्ट केन्द्रीय सरकार की अवहेलना करने लगे और स्थानीय शासन में उनका प्रभाव आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। जनता का शोषण कर वे समृद्ध होते गए। स्थिति के असह्य हो जाने पर चार्ल्स ने काउण्टों की शक्ति को सीमित करने के लिए उनके ऊपर एक अन्य उच्च पदाधिकारी को नियुक्त किया जिसे मिसी डोमिनिकी अथवा राजदूत कहते थे। स्थानीय शासकों पर नियंत्रण रखने के लिए राजकीय पदाधिकारियों में मिसी डोमिनिकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। प्रजा को नियंत्रण में रखना, मालगुजारी वसूल करना, राज्य-भर में घूम-घूमकर चारों ओर डाकुओं को पकड़ना, अपील सुनना, स्थानीय कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख करना और बिशपों के आचरण की गुप्त सूचना सम्राट् के पास भेजना उनके विशिष्ट कर्त्तव्य थे। उनके माध्यम से चार्ल्स साम्राज्य को एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था। सामंती प्रवृत्तियों की रोक-थाम और प्रत्येक पदाधिकारी पर नियंत्रण इनके द्वारा संभव हुआ। सन् ८०२ तक साम्राज्य के प्रत्येक भाग में मिसी डोमिनिकी की नियुक्ति हो चुकी थी। मिसी डोमिनिकी पर भी नियंत्रण रखने के लिए समुचित उपाय किये गए थे। जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्टूबर में होनेवाली जन-सभाओं में स्थानीय अधिकारियों के विरुद्ध मिसी डोमिनिकी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते थे। उनकी तुलना ट्यूडरकालीन जस्टिसेस ऑफ दी पीस से की जा सकती है। कालांतर में चार्ल्स द्वारा किए गए सभी उपाय के बावजूद मिसी डोमिनिकी भी निरंकुश और स्वतंत्र हो गए।

संपूर्ण साम्राज्य २१ मंडलों में विभक्त था। मिसी डोमिनिकी इन मंडलों का निरंतर दौरा करते रहते थे। कैरोलिंगियन शासनकाल में काउंटों के ऊपर ड्यूकों

के पद प्रायः समाप्त हो गए, मिसी डोमिनिकी की स्थापना के बाद इनकी आवश्यकता नहीं रह गई। चार्ल्स के सभी प्रयासों के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि कैरोलिंगियन शासन-तंत्र को एक सुसंगठित नौकरशाही की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अर्द्ध-वर्बर अवस्था एवं निरक्षरता के कारण ऐसा कर सकना संभव भी नहीं था। राज्य के पदाधिकारियों की संख्या, योग्यता एवं ईमानदारी बहुत मामूली थी। अधिकारियों का कार्य-क्षेत्र सुनिश्चित नहीं था और प्रायः सम्राट् को प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र पर व्यक्तिगत दृष्टि रखनी पड़ती थी। परिणामस्वरूप, शासन का स्वरूप सीमित था और राजाज्ञा एवं कानूनों का पूर्ण पालन संभव नहीं था।

सीमा की सुरक्षा के लिए चार्ल्स ने विशेष प्रकार के प्रदेशों का निर्माण किया। ये प्रदेश 'मार्क्स' अथवा 'मार्च' कहलाते थे और किलानुमा होते थे। इन प्रदेशों पर मारग्रेभ नामक प्रशासक शासन करता था। ब्रिटेनी, स्पेन, डेन, बोहेनिया और पूर्वी मार्क प्रमुख थे। मार्कों का शासन सैनिक था न कि नागरिक। मारग्रेभ बहुत शक्तिशाली होते थे क्योंकि साम्राज्य की सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उनके ऊपर था। मार्कों का एक अन्य महत्त्व यह था कि उनका उपयोग अवांछित व्यक्तियों को बसाने और उपनिवेशों के रूप में होता था। उनमें से कई का भविष्य में मध्यकालीन योरोपीय राज्यों के रूप में विकास हुआ, जैसे स्पेनिश-मार्क बाद में स्पेन के राज्य के रूप में परिवर्त्तित हुआ। उसी तरह डेन-मार्क से डेनमार्क नामक राज्य की स्थापना हुई।

कैरोलिंगियन समाज अभी भी कृषि-प्रधान था। अतः शासन का स्वरूप भी कृषि-प्रधान था। राज्य का प्रमुख आर्थिक आधार भूमि थी और राज्य की आमदनी और राजा की व्यक्तिगत आमदनी में कोई अंतर नहीं माना जाता था। अन्य बर्बर राज्यों की तरह ही कैरोलिंगियन साम्राज्य की आमदनी का भी कोई निश्चित साधन नहीं था। रोमन साम्राज्य की व्यापक कर-व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना संभव न था और सम्राट् की आय का मुख्य जरिया सामाजिक भूमि से जिन्सी, नकदी अथवा सेवाओं के रूप में उपलब्ध आमदनी थी। लूट के माल से भी कभी-कभी अच्छी-खासी आमदनी हो जाती थी, जैसे अभारों से लूटा गया धन। सिक्कों का प्रचलन नहीं था और व्यवसाय वस्तु-विनिमय द्वारा चलता था। संक्षेप में कैरोलिंगियन शासन-व्यवस्था कतिपय सुधारों एवं परिवर्त्तनों के साथ मुख्यतः मेरोभींगयन शासन-व्यवस्था पर ही आधारित थी। निःसन्देह काउण्टियों के पुनर्गठन और सुनियोजन तथा मारग्रेभ एवं मिसी डोमिनिकी के पदों के सृजन द्वारा

पहले से आती हुई शासन-व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया गया, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि शासन अभी भी मुख्यतः जर्मन परम्परा पर आधारित था।

कैरोलिंगियन राज्य चर्च-राज्य था। चार्ल्स एक धर्मतंत्र स्थापित करना चाहता था। वह एक ईश्वर-प्रदत्त सम्राट् माना जाता था और पोप द्वारा अभिषिक्त होने के कारण उसका धर्मपरायण व्यक्तित्व और भी स्पष्ट हो उठता था। साम्राज्य की राजनीतिक एकता के लिए वह धार्मिक एकता को आवश्यक समझता था। इस संदर्भ में वह अपने पूर्व पुरुषों अथवा उत्तराधिकारियों से भिन्न विचार रखता था। अधार्मिकता पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया और ईसाई मत के अन्तर्गत सभी विभेद समाप्त कर दिये गए। नास्तिकता दंडनीय थी, धर्म के क्षेत्र में एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया गया। उसका पूर्ण विश्वास था कि ईसाई जगत का शासन केवल राजा एवं पादरी-वर्ग के सहयोग से चल सकता था। उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी उसे कोई शका न थी। पादरी वर्ग का काम प्रार्थना करना और राजा का काम शासन करना था। उसका काम केवल चर्च की रक्षा करना मात्र न था, बल्कि उस पर शासन और नियन्त्रण करना भी था। संक्षेप में, "वह ईसाई जगत का प्रभु और पिता, राजा और पुरोहित, नेता और निदेशक था"। कैरोलिंगियन काल में चर्च का सम्बन्ध केवल नैतिकता से न रह गया, बल्कि यह एक राजनीतिक संस्थान भी बन गया। सम्राट् चर्च-सभाओं को बुलाता था और कभी-कभी उनका सभापतित्व भी करता था। वह चर्च की आज्ञाओं को अपनी स्वीकृति देकर उन्हें साम्राज्य के नागरिक कानूनों में शामिल कर लेता था। चर्च की कचहरियों का नियमन राज्य द्वारा होता था और वहाँ केवल पादरियों से सम्बन्धित मुकदमों का फैसला होता था। धर्मसूत्र द्वारा वर्णित दडों में राज्य अपनी ओर से नए दड शामिल कर देता था। संक्षेप में, चर्च को कई राजनीतिक कार्य भी सौंप दिए गए थे और चर्च का स्वरूप एक राजनीतिक संस्था का हो गया था। दूसरी ओर, चर्च पर राज्य का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। चार्ल्स बेनेडिक्ट के नियमों के आधार पर मठों का पुनर्गठन करना चाहता था और पादरियों के बौद्धिक विकास के लिए वह विशेष सचेष्ट था। अनेक उपदेशों की रचना हुई और उसने पादरियों को जनभाषा में उपदेश करने का आदेश दिया। कैरोलिंगियन कानून न केवल उपासना-पद्धति से सम्बद्ध था, बल्कि मठीय जीवन-अनुशासन तथा राजनीति से भी उनका सम्बन्ध था। चार्ल्स एक कुशल, शिक्षित और स्वामिभक्त पादरी-वर्ग की उपादेयता को समझता था। कैरोलिंगियन साम्राज्य में साधारणतः बिशप ही प्रमुख शासनाधिकारी थे, क्योंकि सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त लोग मुख्यतः वे ही थे। ईसाई मत के प्रसार में गहरी अभिरुचि, पादरी-वर्ग क नैतिक एवं

बौद्धिक उन्नयन की तीव्र इच्छा और भौतिक एवं धार्मिक शक्तियों के विलयन के कारण कैरोलिंगियन राज्य का मुख्य आधार ही धार्मिक था।

जिस समय कैरोलिंगियन साम्राज्य की स्थापना हो रही थी, रोमन साम्राज्य की स्मृति मात्र शेष रह गयी थी। फिर भी, रोम के संरक्षण में पश्चिमी यूरोप की एकता की भावना अभी भी जीवित थी और जब कैरोलिंगियनों ने पश्चिमी यूरोप को नवीन राजनीतिक एकता प्रदान की तो समसामयिक लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो रोमन स्वर्णयुग पुनर्जीवित हो उठा हो। वस्तुतः रोम का आकर्षण कभी भी कम नहीं हुआ था और यही कारण था कि शुरु से ही कैरोलिंगियन शासक रोम द्वारा आकर्षित होते रहे और उनमें से अधिकांश ने रोमन सम्राटों के मुकुट को धारण करना अपना सौभाग्य माना। कैरोलिंगियन साम्राज्य का आदिम स्वरूप रोमन था— केवल इसलिए नहीं कि अधिकांश कैरोलिंगियन सम्राटों का रोम में अभिषेक हुआ अथवा नवीन और प्राचीन साम्राज्य में क्षेत्रीय समानता थी, बल्कि इसलिए कि दोनों साम्राज्यों में नैतिक समानता भी थी। नवीन साम्राज्य के सम्राट् भी रोमन सम्राटों की गरिमा के साथ शासन करते थे। यद्यपि कैरोलिंगियन साम्राज्य में रोमन साम्राज्य की नागरिक प्रशासन की एकता, सुनियोजित विधि और कुशल आर्थिक संगठन का अभाव था, फिर भी, इसमें प्रशासकीय एकता तो थी ही। जर्मन एवं रोमन तत्वों का विलियन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था। प्रशासन-विधि, आर्थिक एवं सैनिक संगठन में रोमन आदर्शों को प्राप्त करने का सतत प्रयास चलता रहता था, यहाँ तक कि रोम के सांस्कृतिक परिवेश को पुनः प्राप्त करने की तीव्र इच्छा प्रायः प्रत्येक कैरोलिंगियन सम्राट् में थी। वस्तुतः नवीन और प्राचीन साम्राज्य में समानता के अनेक तत्व थे।

साम्राज्य के बौद्धिक विकास के लिए भी चार्ल्स ने सतत प्रयास किया, यद्यपि वह स्वयं अल्पज्ञ था। सामान्य जनता और पादरियों की शिक्षा के लिए अनेक स्कूलों की स्थापना की गयी और मठों में रहने वाले प्रतिलिपिकों ने अनेक पुस्तकों की नकल तैयार कर पाठ्य सामग्री में वृद्धि की। अपने युग के श्रेष्ठ विद्वान अलकुइन को इंग्लैंड से आमंत्रित कर सम्राट् ने उसकी सहायता से राजमहल के स्कूल की स्थापना की। इस विद्यालय में सम्राट्, उसके बच्चे और दरबारीगण शिक्षा ग्रहण करने लगे। इस विद्यालय में धर्मशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक सभी प्रकार के विषयों की पढ़ाई होती थी। सम्पूर्ण साम्राज्य में गिरिजाघरों एवं मठों से सम्बद्ध अनेक स्कूलों की स्थापना हुई। इनमें से अनेक को स्वयं अलकुइन ने संगठित किया था। इन स्कूलों के प्रभाव से पश्चिमी ईसाई जगत में एक नवीन बौद्धिक युग का आरंभ हुआ।

शार्लमन का चरित्र

समुद्रगुप्त और गुप्त साम्राज्य की तरह चार्ल्स और कैरोलिंगियन साम्राज्य एक दूसरे के पर्यायवाची थे। इन महान् व्यक्तियों की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक नीति उनके राजवंशों को भविष्य में भी अनुप्राणित करती रही। सम्राट् के रूप में भी चार्ल्स ने केवल चौदह वर्षों तक शासन किया। सन् ८१४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। किन्तु उसकी प्रजा को सहसा विश्वास ही नहीं होता था कि सम्राट् का अन्त हो गया था। मध्यकालीन यूरोप के इतिहास के सभी ज्ञाताओं ने लगभग समवेत रूप में चार्ल्स को रोम के पतन से लेकर मध्य-युग के अन्त तक की सर्वाधिक महती विभूति के रूप में स्वीकार किया है। वह फ्रांस के लोगों के लिए राजा आर्थर था—मध्यकालीन लोक-गीतों का सर्वाधिक प्रिय नायक। उसकी *महानता का प्रतीक था उसका नाम शार्लमन।* उसके नाम के फ्रेंच रूप—शार्लमन से उसके फ्रांसीसी सम्राट् होने का भ्रम होता है। किन्तु जैसा कि फ्रीमैन ने लिखा है, "कैलोर्लिगियनों का शासनारंभ गॉल पर लगभग दूसरी बार जर्मन विजय के समान था।" वस्तुत: चार्ल्स सबसे पहले एक जर्मन था। अपनी भाषा, विचारों, नीति एवं निवास-स्थान की दृष्टि से वह एक जर्मन राजा था न कि लैटिन।

कहा गया है कि "अपने उद्देश्यों और उपलब्धियों में महान, चार्ल्स बर्बरता से ऊपर उठने का प्रयास करता हुआ एक बर्बर मात्र था।" परन्तु वह मात्र एक बर्बर विजेता अथवा राजनीतिज्ञ ही नहीं था, बल्कि उसमें अनेक गुणों का अद्भुद सम्मिश्रण था। उसमें जूलियस सीजर अथवा नेपोलियन के प्राय: सभी गुण वर्त्तमान थे। वह एक महान विजेता, कला एवं साहित्य का मर्मज्ञ, विज्ञान एवं विधि का प्रेमी था। वस्तुत: उसका शासनकाल विश्व-इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात था। सिकंदर की तरह वह मात्र एक महान विजेता ही नहीं वरन् एक अथक सुधारक भी था। उसने कैरोलिंगियन साम्राज्य की मुद्रा प्रणाली में सुधार किए, स्कूलों की स्थापना कर विद्वानों को प्रश्रय दिया, पुस्तकालयों की स्थापना की, धार्मिक विवादों का फैसला किया, एक जहाजी बेड़ा तैयार करने की कोशिश की, व्यापार की उन्नति के लिए राइन और डेन्यूब नदियों को जोड़ने की योजना बनाई और परस्पर-विरोधी रोमन और जर्मन विधियों का संलकन कर एक सर्वमान्य कानून संहिता तैयार करने का प्रयास किया। एक भवन-निर्माता के रूप में भी चार्ल्स की उपलब्धियाँ मामूली नहीं थीं। आकेन में उसने एक गिरजाघर का निर्माण कराया। आकेन, ऐंगलहिम आदि

स्थानों में राजमहलों की स्थापना हुई। मेंज में एक लम्बे पुल का निर्माण हुआ। ये सभी कृतियाँ रोमन स्थापत्य-शैली पर आधारित थीं।

साम्राज्य विस्तार और ईसाई मत के प्रसार के निमित्त चार्ल्स ने चौवन रक्त रंजित लड़ाइयाँ लड़ीं। उसका साम्राज्य उत्तर में आइडर से लेकर दक्षिण में इब्रो, भूमध्य सागर और वेनेभेन्टो तक, पश्चिम में अटलांटिक से लेकर पूर्व में ड्रेभ और डेन्यूब तक फैला हुआ था। उसने न केवल अपने साम्राज्य का विस्तार किया, बल्कि बर्बर आक्रमणकारियों से यूरोप की रक्षा भी की। उसने बर्बर जर्मनों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा और यूरोप में ईसाई मत का मार्ग प्रशस्त किया। वह अपने को ईसाई मत और रोमन परम्परा का संरक्षक मानता था।

चार्ल्स एक कुशल संयोजक और महान शासक था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में महान जातिगत, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विषमताएँ थीं। परंतु चार्ल्स ने एक दृढ़ और 'सफल' प्रशासन स्थापित करने के अलावा प्रजा में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता लाने का प्रयास किया। जन-सभाओं में प्राप्त होने वाले उपहारों, सड़कों और घाटों पर प्राप्त होने वाली चुंगी और कचहरियों द्वारा वसूल किए जाने वाले जुर्मानों से राज्य के लिए राजस्व की व्यवस्था की गई। विभिन्न जातियों के अलिखित परम्परागत कानूनों को लिखित रूप दिया गया, जैसे 'कैपीचुलेरिया इकलेसिएसटिका', 'केपीचुला लेगिवस एडेना' और 'केपीचुला मिसोरूम' आदि। क्षणभंगुर राजनीतिक संगठन के क्षेत्र में ही नहीं, ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में भी उत्तर-रोमनकालीन बर्बरता के निवारण के प्रयास हुए। चार्ल्स का साम्राज्य शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया, राजनीतिक संस्थान लुप्त हो गए और समृद्धि नष्ट हो गई। किन्तु, उसका 'राजत्व का आदर्श' आने वाली पीढ़ियों को अनुप्राणित करता रहा। ज्ञान एवं संस्कृति के पुनरुद्धार और प्राचीन सभ्यता से नवीन संपर्क के कारण मध्य-युग के विकास की नींव पड़ी। कैरोलिंगियन पुनर्जागरण के बिना शायद उत्तर-मध्यकालीन धर्म-सुधार-आंदोलन और पुनर्जागरण संभव न होते। आधुनिक जगत को संभवत: चार्ल्स की यही सबसे बड़ी देन है।

चार्ल्स में युगजनित दोषों का भी सर्वथा अभाव न था। पुराने फ्रैंक गीतों, बोली एवं पोशाकों में उसे बेहद रुचि थी। उसने नौ स्त्रियों से विवाह कर उनका परित्याग किया। एक दिन में ही उसने चार हजार सैक्सनों की निर्मम हत्या की। दूसरे धर्मों के प्रति वह अत्यन्त असहिष्णु था और ईसाई मत को स्वीकार करनेवालों के लिए मृत्यु दंड देना उसके लिए साधारण बात थी। अत: उसमें बर्बर निर्ममता एवं राष्ट्रीय

उन्नयन के उच्च विचारों का अद्भुत सम्मिश्रण था। वाह्य दृष्टि से विचार करने पर उसका चरित्र निर्मलता एवं कलुषता, महानता एवं नीचता का मिश्रण जान पड़ता है। परन्तु उसके अधिकांश दोष युगजनित थे। उसके निधन के बाद यूरोप में जिन संकटों और अनैतिकताओं का जन्म हुआ उनसे उसके युग की तुलनात्मक महत्ता में कोई संदेह नहीं रह जाता। पहले और बाद की योरोपीय अराजकता के बीच उसका शासनकाल उन्नयन, विकास, समृद्धि और आशा का एकमात्र प्रकाश-स्तम्भ जान पड़ता है।

कैरोलिंगियन बौद्धिक पुनर्जागरण

कैरोलिंगियन साम्राज्य की स्थापना से पूर्व का लंबा अंधकारमय युग यूरोप में सभ्यता एवं संस्कृति के पराभव का काल था। यूरोप पर उत्तर-पूर्व से बर्बर जातियों के आक्रमण हो रहे थे और संस्कृति के मूलाधार रोमन साम्राज्य का अंत हो चुका था। उच्च साहित्य के अध्ययन की बात तो दूर रहे, लोग लिखना-पढ़ना तक भूल रहे थे। बोलचाल की लैटिन और साहित्यिक लैटिन में इतना अंतर पड़ गया था कि पहले से दूसरे के समझने में कोई सहायता नहीं मिलती थी। जनपदीय भाषाओं की सर्वदा उपेक्षा हो रही थी। व्याकरण के सामान्य नियम भी लोगों को विस्मृत हो गए थे। अच्छी लिखावट शायद ही कहीं देखने को मिलती थी। अतः, ज्ञान के संरक्षण एवं संवर्धन का भार पादरियों पर आ पड़ा था। उनका दृष्टिकोण मूल रूप में धार्मिक था, अतः जिज्ञासा एवं तर्क पर आधारित लौकिक साहित्य की सृष्टि की ओर उनका ध्यान नहीं के बराबर था। मठवासियों में अधिकांश निरक्षर सांसारिक जीव थे, जिनकी झगड़ों, राजनीतिक षड्यंत्रों और शिकार में ही विशेष अभिरुचि थी। अतः सातवीं एवं आठवीं शताब्दी का काल यूरोप में साहित्य एवं संस्कृति के पराभव का युग था।

कैरोलिंगियन साम्राज्य की स्थापना के बाद उपर्युक्त स्थिति में परिवर्तन लाने के प्रशंसनीय प्रयास हुए। कैरोलिंगियन शासकों, विशेषकर चार्ल्स, के संरक्षण में साहित्य एवं बौद्धिकता की पुनर्स्थापना हुई। चार्ल्स ने ललित कलाओं को प्रश्रय तो दिया ही, साम्राज्य के बौद्धिक विकास के निमित्त भी समुचित प्रयास किए। अकबर की तरह लिखने-पढ़ने का अल्प ज्ञान रखने वाला चार्ल्स सांस्कृतिक विकास का वाहन सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप, साहित्य, दर्शन-शास्त्र, शिक्षा, विद्वता और विज्ञान में लोगों की इतनी अभिरुचि बढ़ी कि इसे कैरोलिंगियन पुनर्जागरण की संज्ञा दी गई है। यदि पुनर्जागरण का तात्पर्य लैटिन भाषा के परम्परागत स्वर्णिम अतीत

को पुनरुज्जीवित करने और शास्त्रीय पद्धति पर नवीन गद्य और पद्य की सृष्टि से है तो कैरोलिगियन पुनर्जागरण का स्वरूप निस्संदेह सीमित था। इसमें पन्द्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के विशिष्ट गुणों—मनोज्ञता, स्वच्छन्दता और साहसिकता का अभाव था। चार्ल्स के लिए साहित्य की उपादेयता धर्म के पोषक के रूप में थी। उसके दरबार में बटोरे गए विद्वानों का काम ज्ञान की नवीन दिशाओं का उन्मेष करना न होकर लुप्त ज्ञान को खोज निकालना, ज्ञात बातों का संरक्षण करना और उस बर्बर युग में एक साहित्यिक समाज की सृष्टि करना था। फिर भी, शिक्षा पर अत्यधिक जोर, दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक संरचना, और पर्याप्त नवीन काव्य की रचना वास्तविक पुनर्जागरण के प्रतीक थे। पुनः, इस बौद्धिक पुनर्जागरण का मूल्यांकन कैरोलिगियन साहित्य की श्रेष्ठता की आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। कैरोलिगियन साहित्य आइनहार्ड लिखित 'चार्ल्स की जीवनी' को छोड़कर सामान्य स्तर का था। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चार्ल्स के दरबार में कला और साहित्य को प्रश्रय दिया गया, विदेशी विद्वानों को सम्मानित किया गया, और पुस्तकों की शुद्धि, सांख्यिक वृद्धि और एकत्रिकरण पर जोर दिया गया। यह प्रक्रिया चार्ल्स के शासनकाल के बाद भी चलती रही और सांस्कृतिक विकास की गति नवीं शताब्दी तक बनी रही।

अपनी प्रजा के मानसिक विकास के साथ-साथ चार्ल्स ने स्वयं अपने बौद्धिक उन्नयन की ओर भी समुचित ध्यान दिया। विद्वान व्यक्ति और बाह्य जगत से सम्पर्क स्थापित कर वह सदैव कुछ सीखने का ही प्रयास करता रहता था। भाषा और विज्ञान उसके प्रिय विषय थे। पिसा के पीटर से वह व्याकरण और अलकुइन से अन्य विषय पढ़ता था। लोक गीतों एवं गाथाओं का उसके आदेशानुसार संग्रह किया गया। उसे संगीत से प्रेम था और इटली के अनेक गायक उसके दरबार में एकत्रित हुए। उसके दरबार का वातावरण सांस्कृतिक था और इसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति आकेन स्थित राजमहल के विद्यालय में होती थी। इंग्लैंड, आयरलैंड, लोम्बार्डी और स्पेन से आमंत्रित विद्वान इस विद्यालय में शिक्षक नियुक्त किए गए थे। इनमें पिसा का पीटर और लोम्बार्डी का पाल प्रमुख थे। इटली का संचित ज्ञान उनके द्वारा फ्रांस में वितरित किया गया। अपने पूर्व-पुरुषों की तरह आयरलैंड के विद्वान फ्रैंक साम्राज्य में शिक्षण का कार्य करते रहे। स्पेन से थियोडल्फ आया था और चार्ल्स का जीवनी-लेखक आइनहार्ड तो वहाँ था ही। इन व्यक्तियों ने चार्ल्स के दरबार में एक बौद्धिक वातावरण सृजित किया। इन कवियों और विद्वानों के अन्तर्राष्ट्रीय दल से साम्राज्य की व्यापकता का सहज बोध होता था। राजमहल के विद्यालय का प्रभाव फ्रांस

और जर्मनी के मठों और बिशपियों पर भी पड़ा। शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ, इस विद्यालय का प्रमुख संयोजक और कैरोलिंगियन पुनर्जागरण का सूत्रधार, अलकुइन था। मूलरूप से सैक्सन, उच्च कोटि का विद्वान, अलकुइन चार्ल्स के निमंत्रण पर यार्क से आया था। उस समय यार्क इंग्लैंड का प्रमुख बौद्धिक केंद्र था। अलकुइन के माध्यम से यार्क के आदर्शों और संस्कृति का फ्रैंक साम्राज्य में विस्तार हुआ। 'आठवीं शताब्दी में इंग्लैंड का उत्तरी-पश्चिमी भाग सभ्यता का केंद्र था। वहाँ सर्वथा नवीन विचारों और आदर्शों का उच्च कोटि को इतिहासकारों द्वारा प्रचार हो रहा था। नॉरदम्ब्रिया की इस सभ्यता पर सेल्टों वैजन्टाइनों और जर्मनों का प्रभाव पड़ा था। सभ्यता के इन सभी विभिन्न तत्वों का प्रभाव अलकुइन के माध्यम से आकेन के राजमहलीय विद्यालय पर पड़ा। अतः यह कैरोलिंगियन पुनर्जागरण सभ्यता के इन सभी विभिन्न तत्वों का मिश्रित रूप था। प्रारम्भ में इस विद्यालय की स्थापना केवल राजपरिवार और सामंती परिवारों के सदस्यों के लिए हुई थी। आगे चलकर प्रांतों के होनहार बच्चों को भी इस विद्यालय में दाखिल किया जाने लगा। अब कर्म्मियों के लड़के भी सामंतों के लड़कों के साथ ही एक प्रकार की पुस्तक पढ़ने लगे। राजमहल का यह विद्यालय यूरोप के मठीय विद्यालयों के लिए आदर्श बन गया। पहली बार मठीय विद्यालय ने अपने द्वार पर उन लोगों के लिए भी खोल दिए जिनका मठीय जीवन अपनाने का कोई इरादा नहीं था। गांवों में भी विद्यालयों की स्थापना हुई जहाँ गिरजाघरों के पादरी शिक्षा प्रदान करते थे। अलकुइन द्वारा प्रशिक्षित लोग बिशप और मठाधीश हो जाने के बाद भी शिक्षा का प्रश्रय देते रहे। इससे यूरोप में एक नवीन बौद्धिक युग का आरंभ हुआ जिसका प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी तक बना रहा। इस प्रकार आकेन का राजमहलीय विद्यालय मध्यकालीन यूरोप का सांस्कृतिक केंद्र बन गया। इसी तरह, मठों द्वारा ज्ञान-वितरण की प्रक्रिया भी आगे बहुत दिनों तक चलती रही। अनेक मठों में विशाल विद्यालयों की स्थापना हुई। इनमें से कुछ में महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने और वितरित करने का काम होता था। इस प्रकार टेसिटस, स्युटोनियस, कोल्युमेला और मारसेलिनस आदि की पांडुलिपियाँ भावी विद्वानों के लिए सुरक्षित की जा सकीं। मठाधीश लुपस, जो कैरोलिंगियन पुनर्जागण-युग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्वान था, इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील रहा। उसने अनेक पांडुलिपियाँ एकत्रित कीं।

कैरोलिंगियन पुनर्जागरण के दो प्रमुख प्रभाव पड़े—प्रथम, प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठों का परीक्षण; द्वितीय, हस्तलिपि में सुधार। दूसरे शब्दों में, यह पुनर्जागरण

स्वरूप एवं व्यापकता दोनों ही दृष्टि से सीमित था। स्वभावतः चार्ल्स के अशक्त उत्तराधिकारियों के शासनकाल में धीरे-धीरे इसका अन्त हो गया। फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि उस बर्बर युग में भी इस पुनर्जागरण की उपलब्धियाँ नगण्य नहीं थीं। कैरोलिंगियन विद्वानों ने धर्मशास्त्र के वृहत भाष्य और प्राचीन लेखकों के ग्रंथों का सारांश तैयार किया। आइनहार्ड द्वारा लिखित चार्ल्स की जीवनी ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य कृति है पॉल ने 'लोम्बार्डों का इतिहास' लिखा। चार्ल्स की मृत्यु के बाद समस्त मध्य-युग में नियार्ड सदृश कोई अन्य इतिहासकार नहीं हुआ। जेराम लिखित बाइबिल का लातीनी संस्करण, जो आयरलैंड, इंग्लैंड, इटली और स्पेन में बहुत विकृत हो गया था, मूल पाठ की तरह शुद्ध किया गया। फ्रांसीसी चर्च की सामान्य प्रार्थना-पुस्तक का स्वरूप मूल रोमन से भिन्न हो गया। इसे शुद्ध किया गया। बेनेडिक्ट के नियमों की एक प्रामाणिक प्रतिलिपि मौंटे कैसिनों से प्राप्त की गई। वे पादरी जो, स्वयं अपने उपदेश तैयार नहीं कर सकते थे, उनके लिए चार्ल्स की आज्ञा से पाल ने धर्मोपदेशों का एक संग्रह तैयार किया। मठों में हस्तलिपि की सुधार के लिए बराबर प्रयास हो रहे थे और शीघ्र ही कैरोलिंगियन छोटी लिपि (minuscule) अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी।

शिक्षा और संस्कृति के अतिरिक्त कैरोलिंगियन पुनर्जागरण का धार्मिक विवादों से भी सम्बन्ध था। इन विवादों में दो प्रमुख थे। दैववाद और तत्वपरिवर्त्तनवाद के सिद्धान्त उनके समर्थकों और आलोचकों के बीच उग्र विवाद के विषय बन गए थे। इस युग का एक अत्यन्त मौलिक दार्शनिक जॉन स्कॉट था। गोट्सचाक ने नवीं शताब्दी के मध्य में दैववाद का विशद अध्ययन किया और तत्संबंधी उसके विचारों के कारण उसे पीटा गया और एक मठ में बंद कर दिया गया। रेटब्रटंस और रैट्रेमस ने तत्त्व-परिवर्तनवाद के सिद्धान्त की ओर यद्यपि, इसका कोई तत्काल प्रभाव नहीं पड़ा, आगे चलकर सोलहवीं शताब्दी में इसी प्रश्न पर कैथोलिक चर्च में फूट पड़ गई।

कैरोलिंगियन काव्य पर भी दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। वर्जिल और बोभिड पर आधारित लैटिन काव्य के उस युग के चार ग्रंथ अभी तक बचे हुए हैं। थियोडल्फ, रेबेनस, मीरस, वालाफ्रिड स्ट्रेबो और सेडुलियस स्कॉट्स इस युग के प्रमुख कवि थे। थियोडल्फ ने चार्ल्स के दरबार का काव्य-रूप में वर्णन किया है। स्वयं वीर-रस-प्रधान किंतु कुछ अटपटी कविता लिखता था। समवेत दृष्टि से कैरोलिंगियन काव्य सामान्य स्तर का था।

जनपदीय भाषाओं की ओर समुचित ध्यान दिया गया था। आइनहार्ड के अनुसार, चार्ल्स की आज्ञा से अनेक लोकगीतों को लिपिबद्ध कर भावी पीढ़ियों के लिए

सुरक्षित किया गया। जर्मन भाषा में लिखित 'ले हिल्डेब्रैंड' नामक वीर काव्य, जिसमें ओडोभकार और थियोडोरिक के संघर्ष से संबंधित एक घटना का वर्णन है, आजतक उपलब्ध है। साहित्य की तरह स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भी अनेक प्राचीन तथा समकालीन तत्वों का प्रभाव स्पष्ट था, जैसे प्राचीन, रोमन, जर्मन और बैजंटाइन आदि। परंतु स्थापत्य-कला के क्षेत्र में न तो कोई विशिष्ट उपलब्धि ही थी और न उस युग के कोई उल्लेखनीय भग्नावशेष ही उपलब्ध हैं। संक्षेप में कैरोलिंगियन पुनर्जागरण ने योरोपीय जीवन के प्रायः प्रत्येक अंग—धार्मिक, साहित्य, दार्शनिक, एवं बौद्धिक— को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया।

कैरोलिंगियन साम्राज्य का विघटन

पाँचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन की ही तरह नवीं शताब्दी में कैरोलिंगयन साम्राज्य का तीव्र गति से विघटन हुआ। सन् ८१४ ई० में ७२ वर्ष की आयु में चार्ल्स का देहांत हो गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका विशाल साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सका और नवीं शताब्दी के अन्त तक छह राज्यों में बँट गया। केवल जर्मनी और इटली में मामूली सा सम्बन्ध बना रहा। कैरोलिंगियन साम्राज्य के विघटन के कई कारण बतलाए गए हैं।

कहा गया है कि साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न जातियों के पारस्परिक द्वेष के कारण कैरोलिंगयन साम्राज्य धाराशायी हुआ। किन्तु यह कारण युक्तपूर्ण नहीं जान पड़ता क्योंकि केवल एक जाति—जर्मन—जिन राज्यों में रहती थी उनका तो विभाजन होता गया और दूसरी ओर इटली, जिनमें जातिगत अंतर था, बहुत दिनों तक एक साथ बने रहे। अतः जातिगत द्वेष साम्राज्य के विघटन का वास्तविक ऐतिहासिक कारण नहीं हो सकता।

पुनः, कहा गया है कि कैरोलिंगियन साम्राज्य उत्तर से नॉर्समेन, दक्षिण से मुसलमानों और पूर्व से हंगेरियनों के लगभग साथ-साथ हमलों के कारण समाप्त हो गया। परतु विदेशी आक्रमण साम्राज्य के पराभव के लक्षण थे न कि इसके पतन के कारण। अतः साम्राज्य के विघटन के अन्य कारण थे जो गंभीर और आंतरिक थे।

सर्वप्रथम, नवीं शताब्दी के अन्त तक साम्राज्य में कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गई। साम्राज्य कई पृथक्-पृथक् राज्यों में बँट गया। इन अलग-अलग राज्यों में भी राजा की शक्ति केवल नाम-मात्र की थी। प्रत्येक राज्य कई लगभग स्वतंत्र काउण्टियों में बँटा हुआ था। और, इस प्रकार, विघटनकारी स्थानीय स्वतंत्रता की भावना की

केन्द्रीयकरण और एकता की भावना पर पूर्ण विजय हुई। स्थानीय अधिकारियों ने राजकीय भूमि, पदों और शक्ति को हस्तगत कर लिया। मिसी-डोमिनिकी सदृश सजग केन्द्रीय अधिकारियों की शक्ति कम हो गई और उनके साथ-साथ राजकीय शक्ति का भी अंत हो गया।

चार्ल्स ने लगभग एक धर्माधारित राज्य की स्थापना की थी। साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ ईसाई मत के प्रसार के निमित्त भी वह जीवन-पर्यन्त प्रयास करता रहा था। परंतु संपूर्ण प्रजा पर ईसाई मत को लादने की उसकी नीति को सभी लोगों ने सहर्ष स्वीकार नहीं किया। ऐसे लोग चार्ल्स की मृत्यु के तुरंत बाद ही केन्द्रीय शक्ति को उखाड़ फेंकने के लिए सचेष्ट हो गए।

चार्ल्स के उत्तराधिकारी मात्र परिस्थितियों के शिकार नहीं थे। वे वस्तुतः संमोहित-से थे। सिकंदर और अन्य विजेताओं की तरह चार्ल्स का विशाल साम्राज्य भी उसकी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो गया। ठीक ही कहा गया है कि "चार्ल्स का साम्राज्य उसकी राजशक्ति पर आधारित था और उसकी राजशक्ति युलिसेज के धनुप सदृश थी जिसकी शिंजिनी दुर्बल हाथों द्वारा नहीं खींची जा सकती थी।" चार्ल्स के बाद कैरोलिंगियन वंश का ह्रास हो गया। उसके वंशधरों के उपनामों से ही यह स्पष्ट हो जाता है। 'चार्ल्स दी हैमर' (हथौड़ा) की जगह अब हम 'धर्मात्मा' लेविस, 'गंजा' चार्ल्स और 'मोटा' चार्ल्स को पाते हैं।

साम्राज्य के पतन का एक करण संवैधानिक भी था। यह शासक के पुत्रों के बीच साम्राज्य के विभाजन का सिद्धांत था। उत्तराधिकारी के निश्चित नियमों के अभाव में, फ्रैंकों की इस प्रथा का साम्राज्य की स्थिरता पर घातक प्रभाव पड़ा। साम्राज्य शासक की व्यक्तिगत सम्पत्ति माना जाता था और एक शासक के मरते ही विभाजन और पुनर्विभाजन के सभी दोष सामने आ जाते थे। चार्ल्स के पुत्र लेविस ने साम्राज्य को बाँटकर अपने पुत्रों—लोथेयर, लेविस और चार्ल्स—को संतुष्ट करने का असफल प्रयास किया। साम्राज्य के विभाजन से राजशक्ति बराबर क्षीण होती गई।

चार्ल्स ने अपनी योग्यता और अथक परिश्रम से एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। परन्तु इस विशाल साम्राज्य को संगठित करने के लिए उसे समय नहीं मिला। परिणामस्वरूप, साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न जातियों को उनकी भाषाई, जातिगत, मनोवैज्ञानिक और परपरागत विभिन्नताओं को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधना संभव न हुआ। दूसरे शब्दों में, साम्राज्य में एक-रूपता का अभाव था। चार्ल्स के प्रभावशाली व्यक्तित्व के हटते ही ये सभी विभिन्नतायें

अपना विरोधी सिर उठाने लगीं। चार्ल्स ने रोमन आदर्श पर समाज को पुनर्गठित करने का असफल प्रयास किया था। उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के समय में साम्राज्य की आधारभूत कमजोरियाँ प्रकट होने लगीं।

चार्ल्स ने चर्च को अनेक अधिकार देकर बहुत शक्तिशाली बना दिया था। उसकी मृत्यु के बाद चर्च पर नियंत्रण रखना कठिन हो गया। चर्च लगभग स्वतंत्र हो गया जिससे स्थानीय विघटनकारी तत्वों को बल मिला। साम्राज्य और पोपतंत्र के बीच दिन-प्रति-दिन उग्र होता संघर्ष भी साम्राज्य के विघटन में सहायक सिद्ध हुआ।

औरंगजेब के विशाल साम्राज्य की तरह कैरोलिंगियन साम्राज्य की विशालता ही इसकी एक बड़ी कमजोरी थी। विशाल साम्राज्य के दूरस्थ भाग केवल चार्ल्स जैसे महान व्यक्तित्व द्वारा ही नियंत्रण में रखा जा सकते थे। उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के समय में साम्राज्य की विशालता ही कमजोरी बन गई। सैक्सनों आदि ने, जिन्होंने केवल भय से चार्ल्स का आधिपत्य स्वीकार किया था, उसकी मृत्यु के बाद अपना विरोध प्रकट करना शुरू किया।

उपर्युक्त सभी कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण भी था—सामंतवाद। सामंतवाद का मूल प्रभाव विकेन्द्रीयकरण का था। इससे साम्राज्य की सुरक्षात्मक शक्ति क्षीण पड़ गई। सामंती विचारों का प्रभाव साम्राज्य में सभी ओर बढ़ रहा था और एकता का एकमात्र बंधन था स्वामिभक्ति का आश्वासन, जो प्रत्येक सामंत और उसके परिवार को राजा को देना पड़ता था।

चार्ल्स की अपनी अदूरदर्शिता का भी साम्राज्य पर प्रभाव पड़ा। गत सौ वर्षों की एकतंत्र शासन-व्यवस्था के लाभों को स्पष्ट देखते हुए भी उसने पुत्रों के बीच साम्राज्य के विभाजन के फ्रैंक सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। उसे साम्राज्य की स्थिरता को ध्यान में रखते हुए ऐसा नहीं करना चाहिए था। सन् ८०६ ई० में उसने साम्राज्य को अपने लड़कों के बीच बाँट दिया था। परन्तु विभाजन की प्रक्रिया वस्तुतः सम्पन्न नहीं हुई थी। आगे चलकर लेविस प्रथम (८१४-४० ई०) के पुत्रों ने वास्तविक विभाजन पर जोर दिया और लेविस भी इसके लिए तैयार हो गया। "आकेन का बँटवारा" के अनुसार उसके बड़े लड़के लोथार को पिता के जीवन काल में संयुक्त सम्राट् बनाया गया। इटली का राज्य भी उसे दिया गया। दूसरे पुत्र पिपिन को अक्विटेन दिया गया। तीसरे पुत्र लेविस को बावेरिया और डेन्यूब तटीय प्रदेश दिए गए। "धर्मात्मा" लेविस समझता था कि मृत्यु के बाद लोथार आकेन एवं रोम दोनों के स्वामी के रूप में अपने भाइयों पर नियंत्रण रख सकेगा। किन्तु

लेविस ने ८१८ ई० में अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद स्वेविया के काउण्ट वेल्फ की कन्या जूडिथ से ८१९ ई० में विवाह किया। इस विवाह से एक पुत्र उत्पन्न हुआ—चार्ल्स—जो आगे चलकर "गंजा" चार्ल्स के नाम से विख्यात हुआ। सन् ८३८ ई० में लेविस के दूसरे पुत्र पिपिन की मृत्यु हो गई। पिपिन के पुत्र पिपिन द्वितीय उत्तराधिकार से वंचित कर अपने छोटे पुत्र 'गंजा' चार्ल्स को लाभान्वित करने के लिए 'धर्मात्मा' लेविस ने साम्राज्य का नए सिरे से विभाजन किया। इससे साम्राज्य में विद्रोह हो गया और 'धर्मात्मा' लेविस की ८४० ई० में मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। 'धर्मात्मा' लेविस अन्तिम शासक था जिसके समय में साम्राज्य की नाममात्र की ही सही एकता बनी रही। उसके बाद कैरोलिंगियन साम्राज्य शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया।

"धर्मात्मा" लेविस के पुत्र लोथार ने चर्च की सहायता से साम्राज्य की एकता को बनाए रखने का असफल प्रयास किया। उसके भाइयों लेविस और चार्ल्स, को साम्राज्य के पूर्वी और पश्चिमी भागों का समर्थन प्राप्त था। उन्होंने सम्मिलित रूप से लोथार को २५ जून ८४१ ई० में फौनटेनी के युद्ध में पराजय किया। अंत में दोनों पक्षों में अगस्त ८४३ ई० में समझौता हो गया जिसके फलस्वरूप वरडुन की संधि हुई। इस संधि के अनुसार लेविस को राइन नदी से पूर्व का इलाका मिला जो आगे चलकर जर्मनी के नाम से विख्यात हुआ। चार्ल्स को रोन और म्यूज के पश्चिम की ओर के इलाके मिले। बाद में इसी का नाम फ्रांस पड़ा। लोथार को इन दोनों इलाके के बीच संकीर्ण भू-भाग मिला जो यूरोप के आर-पार उत्तरी सागर से भूमध्यसागर तक फैला हुआ था। इसमें निचली राइन घाटी का उर्वर प्रदेश, रोन घाटी और संपूर्ण इटली क्षेत्र शामिल था। सम्राट् पद भी लोथार को ही दिया गया।

वरडुन की संधि शार्लमन के साम्राज्य के विघटन की प्रथम विधिवत् शुरूआत थी। इससे साम्राज्य का तीन स्वतंत्र राज्यों में विभाजन हो गया। लोथार को सम्राट् पद तो दिया गया पर अपने भाइयों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था। इस विभाजन से फ्रैंक जाति का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया। यह जाति अबतक प्राचीन रोमन साम्राज्य के पूर्वी और पश्चिमी भागों को जोड़नेवाली कड़ी का काम करती रही थी। परन्तु अब पूर्व और पश्चिम सर्वथा अलग-अलग हो गए।

पुनः इस संधि से यह प्रमाणित हो गया कि रोम-प्रभावित साम्राज्य का पश्चिमी भाग ट्यूटानी पूर्वी भाग से धीरे-धीरे अलग होता जा रहा था। अब फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रों का अलग-अलग विकास शुरू हुआ। दूसरे शब्दों में, इस संधि द्वारा फ्रांस और जर्मनी-इटली के परस्पर-विरोधी राज्यों का जन्म हुआ। पश्चिमी फ्रैंक राज्यों

से फ्रांस की नींव पड़ी। पूर्वी फ्रैंक राज्य आगे चलकर जर्मनी बना। इन दोनों राज्यों के परस्पर विरोधाभाव का यूरोप के भावी इतिहास पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इन दोनों राज्यों के बीच लोथार का राज्य था जिसकी आबादी मिश्रित थी और जिसका कोई राष्ट्रीय आधार न था। स्वभावतः यह राज्य सबसे कमजोर सिद्ध हुआ और शीघ्र ही इटली, बरगंडी और लोथारिंगिया के स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया।

साम्राज्य का उपर्युक्त विभाजन प्राकृतिक नहीं था। जाति, भाषा, प्रथा और भौगोलिक विभिन्नता का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा गया। आल्पस पर्वत के आर-पार इटली और मध्य गॉल को एक राज्य के अंदर रखा गया। अतः वरडुन में राष्ट्रीयता की जगह सामंतवाद की विजय हुई थी। वस्तुतः राष्ट्रीय भावनाओं का पश्चिमी यूरोप में अभी तक जन्म नहीं हुआ था। तीनों राज्यों का न तो अपना कोई राष्ट्रीय स्वरूप था और न राष्ट्रीयता के विकास का कोई प्रेरणा-स्रोत।

पुनः वरडुन-विभाजन का मतलब था साधनों का विभाजन। संधि के बाद राजकीय भूमि सहित सभी प्रकार के साधनों का तीनों राज्यों के बीच बँटवारा हुआ। केन्द्रीय शक्ति इससे बिल्कुल समाप्त हो गई। राजकीय भूमि अनेक अनुदानों के कारण ऐसे भी बहुत घट गई थी। अब उसके तीन भागों में बँट जाने से तीनों राज्यों के आर्थिक साधन और भी सीमित हो गए।

एक अन्य प्रभाव, जिसकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता था, पोपतन्त्र की शक्ति में वृद्धि था। वरडुन संधि में पोप ने मध्यस्थता की थी। भविष्य में भी योरोपीय राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का पोप बहुत दिनों तक लाभ उठाते रहे। इस तरह, शार्लमन द्वारा चर्च पर स्थापित किया गया नियन्त्रण हमेशा के लिए समाप्त हो गया।

सन् ८४३ ई० के बाद तीनों भाइयों के बीच शांति बनी रही, यद्यपि उनकी आंतरिक कठिनाइयाँ कम नहीं थीं। परन्तु ८४३ से ८७० ई० के बीच और भी कई विभाजन हुए। सन् ८७० ई० के अंतिम विभाजन में आधारभूत परिवर्तन किए गए। लोरेन का चार्ल्स और लुडविग के बीच विभाजन हुआ। लोरेन के इस विभाजन से फ्रांस एवं जर्मनी समीपवर्ती देश हो गए। इससे आगे चलकर अनेक संकट उपस्थित हुए। लोरेन के विभाजन से यह और भी स्पष्ट हो गया कि इन सभी विभाजनों के पीछे राष्ट्रीयता के बजाय सामंतवाद की भावना थी। सन् ८८७ ई० में 'मोटा' चार्ल्स इटली से निकाल बाहर किया गया। अगले वर्ष उसकी मृत्यु हो गई और पश्चिम में कैरोलिंगियन साम्राज्य का अंत हो गया। कैरोलिंगियन साम्राज्य का अवशिष्ट भाग शीघ्रतापूर्वक कई छोटे-मोटे राज्यों में बँट गया। साम्राज्य की एकता के चिह्न समाप्त हो गए। कुछ समय के लिए पुनः यूरोप छोटे-मोटे राज्यों से भरा एक भौगोलिक अभिव्यक्ति-मात्र रह गया।

अध्याय ५

ईसाई मठवाद

ईसाई चर्च में तीसरी तथा छठी शताब्दी के बीच उस संस्थान का विकास हुआ जिसे मठवाद की संज्ञा दी गई है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यवस्था थी जिसका मध्यकालीन एवं परवर्ती इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। मठवाद शब्द की उत्पत्ति ग्रीक 'मोनाकुस' से है जिसका अर्थ है एकांतवासी व्यक्ति। किंतु बाद में इस शब्द का प्रयोग सामूहिक जीवन व्यतीत करने वाले मठवासियों के लिए होने लगा। व्यापक अर्थ में मठवाद कठोर आत्मत्याग तथा वैराग्य पर आधारित जीवन का प्रतीक था जिसका उद्देश्य था आत्मिक उन्नयन। मठीय व्यवस्था के अतर्गत दो प्रकार के वैरागी थे —एकांतवासी अथवा विरक्त योगी तथा समाजवासी भिक्षु अथवा मठवासी। पहली श्रेणी के वैरागी ससार से विरक्त, किसी निर्जन स्थान में एकांत जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी श्रेणी के भिक्षु सामूहिक रूप से सम्प्रदाय-विशेष के रूप में किसी एक ही स्थान पर रहते थे।

वैराग्यपूर्ण जीवन की परिकल्पना ईसाई जगत की मौलिकता नहीं थी। हिन्दुओं, बौद्धों तथा यहूदियों में योगी-संन्यासी बहुत पहले से चले आ रहे थे। वस्तुतः मठवाद के तत्त्व ईसाई धर्म में पूर्वी जगत से ही प्रवीष्ट हुए। पूर्वी ईसाइयों के एक सम्प्रदाय ने द्वैतवाद की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार के अन्य पूर्वी सिद्धान्तों ने ईसाई मठवाद को जन्म दिया। अन्य प्रभावों के अतिरिक्त उत्तरकालीन, रोमन साम्राज्य के सामाजिक एवं नैतिक पराभव की प्रतिक्रिया-स्वरूप भी मठवाद का जन्म हुआ। तत्कालीन चर्च की अत्यधिक सांसारिकता से आध्यात्मिक प्रवृति वाले लोगों को घोर निराशा हुई और वे एक उच्चादर्श एवं कर्मठ धार्मिक जीवन की परिकल्पना करने लगे। ऐसे लोग वैराग्यपूर्ण जीवन की ओर सहज-स्वाभाविक ढंग से आकर्षित हुए। सर्वत्र व्याप्त कामुकता के विरुद्ध भिक्षुओं ने ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन पर जोर दिया। ईसाइयों की अत्यधिक धनलोलुपता से उन्हें अस्तेय तथा अपरिग्रह की भावना अधिक प्रिय लगी। शारीरिक सौंदर्य से आत्मिक सौंदर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया। भोजन-वसन की सादगी पर भिक्षुओं ने अधिक जोर दिया। ग्रीक-रोमन जगत के नैतिक सामाजिक पराभव का तो मठवाद पर प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही, वैराग्यपूर्ण जीवन की संपुष्टि के लिए बाइबिल से भी प्रसंग जुटाए गए। ईसामसीह तथा संत पॉल की

कई उक्तियों के संदर्भ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाने लगी कि एकांत, अपरिग्रह तथा संयम पर आधारित जीवन ही मोक्षदायी हो सकता है।

तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में पूर्वी ईसाई वैराग्यपूर्ण जीवन की ओर आकर्षित होने लगे। डेसियन उत्पीड़न (२४९-५१) इसमें और भी सहायक सिद्ध हुआ। मिस्रवासी संत एनटोनी को "वैरागियों का पिता" कहा गया है। उसका अनुकरण कर हजारों लोगों ने गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर संन्यासी-जीवन को अंगीकार किया। पूर्वी विरक्त योगियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध संत सेमेअन स्टाइलिट्स था जिसकी मृत्यु ४५९ ई० में हुई। उसे स्तंभ का संत कहा जाता था, क्योंकि वह छत्तीस वर्षों तक केवल तीन फीट व्यास वाले स्तंभ पर विराजमान रहा। चौथी शताब्दी तक एकांतवासी वैरागी जीवन के आदेश का यूरोप में प्रवेश हो गया जहाँ इसने मठीय स्वरूप ग्रहण कर लिया। किसी न किसी वैरागी की प्रसिद्धि से आकर्षित उसके शिष्य उसके निकट अपनी झोपड़ियों में रहने लगे। इन झोपड़पट्टियों ने धीरे-धीरे एक मठ का रूप ग्रहण कर लिया। कुछ समय बाद पूर्वी समाजोन्मुखी मठवासी भिक्षु जीवन का यूरोप में प्रवेश हुआ। वहाँ मठवासी जीवन एकांतबास की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। हर तरफ मठों की स्थापना हुई। बर्बर आक्रमणों तथा रोमन साम्राज्य के पतन ने इस प्रक्रिया को और भी बल दिया। मठवाद की ओर स्त्री तथा पुरुष सामान रूप से आकृष्ट हुए। बहुत बड़ी संख्या में वैरागिनी-आश्रमों की स्थापना हुई जिनका अनुशासन प्रायः मठों जैसा ही था।

मठों तथा मठवासियों की निरंतर बढ़ती संख्या के कारण आचार-व्यवहार में यथासंभव एकरूपता लाने की आवश्यकता भी जल्दी ही जान पड़ने लगी। कहा जाता है कि सबसे पहले मिस्री वैरागी संत पैकोमियस ने चौथी शताब्दी में अपने अनुयायियों के निदेश के लिए नियम बनाए। किन्तु मठवाद से सम्बद्ध सबसे प्रसिद्ध नियामक नर्सिया का संत बेनेडिक्ट (४८०-५४३) ही था। उसने रोम और नेपल्स के बीच मौंट कौसिनो के प्रसिद्ध मठ की स्थापना की। उसकी आचार-संहिता का धार्मिक जगत में वही महत्त्व था जो कानून जगत में जस्टिनियन के कॉरपस जुरिस सिविलिस का था। उसकी व्यवस्था के अंतर्गत कई नियम अति लाभप्रद एवं व्यावहारिक थे—जैसे, शारीरिक श्रम का धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाना अथवा प्रतिदिन नियमित रूप से धर्मग्रन्थों का पाठ करना आदि। संत बेनेडिक्ट के नियमों का पालन करनेवाले भिक्षु बेनेडिक्टाइन कहे जाने लगे। यह सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय और व्यापक हुआ कि कुछ समय के लिए यह यूरोप का एकमात्र भिक्षु संप्रदाय जान पड़ता था। किसी समय इसमें चालीस हजार मठ शामिल थे। इस संप्रदाय के चौबीस

व्यक्तियों ने पोप-पद को सुशोभित किया, बिशपों और संतों की तो कोई गिनती ही नहीं थी।

मठीय सुधार

मठवाद का प्राय: हजार वर्षों तक बोलवाला रहा। इस संपूर्ण काल में मठीय सुधार के प्रयास प्राय: निरंतर होते रहे। प्रत्येक मठ धन-धान्य की वृद्धि के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पतनोन्मुख होने लगता था। भिक्षुओं में आलस, भोगविलास तथा अनुशासनहीनता के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। परंतु मठीय भिक्षुओं में हमेशा कोई न कोई चेतन व्यक्ति सुधारक के रूप में प्रकट हो जाता था। अत: मठीय सुधार के साथ मध्ययुग के कुछ सर्वश्रेष्ठ सुधारकों के नाम संबद्ध हैं।

मठीय सुधार आंदोलन का न केवल मध्ययुगीन चर्च के इतिहास में महत्त्व है, बल्कि तत्कालीन राजनीति एवं समाज पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। योरोपीय सभ्यता के क्रमिक विकास पर भी इसकी गहरी छाप पड़ी। दशम शताब्दी के आरंभ तक मठों तथा बिशपों में सुधार की आवश्यकता जान पड़ने लगी, यद्यपि मठीय सुधार की तत्काल आवश्यकता थी। कैरोलिंगियन साम्राज्य के पराभव तथा सामंतवाद के उत्थानकाल में नवोदित सामंत चर्च की भूमि तथा राजस्व पर अधिकार करने के अलावा चर्च के प्रशासन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। इस प्रक्रिया से बिशपों की तुलना में मठों को अधिक नुकसान हुआ क्योंकि मठ अलग-अलग स्वतंत्र संस्थान थे और मठाधीशों को धार्मिक प्रशासन के अधिकार प्राप्त नहीं थे। मठवासी बिशप समाज की तरह न तो संगठित ही थे और न उन्हें दोषारोपण, जाति-निष्कासन और निषेधाज्ञापन जैसे अधिकार ही प्राप्त थे।

मठों के नैतिक ह्रास का एक कारण और भी था। नार्वीजी आक्रमणों से मठों को अपार क्षति हुई। नवीं शताब्दी के योरोपीय युद्धों के फलस्वरूप भी अनेक मठ उजड़ गए या दरिद्र हो गए। फलत: मठाधीशों की संख्या भी बहुत घट गई। आक्रमणों तथा अत्याचारों से मठवासियों का उत्साह तो घटा ही उनका अनुशासन भी समाप्त हो गया। उजड़े मठों में लौटनेवाले मठवासी भिक्षु न रहकर दस्यु का रूप धारण कर लेते थे।

सर्वाधिक समृद्ध मठों के मठाधीशों के रूप में अक्सर बड़े सामंतों की नियुक्ति हो जाती थी। ये सामंत अपना पद वंशानुगत बना लेते थे। मठाधीश के रूप में आमदनी

का अधिकांश भाग ये पचा जाते थे, जबकि मठवासी किसी तरह दैन्य एवं अनुशासन-हीनता का जीवन-यापन करते थे। यह सही है कि कुछ सामंतों ने सामंती हस्तक्षेप से रहित मठों की स्थापना का प्रयास किया, किन्तु मठवाद की बुराइयाँ इतनी व्यापक हो गई थीं कि ऐसे इक्के-दुक्के प्रयासों से कुछ फर्क पड़नेवाला नहीं था।

कुछ मठ अत्यन्त समृद्ध थे। सामंतों एवं सामान्य जन से इन्हें काफी चढ़ावा मिलता था। सुसंगठित मठ उद्यम के केन्द्र थे। फलतः उनकी समृद्धि बढ़ती थी। धन एवं सांसारिकता से भ्रष्टाचार एवं चरित्रहीनता को बढ़ावा मिलता था। अत्यन्त समृद्ध तथा प्रसिद्ध फार्फा मठ मठाधीशों की हत्या तथा भिक्षुओं की चरित्रहीनता के लिए कुख्यात था। दशम शताब्दी में अनेक मठों की लगभग यही दशा थी। शांतिपूर्ण एवं सरल जीवन के लिए मठ सम्बन्धी बेनेडिक्ट के नियम अब नवीन परिस्थितियों में अव्यवहार्य हो गए थे। मठवासियों के भौतिकवादी जीवन का नियमन अब उनके द्वारा संभव न था। कुछ मठ जो अभी भी ज्ञान और व्यवस्था के केन्द्र थे, अन्य मठों को प्रेरणा प्रदान करने में अक्षम थे।

मठवाद के सौभाग्य से बर्बरता, अंधविश्वास तथा अर्द्ध-विधर्मिता के इस वातावरण में भी कुछ लोगों के मन में धर्म तथा पवित्रता के प्रति आस्था बच रही थी। वैराग्य तथा भक्ति को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। अतः यूरोप के अनेक भागों में सुधार की प्रवृत्ति उभरकर सामने आ रही थी। इटली में निलुस तथा रोमाल्ड, लोरेन में रिचर्ड तथा फ्लैंडर्स में पिपो जैसे संत मठीय दुर्व्यवस्था की तीव्र आलोचना करने लगे थे। परंतु आरंभ में सुधार की प्रक्रिया बड़ी धीमी थी और सुधार कार्य इक्के-दुक्के मठों में ही हो रहा था। स्थानीय स्तर पर पेरिस, फ्लैंडर्स तथा मेत्ज में कुछ सुधार हुए। किन्तु इन सभी अलग-अलग सुधार-आंदोलनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध बरगंडी स्थित क्लुनी के सुधार-आंदोलन को मिली। क्लुनी-सुधार-आन्दोलन के समक्ष इटली तथा लोरेन के अन्य सभी सुधार–आंदोलन फीके पड़ गए। वस्तुतः क्लुनी सुधार का पर्यायवाची बन गया। इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि कभी-कभी भूल से संपूर्ण मठ-सुधार आंदोलन को क्लुनिएक-सुधार-आंदोलन की संज्ञा दे दी जाती है।

सन् ९१० में अक्विटेन के ड्यूक धर्मात्मा विलियम प्रथम ने बर्नो नामक मठाधीश को क्लुनी में निष्कर भूमि दी। क्लुनी भूमध्यसागर तथा उत्तरी सागर को जोड़ने वाले प्रमुख व्यापार-मार्ग पर होने के कारण पहले से ही प्रसिद्ध था। तीर्थयात्री, व्यापारी और यात्री यहाँ ठहरा करते थे। अतः क्लुनी ने नव-स्थापित मठ को शीघ्र

ही प्रसिद्धि मिल गई, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसकी स्थापना के समय से ही इस बात का ध्यान रखा गया था कि इसे सामंती हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाये। इसके संस्थापक ने इस पर अपना किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रखा था और इसे सीधा केवल पोप के अधीन रखा गया था। इसमें बेनेडिक्ट नियमों को लागू किया गया था। इस तरह शुरू से ही क्लुनी-मठ राजकीय तथा सामंती नियंत्रण से मुक्त मठ-व्यवस्था का प्रतीक था। क्लुनी का यह संगठन और संगठन में निहित अभिप्राय उस युग के लिए सचमुच क्रांतिकारी था। उस समय तक बेनेडिक्ट के नियमों पर आधारित सभी मठ स्वतंत्र होते हुए भी असुरक्षित थे। उनकी एकाकी स्थिति का लाभ उठाकर ही सामंत उनका अतिक्रमण करते थे। परंतु क्लुनी को ऐसे किसी अतिक्रमण से मुक्त रखा गया था, पुनः बेनेडिक्ट के नियमों पर आधारित, प्रत्येक मठ का अपना मठाधीश होता था। किन्तु, क्लुनी-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रायः तीन सौ मठों के होने के बावजूद सबों का एक ही मठाधीश था जो क्लुनी में रहता था। शेष सभी मठों में सहायक मठाधीश रहते थे जिनकी नियुक्ति क्लुनी से होती थी। इन सहायक मठाधीशों की क्लुनी में नियमित रूप से बैठक हुआ करती थी, जिसका सभापतित्व मठाधीश करता था। क्लुनी-व्यवस्था का शीघ्रतापूर्वक दूर-दूर तक विस्तार हुआ। इसके अंतर्गत् फ्रांस, स्पेन, इटली, जर्मनी तथा इंग्लैंड के प्रायः सभी पुराने तथा पतनोन्मुख मठ आ गये। उन सबों पर क्लुनी व्यवस्था का गहरा प्रभाव पड़ा। वे अब स्वतंत्र तथा एकाकी नहीं रह गए। केन्द्रीयकरण क्लुनी-व्यवस्था का प्रमुख लक्षण था। इसके अंदर के सभी मठ मानो क्लुनी मठ के संतान थे और पोप क्लुनी परिवार का प्रमुख था। क्लुनी मठ में ही तीन सौ से अधिक भिक्षु रहते थे। चारों ओर से बरसने वाले धन से मठ का पुनर्निर्माण किया गया। क्लुनी मठ लकड़ी से संगमर्मर में परिवर्तित हो गया। क्लुनी-आंदोलन की सहज स्वाभाविकता इसकी सफलता का कारण बनी। इसकी विद्वता, कुशलता और निष्ठाभावना से इसके समर्थकों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। केन्द्रीयकरण का औचित्य यह था कि इसके द्वारा मठों को पतनक्रिया के दोषों से बचाया जा रहा था। अब सामंतों अथवा गैर-भिक्षु मठाधीशों द्वारा मठों का शोषण समाप्त हो गया। सैद्धांतिक रूप में मठवासी मठाधीश का चुनाव करते थे, किन्तु वस्तुतः अपने उत्तराधिकारी को वह स्वयं मनोनीत एवं प्रशिक्षित करता था। इस तरह दीर्घकाल तक क्लुनी में सुयोग्य मठाधीशों की परंपरा बनी रही। इससे एक निश्चित कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जा सका। क्लुनी के मठाधीश साधारणतः उच्च कुलों से आते थे और अत्यन्त कुशल होते थे। अतः क्लुनी का संगठन ही विशिष्ट प्रकार का था।

सन् ९३१ ई० में पोप ने क्लुनी के सुधारों को मान्यता दी। अगले दो सौ वर्षों में पोप ने क्लुनी से संबद्ध मठों को वाह्य अतिक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने के लिए अनेक नियम बनाए। आम जनता को इस संप्रदाय को उपहार तथा अनुदान प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। धीरे-धीरे मठों की संख्या बढ़ने लगी और सदियों से स्वतंत्र तथा समृद्ध मठ इस सम्प्रदाय में शामिल होते गये। इसके कुशल प्रशासन से उन्हें लाभ होता था तथा साथ ही पोप का संरक्षण भी प्राप्त होता था। कुछ को इस सम्प्रदाय में शामिल होने तथा इसके सुधारवादी नियमों को मानने के लिए बाध्य किया गया। इस तरह, दो सौ वर्षों के भीतर एक विस्तृत मठीय-साम्राज्य की स्थापना हो गयी, जिसकी राजधानी क्लुनी में थी। इस सम्प्रदाय से संबद्ध मठ फ्रांस, इंग्लैंड, हॉलैंड तथा सुदूर फिलस्तीन तक फैले हुए थे। किन्तु क्लुनी के सुधारों का विरोध हुआ ही नहीं हो, सो बात नहीं थी। विरोध कई दिशाओं से हुआ। विशप क्लुनी संप्रदाय के मठों की स्वतंत्रता के विरोधी थे। सामंतों ने इसलिए विरोध किया कि इससे मठों पर उनका नियंत्रण समाप्त हो रहा था। अनेक बेनेडिक्टाइन मठों ने इस कारण से विरोध किया कि उनकी स्वतंत्रता का हनन हो रहा था। कुछ मठ इतने भ्रष्ट थे कि सुधारों में उनकी कोई रुचि नहीं थी। किन्तु इन विरोधों के बावजूद, क्लुनी संप्रदाय का विस्तार होता ही गया। दशवीं शताब्दी के मध्य से बारहवी शताब्दी के मध्य तक क्लुनी पश्चिमी यूरोप का धार्मिक केन्द्र बना रहा और इसके मठाधीशों की शक्ति एवं प्रतिष्ठा पोप के बाद सर्वोपरि थी। किन्तु क्लुनी का नकल करने वाले कई स्थान थे। पुनः, जिन करणों तथा प्रेरणाओं से क्लुनी सम्प्रदाय का जन्म हुआ था, उन्हीं से अन्य स्वतंत्र सुधारक दलों की भी स्थापना हुई। किन्तु, संगठन के अभाव में उनका उत्थान-पतन होता रहा। अतः मठीय सुधार का आंदोलन मुख्यतः क्लुनी का पर्यायवाची बना रहा।

अधिकांश सुधारकों की तरह क्लुनी वाले भी कोई नई बात कहने का दावा करते थे। वे केवल प्राचीन एवं पवित्र मान्यताओं के अंगीकार किए जाने पर जोड़ देते थे। उनकी दृष्टि में ये मान्यताएँ वही थीं जिनका बेनेडिक्ट ने प्रतिपादन किया था। पुनः सभी सुधारकों की तरह ये लोग भी प्राचीन मान्यताओं में संशोधन-परिवर्तन में विश्वास करते थे। अतः उन्होंने बेनेडिक्ट की तरह भिक्षुओं के लिए शारीरिक श्रम को अत्यावश्यक नहीं बतलाया। अब अधिक जोर प्रार्थना तथा चारित्रिकी विशुद्धता पर दिया जाने लगा। ब्रह्मचर्य, पादरियों के चयन, पद-प्रतिष्ठापन तथा चर्च-संपदा के नियमन तथा नियंत्रण, सम्बन्धी धर्मशास्त्रीय विधानों के पालन पर भी अब अधिक जोर दिया गया। मठाधीशों का चुनाव अब मठवासियों द्वारा होने लगा

मठों की खोई हुई संपदा को पुनः प्राप्त करने तथा समृद्धि को बढ़ाने की चेष्टा की जाने लगी। मठों की संपत्ति का स्वामित्व तथा नियमन अब मठों तक ही सीमित रहा और सभी वाह्य नियंत्रणों का अंत कर दिया गया।

उपर्युक्त सुधार केवल मठवासी भिक्षुओं तक ही सीमित रखे जाते तो कोई बात नहीं थी। किन्तु इन्हें मठों के आसपास के इलाकों में रहने वाले भिक्षुओं पर भी लागू किए जाने की माँग की गई। इससे सुधारों का स्वरूप राजनीतिक हो गया, क्योंकि गैर-मठवासी भिक्षुओं के सुधार का मतलब था मठों की ही तरह बिशप-शासित संपदा पर भी गैर व्यक्तियों का नियंत्रण न होकर केवल चर्च का नियंत्रण होना। इसका अर्थ होता सामंतवादी यूरोप में एक राजनीतिक क्रांति। उस समय बिशप पूर्णरूपेण सामंतवादी थे। वे काउन्टों तथा राजाओं के अधीनस्थ सामंत थे जो सैनिकों तथा कर सम्बन्धी सामंती जिम्मेदारियों को निभाते थे। यह बात विशेषतः लोरेन, लोम्बार्डी तथा जर्मनी में देखने को मिलती थी। उपर्युक्त सुधार से जर्मन सामंत बिशपों को राजकीय नियंत्रण से मुक्त कर सम्राट् की शक्ति को घटाने का प्रयास कर सकते थे। इस सुधार का मतलब था राज्य को सामंती आय तथा सेवाओं से वंचित करना इससे जर्मन चर्च तथा जर्मन राजाओं के बीच संघर्ष की संभावना बढ़ी। पुनः यह कहना कि पादरियों तथा बिशपों का चुनाव शास्त्रसम्मत विधि से हो, पादरियों तथा राजाओं के बीच के परंपरागत सम्बन्ध को नकारना था क्योंकि अबतक ग्रामीण पादरिओं का चुनाव मेनॉर के स्वामी द्वारा तथा बिशपों-आर्कबिशपों का चुनाव बड़े सामंतों अथवा राजाओं द्वारा होता रहा था। उसी तरह, बिशपों तथा आर्कबिशपों के राजा के बजाय धार्मिक सत्ता द्वारा ही पद-प्रतिष्ठापित किए जाने की मांग से चर्च तथा राज्य के सामंती सम्बन्ध कमजोर पड़ सकते थे। उपर्युक्त सभी सुधार क्रांतिकारी थे, विशेषतः जर्मनी के लिए। जर्मन राजतंत्र की शक्ति बहुत कुछ चर्च के साथ सहयोग पर आधारित थी। चर्च को राज्य के नियंत्रण से मुक्त कर देने का अर्थ था जर्मन राजतंत्र की शक्ति का ह्रास। पुनः गृहस्थ पादरियों द्वारा भी ब्रह्मचर्य-पालन की माँग का अर्थ था पश्चिमी यूरोप के ग्रामीण पादरियों के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना, क्योंकि ये पादरी साधारणतः विवाहित थे या खुलेआम पुजारिनों के साथ रहते थे। अतः सुधारकों को गृहस्थ-पादरियों का समर्थन न मिल सका। ये पादरी ब्रह्मचर्य-पालन की माँग से क्षुब्ध थे, क्योंकि वे इसे अमानुषिक समझते थे। पूरा जर्मन चर्च राज्य के साथ सबंध विच्छेद के खिलाफ था। दूसरी ओर जर्मन राजा भी चर्च को स्वतंत्रता प्रदान कर अपनी स्थिति को कमजोर बनाने को तैयार नहीं थे। अतः सुधारकों ने पोप का दामन पकड़ा और पोपतंत्र चर्च-सुधार का

हिमायती बन गया। पोपतंत्र ने गैर धार्मिक सत्ता द्वारा पादरियों के पद-प्रतिष्टापन का विरोध किया। इससे पद-प्रतिष्ठापन संघर्ष की शुरूआत हुई।

क्लुनी सुधार योजना के पोपतंत्र द्वारा स्वीकार कर लिए जाने से इसका स्वरूप अखिल योरोपीय आंदोलन का हो गया। सन् १०४६ से १०८५ ई० तक हिल्डेब्रैंड (पोप ग्रिगोरी सप्तम) ने इसका नेतृत्व किया। अतः इस काल के क्लुनी सुधार को ग्रिगोरी का सुधार भी कहा गया है। परंतु, स्मरणीय बात यह है कि ग्रिगोरी सप्तम और उसके पहले तथा बाद के पोप सुधारों में रुचि रखते तो थे, किंतु, साथ ही उसे चर्च पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने का जरिया भी समझते थे। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि सुधार के नाम पर साम्राज्य के साथ संघर्ष करने से उन्हें राजकीय पोपतंत्र की स्थापना में सहायता मिलेगी। इस तरह, क्लुनी के भिक्षुओं ने पोपतंत्र की शक्ति में वृद्धि की। उन्होंने पोप के परामर्शदाताओं तथा दूतों का काम किया। उनका प्रचार-कार्य किसी एक राज्य तक सीमित नहीं था। इसलिए वे एक व्यापक चर्च के पक्ष में थे। उनके प्रचार ने राजकीय पोपतंत्र के सिद्धांत को मजबूत बनाया। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मठीय-सुधार-आंदोलन का यही राजनीतिक महत्त्व था।

मठीय-सुधार-आंदोलन का तत्कालीन यूरोप के सांस्कृतिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। ग्रियोरी सप्तम बार-बार जिस संयम की बात करता था उसमें चर्च की सत्ता में विश्वास के साथ-साथ अन्य बात भी शामिल थी, जैसे, अराजकता, क्रूरता तथा उत्पीड़न का विरोध। इसमें कोई संदेह नहीं कि चर्च को इस दिशा में काफी सफलता मिली भी। क्रूर नाइट धीरे-धीरे शिष्ट बनता जा रहा था। अपने स्वामी तथा प्रेमिका में रुचि लेने के अतिरिक्त अब वह धर्मयोद्धा भी बन गया था। वस्तुतः भिक्षुओं के आत्मत्याग का जन-साधारण पर गहरा प्रभाव पड़ा था। जनता से प्राप्त धन का उपयोग क्लुनी-मठ समाज-सेवा, अकालपीड़ितों की सहायता, स्कूल खोलने आदि के लिए करता था, यद्यपि आगे चलकर संचित धन का दुरुपयोग होने लगा और प्रतिक्रिया-स्वरूप एक नवीन सुधार-आंदोलन का सूत्रपात हुआ। क्लुनी से सम्बद्ध मठ संस्कृति के केन्द्र थे। उनके नियमित एवं अनुशासित जीवन का समकालीन योरोपीय समाज पर लाभप्रद प्रभाव पड़ा। ये मठ धर्मशास्त्र, इतिहास और लैटिन साहित्य के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होने रोमन विधि के अध्ययन को पुनर्जीवित किया। इनमें रहने वाले भिक्षु अपना अधिकांश समय पांडुलिपियों की नकल तैयार करने तथा अध्ययन-अध्यापन में लगाते थे। मठीय वास्तुकला का मध्यकालीन योरोपीय भवन-निर्माण-कला पर प्रभाव पड़ा। सामंत तथा भू-स्वामियों के रूप में भी अपने गैर-भिक्षु पड़ोसियों से उनका आचरण कहीं ज्यादा अच्छा था। उनका प्रशासन स्वार्थ पर

आधारित भले ही रहा हो, किन्तु यह न्यायोचित तथा साधारणतः उदार था। अपनी समृद्धि का उपयोग उन्होंने विभिन्न कलाओं को प्रश्रय देने में किया। उत्तर-मध्यकाल में प्रचलित भ्रष्टाचार की चर्चा बार-बार सुनने को मिलती है; किन्तु यह निर्विवाद है कि क्लुनी सम्प्रदाय के मठीय सुधारकों ने कई प्रकार से परवर्ती पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त किया।

मठीय श्रेणियाँ

ग्यारहवीं शताब्दी में मठवाद में अत्यधिक सुधारवादी प्रवृत्ति का समावेश हुआ और बहुतों की दृष्टि में क्लुनी सम्प्रदाय के नियम भी अपर्याप्त जान पड़ने लगे। इसे असाधारण विशुद्धिवादी प्रवृत्ति ने कई मठीय श्रेणियों को जन्म दिया, जैसे, कारथुसियन, सिस्टरसियन, प्रिमौंस्ट्रेंट तथा कारमेलाइट आदि। कारथुसियन श्रेणी की स्थापना कोलोन निवासी ब्रुनो ने १०८४ ई० में ग्रैंड-चाट्रूस में की। सन् ११०१ ई० में इसकी पुनर्स्थापना के बाद इस श्रेणी का तीव्र गति से विस्तार हुआ। एकांत जीवन तथा अपरिग्रह इसके आदर्श थे। बहुत दिनों तक इसके सदस्य पूरा वैराग्य तथा एकांतिक उपासना का जीवन-यापन करते रहे। मध्य युग के अन्त तक कारथुसियन अपने सदस्यों की सीमित संख्या, सांसारिकता से पूरा अलगाव तथा अटूट आस्था के लिए विख्यात रहे।

क्लुनी-मठों की अत्यधिक सांसारिकता की प्रतिक्रिया में चालोन के निकट सिटोक्स में सिस्टरसियन श्रेणी की स्थापना हुई। सन् १०९८ ई० में स्थापित इस श्रेणी का आदर्श था—संत बेनेडिक्ट के नियमों का अक्षरशः पालन। सन् १११३ ई० में बरगंडी के संत बर्नार्ड के इसमें शामिल हो जाने के बाद इसके सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी। शीघ्र ही कई स्थानों पर इसके उप-मठों की स्थापना हुई जिनमें बर्नार्ड के कारण क्लेरभौक्स मठ को सर्वाधिक ख्याति मिली। धीरे-धीरे इस मठ में रहने वाले भिक्षुओं की संख्या सात-आठ सौ तक पहुँच गई। सिस्टरसियनों के सैकड़ों मठ फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन, इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड में स्थापित हुए। इन मठों का जीवन क्लुनी-मठ से सर्वथा भिन्न था। सिस्टरसियन भिक्षु अपने उद्देश्यों के विषय में स्पष्ट थे। इन उद्देश्यों को स्टेफेन हार्डिंग ने लिखित रूप दिया था। सिस्टरसियनों ने संत बेनेडिक्ट के नियमों का अक्षरशः पालन किया। ये लोग कठिनाइयों से बिल्कुल नहीं घबड़ाते थे। वे कोट, कमीज, टोपी, चादर अथवा आवश्यकता से अधिक भोजन का उपयोग नहीं करते थे। क्लुनी संप्रदायवालों की तरह इनके मेनॉर, बाजार तथा कम्मिये आदि नहीं थे। इनके गिरजाघर भी प्रायः सपाट होते थे। सोना-चाँदी की

जगह लोहा तथा रेशम की जगह लिलेन का उपयोग होता था। इनके धार्मिक समारोह सरल तथा अल्पकालिक होते थे। सिस्टरसियन भिक्षु स्वयं खेत जोतते, बीज बोते तथा फसल काटते थे। पशुओं की देखभाल तथा मठ के अन्य सामान्य कार्य भी ये स्वयं करते थे। कुछ आलसी लोग भी अवश्य थे, किन्तु संत बर्नार्ड यथासंभव उनसे भी काम ले ही लेता था। अधिकांश भिक्षु अपनी स्थिति से संतुष्ट थे। क्लेरमौक्स में "सर्वत्र शांति, पवित्रता तथा सांसारिक तुमुल कोलाहल से अद्भुत मुक्ति थी।" सिस्टरसियन मठों के आस-पास की जमीन का एक विशाल पशुपालन केन्द्र तथा कृषि क्षेत्र के रूप में उपयोग होता। मठवासियों के अथक परिश्रम के बावजूद सबों के लिए भोजन जुटा पाना कठिन काम था। समस्या का समाधान निकाला गया सिस्टरसियन संप्रदाय में हजारों किसानों को शामिल करके। यह एक क्रांतिकारी कदम था क्योंकि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में बेनेडिक्टाइन मठों के भिक्षु साधारणतः सामंत-वर्ग से ही लिए जाते थे।

सिस्टरसियन श्रेणी की लोकप्रियता का बहुत कुछ श्रेय संत बर्नार्ड को था। वह सैकड़ों पत्र लिखा करता था और पत्रों का उत्तर देना शायद ही भूलता था। वह कभी भी दुविधा अथवा संदेह से ग्रस्त नहीं होता था। तत्काल निर्णय लेना और उसे कार्यरूप देना उसकी आदत थी। कई अर्थों में वह एक योद्धा था। जब कभी उसे किसी अयोग्य व्यक्ति के बिशप-पद पर नियुक्त किए जाने की सूचना मिलती थी, वह इसका डटकर विरोध करता था। अक्सर विजय उसी की होती थी, यद्यपि उसके विरोधियों की संख्या बढ़ जाती थी। विद्रोही युवा व्याख्याता पीटर अबेलार्ड के विचारों का उसने कड़ा विरोध किया और तबतक शांत नहीं हुआ जबतक की एक धर्मसभा ने अबेलार्ड की भर्त्सना नहीं की। बड़े-बड़े राजाओं की शक्ति का भी उस पर कोई आतंक नहीं था। एक अवसर पर उसने फ्रांस के राजा लुई सप्तक को भी फटकार कर पत्र लिखा था। बर्नार्ड की युद्धक प्रकृति ने उसे धर्मयुद्धों का कट्टर समर्थक बना दिया था। द्वितीय धर्म-युद्ध का उसने जोरदार समर्थन किया। फ्रांसीसी नाइट ह्यूग डि पेयन्स की टेम्पलर्स संप्रदाय की स्थापना में सहायता की। फिर भी, वह अकारण हिंसा का विरोधी था। यहूदियों के उत्पीड़न का उसने विरोध किया। बर्नार्ड के बाद सिस्टरसियन श्रेणी की सफलता के लिए कोई अन्य व्यक्ति जिम्मेवार था तो वह स्टेफेन हार्डिंज ही था। स्टेफेन हार्डिंज सिटौक्स का सहायक मठाधीश था। संप्रदाय को एक ठोस संगठन और व्यवस्था प्रदान करने का काम उसी ने किया। सिटौक्स में विभिन्न मठाधीशों की वार्षिक सभा हुआ करती थी। इसके द्वारा दूरस्थ

मठों की स्थिति का भी पता चल जाता था और गड़बड़ी को दूर करने का मौका भी मिलता था।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिप्पों के संत अगस्टाइन के नियमों को मानने वाली अगस्टाइन श्रेणी का जन्म हुआ। संत वर्नार्ड के दोस्त तथा मेगडेवर्ग के आर्क-विशप नारवर्ट ने प्रिमॉस्टैंट श्रेणी की स्थापना की। इस सम्प्रदाय का पहला मठ लेओन के निकट प्रेमौंट्रे में ११२० ई० में स्थापित हुआ। इस संप्रदाय ने सिस्टरसियनों की सादगी तथा व्यवस्था दोनों को अपनाया। इस संप्रदाय के सदस्य भी यूरोप में दूर-दूर तक फैले हुए थे।

वैराग्यपूर्ण जीवन की ओर पुरुषों के अलावा महिलाएँ भी आकर्षित हुईं। अतः अंजाउ के फॉन्टेब्रौल्ट सेमप्रिंधम संप्रदायों में पुरुषों तथा महिलाओं के लिए अलग-अलग मठों की व्यवस्था की गई। इनके अतिरिक्त अनेक भिक्षुणी-आश्रम भी थे जिनमें सिस्टरसियन नियमों का पालन होता था। जर्मनी के कुछ वेनेडिक्टाइन भिक्षुणी-आश्रम अत्यंत समृद्ध थे। इनमें बड़े घरानों की महिलाएँ रहती थीं और इन्हें राज-घरानों का प्रश्रय प्राप्त था। बहुत-से लोग अपनी अनचाही कन्याओं को इन भिक्षुणी-आश्रमों में भेज देते थे।

योरोपीय सभ्यता को मठवाद की देन

दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति पर मठवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि मठों का प्रमुख उद्देश्य मठवासियों को मोक्ष दिलाना था, धर्म और समाज की उनसे अपरिमित सेवा हुई। धर्म को उनकी सबसे बड़ी देन थी ईसाई जीवन को यथासंभव शास्त्रसम्मत बनाना। इस तरह, धर्म में सुधार और परिष्कार की प्रक्रिया को उनसे बहुत बल मिला। मध्ययुग के अनेक ईसाई आध्यात्मिक नेता मठों द्वारा प्रशिक्षित और उत्साहित हुए थे। संत बरनर्ड तथा क्लुनी-मठ के मठाधीशों जैसे लोगों ने मठों में रहकर अपने प्रभाव को फैलाया। दूसरी ओर लेनफ्रैंक अंसलम तथा संत ह्यूग जैसे लोग धर्माध्यक्ष बन गये। संत डन्सटन जैसे भिक्षुओं ने विशप बनकर डेन आक्रमणों के बाद ब्रिटिश चर्च का पुनः संगठन किया। क्लुनी सुधार उस संप्रदाय के मठों में प्रस्फुटित और विकसित हुआ। यद्यपि क्लुनी से पोप ग्रिगोरी सप्तम का सीधा संपर्क बहुत सीमित था, उसके अधिकांश विचार वहीं से प्राप्त हुए थे और क्लुनी-मठ के भिक्षु उसके सर्वाधिक कट्टर समर्थक थे। क्लुनीएक तथा सिस्टरसियन-जैसे महान संप्रदाय राजकीय पोपतंत्र के विकास में अत्यंत सहायक सिद्ध हुए। पुनः विश्वविद्यालयों के उदय के पूर्व, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में मठ ही विद्या तथा ज्ञान के प्रमुख केन्द्र थे। प्राचीन युग का ज्ञान बहुत

हद तक मठीय पुस्तकालयों द्वारा सुरक्षित रखा गया। पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ तैयार करने वाले अधिकांशतः मठीय भिक्षु ही थे। पुनः, उस युग के अधिकांश विद्वानों का अध्ययन कार्य मठों के भीतर ही चलता था।

संपूर्ण समाज किसी न किसी तरह मठवाद से लाभान्वित हुआ। ज्ञान के संरक्षण तथा संप्रेषण से सबों को लाभ हुआ। इतिहास लेखन को मठों की बहुत बड़ी देन है। प्रायः प्रत्येक मठ उन घटनाओं का लिखित विवरण रखता था जिसका समाज के लिए कुछ न कुछ महत्त्व था। किसी नए मठाधीशों के चुनाव, किसी पड़ोसी सामंत अथवा धर्माध्यक्ष की मृत्यु तथा पाला एवं भूकम्प जैसी प्राकृतिक घटनाओं से लेकर महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक को लिपिबद्ध किया जाता था। राजा अलफ्रेड के कहने से ब्रिटिश मठों ने उन ऐतिहासिक विवरणों को तैयार किया जिन्हें हम एंग्लो सेक्सन क्रॉनिकल के नाम से जानते हैं। आरडेरिक विटलिस नामक एक नॉर्मन भिक्षु ने विजेता विलियम तथा उसके लड़कों के शासनकाल में नॉरमंडी का विस्तृत इतिहास लिखा। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की प्रायः संपूर्ण योरोपीय घटनाओं का हमारा ज्ञान मठीय रचनाओं पर आधारित है। मठीय सम्प्रदाय को मिलने वाले सभी दानों को लिखित रूप दिया जाता था। बहुत-से मठ अपनी सम्पत्ति का लिखित ब्योरा रखते थे। इनसे दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के योरोपीय सामाजिक-आर्थिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मठों से सर्वाधिक लाभ सम्भवतः तत्कालीन आर्थिक जीवन को पहुँचा। अपनी श्रेष्ठ शिक्षा तथा सूझ-बूझ के कारण भिक्षु आम सामंतों की तुलना में अपनी संपदा की अच्छी देखभाल करते थे। कृषि के उत्तम तरीके पहले मठीय भूमि पर ही लागू किए जाते थे। अनेक मठों ने बंजर तथा दलदल भूमि को आबाद किया। भिक्षुओं ने कई प्रकार के कृषि औजारों का भी आविष्कार किया। भिक्षु ही उस युग के सर्वश्रेष्ठ निर्माता भी थे। संत डेनिस, वेजले, नॉट्रडेम तथा संत सरलिन के प्रसिद्ध गिरजाघर मठीय भिक्षुओं की ही देन हैं।

मठों से हुए सामाजिक लाभ का ठीक-ठीक मूल्यांकन करना कठिन है। भिक्षु विद्यालय चलाते थे जिनमें सामान्य लोगों के बच्चे भी पढ़ सकते थे। किंतु साक्षरता में सामंतों की विशेष रुचि न होने के कारण इन विद्यालयों की उपयोगिता सीमित थी। सभी मठ गरीब लोगों को दान देते तथा अड़ोस-पड़ोस के रुग्ण लोगों की सेवा करते थे, किंतु संभवतः ये दोनों कार्य व्यापक नहीं थे। यात्रा पर निकले सामंतों तथा धर्माध्यक्षों को मठों में विश्राम करने का मौका भी मिल जाता था। संभवतः प्रारम्भिक मध्य युग की मठों की प्रमुख सामाजिक सेवा यह थी कि उस अराजकतापूर्ण युग में

शांत-विचारशील तथा प्रबुद्ध पुरुषों और महिलाओं को मठों में सुखद सुरक्षा प्राप्त हो जाती थी।

मठीय-भिक्षु धर्मप्रचारक भी थे। उनके उत्साह तथा लगन के कारण ही चर्च को वर्बर जातियों को ईसाई-धर्म में दीक्षित करने में काफी हद तक सफलता मिली। संत कोलम्बा, गैलस तथा वोनिफेस जैसे उत्साही भिक्षुओं ने मध्ययुगीन चर्च के धर्म-प्रचारकों के रूप में यश कमाया। पुन: भिक्षुओं के वैराग्यपूर्ण जीवन ने मध्ययुग की पतनोन्मुख नैतिकता के समक्ष एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया। इससे ग्रीको-रोमन रोमन जगत के नैतिक ह्रास की प्रक्रिया तो रुकी ही, उसे नवागत वर्बर आक्रमण-कारियों को आत्मसात् करने के लिए आवश्यक नैतिक वल भी प्राप्त हुआ।

मठवाद से केवल लाभ ही लाभ हुए हों, सो वात नहीं थी। किसी भी अन्य सामाजिक-धार्मिक संस्थान की तरह समय के साथ इसमें भी कई दोष आ गए। किंतु उल्लेखनीय वात यह है कि गुणों की तुलना में मठवाद के दोष नगण्य थे। समकालीन तथा परवर्त्ती लेखकों ने मठवाद पर कई प्रकार के आरोप लगाए हैं। किंतु अधिकांश आलोचना मठीय नैतिकता तथा जीवन पद्धति से सम्वद्ध है। मठीय आदर्श वड़े ऊंचे थे और तत्कालीन वातावरण में उनकी प्राप्ति कठिन थी। भ्रष्ट भिक्षुओं की कोई कमी नहीं थी। ऐसे भिक्षु भी अनेक थे जिनकी पूजा-साधना, व्रत-उपवास में रुचि नहीं थी। क्राइस्ट-चर्च कंटरवरी जैसे समृद्ध मठों के भिक्षुओं ने निजी आवास गृह तथा नौकर-चाकर रख छोड़े थे। लुक-छिपकर सुस्वादु व्यञ्जन ग्रहण करनेवाले भिक्षु भी थे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि समवेत दृष्टि से मठीय भिक्षुओं का जीवन आम पादरियों तथा सामान्य जन के जीवन से श्रेष्ठ था। इससे अधिक उनसे आशा की भी नहीं जा सकती थी। कुछ आलोचकों का कहना है कि इतने अधिक लोगों द्वारा ब्रह्मचर्य पालन करा मानव जाति की वृद्धि की प्राकृतिक प्रक्रिया पर रोक लगाना अनुचित था। यह तर्क व्यर्थ, क्योंकि इससे यूरोप की जनसंख्या-वृद्धि में फर्क नहीं पड़ा था। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उनपर होनेवाले खर्च के अनुपात में मठवासी समाज को लाभान्वित कर सके या नहीं। दूसरे शब्दों में, उनपर होनेवाल-अपार व्यय का औचित्य क्या था ? यदि आध्यात्मिक सेवा को हम सेवा न समझते हों तो कहा जा सकता है कि इस खर्च का औचित्य नहीं था। परन्तु मध्ययुग के लोग आध्यात्मिक सेवा को ही सवसे वड़ी सेवा मानते थे। पूर्ण भौतिकवादी दृष्टिकोण से मठ नि संदेह धन का अपव्यय कर रहे थे। किंतु मध्ययुग का दृष्टिकोण भौतिकई वादी था भी तो नहीं।

वे फलते-फूलते रहे। अनेक गिरजाघरों और मठों की स्थापना हुई, किन्तु चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में उनके उपनिवेश का किसी अज्ञात कारण से विनाश हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नार्वीजी अमेरिका तक पहुँच गए। संभवत: आधुनिक न्यू इंग्लैंड के आसपास उनकी "भिनलैंड" नामक बस्ती थी जो कोलम्बस के अमेरिका पहुँचने तक नष्ट हो चुकी थी।

जिस समय नार्वीजी अटलांटिक सागर के चक्कर लगा रहे थे, स्वीडन-वासी बाल्टिक सागर को पार कर तटवर्ती इलाकों को लूट रहे थे। आरम्भ में ये जलदस्यु बाल्टिक सागर के पूर्वी तट पर रहने वाली फिन और स्लाव जातियों को ही त्रस्त कर रहे थे, किन्तु नवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध स्कैंडिनेवियन नेता रुरिक ने किभ और नोभगोराड पर कब्जा कर लिया। सन् ८६२ ई० में उसने राजपद ग्रहण किया और इस तरह रूस के प्रथम राजवंश की स्थापना हुई। यह राज्य बाद में जारों के साम्राज्य का पूर्वगामी सिद्ध हुआ। नार्वीजियनों के कई दल काला सागर को पार कर बैजंतिया साम्राज्य में प्रविष्ट हो गए। कुशल योद्धा होने के कारण पूर्वी रोमन सम्राटों ने उन्हें अपने अंगरक्षक दल में शामिल कर लिया। भेरांजियन कहे जाने वाले इस अंगरक्षक दल ने पूर्वी सम्राटों की, उनके दुश्मनों के खिलाफ, प्रशंनीय सेवा की।

नॉर्समेन ने, जिन्हें अंग्रेज लेखकों ने डेन कहा है, इंग्लैंड के समुद्र-तट पर आठवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हमला करना शुरू किया। लूटपाट के अलावा, इंग्लैंड के गिरजाघरों और मठों को ध्वस्त करने में वे विशेष अभिरुचि लेते थे। कुछ ही समय में उन्होंने इंग्लैंड के प्राय: आधे भाग पर कब्जा कर लिया। ठीक उसी समय, जब प्रतीत होता था कि सम्पूर्ण अंग्रेज जाति इंग्लैंड से लुप्त हो जायगी, ८७१ ई० में अल्फ्रेड वेसेक्स की गद्दी पर बैठा। उसने लगातार छह वर्षों तक डेनों से युद्ध किया किन्तु उसे उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अत: ८७८ ई० में बेडमोर की संधि द्वारा उसने इंग्लैंड का सम्पूर्ण उत्तरी-पूर्वी भाग डेनों को दे दिया। डेन नेता गुथरम ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। अल्फ्रेड के अगले दस-पन्द्रह वर्ष शांतिपूर्वक बीते, किन्तु हेस्टिंग के नेतृत्व में डेनों के आक्रमण पुन: आरम्भ हो गए जिन्हें बड़ी मुश्किल से टाला जा सका। तिरपन वर्ष की आयु में, सन् ९०१ ई० में, अल्फ्रेड की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी, पूरी शताब्दी तक, इंग्लैंड में बसे हुए अथवा बाहर से आक्रमण करने वाले डेनों से लड़ते रहे। इथलरेड द्वितीय (९७९-१०१६ ई०) ने डेन आक्रमणकारियों को धन (डेनजेल्ड) देकर वापस भेजने की कमजोर नीति को अपनाया जिससे प्रजा पर कर का बोझ बढ़ता गया। सन् ९९४ ई० में डेनमार्क और नॉर्वे के राजा स्वेजेन और ओलाफ

अपने अनुयायियों के साथ इंग्लैंड को जीतने के इरादे से आए। इथलरेड ने आक्रमण-कारियों को आतंकित करने के लिए इंग्लैंड में बसे हुए अनेक डेनों की एक ही दिन में हत्या करा दी। मृतकों में स्वेजेन की एक बहन भी थी। स्वेजेन ने बदले के तौर पर इंग्लैंड को ध्वस्त कर देने का निश्चय किया। अगले दस वर्षों तक डेन इंग्लैंड को उजाड़ते रहे। अन्त में, १०१३ ई० में, स्वेजेन एक विशाल सेना लेकर स्वयं आया और पराजित इथलरेड को नॉरमंडी में शरण लेनी पड़ी। एग्बर्ट और अल्फ्रेड की गद्दी पर विदेशी स्वेजेन का कब्जा हो गया। परन्तु, कुछ ही समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। डेनों ने उसके पुत्र केन्यूट को अपना राजा [illegible]। दूसरी ओर, अंग्रेजों ने इथलरेड को वापस बुलाकर डेनों का विरोध करना शुरू किया। सन् १०१६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई, किन्तु उसके पुत्र एडमंड ने युद्ध को जारी रखा। सात मास के भीतर डेनों के विरुद्ध सात लड़ाइयाँ लड़ी गईं। सातवीं लड़ाई में केन्यूट का मुका-बला लगभग पूरे इंग्लैंड से था, किन्तु विजय उसी की हुई। इस लड़ाई के बाद एडमंड और केन्यूट के बीच इंग्लैंड का विभाजन हुआ। सन् १०१६ ई० में ही एडमंड की मृत्यु हो गई और केन्यूट इंग्लैंड का एकमात्र शासक बन गया। वह १०१६ से १०३५ ई० तक एक अंग्रेज राजा की ही तरह राज्य करता रहा। प्रजा उससे खुश थी। किन्तु, १०३५ ई० में उसकी मृत्यु होते ही उसका विशाल साम्राज्य छिन्न-छिन्न हो गया। इंग्लैंड का विभाजन उसके दो पुत्रों के बीच हुआ। वे दोनों ही एक योग्य पिता के अयोग्य पुत्र थे। उनमें से एक, हैरोल्ड, की १०४० ई० में मृत्यु हो गई। दूसरा, हार्थकेन्यूट, भी दो वर्ष बाद मर गया। केन्यूट के पुत्रों की अयोग्यता से क्षुब्ध होकर अंग्रेजों का ध्यान पुनः अल्फ्रेड के वंशधरों की ओर गया। उन्होंने निर्वासित इथलरेड के पुत्र एडवर्ड को अपना राजा चुना। इस तरह, इंग्लैंड पर डेनों का पच्चीस वर्षीय शासन समाप्त हो गया।

रोम में शार्लमन के राज्याभिषेक से ठीक एक वर्ष पूर्व, नार्वीजी गॉल के समुद्र-तट पर उतरे। यद्यपि शार्लमन के शासन-काल में उनकी एक न चली, उसकी मृत्यु के तीस वर्ष बाद ही ये जलदस्यु पेरिस को लूटने में सफल हो गए। धीरे-धीरे देश के उत्तरी-पश्चिमी भाग में उनकी बस्तियाँ बस गईं। अंत में 'भोला' चार्ल्स ने ९१२ ई० में उत्तरी गॉल का एक बड़ा भू-भाग नार्वीजियों के नेता रोलो को दे दिया। चार्ल्स की एक कन्या का रोलो से विवाह भी कर दिया गया। इंग्लैंड में बसे डेनों की तरह फ्रांस में बसे डेन भी पूरे फ्रांसीसी बन गए। कुछ ही समय में उन्होंने फ्रांस की भाषा, तौर-तरीकों और धर्म को अपना लिया। फ्रांस में वे नॉर्मन के नाम से प्रसिद्ध हुए और उनका प्रदेश नॉर्मंडी के नाम से विख्यात हुआ।

यूरोप पर भाइकिंग आक्रमणों का प्रभाव :

अपनी समस्त वर्वरता के बावजूद स्कैंडिनेवियनों की एक विकासोन्मुख सभ्यता और संस्कृति थी। सीखने की उनमें अत्यधिक इच्छा थी और यूरोप में वे जहाँ भी गए, वहीं की सभ्यता को उन्होंने अपना लिया। गाँथों और भंडालों की तरह स्वदेश छोड़ते ही उन्होंने अपना मूल धर्म भी छोड़ दिया और ईसाई मत को स्वीकार कर अच्छे ईसाइयों की तरह रहने लगे। उन अनेक गिरजाघरों और मठों का, जिनका उन्होंने विनाश किया था, [illegible]र्माण किया और शीघ्र ही जलदस्यु से सभ्य ईसाई बन गए। गॉल स्थित उनके उपनिवेश नॉर्मंडी ने यूरोप के भावी इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। रूरिक और उसके साथियों ने रूस के प्रथम राजवंश की स्थापना की।

यूरोप में जहाँ भी भाईकिंग बसे, वहाँ के राजनीतिक संस्थानों पर उनका प्रभाव पड़ा। फ्रांस में उनकी उपस्थिति से सामंतवादी विकेन्द्रीकरण की प्रवृति को बल मिला। राजा की शक्ति कमजोर पड़ गई और सामन्तों को राजकीय विशेषाधिकारों को चुनौती देने का अवसर प्राप्त हुआ। भाईकिंग की सहायता से सामन्तों ने राजाओं से व्यापक स्वायत्तता की मांग की। परिणामस्वरूप राजकीय भूमि से अनुदान देकर राजाओं ने सामंतों को मिलाने अथवा उन्हें एक दूसरे से लड़ाने का व्यर्थ प्रयास किया। राजकीय भूमि के बँटवारे से केन्द्रीय शक्ति दिन-प्रतिदिन क्षीण पड़ती गई। इस तरह शक्ति के विकेन्द्रीकरण से उत्तरी एवं दक्षिणी फ्रांस की भाषायी, कानूनी और परम्परागत विभिन्नताएँ और भी तीव्र हो गईं। व्यापार एवं वाणिज्य की अवनति हुई, जन-जीवन असुरक्षित हो गया और सामान्य जीवन-स्तर बहुत गिर गया।

इंग्लैंड पर भाईकिंग आक्रमणों का प्रभाव फ्रांस से भी अधिक व्यापक पड़ा। यद्यपि अल्फ्रेड की प्रेरणा से इंग्लैंड के डेन आक्रमणकारियों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया और बाद में अंग्रेज राजाओं ने इंग्लैंड स्थित डेन प्रदेशों पर कब्जा कर लिया, इससे देश की राजनीतिक अस्थिरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

पूर्वी और मध्य-पूर्वी यूरोप में नॉर्वीजियनों ने प्राचीन शासन-व्यवस्थाओं को नष्ट कर नवीन राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नॉर्स रुरिक ने प्रथम रूसी राज्य की स्थापना की। दशम शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में ब्लादीमिर प्रथम के नेतृत्व में नार्वीजियनों ने ईसाई मत को स्वीकार किया। रूस की ही तरह पोलैंड एवं हंगरी आदि राज्यों की स्थापना नार्वीजियनों

के ही चलते हुई। परन्तु जर्मनी एवं इटली नॉर्स आक्रमणों से अछूते रहे और उनपर उनका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा।

'पिलग्रिम फादर्स' की तरह आइसलैंड में बसने वाले नार्वीजियनों के प्रभाव से वह प्रदेश स्वतंत्रता के साथ-साथ स्कैंडिनेविन जगत का साहित्यिक केन्द्र भी बन गया। वहाँ के लोकगायकों ने नार्वीजी जाति की वीरता की कहानी को, लेखन के अभाव में, लोकगीतों के माध्यम से जीवित रखा। पोएटिक एडडा के नाम से इन लोकगीतों का तेरहवीं शताब्दी के मध्य में संकलन हुआ। लगभग उसी समय "उत्तरी हेरोडोटस" आइसलैंड निवासी स्नोरो स्टरलेसन (११७८-१२४१) ने स्कैंडिनेवियन लोक-कथाओं का एक संग्रह प्रोज एडडा के नाम से तैयार किया। इससे नार्वीजियनों के विश्वासों, प्रथाओं और रीति-रिवाजों का पता चलता है।

मैग्यार :

मैग्यार जाति के लोग, जो आगे चलकर हंगेरियन के नाम से विख्यात हुए, मध्यकालीन यूरोप पर आक्रमण करने वाले पश्चिम एशियाई मंगोल थे। प्राचीन हूणों, अभारों और समकालीन फिनों, बुलगारों और तुर्कों की तरह ही वे खानाबदोश मंगोल थे। दक्षिणी रूस के घास के मैदानों को पार कर, शार्लमन द्वारा पराजित अभारों की मध्य डेन्यूवियन समतल भूमि पर उन्होंने अधिकार कर लिया था। नवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में, जब पश्चिमी यूरोप पर नॉर्स आक्रमण कमजोर पड़ते जा रहे थे, तीर-धनुष से सुसज्जित बर्बर मैग्यार घुड़सवारों ने उत्तरी इटली, प्रोमेंस, पश्चिमी जर्मनी और राइन नदी को पार कर लोरेन पर आक्रमण कर दिया।

मैग्यार आक्रमणकारियों ने ८९९ ई० में लोम्बार्डी को अत्यधिक क्षतिग्रस्त किया। लोम्बार्डी का राजा पूर्णतया पराजित हुआ और एक वर्ष तक लूट-पाट करने के बाद एक भारी रकम वसूल कर मैग्यार वापस लौट गए। लोम्बार्डी पर उनके आक्रमण पुनः कई बार हुए और एक बार तो स्वयं लोम्बार्ड राजा ने अपने एक प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध उनसे सहायता की याचना की थी। अंत में ओटो महान् ने ९५५ ई० में लेकफील्ड की लड़ाई में मैग्यारों को पराजित किया और इटली को उनके संत्रास से मुक्ति मिली।

जर्मनी को मैग्यार आक्रमणों से और भी अधिक नुकसान हुआ। सन् ९०० ई० के बाद वे प्रायः प्रत्येक वर्ष जर्मनी पर आक्रमण करते रहे और उस देश का लगभग प्रत्येक प्रांत क्षतिग्रस्त होता रहा। उन्होंने ९०४ ई० में सैक्सनी पर हमला कर उसके

शासक को बंदी बना लिया। सैक्सनी के ड्यूक हेनरी ने एक संधि के अनुसार मैग्यारों को दस वर्ष तक सालाना कर देने का वादा किया। बदले में उन्होंने इस अवधि में जर्मनी पर आक्रमण न करने का वचन दिया। नौ साल बाद जब सालाना कर बंद कर दिया गया तो ९३३ ई० में उन्होंने पुनः आक्रमण किया, किन्तु हेनरी प्रथम द्वारा पराजित हुए। इसके बाद भी उनके कई हमले हुए पर बराबर उन्हीं की हार हुई। सन् ९५५ ई० में उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में बावेरिया पर आक्रमण किया, किन्तु हेनरी प्रथम के पुत्र ओटो महान के नेतृत्व में जर्मन सामंतों ने उन्हें लेकफील्ड की लड़ाई में अंतिम बार पराजित कर दिया। इस तरह, पैंसठ वर्ष तक जर्मनी में चलने वाले विध्वंस का नाटक समाप्त हुआ। मैग्यार आधुनिक हंगरी के क्षेत्र में लौट गए और पश्चिमी यूरोप पर होने वाले उनके आक्रमण हमेशा के लिए बंद हो गए। जर्मनी, विशेषतः बावेरिया से, ईसाई धर्म प्रचारक हंगरी गए और वहाँ के प्रथम राजा स्टेफेन ने ईसाई मत को स्वीकार कर लिया। पोप के तत्त्वावधान में हंगरी की प्रथम बिशपी की १००० ई० में स्थापना हुई।

मैग्यार आक्रमण के फलस्वरूप, यूरोप में एक नवीन जाति, मंगोलों की, शामिल हो गई। उनके आक्रमण के फलस्वरूप, दक्षिण-पश्चिम यूरोप के स्लाव बालकन प्रदेश के स्लावों से अलग-अलग पड़ गए। इस तरह पूर्वी और पश्चिमी यूरोप का पार्थक्य और भी स्पष्ट हो गया। मैग्यार आक्रमणों का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि नव-स्थापित जर्मन राजतंत्र की शक्ति में वृद्धि हुई। बाह्य संकट से बाध्य होकर सामंतों को राजाओं का साथ देना पड़ा, जैसा कि लेकफील्ड की लड़ाई में जर्मन सामंतों के ओटो महान के साथ सहयोग से स्पष्ट परिलक्षित होता है। परन्तु, ऐतिहासिक दृष्टि से, मैग्यार आक्रमणों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम था हंगरी राज्य की स्थापना। मंगोल जाति में फिन, बुल्गार और मैग्यार ही ऐसे लोग थे जिन्होंने यूरोप को अपना घर बनाया। इनमें भी, सर्वप्रथम सर्वाधिक सफल और महत्त्वपूर्ण मैग्यार ही थे जिन्होंने हंगरी राज्य को जन्म दिया।

यूरोप और इस्लाम :

चार्ल्स मार्टेल द्वारा ७३२ ई० में टूर्स की लड़ाई में अरबों के पराजित हो जाने से गॉल की ओर उनका विस्तार रुक अवश्य गया, परन्तु उनके आक्रमण यूरोप के अन्य भागों पर होते ही रहे। नवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पेन के मुस्लिम लूटेरों ने क्रीट पर हमला किया। ट्यूनिसिया के अघलाबिद अमीरों ने सिसली को जीतना आरम्भ किया। अपने सुसज्जित जहाजी बेड़े की सहायता से उन्होंने इटली, फ्रांस,

कोर्सिका और सार्डिनिया के समुद्र-तट पर हमले किए। तीसरे अघलाबिद अमीर जियादत-अल्लाह प्रथम (८१७-८३८ ई०) ने बैजंटाइन सिसली पर आक्रमण करने के लिए सैन्य-दल ८२७ ई० में भेजा। अमीर के सत्तर-वर्षीय कादी-वजीर, आसद इब्न-अल फ़रात के नेतृत्व में सत्तर जहाजों में लद कर दस हजार योद्धा और सात सौ घोड़े सिसली पहुँचे। यह मुसलमानों द्वारा सिसली की वास्तविक विजय का आरम्भ था। अफ्रीकी सेना माजर में उतरकर सिरैक्यूज की ओर बढ़ी। प्लेग फैल जाने से असद के अलावा अनेक सैनिकों की मृत्यु हो गई। परन्तु स्पेन से सहायता मिल जाने के कारण इस सेना ८३१ ई० में पालेरमो पर कब्जा कर लिया। इसके बाद भी कई आक्रमण हुए जिनके फलस्वरूप ९०२ ई० तक सिसली पर मुसलमानों का पूर्ण अधिकार हो गया। सिसली पर कब्जा कर लेने से उन्हें इटली पर आक्रमण करने में विशेष सुविधा हुई। सिसली के अतिरिक्त, मुसलमानों ने माल्टा एवं सार्डिनिया पर भी कब्जा कर लिया। मुसलमान लुटेरे रोम तक का दरवाजा खटखटाने लगे। लगभग उसी समय क्रीट स्थित मुस्लिम जलदस्यु इजियन सागर के द्वीपों पर बार-बार हमले कर रहे थे। दशम शताब्दी के मध्य तक वे यूनान के समुद्र-तट को भी त्रस्त करने लगे। एथेन्स में अरबों की एक बस्ती बस गई जो संभवतः दशम शताब्दी के अन्त तक कायम रही।

मुस्लिम सामुद्रिक लुटेरों के कारण पूर्वी साम्राज्य का इटली से प्रायः सम्पर्क ही टूट गया। दक्षिणी इटली के राजवंशों का ध्यान समुद्र की ओर से हट जाने से मुस्लिम लुटेरों को दक्षिण इटली के समुद्र-तट को लूटने का मौका मिला। सन् ८३१ ई० में उन्होंने पालेरमों पर कब्जा कर लिया था जहाँ से इटली की मुख्य भूमि पर उनके आक्रमणों का कार्य प्रशस्त हो गया। इटालियन ड्यूक भी पारिस्परिक झगड़ों में कभी-कभी मुसलमानों की सहायता लिया करते थे। इससे मुसलमानों को इटली के स्थल एवं जल मार्गों का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने में तो सुविधा हुई ही, उनके लुटेरेपन को नैतिक बल भी प्राप्त हुआ। उन्होंने टारंटों और बारी पर अधिकार कर लिया। परन्तु नेपल्स पर उनका आक्रमण विफल हुआ। इटालियन प्रदेशों, जैसे, लोम्बार्डी और कपानिया के पारस्परिक झगड़ों से भी मुसलमान आक्रमणकारियों का कार्य सहज हो गया। इसके फलस्वरूप वर्षों तक लोम्बार्डी और कपानिया मुसलमान लुटेरों को रोकने में असमर्थ रहे। सन् ८४३ ई० में मुसलमनों ने रोम की बाहरी बस्तियों को लूटा। पोप को उनको रोम में न प्रविष्ट होने देने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा। सन् ८४६ ई० में अरब जहाजी ओस्टिया में उतरे और रोम

की दीवारों को भेदने में अपने को असमर्थ पाकर उन्होंने संत पीटर एवं पॉल के गिरजाघरों को लूटा। पोपलियो चतुर्थ ने तो ८४९ ई० में अपनी सेना के साथ स्वयं उनका सामना किया। सम्राट लेविस द्वितीय के शासन-काल में इटली ने मुसलमानों का सफलतापूर्वक विरोध किया, किन्तु ८७५ ई० में उसकी मृत्यु के बाद इटालियन राजाओं और पोपों को मुसलमानों के विरुद्ध सहायता के लिए पूर्वी साम्राज्य से याचना करनी पड़ी। उत्तरी इटली के नामधारी सम्राटों एवं राजाओं ने स्पेन से आक्रमण करनेवाले मुसलमानों से इटली की रक्षा करने के लिए कुछ भी नहीं किया। यद्यपि पूर्वी सम्राट बेसिल प्रथम ने मुसलमानों से टारंटो (८८० ई०) और बारी (८७१ ई०) वापस ले लिया किन्तु सिसली को वह भी मुक्त न करा सका। दूसरी ओर नेपल्स और बेनेभेंटो ने कपानिया के विरुद्ध मुसलमानों से सहायता प्राप्त की और ८७१ ई० में मुसलमानों ने मोंटे केसिनों और भोलतुरनों के प्रसिद्ध मठों को नष्ट किया। स्थानीय राजवंशों एवं बैजंतियनों के बीच संघर्ष के कारण इटली की स्थिति और भी चिंताजनक हो गई। दशम शताब्दी के आरंभ में अधलाविदा अमीर इब्राहिम द्वितीय (८७४-९०२) ने बैजंतियनों से ताओरमिना छीन लिया और कपुआ पर आक्रमण किया। परन्तु इटली के सौभाग्य से उसी समय (९०२ ई० में) उसकी मृत्यु हो गई और सिसली में मुसलमानों के बीच गृह-युद्ध छिड़ जाने के कारण इटालियनों को सांस लेने का मौका मिल गया। बैजंतियनों की सहायता से योद्धा पोप जॉन और स्पोलेटो के अलबेरिक ने मुसलमानों को गैरिगलियानों नदी के तट पर ९१५ ई० में पराजित किया। इस पराजय से मुसलमानों के आक्रमणों में कमी आ गई, यद्यपि समुद्र-तटों पर उनके हमले अभी भी कभी-कभी होते रहे। फातिमी खलीफाओं के शासन-काल में मुसलमानों के आक्रमण पुनः तीव्र हो गए। खलीफा उबेदुल्लाह महदी (९०९-३४ ई०) ने ९१७ ई० में सिसली पर अधिकार कर लिया और पितामह कबीले के एक व्यक्ति को वहाँ का शासक बनाकर भेजा। फातिमी खलीफा को अधलाबिदों से जो जहाजी बेड़ा विरासत में मिला था, उसका उसने माल्टा, सार्डिनिया, कोर्सिका और बेलिएरिक द्वीपों के विरुद्ध पूरा-पूरा उपयोग किया। उसके पुत्र अबू-अल कासिम मुहम्मद अल-काइम (९३४-४६ ई०) ने ९३५ ई० मे एक जहाजी बेड़ा रवाना किया जिसने फ्रांस के दक्षिणी समुद्र-तट को तहस-नहस करने के बाद जिनेवा पर कब्जा कर लिया। यह बेड़ा कैलेब्रिया के किनारे होता हुआ गुलामों एवं अन्य लूट के सामानों के साथ अफ्रीका लौट गया। सन् ९५०-५२ ई० में अफ्रीकी मुसलमानी सेना ने कैलेब्रिया को रौंदने के बाद नेपल्स का घेरा डाला। मुसलमानी आक्रमणों और अत्याचारों का यह सिलसिला ईसाइयों द्वारा क्रीट के वापस ले लेने से प्रायः समाप्त

हो गया, परन्तु ९६३ ई० में सिसली को वापस लेने का प्रयास बुरी तरह असफल हुआ।

इस बीच फ्रेक्सिनेटुम के मुस्लिम लुटेरे आल्प्स पर्वत के दोनों ओर लूटपाट मचा रहे थे। आल्प्स के दर्रों से पार होने वाले व्यापारी-दल प्रायः उनके द्वारा लूट लिए जाते थे। प्रोवेंस एवं इटली के शासक और वैजंतीय जहाजी बेड़ा भी इन लुटेरों को दबाने में असमर्थ रहे। अंत में ओटो महान के समय में ही इनका दमन किया जा सका। सन् ९७२ ई० में फ्रैक्सिनेट के मुसलमान एक बड़ी संख्या में मारे गए। उनकी बस्तियों पर अधिकार कर लिया गया और इस तरह आल्प्स का गिरिपथ व्यापारियों के लिए सुरक्षित हो गया। लगभग इसी समय (९६९ ई० में) फातिमी खलीफाओं ने मिस्र पर कब्जा कर लिया और वैजंटाइन साम्राज्य से उनका संघर्ष शुरू हुआ। अतः इटली पर मुसलमानी आक्रमण पूर्ववत् होते रहे। प्रत्येक बार आक्रमणकारियों को कुछ ले-देकर वापस भेज दिया जाता रहा। ओटो द्वितीय ने दक्षिण इटली को मुसलमानों से मुक्त करने का प्रयास किया किन्तु सिसली के अमीर अबुल कासिम ने उसे हरा दिया। इटली की रक्षा अंत में जिनेवा और पिसा के व्यापारिक नगरों ने की। उनका जहाजी बेड़ा प्रबल था। एक वेनेसियन जहाजी बेड़े ने १००२ ई० में बारी की मुसलमान आक्रमणकारियों से रक्षा की। मेसिसना के जलडमरूमध्य में पिसा के एक जहाजी बेड़े ने १००५ ई० में मुसलमानों को पराजित किया। डेनिया के शासक मुजाहिद के १०१६ ई० में पराजित हो जाने से मुसलमानी संकट प्रायः समाप्त हो गया। परन्तु सिसली से मुसलमानों को निकालने में वैजंटाइन सम्राट असफल रहे। वे सिसली में दो सौ वर्षों तक बने रहे जब तक कि नॉर्मनों ने उन्हें निकाल बाहर नहीं किया। यह प्रक्रिया १०६० ई० में टैनक्रेड के पुत्र काउन्ट रोजर द्वारा मेसिना विजय से शुरू हुई। नॉरमनों ने १०७१ ई० में पालेरमो और १०८५ ई० सिरेक्यूज पर कब्जा कर लिया। सिसली को मुसलमानों से मुक्त करने का काम १०९१ ई० तक पूरा हो गया।

सिसली को छोड़कर यूरोप के अन्य किसी भाग पर अरब लुटेरों के आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। इटली के समुद्र-तट एवं मुख्य भूमि पर केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि स्थानीय शासकों की शक्ति में वृद्धि हुई। परन्तु सिसली की सभ्यता एवं संस्कृति पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी बर्बरता के बावजूद उन्होंने खलीफा-युग की इस्लामी सभ्यता को सिसली में फैलाया और वहाँ की जनता को और भी कई तरह से प्रभावित किया। वहाँ एक आकर्षक ईसाई सभ्यता का विकास हुआ। अरबों के शासन-काल में पूर्वी सभ्यता के अनेक तत्व सिसली के ग्रीक-

रोमन सांस्कृतिक तत्वों से मिश्रित होते रहे। इन सबों का संलग्न नॉरमन शासन-काल में हुआ। यहाँ तक कि रोजर प्रथम का दरबार यूरोपीय से भी अधिक पूर्वीय जान पड़ता था। नॉरमन शासन-काल में भी प्रायः सौ वर्ष तक राज्य के अनेक पद अरबों द्वारा सुशोभित होते रहे। कृषि एवं व्यापार में भी अरबों की प्रधानता बनी रही। सिसली वालों ने कागज का व्यवहार अरबों से सीखा। चमेली और गुलाब के फूल, चावल, ईख, केसर, पाट, नारंगी, खजूर, अनार, खूबानी और नीबू पैदा करना सिसली के निवासियों ने अरबों से ही सीखा। सिसली और जर्मनी का शासक फ्रेडरिक द्वितीय (१२१५-१२५०) पूर्वी शासकों की अपना हरम रखता था। उसके दरबार में सीरिया एवं बगदाद से आए दार्शनिकों के साथ-साथ उन्हीं क्षेत्रों से आई नर्तकियां भी देखी जा सकती थीं। पालेरमो के बाजारों में ग्रीक, लैटिन के साथ-साथ अरबी भी सुनी जा सकती थी। राजा विलियम प्रथम लैटिन के साथ-साथ अरबी भी जानता था। धीरे-धीरे इस्लामी सभ्यता के अनेक तत्व इटली एवं मध्य यूरोप में भी फैल गए। कला, साहित्य एवं विज्ञान के क्षेत्र में अरबों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा। इटालियन वस्त्र-निर्माताओं ने तकनीक एवं नमूना सम्बन्धी बहुत-सा ज्ञान सिसली से प्राप्त किया। जिल्दसाजी और चर्म-उद्योग के क्षेत्र में भी इटालियन शहरों ने अरब कारीगरों से बहुत कुछ सीखा। संक्षेप में, यूरोप में मुस्लिम सभ्यता के सम्प्रेषक के रूप में स्पेन के बाद सिसली का ही स्थान था। इसका महत्व और अधिक इसलिए भी है कि अरबों ने सभ्यता की किरण को यूरोप में उस समय जीवित रखा जिस समय योरोपवासी आक्रामक बर्बर जातियों से युद्ध में संलग्न थे।

अध्याय ७

यूरोप में सामन्तवाद

प्रायः 'सामन्त प्रथा' शब्द का प्रयोग उस सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन के लिए किया जाता है जिसका यूरोप में केरोलिंगियन साम्राज्य के पतन के बाद विकास हुआ। परन्तु यह संज्ञा पूर्णरूपेण सही नहीं है, क्योंकि यूरोप के विभिन्न भागों में यह 'प्रथा' एक जैसी नहीं थी और विभिन्न भागों में इसका स्वरूप अलग-अलग था। अतः 'सामन्त-प्रथा' न कह कर 'सामन्तवाद' कहना अधिक उचित होगा।

सामन्तवाद की परिभाषा

सामन्तवाद की कोई नपी-तुली परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसका स्वरूप यूरोप के देशों में भिन्न-भिन्न था। सामन्तवाद भूमि-वितरण पर आधारित एक सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था थी जिसका यूरोप में दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक विकास हुआ। यह व्यवस्था पुनर्जागरण-काल एवं राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों के उदय के युग तक बनी रही। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग एक निश्चित पारस्परिक सम्बन्ध में अपने को बाँध देते थे। यह सम्बन्ध प्रतिरक्षा और सेवा पर आधारित था। समाज के शक्तिशाली वर्ग कमजोर वर्ग के लोगों की रक्षा का भार ग्रहण करते और कमजोर वर्ग के लोगों की सेवा करने का दायित्व स्वीकार करते थे। बीच के अनुसार 'प्रत्येक व्यक्ति को अपने से नीचे वर्ग वाले पर शोषण करने का अधिकार प्राप्त था और साथ-साथ अपने से ऊपर वाले व्यक्ति से शोषित होने का भी।' सामन्तवाद के तीन प्रमुख लक्षण थे—जागीर, संरक्षण और संप्रभुता। जागीर साधारण-भूमि थी। संरक्षण का अर्थ था भूमि-दाता और भूमि पाने के बीच निकट वैयक्तिक सम्बन्ध। संप्रभुता का अर्थ था अपने क्षेत्र में भू-स्वामी का पूर्ण अथवा आंशिक स्वामित्व। अतः प्रधानतः सामन्तवाद उस मध्यकालीन शासन व्यवस्था का नाम था जिसके अन्तर्गत बड़े भू-स्वामी उन प्रभुसत्ता-जनित अधिकारों का उपयोग करते थे जिन पर पहले राजाओं का अधिकार था। संक्षेप में सामन्तवाद वैयक्तिक शासन, एक विशिष्ट भूमि-व्यवस्था और व्यक्तिगत निर्भरता का मिश्रित रूप था।

सामन्तवाद का स्वरूप :

सामन्तवाद मध्यकालीन यूरोप की एक अत्यन्त जटिल व्यवस्था थी और इसे पूरी तरह समझने लिए इसके विशिष्ट लक्षणों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझना आवश्यक है। व्यवहार की अपेक्षा सिद्धांत में सामन्तवाद कहीं ज्यादा सरल था। सिद्धांत में राजागण सम्राट् के अधीन व्यक्ति थे जिन्हें भूमि स्वामिभक्त, आज्ञा-पालन और न्याय कि बदले में जागीर के रूप में मिली थी। राजभक्तिहीन और अन्यायी राजा अपनी जागीर खो सकता था। राजा भी भक्ति, सेवा और न्याय में सहायता की शर्तों पर उस भूमि को अपने अनुयायियों में बाँट सकता था। शर्तों को भंग करने पर उनकी भूमि भी छीनी जा सकती थी। ये लोग भी अपनी भूमि को अन्य लोगों के बीच उन्हीं शर्तों पर बाँट सकते थे। इस तरह, सर्वोच्च से लेकर निम्नतम व्यक्ति तक भूमि का विभाजन होता जाता था। भूमि के विभाजन की इस प्रक्रिया को जागीरी अन्तर्भाजन कहते थे। सामन्तवाद में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात प्रभुसत्ता सम्बन्धी थी। भूमि प्राप्त करने पर राजा उस भूमि पर रहने वाले सभी लोगों पर संप्रभुता प्राप्त कर लेता था। वह उनका नेता, न्याय-कर्त्ता और एकमात्र शासक बन जाता था। उसी तरह, उससे भूमि पाने वाले अधीनस्थ लोग भी भूमि के साथ-साथ प्रभुसत्ता से भी युक्त हो जाते थे। इस तरह, प्रत्येक अधीनस्थ व्यक्ति अपने क्षेत्र में सम्प्रभु हो जाता था और भूमि के साथ-साथ प्रशासकीय अधिकार भी प्राप्त कर लेता था। जब राजा और अन्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न व्यक्ति को सैनिकों की आवश्यकता होती थी तब वह अपने अधीनस्थ लोगों से इनकी मांग करता था। तीसरी बात थी, भूमि देने वाले और भूमि पाने वाले के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध। भूमिदाता अधीनस्थ व्यक्ति को सुरक्षा का आश्वासन देता था और अधीनस्थ व्यक्ति स्वामिभक्त का आश्वासन देता था। कभी-कभी ऐसा व्यक्तिगत् सम्बन्ध बिना भूमि के भी स्थापित हो सकता था। परन्तु साधारणतः भूमि दी ही जाती थी। सैद्धांतिक रूप में सामन्त-वाद का यही रूप था। विभिन्न देशों में सामन्तवाद की बाह्य रूप-रेखा में भले हीं अन्तर रहा हो, किन्तु जहाँ तक मूल सिद्धांतों का प्रश्न है, उनका सर्वत्र एक ही रूप था।

मध्यकालीन यूरोप की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था सामन्तवादी पर ही आधारित थी। राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तवादी प्रणाली के आधार पर ही शासन-व्यवस्था का संगठन हुआ था। साधारणतः झूठी रक्षा के बदले में आलसी वर्गों ने कमानेवाले वर्गों को अपना दास बनाकर रखा था। विशाल रोमन-साम्राज्य

के छिन्न-भिन्न हो जाने के फलस्वरूप विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ प्रबल हो गई थीं। हजारों छोटे-छोटे जागीरदार स्वतंत्र हो गए थे। इनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। अतः, अपनी सुरक्षा के निमित्त सामान्य-जन ने अपने ऊँचे सामन्तों की प्रभुता स्वीकार कर ली थी। कानूनी रूप में समस्त भूमि राजा की थी, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सभी भूमिपति अपनी-अपनी भूमि में प्रभुत्ता-सम्पन्न थे। राजा से इनका इतना ही सम्बन्ध था कि आवश्यकता पड़ने पर ये राजा की सैनिक सहायता करते थे। पुनः ये राजसभा में राजा को परामर्श देते तथा शासन-कार्य में सहायता करते थे। राजा की सहायता के लिए सैनिकों की संख्या सामन्तों की योग्यता पर निर्भर करती थी। सामंतों के भी सामन्त होते थे जो उन्हीं शर्तों का पालन करते थे। निर्बल और सामन्य लोगों ने भी रक्षार्थ, अपनी स्वतंत्रता का परित्याग कर, शक्ति-शाली सामन्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार सामन्तीसंगठन का स्वरूप पिरामिड-सदृश था जिसके शिखर पर राजा; मध्य में ड्यूक, मारग्रेभ, अर्ल और काउन्ट आदि; और नीचे विसकाउन्ट, बैरौन, कैसटेलन और नाइट आदि थे। इन जागीरदारों की अधीनता में 'मेनॉर' के रूप में जागीरें थीं। इन जागीरों में जागीदार सर्वेसर्वा थे और अपनी जागीर में शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिए जिम्मेदार थे। इनकी जागीरों में छोटी-छोटी कचहरियाँ भी थीं जिनमें रैयतों के मुकदमों का फैसला होता था। इन कचहरियों में ही जागीर में बसे कम्मियों के आपसी झगड़ों का निर्णय होता था। संक्षेप में जागीर-दार स्थानीय शासन-व्यवस्था के प्रमुख थे और अधीनस्थ लोगों को न्याय एवं सुरक्षा प्रदान करना उनका कर्त्तव्य था। फिर भी कम्मियों की अवस्था खराब थी क्योंकि शासन-कार्य से उन्हें सर्वथा वंचित रखा गया था।

सामन्तवाद का दूसरा प्रमुख रूप आर्थिक था। भूमि का अत्यधिक महत्व था और किसी भी व्यक्ति का समाज में महत्त्व उसकी भूमि की अनुपात में होता था। उसके राजनीतिक अधिकार आर कर्त्तव्य भी इसी पर निर्भर करते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक वर्ग दूसरे वर्ग से ठीके के रूप में भूमि लेता था और बदले में कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता था। इस प्रकार, एक वर्ग सेवा करता था और दूसरा वर्ग रक्षा का भार वहन करता था। सामन्तों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें होती थीं जिनपर जिनका वंशानुगत अधिकार होता था। बड़े भू स्वामि आधुनिक युग में कई देशों में हैं जो अपनी भूमि मजदूरों में भूमि में बसी हुई प्रजा से जुतवा लेते हैं अथवा निश्चित लगान पर रैयतों में बाँट देते हैं। परन्तु मध्य-युग में बड़े भूमिपति जमीन का कुछ भाग सैनिक सेवा के बदले में अन्य लोगों के

बीच बाँट देते थे। प्राचीनकाल में खेती का काम दासों से कराया जाता था, किन्तु मध्यकाल में दासों के अभाव में छोटे भूमिपति अपनी भूमि किसानों को दे देते थे। जो उनके नियंत्रण में रहकर विभिन्न प्रकार की सेवा किया करते थे। ये कृषक 'सर्फ' अथवा 'विलेन' कहलाते थे। दूसरे शब्दों में, 'बँधुआ मजदूर' थे जिनकी अवस्था. अपना घर, परिवार और थोड़ी जमीन होने के कारण दासों से अच्छी थी। जहाँ तक स्वतन्त्रता का प्रश्न है, ये भी गुलामों की ही तरह पराधीन थे। यद्यपि ये अपने परिवार के साथ रहकर अपनी जमीन जोतते थे, अपनी इच्छा से ये किसी अन्य भूमिपति की अधीनता स्वीकार नहीं कर सकते थे। यहाँ तक कि अपने लड़के-लड़कियों की शादी भी वे मालिक की इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकते थे। स्वयं उनपर, उनके परिवार पर एवं उनके सम्पत्ति पर सामन्त का एकाधिकार था। ये भूमिपति के 'मेनार' से जकड़े हुए थे और छुटकारा पाने की चेष्टा करने वालों को दंडित किया जाता था था। मेनार' के साथ-साथ इनका भी हस्तान्तरण होता था। अपनी भूमि से पहले इन्हें मालिक की भूमि को जोतना पड़ता था और उसके विलासमय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को एकत्रित करना पड़ता था। जिस तरह रोमन साम्राज्य एवं पूर्व-मध्यकालीन जर्मनी में निम्न वर्गो का उच्च वर्णो द्वारा शोपण होता था, उसी तरह मध्यकालीन यूरोप में कम्मी का उसके स्वामी द्वारा शोपण होता था। स्वेन के शब्दों में, "यही सामन्तवाद का आर्थिक स्वरूप था जिसकी सम्पूर्ण उत्पादन-शक्ति भूमि पर ही आधारित थी।"

सामन्त एवं उप-सामन्त वर्ग अकर्मण्यता के प्रतीक थे। गाँवों में इनके छोटे किलों के चतुर्दिक् इनकी भूमि होती थी जिसका एक भाग कम्मी जोतते थे और शेष किसानों को दे दी जाती थी किसान भूमि के बदले में कई प्रकार की सेवाएँ, उपज का भाग अथवा निश्चित लगान दिया करते थे। परन्तु कम्मियों की तुलना में किसानों की संख्या अल्प थी।

सामन्तवाद का एक अन्य रूप था—शासक एवं शासित के बीच का सम्बन्ध। भूमिपति और भूमि पानेवाले के बीच का सम्बंध ठीके के सिद्धांत पर आधारित था। यह सिद्धांत उच्चस्थ वर्गों से लेकर सामान्य कम्मियों तक को जोड़ता था। इसके फल-स्वरूप, एक वर्ग शक्तिशाली और दूसरा शक्तिहीनों का था जो अपनी सुरक्षा के लिए पहले वर्ग पर आश्रित था। इन दोनों वर्गो के मध्य संबंध को दृढ़ बनाने के लिए कई प्रथाएँ थीं जिनमें स्वामी के प्रति भक्ति की शपथ विशेष उल्लेखनीय है। सामन्तवाद के अन्तर्गत 'राज-भक्ति' नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। भक्ति का स्वरूप व्यक्तिगत हो गया था और राजा से इसका कोई संबन्ध नहीं रह गया

था। अतः सामन्त अपनी जागीर, किले, अनुयायियों एवं शस्त्रास्त्र के कारण शक्तिशाली हो गए थे और आवश्यकता पड़ने पर राजा की भी अवज्ञा कर सकते थे। संक्षेप में सामन्तवादी समाज में चारों ओर अराजकता ही अराजकता और अस्थिरता थी।

सामन्तवाद के उदय के कारण

योरोपीय सामन्तवाद रोमन साम्राज्य के पतन के वाद अराजक युग के स्वतन्त्र राज्यों की सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्था, ट्यूटन लोगों की जातीय परम्परा और रोमन साम्राज्य की अवशिष्ट संस्थाओं के सम्मिश्रण का परिणाम था। रोमन साम्राज्य के पतन-काल में दो प्रथाएँ प्रचलित थीं जिनमें भविष्य के सामन्तवाद के वीज निहित थे। एक प्रथा को **प्रिकेरियम** और दूसरी को **पैट्रोसिनियम** कहते थे। प्रिकेरियम एक प्रकार की भूमि-व्यवस्था थी और पेट्रोसिनियम एक प्रकार का व्यक्तिगतसम्बन्ध था। उन दिनों अराजकता, असुरक्षा, आर्थिक संकट एवं सामाजिक दवाव के कारण रोमन साम्राज्य का छोटा किसान असुरक्षित अनुभव करता था। अतः छोटा किसान अपनी जमीन पर अपने से किसी बड़े भू-स्वामी का स्वामित्व स्वीकार कर लेता था, यद्यपि जमीन पर मिल्कियत उसी की वनी रहती थी। अब उसपर बड़े भू-मालिक का पूर्ण अधिकार था और इच्छा होने पर अधीनस्थ व्यक्ति भूमि से वंचित भी किया जा सकता था। परन्तु वस्तुतः ऐसी नौवत बहुत कम आती थी। शासक वर्ग इस प्रकार के शिकमी असामीपन को प्रोत्साहन देता था क्योंकि इससे देहाती इलाकों में सुरक्षा वढ़ती थी। परन्तु आगे चलकर सरकार ने इस प्रथा को रोकने का प्रयास किया क्योंकि छोटे किसान वड़े पूँजीपतियों की अधीनता स्वीकार कर सरकारी करों से वचने का प्रयास करने लगे। धीरे-धीरे वड़े भू-स्वामी राजकीय समाहर्त्ताओं की अवज्ञा करने लगे। अपनी सेना, भू-संपत्ति और अनुयायियों की वड़ी संख्या के कारण उनकी गणना स्थानीय अमीरों में की जाने लगी।

पैट्रोसिनियम अथवा पेट्रोनेज की प्रथा के अनुसार, धनी और प्रभावशाली व्यक्ति संरक्षक वनकर अपने अनुयायियों का एक वड़ा दल तैयार कर लेते थे। प्रिकेरियम का सम्वन्ध जमीन से था; किन्तु पैट्रोसिनियम में जमीन की कोई आवश्यकता नहीं थी। भूमिहीन मजदूर अथवा कारीगर को भी सुरक्षा की आवश्यकता थी। अतः वह किसी भूमिपति के पास जाकर रक्षा के वदले में अपनी सेवाएँ अर्पित करता था। इस तरह वड़े भूस्वामियों की जागीर में ऐसे असामियों की वस्तियाँ वसाई गईं और अनायास ही उनके साथ समर्थकों के वड़े-वड़े दल तैयार हो गए। पश्चिमी रोमन

साम्राज्य में उपर्युक्त दोनों प्रथाएँ चौथी-पांचवी शताब्दी तक पूर्णरूपेण प्रचलित हो गई। लगभग इसी समय पादरी भी बड़े जमींदार बनते जा रहे थे और जर्मन जाति के लोग बड़ी संख्या में रोमन साम्राज्य में बस रहे थे। मेरोमिगियन शासन-काल से राज्य के पदाधिकारी भी प्रिकेरियम के अन्तर्गत भू-स्वामी बनते जा रहे थे। आगे चलकर पैट्रोसिनियम की प्रथा अधिक लोकप्रिय हुई।

सामन्तवाद में रोमन के अतिरिक्त सेल्टिक तत्त्व भी थे। गॉल के सेल्टों में एक प्रथा थी जिसके अनुसार नेता अपने अनुयायियों से घिरा रहता था। ये अनुयायी उसकी ओर से युद्धों में भाग लेते, उसकी आज्ञा का पालन करते और उसके दान पर जीते थे। इस प्रथा को कमेन्डेसन कहते थे।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी था जर्मन। जर्मनों में प्रत्येक नेता के साथ स्वामिभक्त योद्धाओं का एक दल होता था। इसे कौम्मिटेट्स कहते थे। धीरे-धीरे इन तीनों तत्त्वों का विलयन हुआ। इन तीनों प्रथाओं में कुछ सेवाओं की व्यवस्था थी। विभिन्न वर्गों में सामाजिक अन्तर था और इस तरह सामंतों के दो वर्ग थे— उच्च सामंत और निम्न सामंत। राजा के सामन्त और उप-सामन्त बड़े सामन्त थे। छोटे सामन्त और उनके असामी निम्न कोटि के सामन्त थे। प्रत्येक सामन्त की अपनी जागीर अथवा 'मेनार थी। निम्न कोटि का सामन्तवाद मेनोरियल और उच्च कोटि का सामन्तवाद सामन्ती सामन्तवाद कहा जाता था।

आर्थिक दृष्टिकोण से रोमन-साम्राज्य की बड़ी-बड़ी जमींदारियों की स्थापना के साथ-साथ सामन्तवाद की नींव पड़ी। इसका कारण यह था कि रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत बड़े-बड़े जमींदार वर्गों का जन्म हुआ, जिनके अधीन काफी बड़ी भू-संपत्ति रहती थी। वे अपनी भू-संपत्ति को बढ़ाने के लिए किसानों से ऊँची कीमत पर उनकी जमीन खरीद लेते थे। फलस्वरूप, किसान बेजमीन होते गए। स्वतंत्र किसानों की संख्या घटती गई। प्रारम्भ में जमींदार खेती का काम दासों से लेते रहे; परन्तु रोमन-साम्राज्य की सामरिकता में ह्रास एवं दासों की उदासीनता के कारण कृषि की अवनति हुई और उपज कम होने लगी। उत्पादन को बढ़ाने के दो ही उपाय थे। नए ढंग से कृषि के निमित्त वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार अथवा श्रमिकों की संख्या में वृद्धि। परन्तु, श्रमिकों की संख्या बढ़ाना कठिन था। रोमन साम्राज्य की सामरिक शक्ति का ह्रास हो चुका था। और अब युद्ध-बंदियों के अभाव में दासों का मिलना संभव न था। उपलब्ध दासों को मुक्त कर उनकी उत्पादन शक्ति को प्रोत्साहित करना अब आवश्यक हो गया। अतः अब उन्हें रहने के लिए मकान और

जीविकोपार्जन के लिए थोड़ी सी जमीन दी गई। अब दास बँधुआ खेत मजदूर हो गये और कम्मी' कहे जाने लगे। आगे चलकर उनकी संख्या काफी बढ़ गयी।

आर्थिक कारणों के अतिरिक्त, सामन्तवाद के उदय के राजनीतिक कारण भी थे। पांचवीं शताब्दी में बर्बर जातियों के आक्रमणों के फलस्वरूप रोमन-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसकी जगह पर कई स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई। धीरे-धीरे आपस में लड़ते रहने वाले इन छोटे-छोटे राज्यों की संख्या हजार से भी ऊपर हो गई। यूरोप में अव्यवस्था और अराजकता अपनी चरम सीमा पर थी। इसका प्रभाव अधिकतर किसानों एवं सामान्य जनता पर पड़ा, क्योंकि जान-माल का खतरा बराबर बना रहता था। जमींदारों के पारस्परिक संघर्षों के कारण कृषि, आवास एवं अन्य चल-अचल सम्पत्ति का काफी नुकसान होता था। कानून का राज्य समाप्त हो गया था जिसके पास शक्ति थी, वह अपनी सत्ता बनाए रख सकता था। जमींदारों को भी अन्य जमींदारों से भय बना रहता था। अत: जनसाधारणों की तरह उन्हें भी सुरक्षा की आवश्यकता थी। इस तरह, जमींदारी-वर्ग जनसाधारण से सैनिक सहायता और सामान्य लोग जमींदारों से व्यक्तिगत संरक्षण चाहते थे। इस प्रकार सामन्तवाद का जन्म हुआ। किसान अपनी स्वतंत्रता का परित्याग कर जमींदारों के संरक्षण में चले गये। अब उनकी स्थिति कम्मियों की हो गयी। दोनों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जमींदारों ने किसानों को न लूटने और बाह्य आक्रमण-कारियों से रक्षा करने का वचन दिया। दूसरी ओर किसानों ने उपज का एक भाग देने और कई प्रकार की सेवाएँ करने का वादा किया। किसान छोटे जमींदारों और छोटे जमींदार बड़े जमींदारों की शरण में गए। फर्क केवल इतना था कि उन्हें उपज का हिस्सा न देकर आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देनी पड़ती थी। इस तरह सेवा और सुरक्षा के आधार पर कमेण्डस एवं बेनिफिस प्रथाओं का जन्म हुआ।

रोमन-साम्राज्य के पतन का प्रभाव योरोपीय शासन-व्यवस्था पर भी पड़ा था। साम्राज्य के पराभव-काल में जमींदारों एवं शासकों ने स्थानीय शासन में स्वायत्तता प्राप्त कर ली थी। अब कर वसूलने एवं सैनिक सहायता देने के कामों के अतिरिक्त इन्हें न्याय करने तथा कानून बनाने का अधिकार भी मिल गया। जमींदारी कचहरियाँ कायम हो गईं जिनमें प्रजा को दंड देने या जुर्माना लगाने का काम होने लगा। अत: आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ जमींदार स्वतंत्र राजाओं की तरह रहने लगे।

सामन्तवाद के जन्म का एक कारण यह भी था कि जर्मन विजेताओं ने, रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप में इस प्रथा को फैलाया। ये विजेता

जीती हुई भूमि को अपने अनुयायियों के बीच बाँटने लगे। ये अनुयायी अपने नेता को बिना पारिश्रमिक के ही सैनिक सेवा देते थे। परन्तु अब उन्हें जमीन मिलने लगी और ये नए जमींदार 'नाइट' अथवा सामन्त कहे जाने लगे। ये नाइट मध्य-कालीन भारतीय क्षत्रियों की तरह प्रसिद्ध योद्धा थे। इस तरह गॉल, इंगलैंड एवं अन्य देशों में सामन्तवाद का जन्म और विकास हुआ।

कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स ने चर्च पर नियंत्रण की जिस नीति को अपनाया था, उसके दुर्बल उत्तराधिकारी उसका पालन नहीं कर सके। नवीं शताब्दी के मध्य में धार्मिक संस्थाओं को भी शासन के क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता मिल गई। पादरी भी बड़े जमींदार बन गए। जमीन के साथ-साथ इनके अधिकारों में भी वृद्धि हुई। धीरे-धीरे चर्च यूरोप का सबसे बड़ा सामन्त बन गया। पश्चिमी यूरोप की एक-तिहाई भूमि इसके कब्जे में आ गई। अब राज्यों की सम्पूर्ण आर्थिक एवं प्रशासकीय शक्ति गृहस्थ जमींदारों एवं पादरी जमींदारों के बीच बँट गई। प्रारम्भ में सामन्तों के अधिकार केवल जीवन-पर्यन्त थे, परन्तु आगे चलकर उनकी आर्थिक और सामाजिक शक्ति बढ़ जाने के कारण जागीरों को भी पैतृक संपत्ति की ही तरह वंशानुगत बना दिया गया।

सामन्तवाद का समय और विकास

यद्यपि प्राचीन चीन, भारत और मिस्र में भी सामन्तवाद का प्रचलन हुआ था, इस प्रणाली का यूरोप में प्रचलन मध्यकाल में ही हुआ। सामन्तवाद किसी निश्चित तिथि को प्रारम्भ होकर किसी निश्चित तिथि को ही समाप्त नहीं हो गया, बल्कि इसका उदय धीरे-धीरे हुआ तथा इसकी रूप-रेखा भी बहुत दिन बाद स्पष्ट हुई। सामन्त-प्रथा का विकास किसी एक शासक या व्यक्ति ने नहीं किया, बल्कि यह तो मध्यकालीन यूरोप के एक विशेष युग की विशिष्ट अभिव्यक्ति थी। पांचवीं शताब्दी रोमन-साम्राज्य का अवसान-काल थी। ट्यूटन जातियों के आक्रमणों के फलस्वरूप रोमन-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसकी जगह पर छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना हुई। आक्रमणकारियों की बाढ़ से सर्वत्र अराजकता फैल गई। जनता की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सुरक्षा की परम आवश्यकता के कारण सामन्तवाद का जन्म हुआ। पांचवीं और छठी शताब्दी में सामन्तवाद का विकास होता रहा, परन्तु मेरोभिंगियन राजाओं, विशेषतः शार्लमन ने विभिन्न राजाओं के संघर्ष को दबाकर विशाल राज्यों की स्थापना की। फलस्वरूप, सामन्तवाद की प्रगति मंद पड़ गई, यद्यपि इसका अंत नहीं हुआ। वस्तुतः फ्रैंक राज्य सामन्तवाद की जन्मभूमि ही नहीं,

बल्कि विकास-भूमि भी बना। छठी से आठवीं शताब्दी तक फ्रैंक राज्य में सामन्तवादी रीतियों एवं प्रथाओं का विकास हुआ। शीघ्र ही इसका विस्तार इंग्लैंड, स्पेन और इटली आदि देशों में हो गया, परन्तु फ्रैंक राज्य इसका प्रमुख क्षेत्र बना रहा। इसका प्रभाव शासन के अतिरिक्त चर्च पर भी पड़ा। फ्रैंक राज्य में कानून एवं प्रशासन, दोनों ही सामन्ती सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। चर्च, जिसके पास अपार भू-सम्पत्ति थी, जागीर बाँटकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। व्यापारी वर्ग एवं बड़े भू-स्वामियों ने भी ऐसा ही किया। बड़ा भू-स्वामी अपने से छोटे भू-स्वामी का अथवा भूमिहीन स्वतंत्र व्यक्ति को जमीन दे देता था। इस जमीन को बेनेफिस कहते थे। यह भूमि कुछ-कुछ अस्पष्ट सेवाओं के आधार पर जीवन-काल के लिए दी जाती थी। यदि भूमि के साथ-साथ कमेण्डेसन का व्यक्तिगत सम्बन्ध भी था तब सामन्तवाद का स्वरूप पूर्ण हो जाता था। वंशानुगत हो जाने पर बेनेफिस को 'फिफ' अथवा जागीर कहा जाता था। परन्तु, सामन्तवाद का यह स्वरूप नवीं शताब्दी में विकसित हुआ।

चार्ल्स मार्टेल के समय में फ्रैंकों पर सैनिक सेवा का भार बहुत बढ़ गया। केवल भू-संपदा से युक्त व्यक्तियों के लिए ही सैनिक सेवा करना संभव रह गया। अरबों के आक्रमणों के चलते अश्वारोही सेना की आवश्यकता पड़ी और ऐसी सेना खड़ी करने के लिए चर्च की जमीन को जब्त किया जाने लगा। इस जमीन को सैनिक सेवा करने योग्य लोगों में बाँटा जाने लगा और ऐसी जमीन को बेनेफिस कहा गया। इस प्रकार भूमि की मिल्कियत सैनिक सेवा से सम्बद्ध हो गई। शार्लमन ने बेनेफिस की प्रथा को आगे बढ़ाया। जो लोग सैनिक सेवा देने से असमर्थ रहे उनकी जमीन दूसरों को दे दी गई। पुनः सम्राट के प्रति व्यक्तिगत निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। इस तरह बेनेफिस और कमेण्डेसन एक ही सिक्के के दो पक्ष बन गए। नवीं शताब्दी तक सामन्तवाद के सभी तत्त्व विकसित हो गये।

कैरोलिंगयन युग उत्तर रोमनकालीन वर्बर युग और सामन्तवादी युग के बीच का संक्रमण-काल था। धीरे-धीरे कैरोलिंगियन साम्राज्य की छिन्न-भिन्न हो गया। अब बेनेफिस के वंशानुगत जागीर (फिफ) में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया तीव्र हो गई। लूटपाट, बाह्य आक्रमण और सर्वव्यापी अराजकता के कारण सामन्तवाद के विकास में सहायता मिली। वस्तुतः कमजोर लोगों पर शक्तिशाली लोग हावी हो गए और दुर्बल जनों को शक्तिशाली वर्गों का संरक्षण प्राप्त करना आवश्यक हो गया। इस तरह, भूमि-सम्बन्ध और व्यक्तिगत सम्बन्ध सर्वत्र प्रचलित हो गए।

कैरोलिंगियन शक्ति के पराभव के साथ-साथ अनेक स्थानीय सत्ताओं की स्थापना हो गई। राजनीतिक शक्ति का स्वरूप स्थानीय हो गया और अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। अतः शासन के स्वरूप के साथ-साथ समाज का ढाँचा भी बदल गया। समाज में कलहप्रिय सामंतों की प्रधानता हो गई और सर्वव्यापी जागीरी अन्तर्भाजन के आधार पर आर्थिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों की स्थापना हुई। समाज अनेक वर्गों में विभक्त हो गया और उसका ढाँचा पिरामिड सदृश हो गया। समाज एवं शासन में यह परिवर्तन मध्य एवं पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र परिलक्षित होने लगा। स्वतंत्र व्यक्तियों का लोप हो रहा था और समाज निश्चित वर्गों में विभक्त हो गया। प्रत्येक वर्ग का अपना विशिष्ट नाम था जैसे काउन्ट, विसकाउन्ट और बैरोन आदि। बैरोनी प्रभुसत्ता युक्त सबसे छोटी जागीर थी। बैरोन के नीचे ग्रामवासी गढ़ीवाले होते थे जिनकी अपनी कोई प्रभुसत्तायुक्त जागीर नहीं होती थी। पुनः, भूमिहीन नाइट थे। कई लेखकों ने सामन्तवाद की पूर्णता के लिए भूमि को आवश्यक माना है। परन्तु यह केवल बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी के लिए सही है। उस समय कानूनवेत्ताओं ने कहना शुरू किया—'मालिक नहीं तो भूमि नहीं'। इस उक्ति को ग्यारहवीं शताब्दी के लिए, जब सामन्तवाद का विकास हो रहा था, सही नहीं माना जा सकता। उस समय व्यक्तिगत सम्बन्ध और अधीनता ही सामन्तवाद के मुख्य आधार थे। कैरोलिंगियन साम्राज्य के विघटन के बाद राजा की शक्ति सर्वोच्च नहीं रह गयी थी। उसकी संप्रभुत्ता का विभाजन उसके जागीरदारों के बीच हो गया जिन्हें काउन्ट और ड्यूक आदि कहते थे। काउन्टों और ड्यूकों की भूमि लगभग वही थी जिसपर कैरोलिंगियन काल के काउन्ट और ड्यूक शासन करते थे। धीरे-धीरे वे स्वतंत्र और अपने क्षेत्र में शासन के मुखिया हो गये थे। इस तरह, व्यावहारिक रूप में यथार्थ और कानूनी शक्तियों में फर्क था। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक सामन्तवाद का यूरोप में सर्वत्र प्रचार हो गया। विशाल राज्यों की जगह पर अब अनेक स्थानीय शक्तियों की स्थापना हो गई। सामन्तवाद का सर्वत्र एक ही रूप नहीं था। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य था। परन्तु सभी जगह प्रभुसत्ता का विभाजन स्पष्ट परिलक्षित होता था। कई सौ वर्षों तक बने रहने के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी से सामन्तवाद का पतन होने लगा।

सामन्तवाद की प्रचलित रीतियाँ

सामन्तवाद का स्वरूप आदान-प्रदानात्मक था। इसके अन्तर्गत बहुत-सी प्रचलित रीतियाँ थीं जो प्रायः सर्वत्र वर्तमान थीं। सामन्तों को अपने अधीनस्थ किसानों एवं

सर्फों को संरक्षण एवं न्याय प्रदान करने के अतिरिक्त कानूनी कार्रवाई के विना सम्पत्ति से वंचित न करने का आश्वासन देना पड़ता था। वस्तुतः सामन्त को, कम-से-कम कानूनी दृष्टि से, अधीनस्थ व्यक्ति पर छड़ी उठाने का भी अधिकार नहीं था। अपमान, अत्याचार, अरक्षा और अन्याय की स्थिति में अधीनस्थ व्यक्ति सामन्त के विरुद्ध युद्ध भी छेड़ सकता था। परन्तु, इंग्लैंड में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि सामन्त एवं अधीनस्थ व्यक्ति के पारस्परिक संघर्ष का राज्य की रक्षा एवं राजकीय अधिकारों पर कुप्रभाव न पड़े। वैसी स्थिति में सामन्त और अधीनस्थ व्यक्ति, दोनों ही दण्डित हो सकते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रायः अन्याय होता ही था; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सामन्तवादी संस्थान सर्वथा अनीति पर ही आधारित थे। वस्तुतः अत्यधिक वैचित्रता ही उनका सबसे बड़ा दोष था।

होमेज :

सामन्तवाद के अन्तर्गत सभी अधिक-से-अधिक भूमि हस्तगत करना चाहते थे। परन्तु बिना 'होमेज' के अधिक भूमि पाना संभव न था। इस प्रथा के अनुसार भूमि पानेवाले व्यक्ति राजा, सामन्त अथवा उप-सामन्त की अधीनता स्वीकार कर लेता था। होमेज के अवसर पर राजा, सामन्त अथवा उप-सामन्त अपनी कचहरियों में बैठते थे। जमीन पानेवाला व्यक्ति खाली सिर सामने झुकाकर अपना हाथ अपने स्वामी से मिलाता था और स्वामिभक्ति की शपथ लेता हुआ कहता था, "मैं ईमानदार रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ और जिस तरह आदमी अपने स्वामी की सेवा करता है, मैं भी करता रहूँगा।" अब स्वामी उस व्यक्ति को हाथ पकड़कर उठाता और उसके मुँह को चूमता था। जमीन पाने वाला व्यक्ति बाइबिल सदृश पवित्र ग्रन्थ पर हाथ रखकर स्वामी के प्रति वफादारी तथा सामन्ती सेवाओं की शपथ लेता था। अतः होमेज एक तरह से प्रतिज्ञाबद्ध करने की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार जमीन पानेवाला उस जमीन का पूर्ण स्वामी बन जाता था। साथ ही उस जमीन पर रहने-वाली प्रजा उसके अधीन हो जाती थी। यूरोप के विभिन्न भागों में होमेज की रीतियों में कुछ-कुछ अन्तर पड़ता था।

होमेज के अनुसार, भूमि पाने वाले से, स्वामी के प्रति वफादार रहने की आशा की जाती थी; परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं था। उस समय सभी लोग अधिक से अधिक भूमि हथियाना चाहते थे, अतः वे एक से अधिक राजाओं या सामन्तों से भूमि ले लेते थे। सभी के साथ होमेज की शर्तों को दुहराया जाता था। इस प्रकार, वे एक ही समय दो-तीन स्वामियों के अधीनस्थ बन जाते थे। उनके

स्वामियों में युद्ध छिड़ जाने पर उनके सामने समस्या उठ खड़ी होती थी कि वे किसका साथ दें और किसका साथ नहीं। बड़े-बड़े सामन्त भी दो-तीन राजाओं की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। अपने स्वामियों में युद्ध छिड़ जाने पर वे किसी की सैनिकों द्वारा तो किसी की स्वयं उपस्थित होकर सहायता कर दिया करते थे। अतः "सैनिक सेवा" की शर्त्त को निवाहने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती थी; परन्तु साधारण किसानों को अवश्य दिक्कत हो जाया करती थी।

सामन्ती अधिपति के अधिकार

स्वामिभक्ति की शपथ लेने के बाद स्वामी अधीनस्थ सामन्त को सामन्ती अधिकारों से विभूषित करता था। वह सामन्त को दी गई भूमि पर जाकर उसे वास्तविक कब्जा दिला देता था, अथवा उसके हाथ में मिट्टी का ढेला या पेड़ की एक टहनी देकर प्रतीक रूप में उसे उसकी जागीर का स्वामित्व प्रदान करता था। इस अभिषेक के अवसर पर सामन्तों को स्वामी द्वारा एक झण्डा, एक छड़ी तथा एक प्रमाण-पत्र भी दिया जाता था। इस प्रमाण-पत्र द्वारा सामन्त भूमि का मालिक बन जाता था। ऐसी भूमि को 'फीफ' अथवा 'बेनेफिस' कहते थे। इस प्रकार सामन्त को जागीर की प्राप्ति होती थी। इस जागीर में शहर, घर-जंगल, चर्च, मछली मारने की नदी या तालाब के अतिरिक्त कर वसूलने का अधिकार चुंगी तथा उस जागीर में बसे लोगों से अनेक प्रकार की सेवाएँ लेने का अधिकार भी शामिल रहता था। उपर्युक्त सभी वस्तुओं एवं अधिकरों का विस्तृत वर्णन 'प्रमाण-पत्र' में निहित होता था। परन्तु इससे स्वामी का अधिकार समाप्त नहीं हो जाता था। उसका स्वामित्व तो बना ही रहता था; सामन्त को केवल उपभोग करने की सुविधा मिल जाती थी। जबतक सामन्त जीवित रहता था, उपभोग करता था। उसकी मृत्यु हो जाने पर जागीर पुनः अपने मूल मालिक को लौट जाती थी। पुनः 'फीफ' अथवा 'बेनेफिस' की अवधि सामन्तों की सेवा तथा उनके कार्यों के अनुसार निर्धारित थी। प्रारम्भ में 'बेनेफिस' जीवन-भर के लिए दिया जाता था; परन्तु आगे चलकर उस पर वंशानुगत अधिकार हो जाने के कारण उसका स्वरूप 'फीफ' का होता गया। अब सामन्त की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी से केवल नाममात्र के लिए होमेज की रीतियाँ दुहरवा ली जाती थीं। प्रत्येक सामन्त को 'फीफ' मिले ही और उसमें भूमि हो ही, यह आवश्यक नहीं था। आमदनी के स्रोत को 'फीफ' की संज्ञा दी जा सकती थी, जैसे, टूर्स की आय से एक हजार पौण्ड "जिसे राजा के पेरिस स्थित खजाने से लिया जाए," अथवा, "ब्रेसी के जंगल की आमदनी" अथवा "चेटियो—थियेरी के करों और चुंगी से तीस पौण्ड" इत्यादि।

सैनिक सेवा :

"फीफ" के बदले में सामन्तों को अपने स्वामी की कई प्रकार की सेवा करनी पड़ती थी। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सेवा सैनिक सेवा थी। यह सेवा प्रायः सभी सामंतों के लिए अनिवार्य थी। सामंतों की योग्यता के अनुसार यह निश्चित कर दिया जाता था। कि वे कितने सैनिकों को सैनिक सेवा के लिए भेजेंगे। बदले में स्वामी अपने सामंतों को 'ईनाम' दिया करता था। सैनिक सेवा की प्रथा के कारण सामंतों का अधिकांश समय युद्ध-क्षेत्र में ही व्यतीत होता था। कभी-कभी तो वे फसल बोने या काटने के समय में भी युद्ध करने चले जाते थे और अनिश्चित काल तक सैनिक सेवा करते रहते थे। परंतु, कैरोलिंगियन साम्राज्य के पतन के बाद राजाओं की शक्ति कमजोर पड़ गई तब सामंतों ने एक वर्ष में केवल चालीस दिन सैनिक सेवा देना आरम्भ किया। बारहवीं शताब्दी तक यह नियम-सा बन गया। परंतु, इससे राजाओं को कठिनाई होने लगी, क्योंकि सभी लड़ाइयाँ चालीस दिन के भीतर तो समाप्त होती नहीं थीं, और दूसरी ओर, सामंत इस अवधि के बीत जाने पर रुकते नहीं थे। अतः अब चालीस दिन बीत जाने पर स्वामी अपने खर्च पर ही सामंतों के सैनिकों को रोक सकता था। धीरे-धीरे अधिकांश सामंत चालीस दिन की सैनिक सेवा के बदले में नकद धन देने लगे। इसे सेवा-धन कहते थे।

सैनिक सेवा कई प्रकार से ली जाती थी। युद्धकाल में सामंतों के किलों पर स्वामी अपना नियंत्रण कर ले सकता था। वह सामंतों की गाड़ियों और जानवरों को भी उपयोग में ला सकता था। सामंतों के किलों में मोर्चाबंदी कर स्वामी युद्ध कर सकता था, परंतु युद्ध की समाप्ति पर किलों को हुए नुकसान के लिए उसे क्षति-पूर्त्ति करनी पड़ती थी। कुछ सामंतों को अनिवार्य रूप से स्वामी के किले की पहरेदारी के लिए सैनिकों को भेजना पड़ता था। पादरी-सामन्तों को भी आरम्भ में अपने स्वामी की सैनिक सेवा करनी पड़ती थी। बाद में उनका युद्धक्षेत्र में स्वयं उपस्थित होना अनिवार्य नहीं रह गया। इसके बदले में वे केवल अपने सैनिक भेज सकते थे।

'भेंट'

सैनिक सेवा के अतिरिक्त सामन्तों को अन्य कई प्रकार की सेवा भी करनी पड़ती थी। यह सेवा 'कर' अथवा भेंट के रूप में ली जाती थी, जैसे, स्वामी को कैद से छुड़ाने के लिए धन देना, शादी अथवा 'नाइट' बनाए जाने के अवसर पर भेंट और

धर्मयुद्ध का खर्च। राजा या कोई सामन्त यदि युद्ध में शत्रुओं द्वारा बन्दी बना लिया जाता था तो उसके सामन्त, उप-सामन्त और किसान उसे छुड़ाने के लिए धन एकत्रित करते थे।

राजा के बड़े लड़के के 'नाइट' होने अथवा बड़ी लड़की की शादी के अवसर पर बड़े सामन्तों को भेंट अथवा नजराना देना पड़ता था। ऐसा ही, सामन्तों के बड़े लड़के के नाइट होने अथवा बड़ी लड़की की शादी के अवसर पर उप-सामन्तों को करना पड़ता था। धर्म-युद्धों के समय, कभी-कभी स्वामी को खर्च के लिए विशेष आर्थिक सहायता भी देनी पड़ती थी।

रिलीफ :

उपर्युक्त भेंटों के अतिरिक्त तीन खास अवसरों पर सामन्त अपने स्वामी को धन देते थे। यह धन 'रिलीफ' कहलाता था। इसका आरम्भ उस समय हुआ था। जब बेनेफिस साधारणतः वंशानुगत नहीं होते थे और सामन्त की मृत्यु पर, उसका उत्तराधिकारी, स्वामी की स्वीकृति के लिए धन देता था। कालांतर में, जब 'फीफ' वंशानुगत हो गये तब रिलीफ का स्वरूप वस्तुतः उत्तराधिकारी का हो गया। साथ-साथ, यह इस बात का भी प्रतीक था कि 'फीफ' पर कानूनी अधिकार अब भी स्वामी का ही था न कि सामंत का। पुनः स्वामी के मरने पर उसके पुत्र अथवा उत्तराधिकारी को भी सामन्त धन देता था जिसकी गणना रिलीफ में होती थी। जब सामन्त अपनी जागीर को किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेचता था तो उसे अपने स्वामी की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। यह स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भी उसे धन देना पड़ता था। यह रिलीफ का तीसरा रूप था। सैद्धान्तिक रूप में रिलीफ का मतलब था सामन्त द्वारा होमेज तथा वफादारी का नवीकरण और स्वामी द्वारा सामन्त का पुनरभिषेक। परन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से, इसके द्वारा सामन्तों का आर्थिक बोझ बढ़ जाता था और कभी-कभी तो उन्हें अपनी जागीर की वर्ष भर की आमदनी रिलीफ के रूप में देनी पड़ती थी। संक्षेप में, प्रत्येक अवसर पर भेंट तथा नजरानों का तांता लगा रहता था। परन्तु इस पर भी सामन्तों और उप-सामन्तों की स्थिति अच्छी थी, क्योंकि वे जो कुछ देते थे, अपनी प्रजा से वसूल कर लेते थे। स्वयं उनपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। वे किसानों की मेहनत की कमाई का उपयोग करते थे। सामन्तवाद की इन्हीं कुरीतियों के कारण पन्द्रवीं-सोलहवीं शताब्दी का इंगलैंड दरिद्रता का घर बना हुआ था।

स्वामी को न्याय-कार्य में अपने सामन्तों से सहायता लेने का अधिकार भी था। सामन्त को स्वामी की कचहरी में उपस्थित होकर न्याय-कार्य में सहायता करनी पड़ती थी। यह कार्य वह स्वामी द्वारा नियुक्त न्यायाधीश अथवा पंच के रूप में करता था। कोई भी सामन्ती अधिपति अपने सामन्तों की सहायता लिये बिना न्याय-कार्य संपादित नहीं करता था। किसी सामन्त का फैसला करते समय वह अन्य सामन्तों की राय लेता था, क्योंकि सामन्ती-न्याय का एक प्रमुख सिद्धान्त था कि सामन्तों का फैसला सामन्त ही कर सकते थे। स्वामी के फैसले को मनवाने के लिए अथवा अपराधी को कचहरी में लाने के लिए यदि बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी, तो वह इसमें भी अपने अधिपति की सहायता करता था।

रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में राज्याधिकारियों को उनके निरीक्षाटन-काल में नागरिकों द्वारा भोजन और आवास की प्राप्ति हो जाती थी। सामन्तवादी यूरोप में भी सामन्ती अधिपति को उपर्युक्त सुख-सुविधा का अधिकार था। अपने सामन्तों की जागीरों से होकर यात्रा करते समय उसे अपने तथा अपने अंगरक्षकों के लिए भोजन तथा आवास प्राप्त करने का हक था। इनकी व्यवस्था सामन्तों को करनी पड़ती थी। इसे प्राभिकरण का अधिकार कहते थे। आगे चलकर, परम्परा के आधार पर, यह प्रायः निश्चित कर दिया गया कि स्वामी की ऐसी यात्राओं और अंगरक्षकों की अधिकतम सीमा क्या होगी जब कि उसे मुफ्त भोजन और आवास दिया जाएगा। साधारणतः आशा की जाती थी कि राजा और बड़े सामन्त ऐसी यात्रा के समय खर्च के लिए अपने ही मेनरों पर निर्भर करेंगे न कि अधीनस्थ सामन्तों पर।

संरक्षकता, जब्ती और अपवर्तन के अधिकारों द्वारा भी सामन्ती अधिपतियों की अच्छी आमदनी हो जाती थी। यदि सामन्त नाबालिग उत्तराधिकारी छोड़कर मर जाता था, तो स्वामी उसकी जागीर की देख-भाल कर सकता था। उच्चतम सामन्तों की कन्या उत्तराधिकारिणी राजा की अभिरक्ष्य होती थी जिससे वह विवाह कर सकता था। इस विशेषाधिकार का राजा लोग प्रायः दुरुपयोग करते थे। इससे बैरनों में बहुत असंतोष रहता था, परन्तु वे कुछ कर नहीं सकते थे। सामन्तों के पुत्र के अभाव में कन्या उत्तराधिकारिणी हो तो जाती थी, परन्तु वह अपने अधिपति की सैनिक सेवा नहीं कर सकती थी। अतः उसे; सैनिक सेवा देने के लिए स्वामी द्वारा पसन्द किए हुए व्यक्ति से शादी करनी पड़ती थी। यदि वह अपने इच्छाअनुसार विवाह करना चाहती थी तो उसे एक निश्चित धन-राशि

घूस के रूप में स्वामी को देनी पड़ती थी। यह प्रथा विशेषतः दक्षिण फ्रांस में प्रचलित थी। यदि सामन्त कोई उत्तराधिकारी छोड़े बिना ही मर जाता था तो उसकी जागीर जब्त कर ली जा सकती थी। पुनः, यदि कोई सामन्त गंभीर अपराध करता था तो भी उसकी जागीर वापस ले ली जा सकती थी। फ्रांस के फिलीप ऑगस्टस द्वितीय ने इसी तरह १२०४ ई० में इंग्लैंड के जॉन की फ्रांस स्थित जागीर को जब्त कर लिया था। अपवर्तन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण था ११८१ ई० में सम्राट फ्रेडरिक बारबेरोसा द्वारा ड्यूक हेनरी से सैक्सनी की जागीर का छीन लिया जाना।

सामन्ती अधिपतियों के उपर्युक्त अधिकार आरम्भ में अनियन्त्रित तथा अत्याचारपूर्ण थे। परन्तु, धीरे-धीरे उनके अधिकार निश्चित और नियमित होते गए। इन अधिकारों की रूप-रेखा नवम तथा दशम शताब्दियों में विकसित हुई थी। धीरे-धीरे इस प्रथा ने कानून का रूप ले लिया। सामन्तों एवं उनके अधि-पतियों के कर्त्तव्य एवं अधिकार भी स्पष्ट हो गए। धीरे-धीरे अराजकता की जगह स्थिरता कायम हुई और सामन्तवाद एक निश्चित राजनीतिक एवं सामाजिक संगठन के रूप में विकसित हुआ।

अधीनस्थ सामन्तों के अधिकार :

स्वामी और सामन्त के सम्बन्ध, इकरारनामे के नियमों के आधार पर, पारस्परिक उत्तरदायित्व के थे। एक ओर तो स्वामी को अपने सामन्तों से सेवा लेने का अधिकार था, तो दूसरी ओर सामन्तों को भी स्वामी से अधिकार प्राप्त थे, जैसे, जमीन पाने का अधिकार, स्वामी द्वारा रक्षित होने का अधिकार, सामन्त की मृत्यु के पश्चात् स्वामी पर उसके परिवार की देखभाल की जिम्मेदारी, बाह्य आक्र-मणों से सुरक्षा और न्याय पाने का अधिकार आदि। सैद्धान्तिक रूप में ही सही, पर सामन्तों के सम्मान की रक्षा का भार भी स्वामी पर था।

सामन्तों का मुख्य कर्त्तव्य था अपने स्वामी का विरोध न करना। परन्तु, यदि स्वामी अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं करता था तो सामन्तों को भी विद्रोह करने की छूट थी। पुनः, सामन्तों को अपने से नीचे वर्गों की जनता, जैसे, किसान आदि पर शासन करने और उनका शोषण करने का भी अधिकार प्राप्त था। एक ओर सामन्त अपने स्वामी के प्रति कर्त्तव्यबद्ध थे, तो दूसरी ओर किसान भी अपने स्वामी के प्रति कर्त्तव्यबद्ध थे। दोनों में विशेष अंतर यह था कि जब कि सामन्तों के स्वामी उनके सम्मान की रक्षा करते थे, सामन्त अपने किसानों या कम्मियों को

भरपेट भोजन भी नहीं देते थे। किसान सामन्तों के शोषण और अत्याचार से पीड़ित थे। किसानों एवं कम्मियों का राजा अथवा उच्चस्थ सामन्तों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतः वे सामन्तों के अत्याचारों के विरुद्ध कहीं शिकायत भी नहीं कर सकते थे। इनकी अवस्था पूर्व-मध्यकालीन दासों से भी गिरी हुई थी। वस्तुतः किसान वर्ग ही सामन्तवाद की रीढ़ था। सामन्त युद्ध में और पादरी धर्मकार्य में रत रहते थे। इन दोनों वर्गों का भोजन स्वयं क्षुधा-पीड़ित किसान ही एकत्रित करते थे। भूमिपतियों के 'मेनर' से जकड़े किसान अपने सामन्त की भूमि अनिवार्यतः जोतते थे। प्रत्येक किसान को अपने स्वामी की मेनरवाली जमीन में, विना मजदूरी के, सप्ताह में दो या तीन दिन काम करना पड़ता था। सामन्त की फसल भी उन्हें मजदूरी के विना ही काटनी पड़ती थी। फसल बोने या काटने के समय पहले उन्हें सामन्त का ही काम करना पड़ता था। उनकी अपनी फसल, देर से बोने तथा काटने से, अच्छी नहीं हो पाती थी। आँधी आने पर वे पहले मालिक का खेत-खलिहान वचाते थे, भले ही इस बीच उनका अपना मकान-खलिहान उड़ जाए। वाजार में भी मालिक के अन्न के वाद ही उनका अपना अन्न विकता था। खेत में वेगारी के अतिरिक्त उन्हें पुल, सड़क और तालाव में भी मरम्मत और सफाई का काम करना पड़ता था। स्वामी के लिए लकड़ी काटते, कोयला ढोते और सन्देश-वाहक का काम करते हुए, अपने काम के लिए उन्हें वहुत कम समय वचता था। संक्षेप में, किसानों को सर्वत्र अपने स्वामी के स्वार्थों को प्राथमिकता देनी पड़ती थी।

किसानों का जीवन मेनर से बँधा हुआ था। वहीं उनका जन्म होता था; वहीं वे पलते और मरते थे। अधिकांश किसान कम्मियां थे। इनकी अपनी कोई जमीन नहीं थी और साधारणतः तीस एकड़ अथवा पन्द्रह एकड़ भूमि प्राप्त, वे सामन्तों के असामी थे। वाह्य जगत से सर्वथा अलग, उनका ग्रामीण जीवन शुष्क और निष्प्रयोजन था। अपने चंद पड़ोसियों, जब-तब गाँव से पार होनेवाले यात्रियों अथवा तीर्थ पर निकले लोगों को छोड़कर उनकी किसी से भेंट तक न होती थी। मेनर के नियमों से जकड़े इन किसानों को गाँव की परम्परा और रीति-रिवाज का भी अक्षरशः पालन करना पड़ता था। भारतीय वटाईदारों से भी उनकी स्थिति गई-वीती थी। यूरोप के उन भागों में, जहाँ अमरीकी किसानों की तरह योरोपीय किसानों ने जंगल-झाड़ एवं दलदलों को आवाद किया था, मेनर प्रथा का प्रचार नहीं हो पाया था। ऐसे इलाकों के किसान तुलनात्मक दृष्टि अधिक सुखी थे।

किसानों से केवल शारीरिक श्रम ही नहीं लिया जाता था, वल्कि 'नकदी'

वस्तु भी ली जाती थी। सैद्धान्तिक रूप में सामन्त जितना भी चाहे, कर लगा सकता था; परन्तु, नकदी और जिन्सी कर की सीमा साधारणतः स्थानीय प्रथा एवं परम्परा द्वारा निर्धारित होती थी। साथ ही साथ, सामन्त यह भी जानते थे कि किसानों का अधिक सताया जाना कृषि की उन्नति के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता था। किसानों पर लगनेवाले कर सर्वत्र एक समान नहीं थे। अलग-अलग स्थानों में उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न था। किसानों को सालाना फसल में से एक निश्चित राशि अथवा एक निश्चित रकम सामन्त को देनी पड़ती थी। इसी तरह, प्रति व्यक्ति कर भी सालाना सभी को देना पड़ता था। इनके अलावा "टैलेज" या "टैली" नामक कर भी लगता था। इसकी तुलना आधुनिक संपत्ति-कर से की जा सकती है; क्योंकि यह किसानों के संचित धन पर लगता था। बड़ा दिन और ईस्टर के अवसर पर किसान फल, अनाज आदि भी देते थे। सामन्तवादी 'रिलीफ' की तरह, किसानों को उत्तराधिकार-कर भी देना पड़ता था। सामन्तों के अतिरिक्त, चर्च को भी किसान कर देते थे। यह दशांश-कर के रूप में लिया जाता था। चारागाहों, जंगलों और बंजर भूमि के उपयोग के बदले अलग से कर लगता था। सामन्त मेनर-स्थित बेकरी, आटाचक्की और द्राक्षापेषणी का उपयोग-कर भी वसूलते थे। अपने लड़के-लड़की की शादी के अवसर पर भी किसान सामन्तों को नजराना देते थे। यहाँ तक कि किसान अपनी सन्तान की शादी सामन्त के मेनर से बाहर अन्य मेनर में नहीं कर सकते थे। ऐसा करने के लिए उन्हें सामन्त से अनुमति लेनी पड़ती थी, और यह अनुमति कुछ रकम वसूल करने के बाद ही दी जाती थी। किसानों के लड़के भागकर स्कूल या मठ चले जाते, तो भी किसानों को नजराना देना पड़ता था। स्वामी की ही चक्की में अनाज पीसना, द्राक्षापेषणी में शराब बनाना और बेकरी में रोटी पकाना आवश्यक था। इसके लिए भी उन्हें अनाज, शराब और रोटी का कुछ हिस्सा मालिक को देना पड़ता था। अगर स्वामी की अनुमति के बिना किसी अन्य की चक्की में अनाज पीसते, बेकरी में रोटी पकाते पकड़े जाते, तो उन्हें दंड दिया जाता था। स्वामी का लड़का जब नाइट बनता या लड़की की शादी होती तब भी उन्हें नजराना देना पड़ता था। स्वामी को कैद से छुड़ाने के लिए वे धन जमा करते थे। यहाँ तक कि स्वामी के पशुओं को खिलाने की जिम्मेदारी भी किसानों पर ही रहती थी। इतने सारे करों या नजरानों के अतिरिक्त भी अन्य भिन्न-भिन्न तरीकों से किसानों से धन वसूला जाता था। इस प्रथा को 'प्रेस्टेसन' कहते थे। संक्षेप में, किसानों की पूरी संपत्ति सामन्त किसी-न-

किसी तरह ले लेते थे और जो बच जाता था, उसे पादरी मृत्यु-शय्या पर जाते ही ले लेते थे। इस तरह, सामन्त एवं पादरी किसानों से रक्त का शोषण कर स्वयं विलासिता का जीवन व्यतीत करते। एक वर्ग सर्वहारा था, तो दूसरा सर्वहर्त्ता। एक वर्ग का जीवन दुःख-दारिद्र्य का था, जब कि दूसरा उसकी गाढ़ी कमाई का मनमाना उपयोग करता था। सामन्तवादी व्यवस्था में सबसे खराब हालत किसानों की ही थी। 'किसान' कहने का यह अर्थ नहीं कि ये किसान स्वतंत्र थे; किसानों की गणना तो ऊँगलियों पर हो सकती थी। अर्द्धदासों की ही संख्या सर्वाधिक थी। ये जन्म से मृत्यु तक सामन्त के अधीन रहते थे। इनकी अवस्था दासों से भी खराब थी। इनसे सामन्त युद्धकाल में सैनिक सेवा लेते थे और शान्तिकाल में बेगारी। सामन्त अपने वैभव और उपभोग के साज-सामान का प्रदर्शन करते थे; परन्तु उनकी खुशहाली के मुख्य आधार खेतिहर किसान गरीबी और बेहाली में जी रहे थे। उनके बच्चे कच्ची उम्र में मजदूरी करने को मजबूर थे। अपनी जिंदगी में फटेहाली, निरक्षरता और आर्थिक कठिनाइयों से मुक्ति पाने की उन्हें कोई आशा नहीं थी।

यूरोप की सामन्ती सभ्यता एवं संस्कृति :

पन्द्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में समान्तवाद का बोलबाला रहा। फलतः मध्यकालीन यूरोप के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। केन्द्रीय शक्ति के अभाव एवं अराजकता के युग में सामन्तवाद ने यूरोप में शान्ति एवं सुव्यवस्था की। इससे साहित्य, कला एवं दर्शन का विकास संभव हुआ। उच्च वर्ग के लोग आराम की जिन्दगी बसर करते थे। उन्हें जीवन की आवश्यक वस्तुओं की चिन्ता नहीं थी; क्योंकि किसान एवं कम्मी इन्हें जुटाने में लगे ही रहते थे। परिणामस्वरूप, उच्च वर्ग के लोग बेकार समय को काटने के लिए साहित्य, कला एवं दर्शन का आश्रय लेते थे।

सामाजिक संगठन :

मध्यकालीन यूरोप का समाज सामन्ती व्यवस्था पर आधारित था। इसका संगठन पिरामिडनुमा था। सामाजिक पिरामिड के शिखर पर राजा था जो समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। राजा की राजनीतिक शक्ति अपरिमित नहीं थी; परन्तु भूमि का स्वामी वही समझा जाता था। राजा के नीचे बड़े-बड़े सामन्त थे जिन्हें राजा से बड़ी-बड़ी जागीर मिली हुई थी। इन उच्चस्थ सामन्तों की समाज

में बड़ी प्रतिष्ठा थी; और इन्हें अनेक राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। इनकी अपनी कचहरियाँ थी; अपने प्रशासनिक पदाधिकारी थे जो जागीर का शासन चलाते थे। बड़े सामन्त राज-काज में राजा की भी सहायता करते थे।

बड़े सामन्त भी अपनी जागीर का कुछ हिस्सा अपने पास रखकर शेष भाग अपने से छोटे सामन्तों में बाँट देते थे। ये छोटे-छोटे सामन्त भी बड़े सामन्तों की नकल कर आराम की जिन्दगी बिताते थे। समाज में इनकी भी इज्जत थी। ये छोटे-छोटे सामन्त मिली हुई जागीर को किसानों तथा कम्मियों से जुतवाते थे। इस तरह, समाज में सबसे ऊपर राजा और सबसे नीचे किसान या कम्मी थे। अतः सामन्ती समाज के दो प्रमुख पक्ष थे—सामन्त-वर्ग और किसान वर्ग ।

सामन्तों का जीवन :

उच्च सामन्त-वर्ग समाज का सबसे प्रतिष्ठित वर्ग था । इस वर्ग का अधिपत्ति स्वयं राजा था। राजा के दरबार में उसके अधीनस्थ सभी बड़े सामन्त एकत्रित होते थे। ये बड़े सामन्त आखेट-प्रिय और शूर-वीर होते थे। ये साधारण कचहरियों में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं थे; क्योंकि सामान्य कानून इन पर लागू नहीं किये जा सकते थे। इनके पास वैसे अस्त्र-शस्त्र थे, जो साधारणतः दूसरों के पास नहीं थे। ये किले बनाकर रहते थे। वस्तुतः, स्वयं सामन्तवाद की तरह, सामन्ती किलों की भी स्थापना, सुरक्षा की आवश्यकता के चलते ही हुई थी । ऊँची पहाड़ी अथवा मानव-निर्मित टीलों पर बने ये सामन्ती दुर्ग, छोटी नदी या गढ़-खाई से घिरे रहते थे। ग्राम्य-क्षेत्र में बिखरे हुए ये सामन्ती-दुर्ग, अपने मालिकों की स्वतंत्रता एवं युद्ध-तत्परता का उद्घोष करते जान पड़ते थे । नवीं शताब्दी तक ये दुर्ग साधारणतः लकड़ी के बने होते थे। कलान्तर में पत्थर का उपयोग कर गगनचुम्बी किलों का निर्माण होने लगा। इनमें से कुछ ऐतिहासिक किले बीसवीं शताब्दी तक बने रहे, जैसे, फ्रांस में गेलार्ड एवं कांसी के किले और जर्मनी में वार्टबर्ग का किला। किलों के चारों कोनों पर बुर्ज रहते थे जहाँ से रक्षक आक्रमणकारियों पर तीरों, गर्म तेल और पत्थरों की वर्षा करते थे। किलों की दीवार आठ से पचीस फुट तक मोटी होती थी और स्वयं किले पन्द्रह-बीस एकड़ भूमि में फैले होते थे। किलों का उपयोग केवल युद्धकालीन न था। वस्तुतः किला ही जागीर का मुख्यालय था जहाँ सामन्ती कचहरी लगती थी, जागीर की आमदनी का हिसाब-किताब होता था, आवश्यक कागजात रखे जाते थे और

महत्त्वपूर्ण आगंतुकों को ठहराया जाता था। किले में सामन्त के रहने की भी व्यवस्था रहती थी, परन्तु साधारणतः वह अपने मेनर स्थित भवनों में ही रहता था। इन किलों तथा मेनरभवनों में दैनिक आवश्यकता की प्रायः प्रत्येक वस्तु तैयार की जाती थी। इस उत्पादन-प्रक्रिया में सामन्त की पत्नी का बड़ा योग रहता था। वस्तुतः, पति की अनुपस्थिति में जागीर की पूरी देख-भाल उसी को करनी पड़ती थी। आवश्यकता पड़ने पर उसे योद्धा से लेकर चिकित्सक तक का कर्त्तव्य निभाना पड़ता था।

मध्ययुगीन मापदंड से उत्तम होते भी सामन्ती किले का जीवन कठिन और सादा था। भोजन प्रचुर, किंतु मिर्च-मसालों के अभाव में फीका बनता था। कॉफी और चाय का अभाव था। अंगूर और जौ की शराब का मुख्यतः सेवन होता था। चीनी का काम फलों के रस और शहद से लिया जाता था। कुर्सी और मेजों आदि की संख्या नगण्य होती थी। किलों के भीतर इतनी नमी और सर्दी रहती थी कि सालों भर ऊनी वस्त्र पहनना पड़ता था। रेशमी और सूती वस्त्रों का उपयोग तो बारहवीं शताब्दी के बाद ही शुरू हुआ। प्रत्येक किला में एक कुआँ होता था। कुछ किलों में नल के पानी, नहाने के टब और शौचालयों की भी व्यवस्था थी। आमोद-प्रमोद विशेषतः स्त्रियों के लिए सीमित थे। पुरुष जुआ-पांसा और आखेट आदि से अपना मनोरंजन करते थे।

मध्यकालीन सामन्त स्वभावतः युद्धप्रिय थे। उनके लड़कों को बचपन से ही युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। सामरिक तैयारियों में सामन्तों की आमदनी का बहुत बड़ा भाग खर्च होता था। प्रत्येक नाइट को अपने लिए दो-तीन तथा अपने सरदारों एवं सराय के साईसों के लिए तीन से दस तक घोड़े रखने पड़ते थे। सामान ढोनेवाले घोड़ों की आवश्यकता अलग से पड़ती थी। अतः सामन्त प्रायः विदेशों से घोड़े खरीदते रहते थे। युद्ध-क्षेत्र में सामन्त जिरह-बख्तर से लैस रहते थे। जैसे-जैसे घातक अस्त्रों में वृद्धि हुई, रक्षात्मक वर्म में भी सुधार एवं परिवर्तन होता गया। बारहवीं शताब्दी में जब कलदार धनुप का प्रयोग शुरू हुआ, तो तीरों से अपनी रक्षा के लिए नाइट सीने पर लोहे का पत्तर धारण करने लगे। तेरहवीं शताब्दी में, कलात्मक ढंग से परस्पर जुड़े लौह-पत्तरों के वर्म बनने लगे। इनसे, घुड़सवार के अतिरिक्त, घोड़ों की भी काफी हद तक रक्षा होने लगी। कवच से लैस नाइट अपनी रक्षा के लिए एक ढाल भी रखता था। आरम्भ में ये ढाल बड़े और बेढंगे होते थे। बाद में इनका आकार छोटा और रूप कलात्मक होता गया।

युद्ध-क्षेत्र में नाइट मुख्यतः तलवार, बर्छी और कटार का आयुध के रूप में उपयोग करते थे। तीर-धनुष का उपयोग मुख्यतः पदाति सेना के लिए था जिसमें ज्यादातर भाड़े के सैनिक शामिल किए जाते थे। अश्वारोही और पदाति सेना के बढ़ते हुए संयुक्त प्रयोग के कारण वर्मयुक्त नाइट का महत्त्व धीरे-धीरे घटता गया। सोलहवीं शताब्दी तक जिरह-बख्तर का उपयोग केवल सैनिक प्रदर्शनों तक ही सीमित रह गया।

बड़े होने पर सामन्तों के लड़कों को 'नाइट' की उपाधि दी जाती थी, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। 'नाइट' को "ईश्वर और नारियों का मित्र" कहा जाता था। ये नाइट विशेष धार्मिक युद्धों में भाग लेने के अलावा 'नारी' के सम्मान के निमित्त प्रायः युद्ध किया करते थे। नाइटों को शूरधर्म का आदर्श पालन करना पड़ता था। शूरधर्म का ग्यारहवीं शताब्दी में प्रसार हुआ। इसके सिद्धान्तों के अनुसार, नाइटों को ईमानदारी और सचाई बरतने तथा सामन्तों के प्रति उदारता और नम्रता की भावना प्रदर्शित करने की शिक्षा दी जाती थी। युद्ध में सतत भाग लेना तथा वीरता से लड़ना भी उन्हें सिखाया जाता था। शूर धर्म के इस सामाजिक अर्थ के अतिरिक्त, पादरियों ने इसका धार्मिक अर्थ भी निकाला था। उनके अनुसार शूरधर्म 'न्याय और औचित्य' का पाठ पढ़ाता था। पादरियों के अनुसार, नाइटों के लिए विधर्मियों से लड़ना और न्यायपूर्ण युद्ध में भाग लेना आवश्यक था।

युद्धप्रियता के अतिरिक्त सामन्तों के जीवन का एक अन्य प्रमुख लक्षण था, उनका विलासमय जीवन। इसके पास अपार धन-राशि थी। उनका शीघ्र नैतिक पतन हो रहा था; क्योंकि वे अन्य वर्गों की नारियों से प्रेम करते थे, परन्तु शादी अपने वर्गों में करते थे। समाज में महत्त्व के अतिरिक्त, शासन पर इन्हीं का अधिकार था। सामन्त अधिपतियों की देखा-देखी, अधीनस्थ सामन्त भी अपनी जागीर में दरबार करते थे। इनके अधीनस्थ सामन्त दरबार में इन्हें घेरकर इनकी चापलूसी करते रहते थे। सामन्त ठाट-बाट की जिंदगी बिताते थे और विलासिता में रहते थे। अच्छा भोजन करना और सुन्दर वस्त्र इकट्ठा करना इनका परम आदर्श था। जहाँ तक पादरी सामन्तों की जीवन-चर्या या नैतिक स्तर का प्रश्न है, ये भी गृहस्थ सामन्तों की तरह ही विलासमय जीवन बिताते थे। धर्म-कर्म की ओर इनका ध्यान बहुत कम था। सम्पत्ति बटोरना और जीवन में अधिकाधिक सुख लूटना ही इनका उद्देश्य रह गया था। स्वभावतः सामन्य जनता इनसे घृणा करती थी।

धार्मिक कृत्य और धार्मिकता केवल छोटे पादरियों तक सीमित रह गई थी। अतः इन्हें ही जनता का विश्वास प्राप्त था।

निम्न वर्ग :

सामन्तवादी यूरोपीय समाज में सामन्तों के नीचे निम्नवर्ग के लोग थे जिनमें स्वतन्त्र किसान, विलेन, अर्द्धदास तथा दास शामिल थे। किसानों में भी दो वर्ग थे—स्वतन्त्र किसान और अर्द्ध-स्वतन्त्र किसान। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसानों का ऊपरी सभी वर्गों द्वारा शोषण होता था। ये कठिन परिश्रम करते थे, परन्तु इनकी मिहनत का अधिकांश फल ऊपरी वर्गवाले ही भोगते थे। फिर भी, किसानों की स्थिति विलेनों से कुछ अच्छी थी; क्योंकि इनके पास अपनी जमीन थी, अपना घर होता था। साथ ही, सामन्त से मिली हुई जमीन की भी मालगुजारी निश्चित कर दी गई थी। फिर, किसान स्वेच्छा से उस जमीन को छोड़कर कहीं अन्यत्र भी जा सकते थे। दूसरी ओर, अर्द्धदास किसानों की संख्या अधिक थी। समाज में एक-तिहाई यही थे। अर्द्धदास की श्रेणी में ही किसानों (सर्फ) और गँवार (विलेन) आते थे। गँवार और कम्मियों में केवल इतना ही अन्तर था कि गँवारों के पास कुछ अधिक भूमि होती थी। कम्मियों के पास केवल नाममात्र की जमीन होती थी। गँवार को भूमि पर वंशानुगत अधिकार होता था, यद्यपि नये उत्तराधिकारी को रस्म के तौर पर कर देना पड़ता था। गँवार गाँवों में रहते थे। इनकी अवस्था सामाजिक दृष्टि से हेय थी; क्योंकि उच्च वर्गों के लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे।

जिन गँवारों के पास एकदम कम भूमि होती थी, वे कम्मी या बँधुआ मजदूर कहे जाते थे। इनकी अवस्था दासों से अच्छी, परन्तु गँवारों से खराब थी। प्रारंभ में ये भी दास थे, परन्तु आगे चलकर इन्हें कुछ भूमि और रहने को मकान दे दिया गया। ये 'मेनॉर' में रहते थे। वहीं इनका जन्म, वहीं इनकी मृत्यु होती थी। जमीन की बिक्री के साथ-साथ इनका भी हस्तान्तरण हो जाता था। ऐसी स्थिति में ये दास बन जाते थे। स्वामी उनपर तरह-तरह के अत्याचार करता था, परन्तु ये कहीं भाग नहीं सकते थे। अपनी इच्छा से ये सन्तान की शादी भी नहीं कर सकते थे। यहाँ तक कि सामन्त की जागीर से बाहर ये वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं कर सकते थे। इन्हें आजीवन बेगारी करनी पड़ती थी और इनके प्रति समाज में किसी को सहानुभूति भी नहीं थी।

समाज में कम्मियों के वाद दास थे जिनकी संख्या बहुत कम थी। इनके पास न कोई भूमि थी और न इनका कोई अधिकार था। इनका जीवन दासता, दरिद्रता और शोषण का था। समाज में इनका स्थान निम्नतम था। ये मूक पशुओं की तरह जीवन यापन करते थे और उच्च वर्ग के लोग इन्हें घृणा, क्रोध एवं स्वार्थ की दृष्टि से देखते थे। इनकी रक्षा के लिए कोई कानून नहीं था। स्वामी इनके बौद्धिक एवं आत्मिक विकास के विरुद्ध थे। शिक्षा, कला एवं भ्रमण से इन्हें वंचित रखा जाता था। यदि इनका कोई बालक विद्यालय चला जाता था तो इन्हें दण्ड दिया जाता था। बाढ़, महामारी आदि प्राकृतिक प्रकोपों से इनकी रक्षा करने की जिम्मेदारी किसी की नहीं थीं। अस्वस्थ होने पर इन्हें भगवान की इच्छा पर छोड़ दिया जाता था। वस्तुतः, ऊपरी वर्गों द्वारा निम्न वर्गों के शोषण की इस नीति के कारण भी, आगे चलकर सामन्तवाद का विनाश हुआ।

आर्थिक व्यवस्था :

सामन्तवादी यूरोप की आर्थिक व्यवस्था भूमि पर आधारित थी। लोगों की आय का प्रमुख साधन कृषि थी और सामन्ती सामज में भूमि की मात्रा भी मर्यादा का मापदण्ड थी। उस युग में भूमि और जागीर ही आर्थिक उन्नति के मुख्य स्रोत थे और सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था कृषकों पर निर्भर करती थी। इस तरह के आर्थिक संगठन का प्रमुख केन्द्र 'मेनॉर' था। मेनॉर रूपी या छोटी जमींदारी को आबाद रखने का उत्तरदायित्व किसानों एवं कम्मियों पर था। पैदावार का अधिकांश भाग सामन्त ले लेते थे। किसानों एवं कम्मियों के पास केवल निर्वाह करने भर अन्न छोड़ा जाता था। सामन्तों के पास धन एवं पूँजी की कोई कमी नहीं थी; परन्तु, इसे वे किसी तरह के रोजगार में नहीं लगाते थे। सोना-चाँदी का अधिकांश भाग पादरी-सामन्तों के पास एकत्रित था; परन्तु इसका खर्च किसी काम-धन्धे यहाँ तक कि कृषि की उन्नति के लिए भी नहीं किया जाता था।

सामन्ती आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत, उद्योग-धन्धों के विकास की ओर किसी का ध्यान नहीं था; क्योंकि सामन्तों के काम की सभी चीजें 'मेनॉर' में ही तैयार कर ली जाती थीं। जुलाहे, शिल्पी आदि पेशेवर लोग सामन्तों द्वारा मेनॉर में बसा लिये जाते थे। इनकी गणना कम्मियों में होती थी। अतः लोहा और नमक आदि को छोड़कर शेष सभी आवश्यक चीजें मेनॉर में ही उपलब्ध हो जाती थीं।

व्यापार की अवस्था एकदम अवनत थी। 'मेनॉर' की स्वावलम्बिता के

अतिरिक्त, इसका एक अन्य कारण था—आवागमन के साधनों का अभाव। सड़कें अल्प, खराब और असुरक्षित थीं। दस्यु-दलों से व्यापारियों को जान-माल का खतरा हमेशा बना रहता था। व्यापार के लिए परमावश्यक मुद्रा-प्रणाली का प्रायः अभाव था। मुद्रा के स्थान पर वस्तु-विनिमय द्वारा काम चलाया जाता था, जैसे, नमक के बदले शराब या अन्न आदि। व्यापार की उन्नति के प्रमुख स्रोत नगर होते हैं। परन्तु, पूर्व मध्यकालीन यूरोप में, सामन्तवाद के फलस्वरूप, नगरों का ह्रास हो रहा था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद उस युग के प्रायः सभी बड़े नगर पतनोन्मुख हो गए थे। उनका महत्त्व प्रायः समाप्त हो गया था। उनकी आबादी घट गई थी। सामन्तवादी व्यवस्था के कृषि-प्रधान, होने के कारण भी शहरी सभ्यता का ह्रास होना स्वाभाविक था। नगरों के पराभव के बाद वहाँ के शिल्पी, कारीगर और व्यापारी अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर सामन्ती मेनरों में आश्रय लेने के लिए बाध्य हो गए। ऐसे लोगों को प्रायः अर्द्धदासों का जीवन स्वीकार करना पड़ता।

उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की अवनति का प्रमुख कारण था सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का अत्यधिक महत्त्व। वस्तुतः, व्यापार को सामन्त प्रोत्साहित करते ही नहीं थे। उनका ध्यान इस ओर था ही नहीं। मेनरों के आस-पास अथवा शहरों में किसी निश्चित स्थान पर; सप्ताह में एक बार हाट लगती थी। परन्तु यहाँ खरीद-बिक्री नाममात्र की ही होती थी। अब न बिक्री करनेवाले व्यापारी ही थे और न खरीदनेवाले नगर-निवासी। अत्र, जबकि सभी लोग अपने ही खेतों की उपज पर निर्भर करते थे और कोई भी दूसरों से अन्न नहीं खरीदता था, कृषक अपनी उपज स्वयं ही खा-पीकर समाप्त कर देते थे। संक्षेप में, सामन्ती अर्थ-व्यवस्था बाजारहीन व्यवस्था थी। खरीद-बिक्री का पेशेवर रूप समाप्त हो गया था और अत्यन्त आवश्यकता, अकाल, अनावृष्टि एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के समय ही लोग कुछ खरीदते अथवा बेचते थे। जो भी थोड़ा-बहुत नियमित व्यापार था, यहूदियों के हाथ में था। यहाँ तक कि यहूदी और व्यापारी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची बन गए थे। ये लोग हमेशा घूम-घूमकर अपना सामान बेचते थे। सीरिया, मिस्र और बैजन्तियम से कालीमिर्च और हाथीदाँत आदि बहुमूल्य सामान लाकर ये यूरोपीय धनाढ्य वर्ग को देते थे।

व्यापार की अवनति का एक कारण यह भी था कि व्यापारी-वर्ग पादरी-सामन्तों की आलोचना का शिकार बन गया था। चर्च की दृष्टि में धन की कामना

पापपूर्ण और निर्धनता ईश्वरीय गुण थी। अतः, सूदखोरी एवं जमाखोरी के धार्मिक विरोध के कारण, पूँजी एकत्रित नहीं हो पाती थी। इसके अतिरिक्त, चुंगी इतनी अधिक मात्रा में देनी पड़ती थी कि व्यापार करना बहुत कठिन हो गया था। सभी सामन्त अपनी जागीर में किला बनाकर रहते थे। वे अपने-अपने क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की चुंगियाँ लगाते थे। अतः एक ही व्यापारी को, अनेक स्थानों पर; अनेक प्रकार की चुंगियाँ देनी पड़ती थीं; जैसे, सड़क पर चलने, नदी या पुल पार करने, माल खरीदने या जमा करने के समय, फाटक के रास्ते से जाने या मालिक की जागीर में प्रवेश करने के समय। यदि वह नहीं देता था तो उसका सामान लूट लिया जाता था। ऐसी अवस्था में उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की उन्नति सम्भव थी ही नहीं।

राजनीतिक अवस्था :

सामन्तवाद के अन्तर्गत, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की तरह ही, राजनीतिक व्यवस्था भी सामन्ती ढाँचे पर आधारित थी। इस युग में केन्द्रीय शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। राजा का राजनीतिक महत्त्व एकदम नहीं रह गया था। वह सामन्ती राजनीतिक संगठन का केवल नाममात्र का अध्यक्ष था; वास्तविक शक्ति सामन्तों के हाथ में थी। एक उच्च सामन्त के रूप में ही राजा का आदर होता था, अर्थात्, उसकी राजकीय भूमि ही उसकी सम्पन्नता का मापदंड थी। न तो उसके अधीन कोई राष्ट्रीय सेना थी और न राष्ट्रीय कोष। भूमिपति होने के नाते ही वह सामन्तों का प्रधान था। सामन्तों को भूमि देकर बदले में वह उनसे सैनिक तथा प्रशासकीय सहायता लेता था। राजकाज में सामन्तों की ही प्रधानता थी। शासन-व्यवस्था में किसानों का कोई हाथ नहीं था। वस्तुतः, सामन्तों को छोड़कर सभी अन्य वर्ग राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे। सामन्त, अपने मनोनुकुल, देश की व्यवस्था को अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास करते थे जिससे कि राष्ट्रीय भावना का विकास न हो। प्रत्येक सामन्त अपने इलाके में सर्व-शक्तिमान था, क्योंकि केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो चुका था। कोई भी ऐसा शक्ति-शाली राजा न था जो उन सामन्तों को अपने अधीन करके एक राष्ट्र की स्थापना करता। कुछ समय तक कैरोलिंगियन राजाओं, विशेषतः शार्लमन, ने केन्द्रीय शक्ति को बनाए रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु, कैरोलिंगियन वंश का अंत होने पर समस्त यूरोप में विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ बलवती हो गईं। समस्त यूरोप

अनेक छोटी-छोटी जागीरों में बँट गया और इन जागीरों के मालिक अपनी जागीर में स्वतन्त्र रूप से रहने लगे। इन्हें नियंत्रण में रखना बहुत कठिन हो गया। सामन्त-प्रथा के कारण, भूमि के आधिक्य अथवा न्यूनता के आधार पर ही अधिकार निर्धारित होने लगे। फलस्वरूप, राजनीतिक एवं प्रशासन में भी सामन्तों की ही प्रधानता हो गई।

सामन्तवादी विघटनकारी प्रक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना का लोप हो गया था। 'एक राष्ट्र और एक सरकार' की भावना केवल कल्पना की वस्तु रह गई थी। राष्ट्रीयता का अभाव था; क्योंकि सामंती राजनीतिक व्यवस्था में राजा एवं प्रजा के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। नागरिकता की भावना तथा कर्त्तव्य और आदर्श का नाम मिट चुका था। देशभक्ति अथवा राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित न होकर लोग जागीर पाने की लालच में राज-काज चलाते या देश की रक्षा करते थे। प्राचीन रोम और यूनान के नागरिक देश की रक्षा के लिए सेना में भरती होना अपना महान एवं पवित्र कर्त्तव्य समझते थे; परन्तु सामन्तवादी यूरोप में इन भावनाओं का सर्वथा अभाव था। सामन्त अपनी जागीर के सर्वेसर्वा होते थे। वे अपनी जागीर में निरंकुश शासकों की तरह रहते थे। वस्तुतः जागीर एक छोटे राज्य के समान थी। जागीरदारों की अपनी कचहरियाँ तथा अपने दरबार होते थे। अपनी कचहरियों में वे अपनी प्रजा के मुकद्दमों की सुनवाई करते थे तथा सजा देते थे। उनके पास संगठित सेना होती थी और आवश्यकता पड़ने पर वे सेना तथा धन से भी राजा की मदद करते थे। अतः उनके कार्यों में, साधारणतः राजा हस्तक्षेप नहीं करता था। इस तरह की शासन-व्यवस्था में, स्वभावतः; संगठित कानून का अभाव था। विभिन्न जागीरों में सामन्त अपनी इच्छा के कानून बनाते और लागू करते थे। फिर भी, कानून के विकास की दृष्टि से सामन्त-काल की शासन-व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी। इस समय दो प्रकार की कचहरियाँ थीं। पहली श्रेणी की कचहरी राजा की होती थी जिसमें उसके अधीनस्थ सामन्तों के पारस्परिक झगड़ों पर विचार किया जाता था। इस कचहरी में सभी सामन्तों को उपस्थित होना पड़ता था और जागीर लेते समय न्याय-कार्य में राजा की सहायता करने की शपथ लेनी पड़ती थी। दूसरी श्रेणी की कचहरी सामन्तों एवं उप-सामन्तों की होती थी। सामन्त अपनी जागीर में कचहरी करते थे और उनमें अपनी प्रजा के झगड़ों तथा अपराधों की सुनवाई करते थे। इसके अतिरिक्त सामन्ती-कर, हरजाना तथा अर्थ-दण्ड सम्बन्धी मामलों का भी यही फैसला होता था। इन कचहरियों के माध्यम से सामन्तों को, अर्थ-दण्ड एवं हरजाना के रूप में,

अच्छी खासी आमदनी हो जाती थी। न्याय के अतिरिक्त कानून के क्षेत्र में भी इस युग में विशेष प्रगति हुई। मुकद्दमों में जूरी-प्रथा का प्रचलन हुआ। साथ ही, 'कॉमन लॉ' का भी प्रसार हुआ।

सामन्तवादी युग वैधानिक प्रगति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस युग की राजनीतिक व्यवस्था के कारण जनतान्त्रिक शासन-पद्धति के विकास में सहायता मिली। कभी-कभी सामन्त अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए आंदोलन करते थे। वे राजा पर प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा करते थे जिससे उनके स्वार्थों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा हो सके। परिणामस्वरूप, राजा का निरंकुश अधिकार प्रायः होता गया। सामन्त-प्रथा ने राजतन्त्र की शक्ति कम कर दी, यद्यपि सिद्धांत में राजा के अधिकार को बचाकर रखा गया। कानून एवं न्याय के क्षेत्र में राजा को ही सर्वोच्च माना गया। फलस्वरूप, नियमानुमोदित शासन तथा अन्ततः आधुनिक जनतांत्रिक शासन-पद्धति का उदय और विकास हुआ। इसी युग में इंग्लैंड में संसदीय शासन-प्रणाली की नींव पड़ी। सामन्तों ने सामूहिक रूप से राजा जॉन की निरंकुशता का विरोध किया और अपनी रक्षा के लिए जबरदस्ती उससे १२१५ ई० में मैगनाकार्टा पर हस्ताक्षर करवा लिया। मैगनाकार्टा का इंग्लैंड के वैधानिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इससे जनतांत्रिक भावना सुदृढ़ हुई। आगे चलकर इसी के आधार पर 'बिल ऑफ राइट्स और 'ऐक्ट ऑफ सेटलमेंट' का निर्माण हुआ जिन्हें स्वतन्त्रता के आधुनिक सिद्धांतों तथा जनतांत्रिक संस्थाओं का जन्मदाता माना जाता है।

धार्मिक व्यवस्था :

आरम्भ से ही मानव-जीवन पर धर्म का व्यापक प्रभाव रहा है। सामन्त-युग भी इसका अपवाद नहीं था। चर्च का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था। गिरजाघर केवल प्रार्थना-स्थल नहीं था, बल्कि शहर अथवा गाँव के मुख्य चौराहे अथवा बाजार की शोभा भी था। युद्धकाल में कभी-कभी इसका उपयोग शरण-स्थली के रूप में भी किया जाता था। यदि बाजार गाँव अथवा शहर का हृदय था, तो गिरजाघर उसकी आत्मा था। गिरजाघरों की बरसाती में प्रायः दुकानें सजी रहती थीं जहाँ विक्रेता और खरीदार मोल-भाव करते रहते थे। गिरजाघर की घंटी प्रार्थना के निमित्त आह्वान तो करती ही थी, वह आवश्यकता पड़ने पर संकट की सूचना देती थी, महत्त्वपूर्ण अवसरों पर आनन्दोदल्लास प्रकट करती थी तथा अपनी ध्वन्यात्मक जादुई शक्ति से तूफानों एवं दानवों को भी भगा सकने में सक्षम समझी जाती थी।

चर्च का प्रभाव केवल धार्मिक न होकर राजनीतिक भी था क्योंकि इस युग में चर्च भी सामन्तवादी वन गया था और चर्च के पास गृहस्थ-सामन्तों से भी अधिक भूमि और धन था। गृहस्थ-सामन्तों की जमीन उनके बेटों तथा उप-सामन्तों में बँट जाती थी, परन्तु पादरी-सामन्तों को अपनी जागीर बाँटने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। सैनिक-सेवा के स्थान पर अपने स्वामी की 'मुक्ति' के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। ये पूजा-पाठ तथा शिक्षण कार्य करते थे; अतः इनकी सम्पत्ति घटती नहीं थी। इन्हें दान के रूप में भी पर्याप्त भूमि मिल जाती थी। ये कर के रूप में वार्षिक 'दशांश' भी पाते थे। संक्षेप में, तत्कालीन चर्च सबसे बड़ा जागीरदार बन गया था। धर्म एवं समाज, दोनों पर पादरियों का व्यापक अधिकार था। वस्तुतः धर्म चर्च की तिजोरियों में बन्द हो गया था।

चर्च के पास बेशुमार सम्पत्ति थी। अतः पादरियों का नैतिक पतन हो रहा था। ये अपना अधिकांश समय भोग-विलास में व्यतीत करते थे। धार्मिक कृत्य छोटे पादरी ही किया करते थे। आर्कबिशप, बिशप और बड़े मठाधीश चर्च के प्रमुख अधिकारी होने के अलावा राजा के सलाहकार भी थे। सांसारिकता से दूर रहने की बजाय वे अतुल सम्पत्ति के स्वामी थे। १३वीं शताब्दी में चार्ट्स के बिशप की सालाना आमदनी पाँच लाख फ्रैंक थी। बड़े पादरियों के बहुमूल्य वस्त्रों, सुन्दर प्रसादों, घोड़ों और हीरे-जवाहरातों को देखकर धर्म-सुधारकों को वितृष्णा होती थी। "ईसा ने कष्ट झेले, पादरी आरामतलब हो गए; ईसा का तन मोटा ऊनी वस्त्र से ढकता था, ये रेशमी परिधान धारण करने लगे। आत्मा की जगह अपने बाज की तथा गरीबों की जगह अपने शिकारी कुत्तों की उन्हें अधिक चिंता रहती थी।" ग्रामवासी पादरी अवश्य धार्मिक प्रवृत्ति के थे; परन्तु उनकी गरीबी और अज्ञानता, कृषक पृष्ठभूमि और उनपर गृहस्थ एवं पादरी दोनों प्रकार के सामंतों के नियन्त्रण के कारण उनकी स्थिति दयनीय थी। सामन्त उनसे घृणा करते थे। किसान उन्हें अश्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। प्रायः ये ग्रामीण पादरी किसानों अथवा श्रमिकों की ही तरह धर्मोल्लंघक जीवन व्यतीत करते थे।

उच्च पादरी-वर्ग सामंती प्रथा का कट्टर अनुयायी था। इस वर्ग ने धर्म को भी सामंती ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। प्रतिक्रियावादी पादरी लोगों को यह शिक्षा देते थे कि भूमि पर सामंतों का अधिकार दैवी कृपा के कारण है। अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए चर्च की ओर से 'ट्रिनिटी' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धांत के अनुसार प्रचार किया गया कि स्वर्ग में भी सामंती

प्रथा के अनुसार सामाजिक व्यवस्था है। चर्च के इस कथन के पीछे सामंतों का जोरदार समर्थन था ताकि पृथ्वी पर के लोग इस व्यवस्था को न तोड़ सकें। इन्हीं सिद्धांतों के अन्तर्गत 'नाइट'-प्रथा का जन्म हुआ था।

चर्च शोषण का केन्द्र बन गया था। पादरियों का कहना था कि कम्मियों को ईश्वर ने दास बनाया है। अतः उन्हें शोषित होना ही पड़ेगा। पादरी-सामंतों के अधीन दास भी थे जिनकी अवस्था गृहस्थ-सामंतों के दासों से भी अधिक खराब थी। निजी स्वार्थ के वशीभूत होकर पादरी-सामंतों ने धर्म-युद्धों को भी बढ़ावा दिया। उस युग में धर्म-युद्ध (क्रुसेड) चल रहे थे। धर्म-युद्ध द्वारा विधर्मियों को हराना वे पवित्र कार्य बताते थे। धीरे-धीरे चर्च सैनिक संगठन का भी केन्द्र बन गया और मठ सैनिक-किलों का काम करने लगे। राजागण के अतिरिक्त जनता भी काल्पनिक आध्यात्मिक सुविधाओं की प्राप्ति की लालच में अपार धन पोप को देती थी। इस तरह, मठ विलासिता एवं अनैतिकता के केन्द्र बन गए। इस विलासिता और अनैतिकता की प्रतिक्रिया के रूप में कई सम्प्रदायों का जन्म हुआ। परन्तु, पादरियों ने इनका कठोरता से दमन किया। अपने विरोधियों के विरुद्ध ये धर्मयुद्ध की घोषणा कर अपनी ओर से नाइटों को युद्ध-कार्य में लगा देते थे। संक्षेप में, चर्च सामंती व्यवस्था का जबर्दस्त समर्थक था और निरीह जनता का शोषण करता था।

साहित्य संस्कृति एवं कला :

साहित्य समाज का दर्पण है, इस उक्ति का अपवाद मध्यकालीन यूरोप का साहित्य भी नहीं था। उस युग की साहित्यिक कृतियाँ सामंत-प्रथा की विशेषताओं से ओत-प्रोत है। मध्यकालीन भारत की तरह सामंतवादी यूरोप की साहित्यिक रचनाओं का प्रमुख आधार प्रेम, माधुर्य और विलासिता थी। रोमांस तथा वीरता पर कविताएँ लिखी जाती थीं। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी का साहित्य सामन्ती व्यवस्था द्वारा अत्यधिक प्रभावित हुआ। कविताओं का कथानक साधारणतः योद्धाओं के जीवन-वृत्त और युद्ध की घटनाओं पर आधारित होता था। पूर्व-मध्य-कालीन भारत की तरह वीर-गाथा-काव्य का बाहुल्य था। 'शासा जिरोलां' शीर्षक वीर-गाथा-काव्य का नायक शार्लमन का सेनापति रोलां था। इससे प्रेरणा ग्रहण कर और भी कई कविताएँ रची गईं जो रोलां से संबद्ध थीं। प्रारंभ में ऐसी रचनाएँ प्रायः मौखिक ही होती थीं, परन्तु बाद में लेखबद्ध होने लगीं। दूसरी कोटि की कविताओं का कथानक प्रेम और रोमांस होता था। कथानकों के पात्र प्रायः रईस सामन्त ही होते थे, जिनका जीवन भोग-विलास और प्रेम में व्यतीत होता था

इस तरह की रचनाओं में कल्पित तथा रोमांटिक घटनाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता था। ऐसी रचनाओं का उत्कृष्ट उदाहरण 'राजा आर्थर और उसके नाइटों की कहानियाँ' हैं। इंग्लैंड का राजा आर्थर सैक्सनों के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया था। उसके जीवन से संबद्ध अनेक रचनाएँ रची गईं, यद्यपि उनमें वर्णित घटनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। फिर भी, इस तरह की रचनाएँ उस युग में अत्यधिक लोकप्रिय थीं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में इस तरह की रचनाओं का बहुत प्रचार हुआ। सामंत-युग में गद्य रचनाएँ भी होती थीं। तेरहवीं शताब्दी में फ्रांस में जो कहानियाँ लिखी गईं उनमें 'आकासिन और निकोलेट' प्रसिद्ध हैं। उनमें प्रेम तथा रोमांस का चित्रण गद्य तथा पद्य दोनों में हुआ है। सामंती साहित्य की एक विशिष्ट धारा दरबार में रची गई सुखांत कविता भी थी। सामंती दरबारों के दरबारी साहित्यकार सामन्तों के मनोरंजनार्थ सुखांत कविताओं की रचना किया करते थे। उस युग में ट्रुबदूर और त्रुवेर की बहुत प्रसिद्धि थी। इन्हें आधुनिक यूरोपीय साहित्य की रोमांटिक एवं संवेदनशील रचनाओं का अग्रदूत कहा गया है।

सामन्तवादी युग के साहित्य के भोग-विलास, प्रेम, वीरता और साहसपूर्ण कार्यों से ही सम्बद्ध होने के कारण प्रगतिशील साहित्य बिल्कुल दब-सा गया। साथ ही, साहित्य केवल अभिजात-वर्ग और उसके जीवन तक ही सीमित रह गया। आगे चलकर, व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप, प्रगतिशील लेखकों का प्रादुर्भाव हुआ। इस तरह, सामन्ती साहित्य के प्रतिक्रियास्वरूप, लोक-साहित्य का जन्म हुआ जिसमें उस साहित्य को अनैतिक बताया गया। भोग-विलास और भ्रष्टाचार की आलोचना साहित्य की एक नई विधा के रूप में विकसित हुई।

साहित्य की ही तरह इस काल की ललित कलाओं पर भी सामन्तवाद का प्रभाव पड़ा। कला में कामुकता तथा कमनीयता की मात्रा विशेष रहने लगी। फलस्वरूप, गॉथिक शैली का प्रचार हुआ। यह शैली सौंदर्य, स्त्रीत्व तथा सुकुमार भावनाओं पर आधारित थी। कलाकार यथार्थ को छोड़कर काल्पनिकता का अवलंबन करने लगा। कलाओं का स्वरूप कल्पना-प्रधान हो गया। चित्रकला के क्षेत्र में सुन्दर स्त्रियों का चित्रण विशेषकर होने लगा। स्थापत्य तथा तक्षण-कला के क्षेत्र में गॉथिक शैली को ही आधार बनाया गया। नुकीली मेहराबों और बड़ी-बड़ी सुन्दर खिड़कियों को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। गॉथिक शैली में निर्मित उस युग के गिरजाघर दर्शनीय हैं। इन गिरजाघरों को सुन्दर मूर्तियों से सजाया

गया और इनकी खिड़कियों में रंग-बिरंगे शीशे बिठाए गए। संक्षेप में, ललित-कलाओं के क्षेत्र में जिन वस्तुओं का निर्माण हुआ, वे कामुकता, विलासिता तथा रँगीली जिंदगी की पृष्ठभूमि में ही निर्मित हुईं।

सामंती दर्शन प्रधानतः धर्म-संबंधित था। अधिकांश दार्शनिकों ने दर्शन को सामंतवाद एवं चर्च के पोषण का माध्यम बनाया। इस युग के दार्शनिकों में पीटर अबेलार्ड, अलबर्ट मेगन्यूल और रोजर बेकन प्रमुख थे। पीटर अबेलार्ड का चरित्र उत्तम नहीं था, परन्तु, उसकी बातों को सुनने के लिए श्रोताओं की भीड़ लग जाती थी। मैगन्यूल को अलबर्ट दी ग्रेट और द्वितीय अरस्तू के नाम से पुकारा जाता था। रोजर बेकन की अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्धि थी। टॉमस एक्विनास इस युग का एक अन्य महान दार्शनिक था। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक सुमाथेलोजिया में दर्शन के क्षेत्र में धर्म के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः उस युग में दर्शन का धर्मशास्त्र से गहरा सम्बन्ध था, ठीक उसी तरह जैसे राज्य का चर्च से था। सामंत-रंगशालाओं में यदि कविता और वनिता की पूछ थी तो मठीय निर्जनता के बीच साहित्य एवं दर्शन की अभिवृद्धि हो रही थी। परन्तु, उल्लेखनीय बात यह है कि इस युग के साहित्य, कला एवं दर्शन का स्वरूप प्रधानतः सामंतवादी था। उनमें सामान्य जनता के जीवन का विश्लेषण नहीं मिलता। यदि कोई कलाकार, कोई साहित्य-निर्माता, कोई दार्शनिक, सामंतवादी व्यवस्था के विपरीत गया तो वह अपवाद था। ऐसी कृतियाँ बहुत-कुछ लुप्त और विस्मृत कर दी गईं। सच तो यह है कि सामन्त-युग की कला एवं साहित्य का नायक सामंत और उसका वर्ग था और उसके पीछे सामंतशाही स्वार्थ की रक्षा का विचार ही प्रमुख था।

सामन्तवाद का नैतिक प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इसने मध्य युग में स्त्रियों का सामाजिक स्तर उन्नत किया। ईसाई धर्मप्रचारकों ने नारी का स्थान नीचा करने का प्रयत्न किया था, परन्तु सामन्तों ने उनके रूप एवं यौवन की आराधना कर उनका स्थान ऊँचा किया। सामन्तों की प्रणय-याचना तथा उनके शूर-धर्म ने स्त्रियों को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया। नारी को गृह-देवी का स्थान दिया गया। वह अपने पति की अनुचरीमात्र न रहकर अब जीवन-सहचरी बन सकी। पति की अनुपस्थिति में सामन्त-पत्नी जागीर की देख-रेख करती थी। उसे पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार तथा पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था। संक्षेप में यदि नारी आकर्षण का केन्द्र एवं काव्य-साहित्य का प्रेरणा-

स्रोत थी तो, साथ-ही-साथ समाज एवं गृह में उसे सम्मानपूर्ण स्थान भी प्राप्त था।

सामन्तवाद के गुण और दोष :

सामन्तवाद के स्वरूप, रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक दोनों ही थे। राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक दृष्टियों से सामन्तवाद बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। केन्द्रीय सरकार की दुर्बलता एवं अराजकता के युग में सामन्तवाद ने शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना की। भूमिपतियों को संगठित कर राजाओं की निरंकुशता पर अंकुश लगाया। सामन्तवाद की पृष्ठभूमि में सीमित राजतंत्र की स्थापना हुई और संसदीय शासन-प्रणाली का विकास हुआ। वस्तुतः सामन्तवाद सामाजिक विकास की एक प्रक्रिया था। सामन्तवादी व्यवस्था का यूरोप में उस समय विकास हुआ था जब कैरोलिंगियन साम्राज्य के पतन और बर्बर जातियों के आक्रमण से यूरोपीय देशों की केन्द्रीय सरकार शक्तिहीन हो गई थी। अशान्ति के उस युग में सामन्तवाद ने शान्ति स्थापित करने तथा न्याय करने में काफी सहायता की। यदि सामन्तवाद कैरोलिंगियन साम्राज्य के विघटन के लिए जिम्मेदार था, तो उस साम्राज्य के विघटन के बाद सुरक्षा प्रदान कर इसने यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति की महान सेवा भी की। सामन्त और उसके सैनिकों ने मग्यार, नॉर्समेन एवं मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। कहा गया है कि कवच-रक्षित सामन्ती घुड़सवारों और अभेद्य सामन्ती किलों की दीवारों ने ही मुसलमानों, डेनों एवं मग्यारों के हमलों को विफल कर दिया।

सामन्तवाद न्याय-व्यवस्था, पुलिस-प्रशासन एवं कर-व्यवस्था का भी नियमन करता था। इसके द्वारा उस नैतिक बल का उद्रेक हुआ जिसने विघटन-कारी युग की व्यवस्था से एक अधिक उन्नत एवं परिष्कृत संगठन को जन्म दिया। कैरोलिंगियन साम्राज्य के पतन के बाद जर्मनी पहला देश था जहाँ सुव्यवस्था की पुनर्स्थापना हुई। बाद में फ्रांस एवं इटली में भी ऐसा ही हुआ।

सामन्तवाद अधिकारों से अधिक कर्त्तव्यों पर जोर देता था। वह ऐसा युग था जब सामन्त अपने अधिकारों (अर्थात्, दूसरों के अधिकारों के हनन) पर जोर तो देते थे, परन्तु उन अधिकारों के साथ जुड़े कर्त्तव्यों के पालन के प्रति उदासीन थे। वे अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को सताते थे, जबरन करों की वसूली करते थे; परन्तु, सामन्ती अधिपति और अधीनस्थ सामन्तों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा सामन्त एवं कम्मियों के पारस्परिक दायित्वों के फलस्वरूप दोनों पक्षों के पारस्परिक

सम्बन्ध एवं दायित्व कमजोर होने की बजाय मजबूत ही हुए। अधिपति एवं अधीनस्थ, दोनों ही पक्षों को अपना-अपना दायित्व निभाना पड़ता था। इस प्रकार, अधिकार एवं कर्त्तव्य अब अन्योन्याश्रयी थे। यदि एक पक्ष सुरक्षा एवं दूसरा पक्ष सेवा प्रदान करने में असमर्थ होता था तो सामन्ती अनुबन्ध टूट जाता था। सामन्त एवं अधीनस्थ व्यक्ति के बीच अनुबन्ध की यह भावना सामन्तों को निरंकुश होने से रोकती थी। अधिकांश सामन्ती कानून लिखित न होकर पारस्परिक थे और परम्परा, प्रथा एवं पूर्वादर्श के आधार पर धीरे-धीरे एक राजनीतिक सिद्धान्त का विकास हुआ जिसके अनुसार यह माना गया कि राजशक्ति वस्तुतः सीमित होती है।

सामंतवादी व्यवस्था ने सामंतों में उस व्यक्तिवाद, स्वातन्त्र्यप्रियता और आजादी की भावना को विकसित किया जिसके फलस्वरूप राजा कानूनों का दुरुपयोग नहीं कर सकते थे। राजतंत्र को निरंकुश होने से रोका जा सका। इंग्लैंड में सामंती कानूनों का अंकुश जॉन सदृश आततायी राजाओं पर हमेशा बना रहा। दूसरी ओर, फ्रांस में सर्वसाधारण वर्ग के जागरूक होने से पूर्व ही सामंतों की शक्ति क्षीण पड़ गयी। परिणामस्वरूप, वहाँ १६वीं और १७वीं शताब्दियों में सामंतों की शक्ति दबाकर राजतंत्र की निरंकुशता स्थापित हो गयी। अतः ठीक ही कहा गया है कि सामंतवाद में स्वतन्त्रता के बीज निहित थे। समकक्ष व्यक्तियों द्वारा ही अभियोजित होने का सिद्धान्त तथा बिना अभियोग के जीवन और सम्पत्ति से वंचित न किये जाने का हक, कुछ ऐसी बातें थीं जिनके फलस्वरूप सीमित राजतन्त्र के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। पुनः यही बातें मूल सिद्धान्तों के रूप में मैग्नाकार्टा, फ्रांसीसी क्रांति और अमरीकी संविधान में भी निहित थीं। इसीलिए, कई लेखकों ने कहा है कि सामंतप्रथा से संवैधानिक शासन का सिद्धांत विकसित हुआ। जागीर के साथ स्वामी-भक्ति और सेवा की शर्तें जुड़ी हुई थीं। इस तरह, सामंतवाद अनुबन्ध पर आधारित था, यद्यपि सामंती अनुबन्ध और बाद के सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त में अनेक मौलिक अन्तर थे।

सामन्तवाद की एक अन्य देन थी—साहित्य, काव्य, रोमांस एवं गाथाकाव्य की उन्नति। इंग्लैंड, जर्मनी तथा फ्रांस के सर्वप्रथम साहित्यिक आंदोलनों का प्रारम्भ सामन्ती युग में ही हुआ, ठीक उसी तरह जैसे ज्ञान एवं दर्शन की सृजनधारा मठों से निःसृत हुई थी।

फिर, सामन्तवाद की श्रेष्ठतम अभिव्यक्तियों में शूरधर्म की गणना की गई है। शूरधर्म से नारी के प्रति सम्मान, असहाय के प्रति सुरक्षा और चर्च के आदर की भावना में वृद्धि हुई। वस्तुतः शूरधर्म ने सामन्तों को न्याय एवं औचित्य का पाठ सिखाया। बैरनों के गढ़ों में जिन विचारों एवं मनोभावों का विकास हुआ उनमें शूरधर्म सुन्दरतम था।

उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ सामन्तवाद में कतिपय दोष भी थे। सर्वप्रथम; इस व्यवस्था के अन्तर्गत शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना न हो सकी। प्रत्येक देश छोटे-छोटे अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था। कई बड़े सामन्त अपने अधिपति राजा से भी अधिक शक्तिशाली थे। फ्रांस जैसे राज्यों का विशिष्ट उदाहरण था जिनमें राजशक्ति की सामन्तों द्वारा उपेक्षा की जाती थी।

सामन्तवादी अलगपन अपने आप में एक दोष था। समाज कई वर्गों में विभक्त हो गया और उच्च एवं निम्न वर्गों के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण नहीं थे। उच्च वर्गों के विशेषाधिकारों को समाप्त करने में बहुत समय लगा, तब कहीं जाकर यूरोप में जनतांत्रिक समाज की स्थापना हो सकी और सभ्यता का, सही दिशा में, शीघ्रता-पूर्वक विकास हो सका।

सामन्तवादी व्यवस्था युद्ध प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती थी। सामन्तवाद अतिशय वैयक्तिकता, स्थानीय रूढ़ियों और स्थानीय स्वायत्तता से ग्रस्त था। अतः इससे युद्धों की सम्भावना बढ़ती थी। बराबर कोई न कोई लड़ाई चलती ही रहती थी। साधारणतः इन युद्धों का स्वरूप स्थानीय होता था और इनमें कुछ ही लोग भाग लेते थे। ये युद्ध स्थानीय होने और परिवारों तक ही सीमित रहने के कारण बहुत दिन चलते भी नहीं थे। परन्तु, इनसे धन-जन की क्षति तो होती ही थी। सर्वत्र अराजकता के व्याप्त रहने से कृषि एवं व्यापार को विशेष नुकसान पहुँचता था। युद्धों के कुप्रभावों के प्रतिकार रूप में पहला प्रयास चर्च द्वारा ११वीं शताब्दी में हुआ। ११वीं शताब्दी व्यापार एवं उद्योग की उन्नति का युग था। उस समय कृषकों की अवस्था उन्नत हो रही थी और बाह्य आक्रमणों की समाप्ति के बाद यूरोप की आबादी बढ़ रही थी। सामन्ती युद्धों को रोकने के प्रयास फ्रांस में हुए—इसलिए नहीं कि वहाँ का पादरीवर्ग अति प्रबुद्ध था, बल्कि इसलिए कि सामन्तवाद के दोष यूरोप में सर्वाधिक वहीं व्याप्त थे। सामन्ती युद्धों को रोकने के प्रयास दो तरह से हुए—प्रथम, ईश्वरीय युद्धनिवृत्ति (Place of God) और द्वितीय, धर्मविश्रांति (Truce of God)। ईश्वरीय युद्धनिवृत्ति के सिद्धान्त के अनुसार, जो लोग चर्च के पादरी-वर्ग अथवा कृषकों की जमीन लूटते

अथवा कृषि को नष्ट करते थे उन्हें ईश्वरीय अभिशाप से अभिशप्त होने का भय दिखाया गया। परन्तु, इसके पीछे कोई राजकीय शक्ति नहीं थी। धर्म-विश्रान्ति के अनुसार सप्ताह में तीन दिन—शुक्रवार, शनिवार और रविवार—युद्ध-विश्रान्ति के दिन घोषित किए गये और आगे चलकर मध्य अगस्त से मध्य नवम्बर तक युद्ध निषिद्ध कर दिया गया। वह समय खेत जोतने, अन्न बोने और फसल काटने का होता था। इसी समय व्यापारी दूर-दूर तक जाकर सामान खरीदते और बेचते थे। अतः अति शीतकाल और ग्रीष्म ऋतु ही युद्ध के लिए बच गये। धर्म-विश्रान्ति को भंग करनेवाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। परन्तु, अधिकांश सामंत उपर्युक्त दोनों प्रतिबन्धों की अवहेलना करते थे। जाति से निकाले जाने के भय से उनका दम्भ और लाभ कहीं अधिक प्रबल था। अत्यन्त झगड़ालू काउन्टेस ब्लांश को विशपों ने सात बार जाति से निष्कासित किया, परन्तु वह अपने पड़ोसी सामन्तों से लड़ती-भिड़ती ही रही।

सामन्त युग में राजा एवं प्रजा के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। अत: सर्वसाधारण जनता को शासन एवं राजनीति में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता था। उन्हें राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था।

सामन्तवाद के अन्तर्गत् यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था का समुचित विकास न हो सका। सर्वसाधारण के जीवन-स्तर में कोई उल्लेखनीय उन्नति नहीं हुई। जनता का जीवन कष्टमय था। सर्वत्र शोषण की ही प्रधानता थी। सामन्ती अधिपतियों में मानवोचित गुणों का अभाव था। किसानों, कम्मितों तथा तथा दासों का जीवन दुःख-दर्द से भर जाता था। कृषि की प्रधानता तथा उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य-व्यपार की अवहेलना के कारण लेन-देन की प्रथा तो संकुचित थी ही, शोषित वर्गों को बाध्य होकर जीवन-यापन के लिए सामन्तों पर ही निर्भर करना पड़ता था।

शूरधर्म :

सामन्तवाद की एक महत्त्वपूर्ण देन शूरधर्म को सामन्तवाद की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति कहा गया है। हैलम के अनुसार शूरधर्म, मध्य-युग में नैतिक अनुशासन का सर्वोत्तम माध्यम था। वस्तुतः शूरधर्म राजनीतिक, धार्मिक एवं कानूनी लक्षणों से युक्त एक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन सामाजिक संस्थान था। मध्यकालीन यूरोपीय सामन्त-वर्ग ने इसके उच्चतम आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास किया।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शिवलरी' और कैवलरी (जिसका अर्थ घुड़सवार सैनिक होता है) पर्यायवाची-शब्द थे। बाद में यह सामन्तों की सामाजिक मान्यताओं के

प्रतीक रूप में एक ऐतिहासिक संस्थान बन गया। यह तत्कालीन सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विचारों एवं रिवाजों का समिश्रण था। अतः यह एक संस्थान से भी अधिक विचारधारा का प्रतीक था। फिर भी, वाह्य रूप में यह एक सैनिक सम्प्रदाय था जिसके सदस्य नाइट कहे जाते थे। चर्च, नारी एवं दीन-दुखियों की रक्षा के लिए नाइट वचनवद्ध समझे जाते थे। इस तरह, यह नाइट-सामन्तों का व्यापक समाज था जिसकी अपनी आचार-संहिता और निश्चित आदर्श थे। मध्यकालीन योरोपीय समाज के इस विशिष्ट वर्ग के लिए सैनिक प्रशिक्षण प्रायः अनिवार्य-सा हो गया। सैनिक प्रशिक्षण एवं युद्ध-कार्य के लगभग वंशानुगत हो जाने के कारण यह वर्ग समाज का सर्वाधिक शक्तिशाली, कुशल और विशेष रीति-रिवाजों पर आधारित पृथक् वर्ग माना जाने लगा। युद्धप्रिय व्यक्तियों का यह समाजिक वर्ग किसी एक देश में सीमित न होकर समस्त यूरोप में फैला हुआ था। अतः शूरधर्म आदर्शों एवं रीति-रिवाजों पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रदाय था। सही माने में यह एक सम्प्रदाय तो नहीं था, परन्तु इसके भीतर अनेक सैनिक वर्ग अवश्य थे।

शूरधर्म की उत्पत्ति :

शूरधर्म का उद्भव चार्ल्स मार्टेल की उस अश्ववाहिनी से माना गया है जिसकी सृष्टि उसने मुसलमानों आक्रमणों को रोकने के लिए की थी। फ्रैंकों ने अरबों से घोड़े का सामरिक महत्व जाना और धीरे-धीरे अश्वारोही सेना के समक्ष यूरोप की पदाति सेना का महत्त्व घट गया। निस्संदेह कई दृष्टियों से शूरधर्म पर इस्लामी जगत का प्रभाव पड़ा था, परन्तु मूल रूप से यह यूरोपीय सामंती समाज की देन था।

शूरधर्म में कई तत्त्व निहित थे। उदाहरणार्थ, जर्मनी में प्रत्येक युवक को एक विशेष आयु में योद्धाओं की श्रेणी में शामिल किया जाता था। इस अवसर पर उसे आयुधों से अलंकृत किया जाता था। प्राचीन ग्रीस एवं रोम में 'शूरधर्म' का अभाव था, परन्तु जब जर्मनों ने ईसाई मत को अंगीकार किया तो चर्च ने शूरधर्म को जीवन की एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया। इससे बर्बर जातियों की युद्ध-प्रियता का चर्च की सेवा के लिए उपयोग किया जा सका। इसके बाद धर्मयुद्धों का युग आया जिससे सैनिक सेवा धार्मिक कर्त्तव्य मानी जाने लगी। धीरे-धीरे सामंती योद्धा-वर्ग सामंती व्यवस्था से स्वतन्त्र हो गया। सामंतवाद भूमि से सम्बद्ध था। परंतु, अब कोई भी व्यक्ति जन्म और सम्पत्ति के आधार पर शूरधर्म को अपना सकता था। इसके लिए उसके पास भूमि का होना आवश्यक नहीं था। इस तरह,

१३वीं शताब्दी तक सामंतों के अनेक सम्पत्तिहीन उत्तराधिकारी शूरधर्म में शामिल हो गए।

मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्ति का भी शूर-धर्म पर प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे इसका स्वरूप ईसाई भाईबन्दी का हो गया। धर्म और सामरिकता एक दूसरे से मिश्रित हो गए। धर्मयुद्धों के युग में वैरागियों के नाइट-टेम्पलर्स और नाइट-हॉस्पिटलर्स सदृश्य सैनिक-सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। इन सम्प्रदायों के सदस्य चार्ल्स मार्टेल की अश्वारोही सेना के परवर्ती रूप थे।

शूरधर्म का स्वरूप :

शूरधर्म का स्वरूप यूरोपव्यापी था। सामन्तवाद की तरह शूरधर्म भी फ्रांस में ही सर्वाधिक विकसित हुआ। परन्तु, इसका प्रभाव यूरोप में सर्वत्र परिलक्षित होता था। मध्यकाल की अनेक घटनाएँ इससे प्रभावित हुईं। तत्कालीन साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ा और धर्मयुद्ध तो प्रधानतः चर्च की देख-रेख में शूरधर्मी अभियान ही थे। जब १०९५ ई० में पोप ने प्रथम धर्मयुद्ध की घोषणा की तभी यह भी कहा गया कि सभी अभिजातकुल उत्पन्न व्यक्तियों को बारह वर्ष की आयु में किसी विशप के समक्ष अनाथों, पददलितों एवं उच्चकुल-उत्पन्न स्त्रियों की रक्षा करने की शपथ लेनी होगी। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक शूरधर्म की यूरोप में सर्वत्र स्थापना हो गई। सामन्तों के उन लड़कों को छोड़कर जो मठीय जीवन अपनाते थे, शेष सभी के लिए शूरधर्म को ग्रहण करना प्रायः अनिवार्य-सा हो गया।

अधीनस्थ सामन्त द्वारा अपने अधिपति की सामन्ती सेवाओं की तुलना में शूरधर्म की सेवाएँ कहीं अधिक सार्थक थीं। शूरधर्म सम्बन्धी सेवाओं का स्वरूप सामाजिक था जबकि सामन्ती सेवाओं का स्वरूप प्रधानतः आर्थिक और सैनिक था। शूरधर्मी सेवाओं की पूर्त्ति के लिए आचार-व्यवहार, शिष्टाचार, सम्भाषण एवं उठने-बैठने का ढंग सीखना पड़ता था। इस प्रकार का प्रशिक्षण पूर्ण हो जाने पर प्रशिक्षित व्यक्ति की गणना सम्भ्रांत व्यक्तियों में की जाने लगती थी। गरीबों के लड़के धनी सामन्तों के परिवारों में रहकर नाइटों के कर्त्तव्य सीखते थे। इस तरह, सामंती किला उनके लिए विद्यालय का काम करता था। नाइट-पद सम्बन्धी प्रशिक्षण का प्रारम्भ सात वर्ष की आयु में ही हो जाता था। उस आयु में प्रशिक्षण प्राप्त करने-वाले बालक को बालभृत्य कहते थे। चौदह वर्ष की आयु में यह बालभृत्य महाशय (Esquire) बन जाता था। सामन्त और नाइट उसे सैनिक प्रशिक्षण प्रदान करते थे और सामन्ती किले की स्त्रियाँ उसे धर्म और शिष्टाचार सिखलाती थीं। बालभृत्य

किले में ही काम करता था, परन्तु महाशय को युद्धक्षेत्र में अपने स्वामी का साथ देना पड़ता था। इक्कीस वर्ष की आयु में महाशय नाइट वन जाता था। उस अवसर पर नाइट-पद-प्राप्ति सम्वन्धी विशेष समारोह होता था। उसे नाइटत्व में दीक्षित किया जाता था और यह समारोह वहुत-कुछ धार्मिक अनुष्ठान-जैसा जान पड़ता था। रात-भर वह अनेक प्रकार के खेल खेलता था और तव उसे स्नान कराके दीक्षित किया जाता था। इन समारोहों के पीछे आधारभूत विचार यह था कि नाइटत्व की प्राप्ति एक धार्मिक कृत्य था। तदुपरान्त उसे नाइट के कर्त्तव्य सम्वन्धी उपदेश दिये जाते थे, यथा, पददलितों, कमजोर, अनाथ एवं महिलाओं की रक्षा करना; असत्य न वोलना; सत्य एवं न्याय का साथ देना और अपमान से मृत्यु को श्रेष्ठ समझना इत्यादि। अंत में, उसे एक तलवार से अलंकृत किया जाता था।

शूरधर्म में कर्त्तव्यों की ही तरह मनोरंजन पर भी जोर दिया जाता था। सर्वश्रेष्ठ मनोरंजन चक्रस्पर्धा (tournament) था। यह नाइटों के दो दलों के वीच नकली युद्ध था जिसकी तुलना ग्रीकों के पवित्र खेलों अथवा रोमनों के द्वन्द्वयुद्धों से की जा सकती है। चक्रस्पर्धा की व्यवस्था कभी-कभी व्यक्तिगत शौर्य द्वारा महिलाओं को प्रभावित करने के निमित्त भी की जाती थी। शूरधर्म के पराभव के वाद भी चक्रस्पर्धा लोकप्रिय खेल वना रहा। चक्रस्पर्धा का आयोजक राजा अथवा सामन्त दूर-दूर के लब्धप्रतिष्ठ नाइटों को आमंत्रित करता था। खेल आरम्भ होने से पूर्व उद्घोषक नियमों की घोषणा करते थे। संकेत मिलते ही नाइटों के विरोधी दल एक दूसरे पर टूट पड़ते थे। विरोधी नाइटों को घोड़ों पर से गिरा देने अथवा उनके अधिकांश भालों को सही ढंग से तोड़ देने पर जीत होती थी। विजेता को आभूषणों, हथियारों और घोड़ों से पुरस्कृत किया जाता था, यद्यपि प्रेमिका से प्रशंसा पाना सवसे वड़ा पुरस्कार था। घोड़े पर सवार केवल दो नाइटों के वीच के दंगल को 'जाउस्ट' कहते थे। इसके लिए विशेष तैयारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। चक्रस्पर्धा का आयोजन सामन्त वड़े लड़के के नाइट वनाए जाने के अवसर पर अथवा किसी शादी के उपलक्ष्य में करते थे। साधारणत: किसी महत्त्वपूर्ण अवसर पर ही इसका आयोजन होता था। चक्रस्पर्धा का आयोजक साधरणत: दोनों प्रतिस्पर्धी दलों की व्यवस्था तो करता ही था, भाग लेनेवालों में महत्त्वपूर्ण लोगों के खाने-ठहरने की व्यवस्था भी उसे करनी पड़ती थी। चक्रस्पर्धा के माध्यम से नौजवान योद्धाओं को शौर्य-प्रदर्शन का मौका तो मिलता ही था, साथ-ही-साथ उनको अच्छी-खासी आमदनी भी हो जाती थी। १२वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ चक्रस्पर्धियों में एक मार्शल विलियम था। सन् ११७० ई० तक वह इतना प्रसिद्ध हो चुका

था कि इंग्लैंड के राजा हेनरी द्वितीय ने राजकुमार हेनरी को शस्त्र-विद्या सिखाने के लिए उसे चुना। उसने कम से कम पाँच सौ नाइटों को चक्रस्पर्धा में पराजित कर उन्हें उनके हथियार, कवच और घोड़े लौटाये थे।

शूरधर्म के गुण और दोष :

मध्ययुगीन सामन्ती नाइटों के लिए शूरधर्म उच्च आदर्शों का प्रतीक था। नाइट के लिए कर्त्तव्यनिष्ठ, चरित्रवान और अपनी सर्वाधिक प्रिय प्रेमिका के प्रति वफादार होना आवश्यक था। हैलम के शब्दों में, 'प्रेमिका के प्रति वफादार और सच्चा व्यक्ति, ईसाई नहीं तो सामन्ती जीवन में मुक्ति का भागी अवश्य माना जाता था।" अतः शूरधर्म के अन्तर्गत नारी का स्थान कुछ हद तक अच्छा हुआ। नाइट अपनी प्रेमिकाओं के प्रति कर्त्तव्यशील होते थे तथा उनकी मर्यादा एवं सम्मान की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे। अन्य स्त्रियों के प्रति भी वे आदर का भाव रखते थे। इस तरह, वर्त्तमान यूरोपीय संस्कृति के एक प्रमुख लक्षण—नारि के प्रति श्रद्धा भावना का इस युग में आरम्भ हुआ। नाइटों से नम्र, साहसी, शिष्ट, सत्यवादी, पवित्र, उदार, वफादार, धर्मरक्षक और युद्धप्रिय होने की आशा की जाती थी। यह सही है कि कुछ नाइट क्रूर, विश्वासघाती, असत्यवादी, डरपोक और अधम थे, परन्तु वे आदर्श न होकर अपवाद थे। ऐसे लोगों को शूरों की श्रेणी से निकाला जा सकता था। दंड के रूप में शूर-वर्ग से निकालते समय उनकी तलवार तोड़ दी जाती थी और उनके घोड़े की पूँछ काट ली जाती थी। शूर-वर्ग उन्हें हमेशा के लिए मृतक समान मान लेता था। यह सही है कि शूर-वर्ग शूरधर्म के आदर्शों की पूर्ण प्राप्ति नहीं कर सका, ठीक उसी तरह, जैसे ईसाई धर्म के आदर्श पूर्णरूपेण जीवन में सही उतारे जा सके। फिर भी, मध्ययुगीन अराजकता के युग में उपर्युक्त उच्च आदर्शों पर जोर डाला जा सका, यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने पराभव काल में भी शूरधर्म पश्चिमी जगत के जन-जीवन को उच्च आदर्शों से अनुप्राणित करता रहा।

चर्च ने ईसाइयों के आध्यात्मिक विकास पर जोर दिया था। शूरधर्म ने उनके चारित्रिक विकास को एक नई दिशा प्रदान की। शूरधर्म से एक नवीन प्रकार के मनुष्यत्व का आदर्श स्थापित हुआ, जिसे "वीरतापूर्ण और ईसाई विशेषतायुक्त चरित्र" कहा गया है। संक्षेप में, परम्परागत आचार के स्तर में इससे उन्नति हुई।

शूरधर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग यूरोपीय भाषाओं एवं उनके साहित्यों के विकास में था। फ्रेंच, इटालियन, अंगरेजी और जर्मन साहित्य का वास्तविक आरम्भ

इसी समय से माना जा सकता है। चर्च एवं विश्वविद्यालयों को अपनी मातृभाषा अधिक सरल, आकर्षक और उपयोगी जान पड़ती थी। इस तरह, स्थानीय भाषा एवं साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। प्रेम, शौर्य एवं व्यंग्य पर आधारित चारण-साहित्य का मूल स्रोत शूरधर्म तो था ही, चॉसर और दांते सदृश परवर्ती कवियों को भी मध्यकालीन नाइटों की युयुत्सा, विलक्षणता एवं काल्पनिकता पर आधारित अनेक कथानकों की प्राप्ति हुई।

शूरधर्म में गुणों के साथ-साथ कई दोष भी थे। वस्तुतः इसके आदर्शों की प्राप्ति नाइटों को शायद ही कभी होती थी। अनेक नाइट केवल नाम मात्र के नाइट थे, और "एक विलक्षण नाइट एक विलक्षण मक्कार भी होता था।" शूरधर्म के आदर्शों के विरुद्ध नाइट क्रूरता, विश्वासघात, असत्य, संकीर्णता एवं अपराध-वृत्ति को अपना लेते थे। अत्यन्त उच्च कुल-उत्पन्न नाइट तो चोरों से भी अधिक घृणित कार्य और आततायियों से भी अधिक क्रूर व्यवहार कर बैठते थे। उनका नैतिक स्तर भी प्रायः अति साधारण होता था। पॉन्स सदृश कुछ नाइट तो पादरियों तक की गौ, फल, वस्त्र और जूते उठा लेते थे। कुछ बैरन लोग अपने क्षेत्र से पार होनेवाले व्यापारियों को लूट लेते थे। अतः सुरक्षा के अभाव में व्यापार की अवनति हुई। कुछ लोगों ने अवश्य शूरधर्म को जीवन की एक विधा के रूप में गम्भीरतापूर्वक अपनाया था, परन्तु अधिकांश तो गाँवों को लूटने-जलाने एवं विपक्षियों की हत्या करने में ही आनन्द अनुभव करते थे। वचन पूरा करना शूरधर्म का उच्च आदर्श था, परन्तु मामूली लाभ के लिए भी वचन भंग किये जाते थे। उत्तराधिकार के प्रश्न पर लोग अपने पिता-माता के भी दुश्मन बन जाते थे। बाल्विन तृतीय पैतृक जागीर के कुछ हिस्सों पर कब्जा करने के लिए अपनी माता पिता से ही दो वर्ष तक लड़ता रहा। चर्च, एक ओर, शांति-स्थापना के प्रयास करता था तो दूसरी ओर, कुछ बिशप नाइटों की ही तरह क्रूर और लालची थे। संक्षेप में, शूरधर्म के उच्च आदर्श प्रायः स्वार्थ के आगे फीके पड़ जाते थे। धीरे-धीरे यह केवल बाह्याडम्बर के रूप में रह गया और धन एवं शक्ति की इच्छा ही सर्वोपरि हो गई। मध्य युग का स्वरूप ही बर्बर एवं क्रूर था और यद्यपि शूरधर्म के विचार और आदर्श सुन्दर एवं आकर्षक थे, नाइटों को आरम्भ से ही लड़ना-भिड़ना सिखाया जाता था। अतः उनसे शांत एवं सेवाप्रद जीवन-यापन की आशा करना ही व्यर्थ था।

जेम्स के शब्दों में, 'मस्तिष्क के लिए शूरधर्म ने कुछ नहीं किया, हृदय के लिए उसने सब कुछ किया।" शूर नाइट हमेशा सुन्दरी स्त्रियों का ध्यान आकर्षित करने में ही लगा रहता था, भले ही इसके लिए उसे जान भी देनी पड़े। अतः मायर्स ने

ठीक ही लिखा है कि "हृदय के मामले में भी शूरधर्म का प्रभाव पूर्णरूपेण लाभप्रद नहीं रहा"।

शूरधर्म का एक अन्य दोष था। इसका अभिजात पृथग्भाव, अर्थात्, निम्नवर्गों के प्रति घृणा और उदासीनता। इसी आधार पर आर्नल्ड ने शूरधर्म की भावना को, अनिष्ट भावना तथा ईसाई विरोधी भावना का पर्यायवाची माना है। निम्नवर्गों के प्रति उनके किसी भी कृत्य को अन्यायपूर्ण माना जा सकता है, ऐसा तो नाइट समझते ही नहीं थे। बोझ ढोनेवाले पशुओं अथवा आखेट में मार गिराए जंगली जानवरों की तरह, सामान्य लोगों का अभिजात-वर्ग के खिलाफ कोई अधिकार हो ही नहीं सकता था। यह अभिजात-भावना शूरधर्म की एक बड़ी कमजोरी थी।

शूरधर्म के पतन के कारण :

शूरधर्म के पतन के कुछ आंतरिक कारण भी थे। सर्वप्रथम, शूरधर्म के विनाश के तत्त्व स्वयं इसी के भीतर निहित थे। शूरधर्म के रीति-रिवाज, इसकी आचार-संहिता अत्यन्त संकुल होकर धीरे-धीरे निरर्थक हो गई। इसके सदस्य उग्र एवं दम्भी होते गए। वस्तुतः शूरधर्म के कुछ अत्यन्त अवांछित लक्षण प्रगट होते गए। अनेक लोगों ने इसके आदर्शों को छोड़ दिया, अनेक ने इसका स्वरूप विकृत कर दिया। कुछ समय बाद इसका असली स्वरूप इतना विकृत हो गया कि सामाजिक व्यवस्था के रूप में इसकी उपादेयता ही समाप्त हो गई।

युद्ध में बन्दूक और बारूद का प्रचलन तथा उनपर राजाओं का एकाधिकार, स्थायी राज्य सेना का विकास तथा प्रशिक्षित पदाति सेना के बढ़ते हुए उपयोग के कारण भी शूरधर्म का पराभव हुआ। नाइट-प्रथा फ्रांस में बहुत दिनों तक बनी रही। परन्तु वहाँ के राजा हेनरी द्वितीय के एक चक्रस्पर्धा के देखते समय दुर्घटनाग्रस्त होकर मारे जाने के कारण फ्रांस से शूरधर्म का लोप हो गया।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ शूरधर्म की जगह नये विचारों एवं संस्थानों पर जोर दिया जाने लगा। अब शूरधर्म ही नाम कमाने का एकमात्र जरिया नहीं रह गया। पुनः, राज्यों के अब अधिक सुसंगठित, कार्य-कुशल एवं व्यापक हो जाने के कारण, अमन-चैन की स्थापना हुई। अतः कमजोर एवं शोषित वर्गों को अपनी रक्षा के लिए नाइटों की आवश्यकता नहीं रह गई।

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय क्षत्रिय-वर्ग की तरह यूरोपीय नाइटों का जीवन भी धीरे-धीरे विलासमय, अनैतिक एवं आरामतलब हो गया। इससे भी शूर-वर्ग का शीघ्र ही पतन हुआ। पुनः फ्रांस में वकीलों एवं अन्य नागरिकों को भी नाइटों की

तरह अभिषिक्त और सम्मानित किया जाने लगा। इससे शूरधर्म के अंतर्गत एक असैनिक तत्त्व का प्रवेश हो गया। धीरे-धीरे यह नवीन तत्त्व बहुसंख्यक हो गया और युद्धप्रिय नाइटों का महत्त्व घट गया।

बौद्धिकता एवं साहित्य के विकास के कारण अज्ञान पर आधारित शूरत्व का महत्व घटता गया। १६वीं एवं १७वीं शताब्दी के व्यावहारिक एवं वाणिज्य-प्रधान जगत में नाइटों का चरित्र हास्यास्पद जान पड़ने लगा और धीरे-धीरे नाइट-प्रथा पर आधारित शूरधर्म का अंत हो गया।

सामन्तवाद का पतन :

सामन्तवाद का पतन भी उन्हीं कारणों से हुआ जो शूरधर्म के पराभव के लिए जिम्मेदार थे। परन्तु, उन कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी अवश्यक थे। सामन्तवाद के विकास में कई सौ वर्ष लगे थे; इसका पराभव-काल भी कई शताब्दियों तक चलता रहा। प्रशासन की एक विधा के रूप में इसका ह्रास १३वीं शताब्दी में शुरू हुआ, यद्यपि एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में वह बहुत दिनों तक बना रहा।

सामन्तवाद के पतन के कारणों की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब यह पाते हैं कि अपने मूलभूत दुर्गुणों के कारण ही यह पतन की ओर अग्रसर हुआ था। हेनरी मार्टिन ने ठीक ही लिखा था कि "सामन्तवाद ने अपने आस्तीन में ऐसा हथियार छिपा रखा है जो एक दिन इसी पर वार कर बैठेगा"। इसके पतन के आंतरिक एवं बाह्य, दोनों प्रकार के कारण थे। १३वीं शताब्दी में कुछ नवीन परिस्थितियाँ उठ खड़ी हुईं, यथा—जर्मनी को छोड़कर, शेष यूरोप में राजशक्ति में वृद्धि; कम्मी प्रथा का ह्रास; शहरों का उदय; व्यापार एवं वाणिज्य का विकास और पहले से आती हुई कृषि-आधारित अर्थ-व्यवस्था की प्रतियोगिता। सामन्तवाद इन नवीन शक्तियों के सामने न टिक सका।

सामन्तवाद का राजाओं एवं सामान्य जनता, दोनों ने विरोध किया। ऊपर से राजकीय दवाव और नीचे से जन-सामान्य के विरोध के कारण इसका पतन निश्चित हो गया। राजाओं ने इस लिए विरोध किया कि सामन्तों की शक्ति को नष्ट कर के ही वे अपनी स्थिति मजबूत कर सकते थे। १५वीं शताब्दी में राजाओं की शक्ति मजबूत होने लगी; क्योंकि वे अपनी राष्ट्रीय सेना तैयार कर चुके थे। इसकी सहायता से वे सामन्तों को नियंत्रण में रख सकते थे। राज्य-करों एवं सैन्य-शक्ति में वृद्धि के कारण राजाओं की स्थिति मजबूत हो गयी। राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना के साथ राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ जिसके फलस्वरूप सामन्ती प्रथा का विनाश अनिवार्य

हो गया। सब लोग सामन्त प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और सुव्यवस्थित शासन प्रणाली एवं पारस्परिक शान्ति की कामना करने लगे। राष्ट्रीयता की भावना का सर्वोत्तम उदाहरण हम फ्रांस की जॉन ऑफ आर्क नाम की महिला में पाते हैं जो फ्रांस के लिए मर मिटी !

सामान्य जनता ने सामन्ती उत्पीड़न से क्षुब्ध होकर सामन्त-प्रथा का विरोध किया। सामन्त उन्हें जंगली जानवरों से भी हेय समझते थे। अतः उनके मन में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। सामन्ती व्यवस्था के शिकार विशेषतः किसान ही हुए थे। फलस्वरूप, किसानों की अवस्था दयनीय हो गयी थी। सामन्तों के अत्याचार से शोषित किसानों के हृदय में इस प्रथा तथा इसके समर्थकों के विरुद्ध विद्रोह की भावना बढ़ती जा रही थी। फलस्वरूप, किसानों के विद्रोह समय-समय पर होते ही रहते थे। परन्तु, ये विद्रोह १४वीं शताब्दी में भीषण रूप में भड़क उठे। उस समय तक सामन्तों का अत्याचार अपनी सीमा लाँघ चुका था। शुरू में किसानों के विद्रोह संगठित न होने के कारण आसानी से दबा दिये जाते थे; परन्तु, अब वे इतने व्यापक हो गये कि उनको दबाना असंभव हो गया। इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे किसानों के विद्रोह अत्यन्त व्यापक हो गए। यह घटना काली मौत के नाम से विख्यात है। यह प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में भीषण महामारी के रूप में फैल गयी। यह महामारी रूस और एशिया माइनर से इंग्लैंड तक फैली और मिस्र, उत्तरी अफ्रिका एवं मध्य एशिया भी इससे अछूते नहीं रहे। इससे यूरोप में लाखों लोग मरे जिनमें किसानों की ही संख्या अधिक थी। फ्रांस, इंग्लैंड हॉलैंड आदि के प्रमुख शहरों की आबादी प्रायः एक तिहाई नष्ट हो गयी। किसानों की संख्या कम हो जाने के कारण जमीन जोतनेवाले मजदूरों की कमी हो गयी। दूसरी ओर, शहरों में व्यापार की उन्नति और 'ब्लैक डेथ' के कारण मजदूरों की मृत्यु से मजदूरी बढ़ रही थी। परन्तु, सामन्तों ने स्वार्थवश 'मजदूर-कानून' द्वारा मजदूरी को सीमित करने का प्रयास किया। अतः किसानों एवं मजदूरों ने इस प्रकार विरुद्ध टक्कर लेना आरम्भ किया। सन् १३४१ ई० में इंग्लैंड में एक बड़ा विद्रोह हुआ। यह विद्रोह मजदूर कानून एवं कम्मी-प्रथा के विरुद्ध हुआ था। किसानों के इस विद्रोह का साथ शिल्पियों, कारीगरों तथा निम्न श्रेणी के पादरियों ने भी दिया। यद्यपि उस समय विद्रोह को कुचल दिया गया, परन्तु आगे चलकर १५वीं शताब्दी में उपर्युक्त माँगों को लगभग स्वीकार कर लिया गया। फ्रांस में भी १३५८ ई० में प्रसिद्ध 'जैकरी विद्रोह' हुआ। इसके पहले भी १२वीं एवं १३वीं शताब्दियों में वहाँ किसानों के सामन्त-विरोधी विद्रोह हुए थे। शहरों के उदय के कारण अब किसानों का

सामन्तों पर निर्भर रहना आवश्यक न रह गया; क्योंकि वे शहरों में रोजी-रोटी कमा सकते थे। इस तरह, कृषक-विद्रोहों ने सामन्तवाद की नींव हिला दी।

सामन्तवाद के पतन के लिए धर्म-युद्ध भी बहुत अधिक जिम्मेदार थे। धर्मयुद्धों में भाग लेनेवाले बहुत से सामन्तों ने या तो अपनी जमीन बेंच दी थी या उसे गिरवीं रख दिया था। इस तरह, सामन्ती शक्ति तथा प्रभाव राजाओं अथवा व्यापारियों के हाथ में चले गये। अनेक सामन्त इन युद्धों में मारे गए और उनकी भूमि राजाओं द्वारा जब्त कर ली गयी।

धर्म-युद्धों के कारण पूर्व एवं पश्चिम के बीच व्यापार में वृद्धि हुई। यूरोप के लोग एशियाई भोग-विलास की वस्तुओं से परिचित हुए। इन वस्तुओं की माँग यूरोप में बढ़ने लगी। भूमध्यसागर के मार्ग से पूर्व और पश्चिम में आवश्यक वस्तुओं का व्यापार होने लगा। व्यापार की सुविधा के लिए 'व्यापार-संघ' तथा 'गिल्डों' की स्थापना हुई। व्यापारियों के ये संगठन सामन्तों की उपेक्षा करने लगे। व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। सामन्तों को सामन्ती सेवाओं की जगह पैसे मिलने लगे। इससे सामन्तों का प्रभाव घटता गया; क्योंकि अधीनस्थ लोगों पर से उनका प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अधिकार शीघ्रतापूर्वक नष्ट होने लगा। पुनः, व्यापार की उन्नति के कारण नये-नये व्यावसायिक नगरों का जन्म हुआ। साथ-ही-साथ, पुराने नगरों का भी पुनरुत्थान हुआ। इस तरह इटली, फ्रांस या इंग्लैंड में नये-नये शहरों का प्रादुर्भाव और प्राचीन शहरों का विकास हुआ। सामन्ती नियम शहरों के कारीगरों तथा निवासियों की स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध हुए। शहर के लोगों को भी सामन्ती सेवाएँ करनी पड़ती थीं। वे अपनी जमीन बेच नहीं सकते थे। व्यापार-सम्बन्धी मुकदमों का भी फैसला 'मेनार' की कचहरियों में होता था जो इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त थीं। पुनः, व्यापारी सर्फ एवं विलेन को सामन्ती नियंत्रण से मुक्त कर उद्योग-धन्धों में लगाना चाहते थे। इन सभी कारणों से सामन्तों एवं व्यापारियों में झगड़ा शुरू हो गया जिसमें राजाओं ने व्यापारियों का पक्ष लिया। सामन्तों को बार-बार झुकना पड़ा। अतः जैसे-जैसे व्यापार की उन्नति होती गयी, सामन्त-प्रथा का पतन होता गया।

नये अस्त्र-शस्त्रों के प्रचलन, सामरिक विधि में परिवर्तन और विशेषतः बन्दूक एवं बारूद के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण भी सामन्तवाद का शीघ्रतापूर्वक पतन हुआ। अभी तक सामन्ती किलों पर तीरों की मार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किलों के फाटक अश्वारोही सेना के लिए अभेद्य थे। परन्तु, अब बन्दूकों एवं तोपों की मार से किलों की दीवार सामन्तों की रक्षा करने में असमर्थ थी। बन्दूकधारी

पैदल सैनिक कवच वर्मयुक्त अश्वारोही नाइट को आसानी से मार गिराता था। राजे अब बारूद तथा गोलाबारी द्वारा सामन्तों के किलों पर आसानी से कब्जा कर लेते थे। इस प्रकार, नवोदित राजशक्ति के समक्ष धराशायी होते सामन्ती किलों के बीच सामन्तवाद का अन्त हो गया।

सामन्तों का पारस्परिक संघर्ष भी सामन्तवाद के पतन का एक बड़ा कारण था। सभी सामन्त अपनी अलग-अलग सेना रखते थे। इन सेनाओं ने एक ओर तो बर्बर आक्रमणकारियों से यूरोप की रक्षा की, परन्तु दूसरी ओर, आपस में लड़ कर सामन्ती शक्ति को भी क्षीण किया। प्रायः सौ वर्ष तक इंग्लैंड एवं फ्रांस के सामन्तों के बीच युद्ध छिड़ा रहा। पंद्रहवी शताब्दी में इंग्लैंड के सामन्तों की पारस्परिक लड़ाई के कारण उस देश की अपार क्षति हुई। फ्रांस में तो हालत और भी खराब थी। आये दिन फ्रांस की भूमि सामन्तों के पारस्परिक युद्धों से रक्तरंजित होती रहती थी। अतः सामन्तवाद अपनी ही आंतरिक अराजकता का शिकार हो गया।

फिर, सामन्तवाद के पतन के कारण स्वयं उस व्यवस्था में ही निहित थे। उदाहरणार्थ, बहुत-से सामन्तों ने विजय, वैवाहिक उत्तराधिकार अथवा क्रय द्वारा ऐसी भूमि हासिल की थी जिसने उन्हें साथ-ही-साथ सामन्ती अधिपति और अधीनस्थ भी बना दिया था। अतः प्रायः एक ही भूमि के कई अधिकारी उठ खड़े होते थे। धीरे-धीरे सामन्ती व्यवस्था इतनी संकुल हो गयी कि इसका काम करते रहना ही कठिन हो गया। भूमि सम्बंधी प्रत्येक विवाद में सामन्ती अधिपति के रूप में राजा हस्तक्षेप करता था और अधिकांश ऐसा हस्तक्षेप राजा के लिए ही लाभप्रद सिद्ध होता था।

अध्याय ८

यूरोप साम्राज्य की पुनर्स्थापना

मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में ८८७ से ९११ ई० तक का समय कैरोलिंगियन वंश का उपसंहार काल था। सन् ९११ से ९१८ ई० के बीच जर्मनी में राजतन्त्र का आधार सामन्तों द्वारा चुनाव हो गया। तदुपरान्त, ९१९ से १०२४ ई० तक, सैक्सन अथवा ओटोनियन घराने का शक्तिशाली शासन बना रहा। सन् १०२४ से ११२५ ई० तक सेलियन अथवा फ्रैंकनियन घराने के राजाओं ने जर्मन राजतंत्र को और भी सुदृढ़ राजतंत्र बनाया। इस तरह, प्राय: सवा दो सौ वर्षों तक जर्मनी में सुदृढ़ राजतंत्र तो बना ही रहा, साथ-ही साथ, जर्मन राष्ट्र का संगठन सामन्ती आधार पर हुआ। बारह-तेरह वर्षों के अपकर्षकाल के बाद होहेजटॉफेन वंश (११३८-१२५४) का राज्य कायम हुआ। इस युग में जर्मनी यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था, और, तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक यही स्थिति बनी रही। तदुपरान्त यह स्थान फ्रांस को मिला। फ्रांस की यह प्रधानता १८७१ ई० तक बनी रही। जर्मनी के उत्थान की कहानी सामन्तवाद के साथ राजतंत्र के सफल संघर्ष की कहानी थी; उसके पराभव का इतिहास राजतंत्र के विरुद्ध सामन्तवाद और पोपतंत्र की सफलता का इतिहास था।

सन् ८८७ से ९११ ई० तक जर्मनी में गण-जातीय भावना प्रवल हो उठी। वहाँ के ड्यूक अपने को प्रमुख जर्मन गण-जाति की उप-शाखा मानते थे। अत: वे स्टेम ड्यूक्स कहे जाते थे। शार्लमन ने उनको नियंत्रित रखा था, परन्तु, कैरोलिंगियन साम्राज्य के पतन के बाद वे पुनः प्रबल हो उठे थे। इस तरह, जर्मनों के प्राचीन गण-जातीय उप-वर्ग, यथा, बेवेरियन, अलमेनियन, फ्रैंकोनियन, थुरिंगियन, सैक्सन और फ्रिसियन इत्यादि अपने-अपने ड्यूकों के अधीन राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करने लगे। इन ड्यूकों की शक्ति का आधार गण-जातीय और सामन्ती था। उस युग की अराजकता एवं सामन्ती प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही जर्मनी में शक्तिशाली राजतंत्र का विकास न हो सका। अन्त-अन्त तक जर्मन राजतंत्र का स्वरूप प्राय: संघीय ही बना रहा। ड्यूकों के अतिरिक्त, बिशप भी राजनीतिक शक्ति और भू-सम्पदा के स्वामी थे। स्वभावत: बिशपों और ड्यूकों के स्वार्थ परस्पर टकराते थे और उनके पारस्परिक संघर्ष के कारण यूरोप के इतिहास में बहुत दिनों तक उथल-पुथल मची रही।

उपर्युक्त विघटनकारी तत्त्वों के साथ-साथ जर्मनी में कुछ ऐसे तत्त्व भी थे जिन्होंने नवीं शताब्दी के अन्त में जर्मन राजतंत्र की स्थापना में सहायता की। सर्वप्रथम, फ्रैंकोनिया और स्वेबिया में राजकीय भू-सम्पदा अब भी पर्याप्त थी। पुनः, सामन्तों द्वारा, भूमि हथियाने के प्रयासों से चर्च-सम्पदा के लिए भी खतरा पैदा हो गया था। अतः पादरी-वर्ग ने अपने ही हित में राजाओं का समर्थन किया। कैरोलिंगियन राजाओं के शासन-काल में पादरी-वर्ग ने राजतंत्र के साथ रचनात्मक सहयोग किया था। अतः, परम्परा की दृष्टि से भी, चर्च राजतंत्र का पक्षधर था।

जब आरनुल्फ के पुत्र लेविस द चाइल्ड की ९११ ई० में मृत्यु के बाद कैरोलिंगियन घराने की पूर्वी शाखा का अन्त हो गया, तो जर्मन सामन्तों एवं वहाँ की जनता ने उक्त राजवंश की फ्रांसीसी शाखा का कोई उत्तराधिकारी खोज निकालने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने फ्रैंकोनिया के ड्यूक कॉनराड को अपना राजा चुना। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी में शक्ति का मूल स्रोत डची थी और राजपद को भरने के निमित्त चुनाव की विधि के अपनाए जाने से राजतंत्र के कमजोर होने की सम्भावना थी। अतः ९१८ ई० में अपनी मृत्यु तक कॉनराड प्रथम यह समझ गया था कि जर्मन सामन्तों एवं बिशपों की प्रधानता जर्मन राजतंत्र के लिए नुकसानदेह थी।

कॉनराड प्रथम मृत्यु के बाद सैक्सन घराने का शासन शुरू हुआ। कॉनराड ने कहा था कि उसके बाद सैक्सनी के ड्यूक हेनरी द फाउलर को गद्दी दी जाय। हेनरी ने मेंज के आर्कबिशप द्वारा अपना अभिषेक किया जाना अस्वीकार कर दिया और फ्रैंकोनिया एवं सैक्सनी के सामन्तों ने ही उसका चुनाव किया। वह इतिहास में हेनरी प्रथम के नाम से विख्यात हुआ और उसके द्वारा स्थापित सैक्सन राजवंश जर्मनी पर प्रायः सौ वर्षों तक शासन करता रहा। सर्वप्रथम, उसने देश में आंतरिक शांति कायम की। इस सम्बन्ध में उसका सिद्धान्त था कि सामन्तवाद को दबाने की बजाय उसका निर्देश किया जाय। राज्य की एकता बनाए रखने के लिए वह सामन्तों की स्वतंत्रता को भी मानने को तैयार था, बशर्ते कि वे पहले उसकी सत्ता को स्वीकार करें। अपनी सत्ता को मनवाने के लिए वह बल-प्रयोग करने से भी नहीं हिचकता था। इस तरह, स्वेबिया ने आरनुल्फ को अपना राजा मान लिया था। हेनरी ने उसे उसकी सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, यद्यपि मुद्रा-व्यवस्था, बिशपों की नियुक्ति और वैदेशिक नीति आरनुल्फ के अधीन ही छोड़ दी गई। हेनरी, बेवेरिया, सैक्सनी, फ्रैंकोनिया और थुरिंगिया की चार डचियों

मात्र से संतुष्ट नहीं था। वह लोथरिंगिया पर अधिकार करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था और ९२५ ई० में वहाँ के ड्यूक गिलवर्ट को परास्त कर उसकी डची को जर्मन राज्य में मिला लिया। इस तरह, वह डचियों के एक विशाल संघ का अधिपत बन गया। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में उसने अपनी चर्च-नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। फ्रेंच-कैरोलिंगियनों की तरह उसने चर्च के साथ सहयोग की नीति को अपनाया। इस नीति के सत्परिणाम उसके पुत्र ओटो प्रथम के शासनकाल में देखने को मिले।

जहाँ तक हेनरी की वैदेशिक नीति का प्रश्न है, उसने जर्मनी की बाह्य आक्रमणों से रक्षा की। हंगेरियनों से जर्मनी की रक्षा के लिए प्राचीरमय शहरों, गाँवों और किलों की स्थापना की गई। यहाँ तक कि मठों को भी परकोटों से घेरा गया। दीवारों से घिरे शहरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मेसेन, मर्सवर्ग और कवेडलिगवर्ग थे। पदाति एवं अश्वारोही सेना को मजबूत किया गया। सन् ९२४ ई० में हंगेरियनों ने सैक्सनी पर आक्रमण किया, परन्तु उस समय हेनरी की सैनिक स्थिति मजबूत नहीं थी। अतः उसने उनसे एक नौ-वर्षीय संधि की और उन्हें सालाना कर देने का वादा किया। नौ वर्ष की अवधि समाप्त होने पर उसने सालाना कर देना बन्द कर दिया और आक्रामक हंगेरियनों को मर्सवग के निकट की अंसट्रट नदी के किनारे बुरी तरह पराजित किया। सैक्सनी पर उनके हमले हमेशा के लिए बंद हो गये। उसने उत्तर में डेनों से और पूर्व में वेन्डों से कई प्रदेश छीन लिए। सन् ९२८ ई० में उसने हैवेल नदी को पारकर वेन्डो के ब्रेनिबोर नगर पर आक्रमण किया और उन्हें खदेड़ता हुआ मेसेन तक पहुँच गया। इस तरह, ब्रैंडेनवर्ग की मार्ग्रेवी का आरम्भ हुआ जिससे आगे चलकर प्रशा की स्थापना हुई। शार्लमन द्वारा स्थापित डेन मार्क को ९३३ ई० में उसने डेनों से पुनः छीन लिया। साथ-ही साथ, डेन राजा गॉर्म को कर देने तथा ईसाई धर्म प्रचारकों को अपने राज्य में आने देने के लिए बाध्य होना पड़ा। सन् ९२३ से ९२५ ई० के बीच हेनरी ने लोरेन पर भी कब्जा कर उसे जर्मनी में मिला लिया। कैरोलिंगियनों के इस प्राचीन निवास-स्थान में जर्मन बहुसंख्यक तो थे ही, इस प्रदेश का आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व भी था। हेनरी की उपर्युक्त आंतरिक एवं बाह्य उपलब्धियों के फलस्वरूप उसे शार्लमन की परम्परा में रोमन-जर्मन सम्राट माना जाने लगा। वस्तुतः, डेन मार्क-विजय, एलबी के मुहाने पर नियंत्रण एवं लोरेन की पुनः प्राप्ति द्वारा हेनरी ने सुदृढ़ जर्मन राजतंत्र की स्थापना की। इस तरह, सौ वर्ष से भी अधिक की अराजकता के बाद सम्राट-पद का महत्त्व एक बार पुनः स्थापित किया जा सका।

ओटो प्रथम महान (९६६-९७३ ई०):

मृत्यु से पहले हेनरी प्रथम ने अपने अपने पुत्र ओटो का उत्तराधिकार जर्मन सामंतों द्वारा लगभग स्वीकार करा लिया था। अतः ९३६ ई० में ओटो प्रथम ने सामान्य उत्तराधिकारी की तरह गद्दी प्राप्त की, यद्यपि चुनाव की रस्म को पूरा किया गया।। उसके गद्दी पर बैठते ही ऐसा प्रतीत हुआ मानो यूरोप के राजाओं के मध्य एक नवीन शार्लमन का उदय हो गया हो। वह जर्मनी में एक सुदृढ़ एवं प्रभावशाली राजतंत्र की स्थापना करना चाहता था। वह चाहता था कि उसके पिता हेनरी के शासनकाल की तरह राजा की शक्ति केवल सैक्सनी तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण जर्मनी में फैल जाय। हेनरी ने मेंज के बिशप द्वारा अपना अभिषेक किया जाना अस्वीकार कर दिया था, परन्तु ओटो ने मेंज के आर्कबिशप द्वारा अभिषेक तो कराया ही, उसने चर्च के साथ राजा के संबंधों को सुधारने का भी प्रयास किया। यह दिखलाने के लिए कि ओटो कैरोलिंगियन साम्राज्य का उत्तराधिकारी था, उसने अपना अभिषेक आकेन स्थित शार्लमन के राजप्रासाद में कराया। राज्याभिषेक के समय ड्यूकों ने राजकीय पदाधिकारियों के कर्त्तव्य निभाये, जैसे, लोरेन के ड्यूक ने राजभवन के महाप्रतिहार का, फ्रैंकोनिया के ड्यूक ने भाण्डागारिक का, स्वेविया के ड्यूक ने प्रधान अनुचर का और बवेरिया के ड्यूक ने बलाधिकृत का। इस प्रक्रिया द्वारा ओटो स्पष्ट कर देना चाहता था कि सामंतों की स्थिति केवल वंश पर आधारित न होकर सामंती सेवा के सिद्धांत पर आधारित थी। इस तरह ओटो प्रथम के शासनकाल में हेनरी प्रथम का डचियों के संघ का आदर्श एक संयुक्त एवं सुदृढ़ जर्मन राजतंत्र में बदल गया।

अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के निमित्त ओटो में आवश्यक योग्यता की भी कमी नहीं थी। उसमें व्यावहारिक ज्ञान, अटूट लगन, उदारता, दया एवं सहिष्णुता का सुन्दर सम्मिश्रण था। यदि उसके राज्याभिषेक-काल की शान्ति बनी रहती तो शायद उसका इतिहास ही भिन्न होता। परन्तु, उसकी वास्तविक नीति का अंदाज लगते ही, ड्यूकों ने उसका विरोध करना शुरू किया। अपने स्थानीय मामलों में राजतंत्र का हस्तक्षेप उन्हें बिल्कुल मंजूर नहीं था। अतः ओटो प्रथम के शासन-काल का पहला भाग विद्रोही ड्यूकों के दमन में ही बीता। उन्हें एक-एक कर दबाया गया। ओटो को अंतिम महत्त्वपूर्ण सामंती विरोध का सामना ९५४ ई० में लोरेन में करना पड़ा। इस विद्रोह को दबा दिया गया और लोरेन को दो भागों में बाँट दिया गया। ड्यूकों के विद्रोहों को दबा देने से ओटो की स्थिति मजबूत हो गई और नये सुधारों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। बवेरिया, फ्रैंकोनिया, लोरेन, सैक्सनी और स्वेविया की पाँच महत्त्वपूर्ण डचियों को मिलाकर दृढ़ एवं शक्तिशाली जर्मन राज्य की स्थापना हुई। परन्तु, ओटो से एक भूल हो गई। उन

दिनों राजाओं की शक्ति का मूल स्रोत राजकीय भूमि होती थी जिसपर राजाओं का सामंती अधिकार था। परन्तु ओटो ने सैक्सनी स्थित अपनी व्यक्तिगत भूमि को दो भागों में बाँट दिया। केवल पश्चिमी भाग को अपने अधिकार में रखकर पूर्वी भाग को उसने एक सामंत को दे दिया। इस तरह, सैक्सनी के पूर्वी और पश्चिमी भागों के ऐतिहासिक विभाजन का आरम्भ हुआ। इससे राजा की शक्ति कमजोर पड़ गई। धीरे-धीरे सैक्सनी जर्मनी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण डची बन गया और इससे जर्मनी का एकीकरण बहुत दिनों के लिए रुक गया।

जर्मनी का राजा होने के अतिरिक्त, ओटो प्रथम इटली के मामले में हस्तक्षेप कर वहाँ का भी राजा बन गया। सन् ९६१ ई० में पोप जॉन बारहवें ने बेरेंगर के विरुद्ध ओटो से सहायता की याचना की। बेरेंगर की दृष्टि पोप के प्रदेशों पर थी। शार्लमन की ही तरह ओटो भी पोप के इटालियन दुश्मनों से उसकी रक्षा करने के लिए इटली में प्रविष्ट हुआ। वहाँ फरवरी, ९६२ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ। पिपिन और शार्लमन के अनुदानों की पुष्टि करने के बदले में ओटो ने पोप के चुनाव की अभिपुष्टि करने का अधिकार प्राप्त किया। पोप ने बाह्य तौर पर तो इसे स्वीकार कर लिया, परन्तु ओटो के लौटते ही उसके विरुद्ध बेरेंगर से ही साँठ-गाँठ करने लगा। अतः ९६३ ई० में ओटो पुनः इटली गया। उसने रोमनों को यह मानने के लिए बाध्य किया कि वे सम्राट की स्वीकृति के बिना किसी भी पोप का चुनाव नहीं करेंगे। उसने एक स्थानीय धर्म-सभा द्वारा जॉन बारहवें को अपदस्थ करा दिया और लियो अष्टम को नया पोप निर्वाचित कराया। परन्तु, ओटो के लौटते ही जॉन बारहवें ने लियो अष्टम को रोम से खदेड़ दिया। परंतु, शीघ्र ही जॉन की हत्या हो गई। रोमनों ने ओटो से राय लिये बिना ही बेनेडिक्ट पंचम को पोप चुना। सन् ९६४ ई० में ओटो पुनः रोम पहुँचा। वहाँ उसने एक धर्म-सभा बुलाई। इस सभा ने बेनेडिक्ट को हटाकर लियो अष्टम को पोप की गद्दी पर बिठाया। लियो का उत्तराधिकारी जॉन तेरहवाँ ओटो की राय से ही चुना गया, परन्तु रोम में उसके विरुद्ध विद्रोह हो जाने के कारण उसे इटली छोड़कर भागना पड़ा। इस बार (९६६ ई०) ओटो ने रोमवासियों को कठोर दंड दिया और पोप की गद्दी पर जॉन तेरहवाँ को पुनः बिठाया। इसके बाद रोमवासियों ने उसका कभी विरोध नहीं किया और पोप-पद के चुनाव के लिए उसकी स्वीकृति आवश्यक मान ली गई। इस समय से मध्यकालीन जर्मनी का इतिहास इटली एवं पोपतंत्र से अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हो गया। इटली में ओटो ने जो कुछ भी किया, उससे जर्मनी में उसकी स्थिति मजबूत हुई। अतः ठीक ही कहा गया है कि टाइबर से प्राप्त की गई शक्ति द्वारा ओटो एल्बी पर शासन करता था।

ओटोप्रथम के संयुक्त जर्मनी के आदर्श की रक्षा के लिए आवश्यक था कि वह वे आक्रमणों से देश को बचाता। अतः उसने वेंडों से सतत युद्ध किया। इस कार्य में उसे दो सेक्सन काउण्टों, हरमन विलुंग और गेरो से अपार सहायता मिली। इन काउन्टों ने वेंडों से छीने गए इलाके में ओटो की सत्ता को स्थापित किया। वोहेमिया पर ओटो ने स्वयं अधिकार किया। विजित प्रदेशों में जर्मन सत्ता की स्थापना के अतिरिक्त वह ईसाई मत का प्रसार भी करता गया। नव-विजित प्रदेशों में गिरजाघरों की स्थापना की गई। ओटो को मैग्यार आक्रमणकारियों के विरुद्ध भी सफलता मिली। सन् ९५५ ई० में विभिन्न डचियों से एकत्रित की गई सेना ने मैग्यारों को लेक नदी के निकट पराजित किया। लेकफील्ड की इस लड़ाई से मैग्यार आक्रमणों का खतरा समाप्त हो गया। शार्लमन द्वारा इस प्रदेश में स्थापित मार्क को पुर्नस्थापित किया गया और वहाँ बेवेरियनों को भारी संख्या में बसाया गया। इस तरह, ओटो को स्लावों, डेनों, पोलों एवं मैग्यारों के विरुद्ध अपूर्व सफलता मिली।

चर्च-नीति :

उपर्युक्त सफलताओं से प्रोत्साहित होकर शार्लमन की ही तरह ओटो की भी इच्छा सम्राट की सत्ता को पुर्नस्थापित करने की हुई। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ड्यकों, काउण्टों एवं उप-सामन्तों की शक्ति को नष्ट करना आवश्यक था। इस कार्य में उसने चर्च से सहायता लेने का निश्चय किया। अतः उसने डचियों के भीतर चर्च एवं चर्च की सम्पति पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया। प्रत्येक डची में सरकारी पदाधिकारी, **काउण्ट पेलेसिनेट** को नियुक्त किया गया। यह पदाधिकारी डचियों के अंदर राजकीय भू-संपदा की देखभाल करता था। साथ ही ड्यकों के साथ राजा के संबंधों का भी वह नियमन करता था। राजा को एक शक्तिशाली सेना तथा स्थायी आर्थिक लाभ के जरियों की भी आवश्यकता थी। किसी स्थायी राजकीय कर-व्यवस्था के न होने के कारण राजा को प्रधानतः अपनी भू-संपदा से होनेवाली आमदनी पर ही निर्भर करना पड़ता था। यह राजकीय भू-संपदा राज्य में दूर-दूर तक बिखरी पड़ी थी, अतः आर्थिक लाभ के लिए उसका समुचित उपयोग करना कठिन था। न्याय, मुद्रा व्यवस्था, चुंगी और बाजार-कर आमदनी के अन्य स्रोत थे, परन्तु कुशल प्रशासन के अभाव में उनका भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता था। इन राजकीय अधिकारों एवं भू-संपदा का समुचित उपयोग बिशपों की सहायता से किया जा सकता था।

उनसे उम्मीद की जा सकती थी कि वे निष्ठापूर्वक राजा की सेवा करेंगे, राज्य की आमदनी वढ़ा सकेंगे और खतरनाक सामान्तों को नियंत्रण में रखेंगे।

राज्य को कुशल पदाधिकारियों की भी आवश्यकता थी। इन्हें भी पादरी वर्ग से ही प्राप्त किया जा सकता था। पादरी सामन्तों की शक्ति में वृद्धि का अर्थ था, सामान्य सामन्तों की शक्ति का ह्रास। दूसरी ओर, चर्च की सम्पत्ति पर सामान्य सामन्तों के वढ़ते हुए दावे को रोकने के लिए चर्च को भी राजा की सहायता की आवश्यकता थी। अतः चर्च एवं राजा के वीच एक समझौता हुआ। चर्च राजा की शक्ति का एक एक प्रमख स्तम्भ वन गया। जर्मनी में पादरियों के वुद्धिजीवी वर्ग होने के कारण सर्वश्रेष्ठ प्रशासक भी इसी वर्ग से उपलब्ध होते थे। पुनः इन प्रशासकों का पद वंशानुगत नहीं था। अतः उनकी शक्ति में किसी भी वृद्धि का अर्थ होता था सामान्य सामन्तों की शक्ति में कमी। इस तरह, ओटो ने विशपों एवं आर्कविशपों का ड्यूकों, काउण्टों एवं सामन्तों के विरुद्ध उपयोग किया। राजा ने अपने राजकीय अधिकारों का वहुत-सा भाग चर्च को तो दिया ही, साथ ही, चर्च को काफी मात्रा में जमीन भी दी गयी। शार्लमन की तरह ओटो ने भी चर्च में नियुक्तियों पर अपना नियंत्रण रखा। चर्च में रिक्त पदों को वह स्वजनों द्वारा भरने लगा। इस तरह, ९५३ ई० में उसका भाई ब्रूनो कोलोन का आर्कविशप वनाया गया। उसके अवैध पुत्र विलियम को विद्रोही फ्रेडरिक की जगह मेंज का आर्कविशप वनाया गया। उसके चचेरे भाई हेनरी की ट्रेभ्स के आर्कविशप पद पर नियुक्ति हुई। निःसंदेह यह व्यवस्था अपूर्ण थी; क्योंकि राजतंत्र को संवैधानिकता के सुदृढ़ आधार पर निर्मित करने की वजाय उसने इसे धार्मिक समर्थन द्वारा आलम्वित करने का प्रयास किया। चर्च एवं सामन्तों के प्रति ओटो की नीति का, संक्षेप में, यही स्वरूप था। इस नीति की सफलता इस वात पर निर्भर करती थी कि राजा चर्च एवं पादरी सामन्तों पर अपना नियंत्रण वनाये रख सकता था या नहीं। परन्तु, इस नीति के फलस्वरूप धीरे-धीरे विशपों एवं आर्कविशपों की स्थिति प्रायः स्वतंत्र हो गयी। जवतक राजा पादरी-सामन्तों पर अपना नियंत्रण वनाये रख सका, यह नीति सफल रही; जव राजा का उनपर नियंत्रण कमजोर पड़ गया, जर्मन राजतंत्र का भी अंत हो गया। राजा जर्मन चर्च का प्रमुख था और विशपों एवं आर्कविशपों की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी। इस तरह, जर्मन चर्च का स्वरूप राजकीय चर्च अथवा धर्म-निरपेक्ष चर्च का हो गया। यह स्थिति एक शताब्दी से अधिक समय तक वनी रही। जर्मनी की शान्ति एवं समृद्धि चर्च एवं राज्य की इस संधि पर आधारित थी। चर्च राजा के अधीन सामाजिक केन्द्रीकरण का समर्थन करता था। इस तरह, शार्लमन के राज्याभिषेक से डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक वाद, ९६२ ई० में

उसी पोपीय सत्ता द्वारा ओटो प्रथम का रोमनों के सम्राट के रूप में अभिषेक किया गया। इस समय से यह प्रायः नियम-सा बन गया कि जिस राजकुमार को जर्मन लोग अपना राजा चुनते थे, उसका इटली एवं रोमन सम्राटों के मुकुट पर भी अधिकार होता था। अब साम्राज्य को पवित्र रोमन साम्राज्य कहा जाने लगा; यद्यपि न तो यह पवित्र था, न रोमन था और न साम्राज्य ही था। सन् ८८९ ई० से ही जर्मनी एवं इटली एक दूसरे से अलग-अलग पड़ते जा रहे थे, परन्तु अब इस सहज प्रवृत्ति को तलवार की शक्ति रोकने का प्रयास होने लगा।

ओटो प्रथम एवं शार्लमन के साम्राज्यों एवं उपलब्धियों की तुलना.

मध्यकालीन यूरोप के किन्हीं भी दो शासकों की तुलनात्मक अध्ययन उतना रोचक नहीं है जितना कि शार्लमन एवं ओटो महान् का। इन दोनों में जितनी समानता थी उतनी ही भिन्नता भी थी। इसका कारण था कि ओटो ने शार्लमन का पूर्ण अनुकरण करना चाहा यद्यपि शार्लमन के सभी गुण उसमें विद्यमान नहीं थे। उन दोनों के बीच सवा सौ वर्षों की खाई थी, जिससे यूरोप की स्थिति में बहुत परिवर्त्तन आ गया था।

ओटो प्रथम द्वारा स्थापित साम्राज्य को साधारणतः शार्लमन के साम्राज्य की पुनरूस्थिति माना जाता था। यह भी समझा जाता था। कि शालेमन का स्वभावतः साम्राज्य केवल अदृश्य हो गया था, लुप्त नहीं हुआ था। के ९६२ ई० में ओटो प्रथम के अभिषेक से ऐसा जान पड़ा मानो "यूरोप के राजाओं में एक द्वितीय शार्लमन का प्रादुर्भाव हो गया था।" स्वयं ओटो भी समझता था कि वह शार्लमन के साम्राज्य की पुर्नस्थापना कर रहा था। किन्तु शार्लमन की प्रारंभिक स्थिति अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा अच्छी थी। यद्यपि चार्ल्स वंशानुगत एकाधिकार के आधार पर गद्दी पर नहीं बैठा था, फिर भी ४३ वर्षों से आती हुई राज्य के विभाजन की घातक प्रक्रिया, जिसका परित्याग पिपिन भी नहीं करसका था, कार्लोमन की अचानक मृत्यु से समाप्त हो गई थी। इस तरह फ्रैंक राज्य के एक मात्र शासक के रूप में चार्ल्स की सफलताओं का मार्ग प्रशस्त हो गया था। दूसरी ओर ९३६ ई० में हेनरी प्रथम की मृत्यु के बाद ओटो प्रथम भी प्रायः वंशानुगत अधिकार के आधार पर ही गद्दी पर बैठा था; यद्यपि चुनाव की रस्म को निभाया गया था। हेनरी दि फाउलर इतना कुशल एवं सहिष्णु सिद्ध हुआ था कि जर्मन ड्यूकों एवं अन्य सामन्तों ने राजमुकुट को उसके परिवार में ही छोड़ देना उचित समझा।

शार्लमन एवं ओटो, दोनों में ही महत्वपूर्ण व्यक्तिगत गुण थे। चार्ल्स बहादुर, दृढ़प्रतिज्ञ, मिलनसार, व्यवहारि, लोकप्रिय एवं शक्तिशाली था। उसमें कूटनीति, दूरदर्शिता, समझदारी, तीव्र स्मरण शक्ति एवं कर्त्तव्यपरायणता के असाधारण गुण थे। ओटो प्रथम भी अपने उच्च आदर्शों की पूर्ति में सक्षम था। उसमें अपने पिता की शक्ति एवं व्यावहारिकता तो थी ही, साथ ही परिश्रम करके का गुण भी था जिसके चलते कठिन से कठिन संकट से भी वह उबर सकता था। वह बहादुर, उदार, सहिष्णु, दयावान एवं उच्च आदर्शों वाला व्यक्ति था।

यदि शार्लमन के शासनकाल में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का विचार पुनः जगा और कार्यरूप में भी परिणत हुआ, तो ओटो प्रथम उस विचार को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने में सफल हुआ। चार्ल्स की ही तरह राज्य के भीतर एवं बाहर उसे भी भयानक लड़ाईयाँ लड़नी पड़ीं। चार्ल्स की ही तरह उसे भी सामन्तों से निपटना पड़ा।

ओटो प्रथम एवं शार्लमन के साम्राज्यों में कुछ बाह्य समानताएँ भी थीं जिनके आधार पर शार्लमन के साम्राज्य की पुर्नस्थापना का आभास होता था। ओटो प्रथम ने सम्पूर्ण साम्राज्य में राजकीय स्वार्थों की रक्षा के लिए काउंट पेलेसिनेट नामक अधिकारियों को नियुक्त किया था। ये काउण्ट पेलेसिनेट कैरोलिंगियन मिसी डोमिनिकी के ही परिवर्तित रूप थे।

पुनः शार्लमन की ही तरह ओटो ने भी चर्च का उपयोग न केवल अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए किया, बल्कि उस अराजकता के युग में चर्च के आदर्शों, सभ्यता एवं धर्म-प्रचार की प्रक्रिया को भी बढ़ावा दिया। शार्लमन की ही तरह उसने भी ईसाई मत के प्रसार के लिए रक्त रंजित लड़ाइयाँ लड़ीं। ओटो का ९६२ ई० में राज्याभिषेक ८०० ई० में शार्लमन के राज्याभिषेक की पुनरावृत्ति था। यह अभिषेक भी उसी स्थान—रोम और उसी पुनर्सत्ता—पोप द्वारा सम्पन्न हुआ। इस तरह शार्लमन के धर्माधारित साम्राज्य की स्थापना हुई। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि समसामयिक लोगों एवं भावी पीढ़ियों की दृष्टि में ओटो प्रथम कैरोलिंगियन साम्राज्य का पुनर्संस्थापक था।

परन्तु चार्ल्स एवं ओटो की स्थिति में कुछ मौलिक अन्तर भी था। काल के प्रवाह एवं समसामयिक परिस्थितियों ने ओटो प्रथम की स्थिति को अपेक्षाकृत दुर्बल बना दिया था। अपने पूर्व के शासकों के परिश्रम के फलस्वरूप चार्ल्स लगभग एक संगठित फ्रैंक साम्राज्य का शासक बना था। सामन्ती विघटनकारी प्रवृत्तियाँ नवीं शताब्दी में उतनी प्रबल नहीं थी, जितनी शताब्दी में। चार्ल्स के

समय में सामन्तों की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी कि वे उसकी स्थिति को दुर्बल बना सकते। दूसरी ओर, ओटो प्रथम के समय तक सामन्तवाद की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी और बहुत से सामंन्त अपने को उसका समकक्ष मानते थे। किसी हद तक ओटो को मिलनें वाले मुकुट को सामन्तों का दान कहा जा सकता है। वस्तुतः ओटो को जीवन भर सामन्ती विरोध का सामना करना पड़ा। पुनः ओटो की शक्ति का प्रमुख स्रोत सैक्सन था जिसे ईसाई मत को स्वीकार किये हुए मुश्किल से दो सौ वर्ष हुए थे। दूसरी ओर चार्ल्स की शक्ति का आधार फ्रैंको का चार सौ वर्षों का ऐतिहासिक विकास था। इस तरह चार्ल्स कीं सफलता बहुत कुछ अनुकूल परिस्थितियों के कारण थी और ओटो की अपेक्षाकृत कम आकर्षक उपलब्धियाँ उसके समय की विषय परिस्थितियों की देन थीं।

चर्च के साथ चार्ल्स एवं ओटो के संबंधों मे एक मौलिक अंतर था। पोप ने चार्ल्स की सत्ता को कभी भी ललकारने का प्रयास नहीं किया। दूसरी ओर ओटो प्रथम को जॉन बारहवें के विरोध का सामना करना पड़ा। उसे रोम पर आक्रमण कर जॉन बारहवें की जगह पर अपने द्वारा मनोनीत व्यक्ति को पोप बनाना पड़ा। यद्यपि वहअपनेको पोप का अधिपति और पवित्र रोमन साम्राज्य का संरक्षक समझता था, फिर भी उसके मन एवं शासन परधर्म का वैसा गहरा प्रभाव नहीं था जैसा चार्ल्स के समय था। ईसाई मत के प्रसार के लिए भी वह उतना आतुरनहीं था जितना चार्ल्स। उसने न तो कोई धर्म-सभा ही बुलायी और न चार्ल्स की तरह बिसपों के उपदेशों को सुधारने का ही प्रयास किया।

जैसा कि ब्राइस ने लिखा है "ओटो का साम्राज्य विस्तार एवं आबादी की दृष्टि से चार्ल्स के साम्राज्य से छोटा था।" इसमें केवल जर्मनी और इटली का दो तिहाई भाग शामिल था, परन्तु चार्ल्स के साम्राज्य में संपूर्ण पश्चिमी यूरोप शामिल था। चार्ल्स की तुलना में ओटो का साम्राज्य कम रोमन था। अपनी राजनीतिक एवं आध्यात्मिक सत्ता को व्यापक बनाने के लिए ही केवल ओटो रोम का नाम लेता था। साम्राज्य का रोमन स्वरूप केवल इतने ही तक सीमित था। उसकी उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ प्रायः शून्य थीं। उसका लैटिन भाषा का ज्ञान साधारण था और वह चार्ल्स की तरह विद्वानों से घिरा नहीं रहता था। वस्तुतः सम्राट के रूप में वह चार्ल्स की तरह प्रभावशाली नहीं था। महत्त्वपूर्ण स्थानीय व्यक्ति प्रायः सरकारी कानूनों की अवज्ञा करते थे। उन जन-सभाओं में जहाँ ये कानून बनते या स्वीकृत होते थे, अब सशस्त्र स्वतंत्र जनों की वैसी भीड़ नहीं होती थी। ओटो प्रथम द्वारा स्थापित पवित्र रोमन साम्राज्य में चार्ल्स के साम्राज्य

की सर्वव्यापकता का अभाव था। इसकी वजह थी कि ओटो के समय तक भाषायी एवं ऐतिहासिक कारणों से राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा था। अब जर्मन, फ्रांसीसी एवं इटालियन अपनी परिगणना अलग-अलग राष्ट्रों के रूप में करने लगा वैजन्टाइन साम्राज्य से भी दोनों के संबंधों में अन्तर था। प्रारम्भिक विरोध के बावजूद वैजन्तियम ने चार्ल्स की पृथक सत्ता को स्वीकार किया था, परंतु वैजन्तिम ने ओटो प्रथम का अंत तक विरोध किया और उसकी सत्ता को कभी स्वीकार नहीं किया। भीतरी तौर पर भी ओटो प्रथम ने चार्ल्स की तरह एक साम्राज्यव्यापी प्रशासन अथवा न्याय-व्यवस्था को स्थापित करने का कोई जोरदार प्रयास नहीं किया।

उपर्युक्त अंतरों के बावजूद ओटो प्रथम की निष्ठा भावना एवं उच्च आदर्शों में संदेह नहीं किया जा सकता। वह जर्मन जाति के मध्यकालीन पवित्र रोमन साम्राज्य का संस्थापक था। अपने अथक परिश्रम द्वारा उसमें अराजकता के बीच स्थिरता एवं समृद्धि की स्थापना की और प्रत्येक क्षेत्र में अपने महान व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप छोड़ी। उसके नेतृत्व में जर्मन जाति के लोग न केवल एक राजनीतिक सूत्र में आवद्ध हो गए, वल्कि यूरोपीय जातियों में उनकी प्रतिष्ठा शासक जाति के रूप में हुई। रोम के साथ राजनीतिक सम्पर्क के कारण जर्मन जाति के ज्ञान एवं संस्कृति में उन्नति हुई। एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होने के कारण ओटो प्रथम का साम्राज्य चार्ल्स के साम्रज्य से कहीं अधिक दृढ़ और स्थायी सिद्ध हुआ। यह सही है कि ओटो का साम्राज्य मूल दृष्टि से चार्ल्स के साम्राज्य का विलम्बित रूप था, परन्तु चार्ल्स की मृत्यु के बाद प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बीत जाने के कारण, जैसा कि आर्टन ने लिखा है, "चार्ल्स की परम्परा पर आधारित होने पर भी यह वस्तुतः नवीन था।" अतः ओटो प्रथम को चार्ल्स के साम्राज्य का पुनः संस्थापक न मान कर एक नवीन साम्राज्य का नया संस्थापक मानना ही अधिक संगत होगा।

ओटो द्वितीय (९७३-९८३ ई०)

ओटो प्रथम के बाद के सैक्सन घराने के तीन राजाओं ने यथासंभव उसकी ही नीति का अनुसरण किया। ओटो द्वितीय ने साम्रज्य की सीमाओं को दृढ़ करने वैजंटाइनों के विरुद्ध दक्षिण इटली में अपनी शक्ति का विस्तार करने और अरबों को सिसली तक खदेड़ देने की चेष्टा की। परन्तु योग्य एवं ईमानदार होने के बावजूद उसमें अपने पिता की विलक्षणता का अभाव था। अपनी असाधारण पत्नी थियोफनो से प्रेरणा ग्रहण कर वह ओटो प्रथम के सामाजिक आदर्शों का पालन

करना चाहता था। परन्तु दुर्भाग्यवश ओटो प्रथम द्वारा स्थापित साम्राज्य की कमजोरियाँ अब सामने आने लगी थीं। फ्रांस के कैरोलिनिगनों के पक्षधर लोथेरिंगिया के सामन्त विद्रोही हो गए थे। हेनरी के नेतृत्व में बेवेरियावासी स्वतंत्र होने की कोशिश कर रहे थे। उसी प्रकार की पृथकतावादी प्रवृत्ति रोम में भी दिखाई पड़ रही थी। पोप बेनेडिक्ट छठे की हत्या कर उसकी जगह पर बोनिफेस सातवें को पोप बनाया जा चुका था।

ओटो द्वितीय ने सर्वप्रथम बेवेरिया की ओर ध्यान दिया। हेनरी का दमन करने के बाद बेवेरिया की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए उत्तरी बेवेरिया को बेबेनवर्ग के बरथोल्ड के अधीन रख दिया गया। बेवेरिया का पूर्वी भाग लियुटपोल्ड के अधीन रखा गया। कारिंथिया की डची को बेवेरिया से अलग कर छोटे हेनरी को दिया गया। बाद में छोटे हेनरी को हटाकर कानराइड द रेड के पुत्र ओटो को कारिंथिया दिया गया। इस तरह बेवेरिया में शांति स्थापित हो गयी, यद्यपि दोनों हेनरियों से अब भी खतरा बना रहा। उत्तर की ओर से आक्रमण करनेवाले डेनो का भी ओटो ने सफलतापूर्वक सामना किया। परन्तु फ्रांस के राजा लोथार ने आकेन पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर लिया। बाद में ओटो ने एक प्रत्याक्रमण द्वारा लोथार को पराजित किया और दोनों पक्षों में समझौता हो गया। सन् ९८२ ई० में स्टिलों की लड़ाई में पराजित हो जाने के कारण बैजन्टाइनों एवं अरबों के विरूद्ध दक्षिण इटली में उसका अभियान असफल रहा। इस पराजय से न केवल इटली में विस्तार का उसका स्वप्न समाप्त हो गया, बल्कि उसके साम्राज्य की नींव तक हिल गयी। अरबों के साथ इस लड़ाई में सर्वश्रेष्ठ जर्मन सामन्त मारे गए। शीघ्र ही सीमा द्वारा विजित सभी उत्तरी प्रदेश जर्मनी से अलग हो गए। पोप के प्रति भी उसकी नीति समान रूप से असफल रही। जॉन चौदहवां को उसके द्वारा पोप चुने जाने से रोमनों को निराशा हुई। उन्होंने पहले बोनिफेस सप्तम को और उसकी मृत्यु के बाद दुराचारी जॉन पन्द्रहवाँ को पोप बनाया।

ओटो तृतीय (९८३-१००२ ई०)

ओटो तृतीय के प्रायः दो दशकों के शासनकाल में साम्राज्य की वास्तविकता के ऊपर सिद्धान्त की विजय हुई। उसकी सर्वोच्च आकांक्षा थी कि वह एक सुधरे हुए चर्च की सहायता से रोमन साम्राज्य की पुनर्स्थापना करे। परन्तु २२ वर्ष की अल्प आयु में ही उसकी मृत्यु हो गयी और उसका स्वप्न अधूरा ही रह गया। उसके प्रायः दुर्बोध चरित्र, पोप के संरक्षण में उसकी शिक्षा और साम्राज्य की पवित्रता में उसके अटूट विश्वास के कारण वह पृथ्वी पर वैसे दैवी राज्य की

कल्पना करने लगा जिसमें पोप एवं सम्राट् के सहयोग से पूर्ण शान्ति एवं सुख हो। ईसा के जन्म की सहस्त्र वार्षिकी युग में शासन करते हुए वह रोम की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर उसे एक विश्वव्यापी साम्राज्य का केन्द्र बनाना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता था। स्वाभावतः कल्पनाशील होने के कारण ओटो अपने युग की वास्तविकताओं को भूलकर प्रायः असंभव आदर्शों एवं उद्देश्यों की पूर्त्ति में लग गया। जर्मनी के लोग उस समय भी प्रायः बर्बर ही थे। अराजकता फैली हुई थी। चर्च में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। अतः किसी भी ओर से समुचित सहायता मिलने की आशा कम थी। उसके आदर्श निःसंदेह उदात्त, उच्च एवं स्वार्थरहित थे, परन्तु उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वे सर्वथा अव्यावहारिक थे। अतः विश्व का आश्चर्य एवं साम्राज्य का पुनर्संस्थापक बनने की उसकी इच्छा पूरी न हो सकी।

ओटो तृतीय की कल्पना के साम्राज्य की राजधानी रोम में ही हो सकती थी। अतः उसने एमेन्टाइन के निकट प्राचीन सीजरों के राजमहलोंवाली जगह पर अपना महल बनवाना शुरू किया। सरल सैक्सन जीवन का परित्याग कर उसने बैजन्टाइन दरबारी तौर-तरीकों को अपनाया। महाप्रतिहार, सचिव एवं सेनापतियों के जर्मन नाम समाप्त कर बैजन्टाइन नाम रखे गए। अपने पूर्व के शासकों के साधारण विरुद्ध इम्पेरेटर की जगह उसने रोमेनोरूम इम्पेरेटर का विरुद्ध धारण किया। धर्माधारित एवं सर्वव्यापी इस साम्राज्य की सफलता के लिए पोप एवं सम्राट के बीच पूर्ण सहयोग का होना आवश्यक था। इस उद्देश्य से सात धर्माध्यक्षों की एक समिति बनाई गई जिसे सम्राट को अनुशासित करने एवं पोप को निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। स्पष्ट है कि अपनी कोरी कल्पना शीलता के कारण उसने साम्राज्य के वास्तविक हितों की उपेक्षा की। सन् ९९६ ई० में आल्प्स को पार कर यह इटली पहुँचा। रोमवासियों के आग्रह पर उसने चौबीसवर्षीय ब्रूनो को ग्रिगोरी पंचम के नाम से नया पोप नियुक्त किया। नये पोप ने २५ मई ९९६ को ओटो तृतीय का सम्राट के रूप में अभिषेक किया।

ब्रूनों की पोप के रूप में नियुक्ति कई अर्थों में लाभप्रद सिद्ध हुई। इससे पोप एवं सम्राट की नीतियों में तालमेल बैठाने में सुविधा हुई। नये पोप ने फ्रांस के पादरियों को अपनी बात मानने के लिए बाध्य किया। फ्रांस के राजा रॉबर्ट के गैरकानूनी विवाह के लिए आलोचना की गई और बोहेमिया के धर्मप्रचारक एडेलबर्ट को प्रशियन विधर्मियों के बीच भेजा गया जहाँ दुर्भाग्यवश उसकी हत्या हो गई। इसी बीच रोम में एक विद्रोह हो गया, परन्तु इसे बलपूर्वक दबा दिया

करना चाहता था। परन्तु दुर्भाग्यवश ओटो प्रथम द्वारा स्थापित साम्राज्य की कमजोरियाँ अब सामने आने लगी थीं। फ्रांस के कैरोलिनिगनों के पक्षधर लोथेरिंगिया के सामन्त विद्रोही हो गए थे। हेनरी के नेतृत्व में बेवेरियावासी स्वतंत्र होने की कोशिश कर रहे थे। उसी प्रकार की पृथकतावादी प्रवृत्ति रोम में भी दिखाई पड़ रही थी। पोप बेनेडिक्ट छठे की हत्या कर उसकी जगह पर बोनिफेस सातवें को पोप बनाया जा चुका था।

ओटो द्वितीय ने सर्वप्रथम बेवेरिया की ओर ध्यान दिया। हेनरी का दमन करने के बाद बेवेरिया की सुरक्षा को ध्यान ये रखते हुए उत्तरी बेवेरिया को बेबेनबर्ग के बरथोल्ड के अधीन रख दिया गया। बेवेरिया का पूर्वी भाग लियुटपोल्ड के अधीन रखा गया। कारिंथिया की डची को बेवेरिया से अलग कर छोटे हेनरी को दिया गया। बाद में छोटे हेनरी को हटाकर कानराइड द रेड के पुत्र ओटो को कारिंथिया दिया गया। इस तरह बेवेरिया में शांति स्थापित हो गयी, यद्यपि दोनों हेनरियों से अब भी खतरा बना रहा। उत्तर की ओर से आक्रमण करनेवाले डेनों का भी ओटो ने सफलतापूर्वक सामना किया। परन्तु फ्रांस के राजा लोथार ने आकेन पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर लिया। बाद में ओटो ने एक प्रत्याक्रमण द्वारा लोथार को पराजित किया और दोनों पक्षों में समझौता हो गया। सन् ९८२ ई० में स्टिलों की लड़ाई में पराजित हो जाने के कारण बैजन्टाइनों एवं अरबों के विरूद्ध दक्षिण इटली में उसका अभियान असफल रहा। इस पराजय से न केवल इटली में विस्तार का उसका स्वप्न समाप्त हो गया, बल्कि उसके साम्राज्य की नींव तक हिल गयी। अरबों के साथ इस लड़ाई में सर्वश्रेष्ठ जर्मन सामन्त मारे गए। शीघ्र ही सीमा द्वारा विजित सभी उत्तरी प्रदेश जर्मनी से अलग हो गए। पोप के प्रति भी उसकी नीति समान रूप से असफल रही। जॉन चौदहवां को उसके द्वारा पोप चुने जाने से रोमनों को निराशा हुई। उन्होंने पहले बोनिफेस सप्तम को और उसकी मृत्यु के बाद दुराचारी जॉन पन्द्रहवाँ को पोप बनाया।

ओटो तृतीय (९८३-१००२ ई०)

ओटो तृतीय के प्रायः दो दशकों के शासनकाल में साम्राज्य की वास्तविकता के ऊपर सिद्धान्त की विजय हुई। उसकी सर्वोच्च आकांक्षा थी कि वह एक सुधरे हुए चर्च की सहायता से रोमन साम्राज्य की पुनर्स्थापना करे। परन्तु २२ वर्ष की अल्प आयु में ही उसकी मृत्यु हो गयी और उसका स्वप्न अधूरा ही रह गया। उसके प्रायः दुर्बोध चरित्र, पोप के संरक्षण में उसकी शिक्षा और साम्राज्य की पवित्रता में उसके अटूट विश्वास के कारण वह पृथ्वी पर वैसे दैवी राज्य की

की शक्ति में वृद्धि करने की नीति के कारण जर्मन चर्च उसका विरोधी बन गया। इसी तरह ओटो के रोम की तरफ अधिकाधिक आकर्षित होने के कारण जर्मन ड्यूकों एवं सामंतों पर उसका नियंत्रण घट गया। उसकी अनुपस्थिति में जर्मन ड्यूकों एवं सामंतों की शक्ति बढ़ती गई और ओटो जीवन-भर जर्मनी से इटली और जर्मनी भाग-दौड़ करता रहा। उत्तर-पूर्व की ओर जर्मन विस्तार की नीति के परित्याग की भी जर्मनी में सहज प्रतिक्रिया हुई। रोमन कानूनों में ओटो आस्था, बैजन्टाइन रीति-रिवाजों पदों एवं विरुदों में उसकी रुचि और इटली एवं जर्मनी के चर्चों को एक ही महाविशप के अधीन करने का परिणाम हुआ कि साम्राज्य के भीतर जर्मनी का विशिष्ट महत्व घटता गया। अपनी शक्ति के स्रोत जर्मनी का महत्त्व समझने में वह असमर्थ रहा, अतः अंत में उसे केवल निराशा ही हाथ लगी। पुनः, इटली की ओर उसके पक्षपातपूर्ण व्यवहार से उस देश का भी लाभ हुआ हो, सो बात नहीं थी। सम्पूर्ण इटली में निरंतर विद्रोह होते रहे और वस्तुतः उसने इटली को ठीक उसी स्थिति में ला दिया जो स्थिति वहाँ ओटो प्रथम के शासनकाल से पहले थी।

हेनरी द्वितीय (१००२-२४)

सैक्सन घराने का अन्तिम शासक हेनरी द्वितीय था। सन् १००२ ई० में ओटो तृतीय की बाईस वर्ष की अल्प आयु में ही अकाल मृत्यु हो जाने के कारण न केवल उसके दुर्भाग्यपूर्ण शासन का अन्त हुआ, बल्कि उसके साथ ही ओटो महान के पुरुष वंशधरों की परम्परा भी समाप्त हो गई। एक संक्षिप्त गृह-युद्ध एवं लंबी बातचीत के बाद हेनरी द फाउलर का पौत्र एवं बेवेरिया का ड्यूक हेनरी द्वितीय गद्दी पर बैठा। यद्यपि फ्रैंकों एवं सैक्सन ने हेनरी द्वितीय को शासक रूप में स्वीकार किया, इटली वालों ने साफ इनकार कर दिया। उन्होंने पेभिया की खाली गद्दी पर आरड्वाइन को बिठाया। परन्तु उसकी स्वार्थ पूर्ण नीति के कारण उसे शीघ्र ही गद्दी से उतार भी दिया गया। इटालियन सामन्तों के एक दल ने पोप की सहमति से हेनरी द्वितीय को सम्राट पद स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया। उस समय तक हेनरी स्वयं इटली में प्रवेश कर चुका था। उसकी सशक्त सेना का विरोध करना इटली के किसी भी वर्ग के लिए संभव न था। अतः पोप बेनेडिक्ट ने संत पीटर के गिरिजाघर में १४ फरवरी १०१४ ई० के दिन हेनरी द्वितीय का सम्राट के रूप में अभिषेक किया। हेनरी ने साम्राज्य की चिरंतनता एव पोपतंत्र के साथ मैत्री का आश्वासन दिया। परन्तु लोम्बार्डी के पूर्ण दमन से पूर्व ही उसे जर्मनी लौटना पड़ा। उसकी अनुपस्थिति में आरड्वाइन ने अपने समर्थकों के साथ

मिलकर विद्रोह किया, परन्तु विशप लियों ने अन्य विशपों के साथ मिलकर उसका सामना किया। अतः लाचार होकर आरड्वाइन को एक मठ में शरण लेनी पड़ी जहाँ १०१५ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

लोम्बार्डों का दमन करने के निमित्त हेनरी द्वितीय १०२१ ई० में तीसरी बार इटली गया। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उसे सफलता भी मिली। तदुपरांत उसने चर्च में आवश्यक सुधार लाना आरम्भ किया। वह चाहता था कि चर्च पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण बना रहे। राज्य द्वारा बिशपो की नियुक्ति पर वह विशेष जोर देता था। बिशपों को भूमि एवं कार्य क्षेत्र के विशेष अनुदान देकर उसने उन्हें अपना समर्थक बना लिया। चर्च की समस्या को वह विशेष महत्त्व देता था, परन्तु राज्य के अन्य स्वार्थों की भी उसने उपेक्षा नहीं की। ओटो तृतीय की नीति के ठीक विरुद्ध उसने जर्मनी पर अधिक ध्यान दिया। विद्रोहियों का दमन कर और उन प्रदेशों को जो साम्राज्य से अलग हो गये थे पुनः साम्राज्य में शामिल कर उसने सम्राट पद के महत्व की पुनर्स्थापित। परन्तु उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। १०२४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

कॉनराड द्वितीय (१०२४-३९)

सन् १०२४ ई० में हेनरी द्वितीय की मृत्यु के साथ ही सैक्सन राजवंश का भी अन्त हो गया। अब राजाओं के चुनाव की पुरानी पद्धति को अपनाया गया जिसके अनुसार फ्रैंकोनिया के ड्यूक कॉनराड द्वितीय को सेलियन अथवा फ्रैंको-निया राजवंश के प्रथम शासक के रूप में चुना गया। कॉनराड द्वितीय ने अपने पंद्रहवर्षीय शासनकाल में हेनरी द्वितीय के अधूरे काम को पूरा किया। जर्मन राजाओं के बीच यह अत्यन्त शक्तिशाली एवं सर्वाधिक दूरदर्शी शासक सिद्ध हुआ एक ओर तो उसने बिशपों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण बनाए रखा और दूसरी ओर उन्हें और भूमि अनुदान के रूप में न देकर राजकीय भू-संपदा को अक्षुण्ण बनाए रखा। वस्तुतः उसने राज्य की भू-संपदा एवं शक्ति को बढ़ाने का हर सम्भव उपाय किया। बरगंडी के अन्तिम राजा ने अपने राज्य का। उत्तराधिकार कॉनराड को दिया था। इस तरह वह बरगंडी का भी शासक बन गया। जर्मन डचियों को भी उसने या तो स्वयं हथिया लिया अथवा अपने परिवार वालों के बीच बाँट दिया। उसने प्रजा को सीधे राजा को सैनिक सेवा करने को कहा। साथ-ही-साथ उसने छोटे सामन्तों की उनके सामन्ती अधिपतियों से रक्षा की। राजकीय प्रशासकों के एक नवीन वर्ग का उसने सृजन किया और राज्य की आमदनी के प्रत्येक स्रोत जैसे बाजारों आदि का पूरा-पूरा उपयोग किया। इस तरह साम्राज्य का विस्तार कर

सीमाओं को सुरक्षित कर, छोटे सामन्तों को अपने प्रति वफादार बनाकर और डचियों पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर कॉनराड द्वितीय ने अपने पुत्र हेनरी तृतीय के समृद्ध शासनकाल का मार्ग प्रशस्त किया।

हेनरी तृतीय (१०३९-५६ ई०)

कॉनरड द्वितीय के बाद उसका पुत्र हेनरी तृतीय गद्दी पर बैठा। कॉनराड द्वितीय की कुशलता एवं व्यावहारिक नीति के कारण जर्मन राजतंत्र इतना सशक्त हो गया था कि उसका पुत्र लगभग निर्विरोध गद्दी पर बैठ सका। वस्तुतः उससे पूर्व कोई भी अन्य जर्मन शासक इतनी अनुकूल स्थिति में गद्दी पर आसीन नहीं हुआ था। अपने उच्च पद को सँभालने लायक शिक्षा उसे मिली थी। इसका बहुत कुछ श्रेय उसकी माता गिसेला को था। पिता के जीवनकाल में ही वह जर्मनी एवं बरगंडी का राजा और बेवेरिया एवं स्वेबिया का ड्यूक घोषित किया जा चुका था। पोलो एवं हंगेरियनों को पराजित करने में उसने अपने पिता की सहायता की थी। संक्षेप में शिक्षा एवं अनुभव की दृष्टि से वह कॉनराड की नीति को बनाए रखने के सर्वथा योग्य था, परन्तु साथ-ही-साथ वह पूर्व व्यवस्था को नवीन आवश्यकताओं के अनुसार ढालने में भी सक्षम था।

हेनरी तृतीय के प्रमुख उद्देश्य थे—साम्राज्य का एकछत्र शासक बनना, पवित्र रोमन साम्राज्य के आदर्श को वास्तविकता में परिणत करना और चर्च में आवश्यक सुधार लाना। सर्वप्रथम उसने पवित्र रोमन साम्राज्य के आदर्श को वास्तविकता में परिणत करने की ओर ध्यान दिया। पोलैंड, बोहिमिया और हंगरी के विरुद्ध उसे तत्काल सफलता मिली। पोलैंड में आंतरिक झगड़ों के कारण हेनरी का काम आसान हो गया। बोहिमिया में अवश्य उसे थोड़ी दिक्कत हुई। बोहिमिया का ड्यूक ब्रेटिस्लाव महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह अपने को बोहिमियनों का राष्ट्रीय नेता बनाना चाहता था और प्राग की बिशपी को राष्ट्रीय आर्कबिशपी में बदलना चाहता था। सन् १०४१ ई० में हेनरी तृतीय ने ब्रेटिस्लाव पर आक्रमण कर उसकी सभी योजनाओं को विफल कर दिया। हंगरी में स्थिति बोहिमिया से भी कठिन थी। सम्पूर्ण हंगरी में ईसाई मत का विरोध हो रहा था। वहाँ के निवासियों ने आबा को गद्दी पर बिठाया था। परंतु दो वर्षों के भीतर तीन बार आक्रमण कर १०४४ ई० तक हेनरी ने आबा की शक्ति को नष्ट कर दिया। उसके उत्तराधिकारी पीटर ने हेनरी की अधीनता स्वीकार कर ली। अगले वर्ष हेनरी हंगरी पहुँचा और वहाँ मैग्यार सामन्तों ने उसे अपना अधिपति मान लिया। चार वर्ष बाद हंगरी में

एक वार पुनः गड़वड़ी फैली। गद्दी से उतारे गए आवा के एक संवंधी एण्ड्रू ने पीटर को हटाकर गद्दी पर कब्जा कर लिया। इससे हंगरी में हेनरी की स्थिति कमजोर तो पड़ गयी, किन्तु एन्ड्रू ने खुले आम हेनरी का विरोध करने का साहस नहीं किया।

हेनरी तृतीय को पूर्व में जैसी सफलता मिली वैसी ही सफलता पश्चिम में मिलने की आशा कम थी। यद्यपि प्रारम्भिक कैपेसियन शासक दुर्वल थे, उनके विरूद्ध कोई आक्रमण करने से समूचे फ्रांस के जर्मनी के खिलाफ हो जाने की सभावना थी। अतः हेनरी ने फ्रांस के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया। १०३८ ई० में अपनी प्रथम पत्नी का देहान्त हो जाने पर उसने अक्विटेन के विलियम पंचम की कन्या एग्नेस से विवाह किया। इससे फ्रांस के साथ उसकी मित्रता दृढ़ हुई ही, साथ-ही-साथ वहाँ के क्लुनिएक आंदोलन को भी उसका सहयोग प्राप्त हुआ। इस तरह गद्दी पर बैठने के कुछ वर्षों के भीतर ही उसने पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही ओर अपनी स्थिति मजबूत कर ली। तदुपरांत उसने जर्मनी के आंतरिक मामलों की ओर ध्यान दिया। कॉनराड द्वितीय की छोटे सामन्तों को वड़े सामन्तों के विरूद्ध उभाड़ने की नीति के कारण जर्मनी में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। हेनरी ने कान्सटान्स की सभा में अपने सभी शत्रुओं को क्षमा कर देने की घोषणा की और सामन्तों से अपने सभी पारस्परिक झगड़ों को समाप्त कर देने का आग्रह किया। सभी डचियों को अपनी मुट्ठी में रखने की अपने पिता की नीति का परित्याग कर उसने ड्यूकों को संतुष्ट रखने का प्रयास किया। उसने कुछ डचियों को या तो खाली रखा या उन्हें कुछ वर्षों के लिए अपने स्वेवियन तथा फ्रैंकोनियन संवंधियों को दे दिया। इससे स्थानीय स्वायतता की भावना दब-सी गयी। इसके बाद हेनरी ने इटली की ओर ध्यान दिया। हेनरी द्वितीय अथवा कॉनराड द्वितीय ने पोप के चुनाव में हस्तक्षेप नहीं किया था। वस्तुतः कानराड द्वितीय को तो रोम की राजनीति में कोई अभिरुच थी ही नहीं। इस बीच रोम की स्थिति इतनी खराब हो गयी थी कि सम्पूर्ण ईसाई जगत में चिंता व्याप्त हो गयी। पोप बेनेडिक्ट नवम् पतित जीवन व्यतीत कर रहा था। उसके विरोधियों ने सिलवेस्टर तृतीय को पोप घोषित किया था। कहा जाता है कि पादरी जीवन से ऊब कर वेनेडिक्ट विवाह करना चाहता था। इससे उसके विरोधियों की संख्या और भी बढ़ गयी। तग आकर उसने अपना पद जॉर्ज छठा को बेच दिया। हेनरी तृतीय को इटली में सबसे पहले पोपतंत्र से निपटना था। एग्नेस से विवाह के कारण वह क्लुनिएक सुधारों का समर्थक बन गया था। रोमन चर्च में सुधार लाने के लिए सर्वप्रथम पोपतंत्र में सुधार लाना आवश्यक था। सन् १०४६ ई० में पेभिया की धर्म-सभा में उसने

धर्मपदविक्रय के विरुद्ध नियम स्वीकृत कराया। उसी वर्ष एक अन्य धर्म-सभा ने ग्रिगोरी छठा को पोप पद से हटा दिया। इसी सभा ने पोप पद पर सिलवेस्टर तृतीय के दावे को भी अस्वीकार कर दिया। तीसरी धर्म-सभा रोम में हुई। इस सभा ने बेनेडिक्ट नवां को पोप पद से हटाकर बैम्बर्ग के विशप को क्लिमेंट द्वितीय के नाम से पोप बनागया। क्लिमेंट ने हेनरी तृतीय एवं एग्नेस का अभिषेक किया। क्लिमेंट द्वितीय की १०४८ ई० में मृत्यु हो गयी। हेनरी ने ब्रिक्सेन के विशप को डेमसस द्वितीय के नाम से पोप बनाया। परन्तु डेमसस की शीघ्र ही मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी हेनरी का संबंधी ब्रूनो था जो लियो नवम के नाम से १०४८ से १०५४ ई० तक पोप पद पर बना रहा। लियो की मृत्यु के बाद हेनरी ने विक्टर द्वितीय (१०५४-१०५७) को पोप पद पर नियुक्त किया। इस तरह हेनरी के शासनकाल में चर्च प्रायः पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में आ गया, यद्यपि पोप पद की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई। दक्षिण इटली में हेनरी ने जर्मन ड्रोगो को अपुलिया का और रेनुल्फ को अमरसा का काउण्ट स्वीकार कर लिया। इस तरह वे पश्चिमी सम्राट के अधीन हो गए, यद्यपि उनकी स्थिति प्रायः स्वतंत्र शासकों की बनी रही। जर्मनी से अनुपस्थित रहने के कारण वहाँ निम्न राइन प्रदेश एवं बेवेरिया में विद्रोह हुए, परन्तु उन्हें आसानी से दबा दिया गया। दुर्भाग्यवश तीस वर्ष की अल्प आयु में ही हेनरी की मृत्यु हो गयी।

हेनरी तृतीय ने जर्मन राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखा। उसने जर्मनी को आंतरिक शांति एवं एकता प्रदान कर एक शक्तिशाली शासन व्यवस्था को स्थापित किया। जर्मनी एवं इटली में उसकी महान सफलताओं को ध्यान में रखते हुए उसकी गणना जर्मनी के महानतम शासकों में की जा सकती है। ब्राइस के शब्दों में "हेनरी तृतीय के शाशनकाल में साम्राज्य की शक्ति का चरम उत्कर्ष हुआ"। वस्तुतः ओटो नामधारी शासको द्वारा पुनस्थापित साम्राजिक शक्ति का मध्य युग में सर्वाधिक विकास हेनरी तृतीय के शासनकाल में ही हुआ। उसकी देख-रेख में एक कुशल शासन-व्यवस्था की स्थापना तो हुई ही, कला एवं साहित्य की भी उन्नति हुई। जर्मनी का स्वरूप प्रायः एक राष्ट्र का हो गया, पोपतंत्र में सुधार हुआ और चर्च में पवित्रता आयी। परन्तु साथ-ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हेनरी तृतीय के शासनकाल में ही साम्राज्य की कमजोरी के भी तत्त्व साफ-साफ परिलक्षित होने लगे थे। जर्मनी की आंतरिक शांति केवल सतही थी। सामन्तीवर्ग प्रायः विद्रोह की स्थिति में था और समान्य जनता भी असंतुष्ट थी। इटली में सुधारवादी हिल्डब्रैंड और उसके सहयोगी चर्च पर राज्य के नियंत्रण का विरोध करने की

तैयारी में थे। हेनरी द्वारा क्लुनिएक सुधारकों को समर्थक मिलने का परोक्ष प्रभाव यह पड़ा कि पोपतंत्र की वास्तविक शक्ति बढ़ती गयी जो आगे चलकर साम्राज्य की शक्ति के लिए घातक सिद्ध हुई। वह यह समझने में असमर्थ रहा कि १०४९ ई० में रीम्स की धर्म-सभा में ही साम्राज्य एवं पोपतंत्र के बीच पदस्थापन संघर्ष का आरम्भ हो गया था। उसने साम्राज्य के राजनीतिक स्वार्थों की उपेक्षा कर अपनी धार्मिक मान्यताओं को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास किया। ओटो महान की तरह उसने भी विशपों को प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया। जर्मन ड्यूकों एवं पादरियों के बीच इस नीति की सहज प्रतिक्रिया हुई। उसकी मृत्यु के समय तक ऐसा लगता था कि सुधारवादी एवं स्वावलम्वी पोपतंत्र और विद्रोही जर्मन सामन्त आपस में मिलकर जर्मन राजतंत्र का विरोध करने ही वाले थे। ठीक ही कहा गया है कि हेनरी तृतीय ने अपने पुत्र के लिए पचासवर्षीय आपदाओं की सृष्टि की।

हेनरी चतुर्थ (१०५६-११०६ ई०) :

१०५६ ई० में हेनरी तृतीय का उत्तराधिकारी हेनरी चतुर्थ गद्दी पर बैठा। उस समय वह केवल छह वर्ष का था। विद्रोही जर्मन सामन्तों के सुधारवादी पोपतंत्र से मिल जाने की संभावना के कारण जर्मन राजतंत्र की स्थिति सचमुच विषम थी। हेनरी चतुर्थ के नाबालिग होने के कारण भी गड़बड़ी फैली हुई थी। सन् १०६५ ई० में बालिग होने के बाद ही हेनरी अपने को दूसरों के प्रभाव से मुक्त कर एक स्वतंत्र नीति को अपना सका। नवयुवक राजा ने चर्च की संपत्ति का राज्य के लिए उपयोग करना शुरू किया। इससे सुधारवादी पादरियों को निराशा हुई और उन्होंने पोप से हस्तक्षेप करने का आग्रह किया। फ्रांस के केपेसियन राजाओं की तरह हेनरी भी जर्मन राजतंत्र को सुदृढ़ बनाना चाहता था। उसने योजनाबद्ध रूप से सैक्सनी एवं थुरिंगिया पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के अतिरिक्त उन प्रदेशों से होनेवाली आमदनी का राज्य के लिए उपयोग करना शुरू किया। उसकी कठोर नीति के कारण १०७३ ई० में सैक्सनों ने विद्रोह कर दिया। उसी समय पोप ग्रिगोरी सप्तम भी जर्मन राजतंत्र का खुले-आम विरोध कर रहा था। सन् १०७५ ई० तक हेनरी ने सैक्सनी में विद्रोह को दबा दिया। पोप द्वारा दी जाने वाली जातिबहिष्करण की धमकी का जवाब उसने वर्म्स की धर्म-सभा में दिया। २४ जनवरी, १०७६ को वर्म्स में जर्मन विशपों की धर्म-सभा हुई। इस सभा ने ग्रिगोरी को पोप की गद्दी से उतरने का आदेश दिया। दूसरी ओर ग्रिगोरी ने हेनरी के गद्दी से उतारे जाने और जाति से बहिस्कृत किए जाने का

आदेश दिया। इससे जर्मनी में सर्वत्र अराजकता फैल गई। जर्मन चर्च की एकता समाप्त हो गई और जर्मन सामन्तों ने हेनरी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। भयभीत हेनरी पोप से क्षमा याचना करने इटली स्थित कनोस्सा पहुँचा। कालांतर में उसकी यह कनोस्सा-यात्रा जर्मन राजतंत्र की घोर मानहानि का प्रतीक बन गई। दूसरी ओर जर्मन सामन्तों ने स्वेविया के ड्यूक रुडोल्फ को अपना राजा चुन लिया। परंतु रुडोल्फ को हेनरी के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। सन् १०८० ई० में ग्रिगोरी ने दूसरी बार हेनरी के गद्दी से उतारे जाने एवं जाति से बहिष्कृत किए जाने की घोषणा की। ग्रिगोरी ने रुडोल्फ का समर्थन किया, परन्तु १०८० ई० में ही रुडोल्फ एक लड़ाई में मारा गया। अब हेनरी की प्रेरणा से मेंज में हुई जर्मन पादरियों की एक सभा ने ग्रिगोरी को पोप पद से हटाने का आदेश दिया। हेनरी अपनी सेना के साथ १०८४ ई० में इटली में प्रविष्ट हुआ। हेनरी द्वारा मनोनीत पोप गिलबर्ट ने हेनरी का रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक किया। मई, १०८५ ई० में ग्रिगोरी की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी अरबन द्वितीय को कई वर्षों तक हेनरी द्वारा मनोनीत पोप से संघर्ष करना पड़ा। हेनरी के विरुद्ध गद्दी से उतारे जाने और जातिबहिष्करण का आदेश अभी भी लागू रहा। पोपअरबन द्वितीय (१०८८-९९ ई०) और पैस्कल द्वितीय (१०९९-१११८ ई०) जर्मन सामंतों को हेनरी के विरुद्ध भड़काते रहे। हेनरी के पुत्र कॉनराड ने जब उसके खिलाफ विद्रोह किया तो इटली में उसका स्वागत हुआ। हेनरी के दूसरे पुत्र ने भी विद्रोह किया और कुछ जर्मन सामंतों ने उसे हेनरी पंचम के नाम से जर्मनी का राजा चुन लिया। परन्तु जर्मनी के विभिन्न नगर हमेशा हेनरी चतुर्थ का ही साथ देते रहे और ११०६ ई० में अपनी मृत्यु तक वह किसी-न-किसी तरह गद्दी पर अधिकार बनाए रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र हेनरी पंचम गद्दी पर बैठा। उसी के शासनकाल में वर्म्स की धर्मसन्धि हुई जिसके द्वारा पोपतंत्र एवं जर्मन राजतंत्र के बीच का लम्बा संघर्ष समाप्त हुआ।

होहेनस्टौफेन राजवंश

सन् ११२५ ई० में हेनरी पंचम की मृत्यु के बाद बिशपों एवं सामंतों ने संयुक्त रूप से उसके सबसे निकट संबंधी स्वेविया के होहेनस्टौफेन ड्यूक फ्रेडरिक के गद्दी पर बैठने का विरोध किया। उन्होने सैक्सनी के ड्यूक लोथेयर को अपना राजा चुना। लोथेयर ने ११२५ से ११३७ ई० तक शासन किया। वह चर्च के प्रति आज्ञाकारी था और वह पहला जर्मन राजा था जिसने अपने राजपद की अभिपुष्टि पोप द्वारा कराई। हेनरी द फाउलर की तरह वह भी सामन्तों के साथ समझौते की नीति में विश्वास करता था। पोप इनोसेंट द्वितीय ने लोथेयर का सम्राट् के रूप

में अभिषेक तो किया, परन्तु साथ-ही-साथ उसे टस्कनी की जागीर देकर उसे पोप का अधीनस्थ सामंत सिद्ध किया। अभिषेक के दृश्य को एक तस्वीर में चित्रित किया गया जिसमें लोथेयर को घुटने के बल बैठकर पोप से मुकुट प्राप्त करते दिखल या गया।

लोथेयर की मृत्यु के बाद ११३८ ई० में पादरियों एवं सामंतों ने मिलकर प्रथम हाहेनस्टौफेन राजा, स्वेविडा के ड्युक कॉनराड तृतीय को गद्दी पर बिठाया। कॉनराड तृतीय ने ११३८ से ११५२ ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। वेल्फ घराना के हेनरी द प्राउड और हेनरी द लायन से अपने झगड़ों को सुलझाये बिना ही वह ११४७ ई० में द्वितीय धर्मयुद्ध में भाग लेने चला गया। वहाँ से लौटकर उसकी स्थिति और कमजोर पड़ गई। वह अपने शासनकाल में कभी भी इटली न जा सका और इटलीवासी धीरे-धीरे जर्मन राजाओं को भूलते जा रहे थे। स्वयं जर्मनी में सर्वत्र हिंसा, पारस्परिक युद्ध और राजनीतिक द्वेष व्याप्त था। कॉनराड की अनुपस्थिति में सैक्सनी के ड्यूक हेनरी द लायन ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। कॉनराड और हेनरी की लड़ाई के कारण जर्मनी में फैली हुई गड़बड़ी और भी व्यापक हो गई। उसके शासनकाल में एक महत्वपूर्ण बात यही हुई कि पूर्व की ओर सैक्सनी की सीमा बढ़ते-बढ़ते ल्युवेक और ब्रैंडेनवर्ग तक पहुँच गई।

फ्रेडरिक प्रथम (बारबेरोसा, ११५२-११९० ई०

लोथेयर और कॉनराड तृतीय दोनों ही बहुत मामूली शासक थे। अतः, ११५२ ई० में कॉनराड तृतीय की मृत्यु के बाद, राजशक्ति को सदैव दुर्बल बनाए रखने की इच्छा रखने वाले सामंतों ने भी ऐसे राजा की आवश्यकता को महसूस किया जो जर्मनी में सर्वत्र फैली अराजकता को दूर कर साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित कर सके। इसीलिए ११५२ ई० में जर्मन सामंतों ने कॉनराड तृतीय के बड़े लड़के की जगह उसके भतीजे स्वेबिया के ड्यूक फ्रेडरिक को सर्वसम्मति से अपना राजा चुना। कॉनराड तृतीय का भतीजा होने के नाते वह होहेनस्टौफेन तो था ही, साथ ही माता की ओर से वह कॉनराड तृतीय के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी वेल्फ परिवार के हेनरी द लायक से भी सम्बद्ध था। अपने आकर्षक चेहरे एवं सुनहरी दाढ़ी के कारण वह राँटबार्ट अथवा बारबेरोसा के नाम से विख्यात हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने वेल्फ परिवार से समझौता कर लिया।

मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में फ्रेडरिक बारबेरोसा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः ओटो महान के बाद के बाद मध्यकालीन यूरोप में उसके

सदृश वहुत कम शासक हुए। उसने पवित्र रोमन साम्राज्य के विचार को न केवल पुनर्जीवित किया वल्कि उसके साम्राज्य के रूप में उस ऐतिहासिक कल्पना की सर्वश्रेष्ठ मध्यकालीन अभिव्यक्ति हुई। उसने जर्मन राजतंत्र की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को पुनस्थापित किया। जर्मनी में फैली हुई अराजकता को समाप्त किया। थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो, उसने ईसाई जगत पर पोप की राजनीतिक सार्वभौमिकता के मिथ्या सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। यद्यपि उसके शासनकाल में इटली लगभग साम्राज्य से अलग हो गया परन्तु नॉर्मन इटली से उसके वैवाहिक संवन्ध स्थापित करने के कारण उसके पुत्र के शासनकाल में उस क्षेत्र के साम्राज्य में शामिल हो जाने का मार्ग प्रशस्त हो गया। उसका प्रभाव दक्षिण में इटली से लेकर उत्तर में पौलैंड तक फैला हुआ था। साम्राज्य अपने सर्वोच्च विकास पर था और पूर्व की ओर विस्तार की नीति को फिर से अपनाया जा रहा था। वह नवीन आर्थर, नवीन सीजर अथवा सिकन्दर था जिसे भावी पीढ़ियाँ एक न्यायप्रिय एवं शक्तिशाली सम्राट के रूप में याद करती रही। फिर भी उसमें उस युग के सामान्य दोषों का भी सर्वथा अभाव न था। प्रशिक्षण एवं युग-धर्म की दृष्टि से वह प्रधानतः एक सैनिक था। अतः उसकी बौद्धिकता प्राचीन राजाओं एवं तेजस्वी व्यक्तियों संवन्धी कथा-कहानियों तक ही सीमित थी। परम्परा के प्रभाव से वह अपने को मुक्त न कर सका और स्वभावतः वह रूढ़िवादी था। उसके कानून नवीन आदर्शों पर आधारित न होकर सामंतवादी आदर्शों एवं आवश्यकता पर आधारित थे।

लोथेयर एवं कॉनराड तृतीय के समय में सम्राट एवं साम्राज्य की प्रतिष्ठा वहुत घट गई थी। अविराम गृह युद्धों से जर्मनी में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। जर्मन चर्च राजशक्ति का विरोधी वन गया था। इटली साम्राज्य से अलग हो गया था और हेनरी द फाउलर के वाद कॉनराड तृतीय पहला जर्मन राजा था जिसने रोमन सम्राट का विरुद्ध धारण नहीं किया। जर्मनी की हालत इतनी खराव हो गयी थी कि स्वयं सामंत भी एक शक्तिशाली एवं वुद्धिमान शासक की आवश्कता समझने लगे थे। संक्षेप में, फ्रेडरिक को जर्मनी के निर्माण का कार्य प्रायः नये सिरे से आरम्भ करना था और इसमें उसे काफी हद तक सफलता भी मिली।

जर्मनी में फैली अराजकता को दूर करने के लिए आवश्यक गुणों का भी फ्रेडरिक में अभाव न था। युवा, लम्वा, युद्धप्रिय और अभय फ्रेडरिक मध्यकालीन शौर्य का मूर्त रूप था। वह वहुत पढ़ा-लिखा नहीं था, परन्तु लैटिन भाषा

को समझता था और अपनी मातृभाषा में धाराप्रवाह बोल सकता था। वह दूरदर्शी था और शीघ्र ही निर्णय लेने में समर्थ था। वह न्यायप्रिय और सहृदय भी था, परन्तु अपराधियों को कठोर दंड देता था। अपने राज्याभिषेक के दिन एक अपराधी को माफ करना उसने अस्वीकार कर दिया और उस समय उसके कहे हुए ये शब्द चिरस्मरणीय बन गये "मैंने तुम्हें द्वेषवश नहीं बल्कि न्याय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर न्यायबाह्य किया, अतः क्षमा प्रदान करने का कोई कारण नहीं है।" वह एक जन्मजात शासक, मेधावी, निश्चितमत, अथक परिश्रमी, अत्यन्त न्यायप्रिय होने के साथ-साथ आकर्षक व्यक्तित्व वाला, सबलशरीर व्यक्ति था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का था। उसकी व्यक्तिगत जीवन दोषरहित और पवित्र था। धार्मिक कृत्यों एवं दान-पुण्य में उसका रुचि थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह न केवल एक होहेनस्टौफैन था, बल्कि अपनी माता जुडिथ के माध्यम से वह वेल्फ परिवार से भी सम्बद्ध था। इस तरह वह तत्कालीन जर्मनी के दो प्रबलतम परस्पर-विरोधी परिवारों को जोड़ने वाली कड़ी था। उसे पहले से ही प्रशासन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त था जिसका उसने आगे चलकर लाभ उठाया। अपने चाचा कॉनराड तृतीय के प्रति वफादार होने के साथ-साथ उसने बावेरिया के हेनरी द लायन के साथ भी मैत्रीपूर्ण संबन्ध बनाये रखा था। उसकी मध्यस्थता से ही ड्यूक वेल्फ छठे की विनाश से रक्षा हो सकी थी। अतः ११५२ में उसका चुनाव प्रायः सर्वसम्मति से हुआ था।

फ्रेडरिक के सामान्य एवं विशिष्ट उद्देश्य आरम्भ से ही निश्चित थे। वह राजशक्ति को पुनः सुदृढ़ बनाना चाहता था। जर्मनी में आंतरिक शान्ति स्थापित करने के अतिरिक्त इटली सहित साम्राज्य की पुनर्स्थापना चाहता था। अतीत के प्रति वह अत्यंत श्रद्धावान था। वह पवित्र रोमन साम्राज्य के सिद्धान्त में विश्वास करता था और अपने को अगस्टस एवं जस्टिनियन के विशाल साम्राज्यों का उत्तराधिकारी समझता था। उसकी राजनीति कुछ-कुछ रूमानी किस्म की थी क्योंकि जर्मनी की बजाय रोम उसे अधिक आकर्षित करता था परंतु आरम्भ में उसने जर्मन राजतंत्र को मजबूत करने की ओर ही ध्यान दिया। जर्मनी में उसकी नीति तीन उद्देश्यों पर आधारित थी, वेल्फ परिवार से झगड़ा समाप्त कर मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना, सामंतों की पारस्परिक लड़ाइयों को बंद कर जर्मनी में फैली हुई अराजकता को समाप्त करना, और जर्मन चर्च एवं चर्च-सम्पदा पर सम्राट् के नियंत्रण को पुनर्स्थापित करना। इन्हीं तीनों उद्देश्यों की पूर्ति की ओर उसने सबसे पहले ध्यान दिया।

उस समय जर्मनी में दो परिवार बहुत शक्तिशाली थे। ये दो परिवार थे—होहेनस्टौफेन और वेल्फ। इन दोनों परिवारों में आपसी दुश्मनी थी जिसके कारण इनके बीच बराबर संघर्ष चलता रहता था। सम्राट् निर्वाचित होने पर फ्रेडरिक ने वेल्फ परिवारों से अच्छा संबंध कायम करने का प्रयत्न किया। उसने हेनरी द लायन को एल्ब नदी के पार के नये क्षेत्र का प्रायः स्वतंत्र प्रशासक स्वीकार कर लिया। बावेरिया की डची जिसे कॉनराड तृतीय ने हेनरी के पिता से छीन लिया था, हेनरी को लौटा दी गई। इसके अतिरिक्त उसे सैक्सनी का भी ड्यूक स्वीकार किया गया। बेबेनबर्गरों को प्रसन्न रखने के लिए हेनरी जसोमिरगॉय को आस्ट्रिया के मार्क का प्रायः स्वतंत्र शासक स्वीकार कर लिया गया। इसी समय से डेन्यूबियन राजवंश का आरम्भ माना जाता है। वेल्फों को टस्कानी और स्पोलेटो स्थित राजकीय-भूमि भी दे दी गयी। हेनरी एवं अन्य बड़े सामन्तों की सहायता और अपने चारित्रिक बल के कारण फ्रेडरिक अब जर्मनी में फैली अराजकता को समाप्त करने तथा राजतंत्र को मजबूत करने में समर्थ हो सकता था।

जर्मनी के शक्तिशाली परिवारों को अपना मित्र बना लेने के बाद फ्रेडरिक ने जर्मन राजतंत्र की नींव को मजबूत करना शुरू किया। सबसे पहले उसने राजकीय भू-सम्पदा में वृद्धि की। उसने वेल्फ परिवार से स्वेबिया और इटली में जमीन खरीदकर राज्य-भूमि का विस्तार किया। उसने बियेट्रीज से, जो बरगंडी की काउन्टी की उत्तराधिकारिणी थी, विवाह किया। इस विवाह के फलस्वरूप उसे बरगंडी का राज्य प्राप्त हुआ। वस्तुतः फ्रेडरिक ही एकमात्र जर्मन शासक था जिसने बरगंडी पर राज्य किया। बीस वर्ष बाद जब हेनरी द लायन ने इटली में उसका साथ नहीं दिया तो उसने हेनरी की जमीन जब्त कर ली। हेनरी के पास अब केवल ब्रंसविक और लूनेबर्ग स्थित व्यक्तिगत-भूमि ही बच गयी। प्रतिद्वंद्वी वेल्फ परिवार की शक्ति अब बहुत क्षीण हो गयी। इस तरह जर्मनी पर फ्रेडरिक का एकाधिकार स्थापित हो गया। बड़ी और शक्तिशाली डचियों की संख्या नहीं के बराबर हो गयी। यद्यपि जब्त की गयी भूमि को अन्य लोगों में बाँट देने की नीति से सामन्ती प्रक्रिया में वृद्धि हुई, शक्तिशाली ड्यूकों की संख्या कम हो जाने से जर्मन राजतंत्र की स्थिति काफी मजबूत हो गयी। राजपद एवं राजदरबार की प्रतिष्ठा पुर्नस्थापित हो गयी और जर्मनी में अब फ्रेडरिक की शक्ति को कोई चुनौति नहीं दे सकता था।

जर्मनी में व्याप्त अराजकता को भी समाप्त करने की चेष्टा हुई। फ्रेडरिक प्रसिद्ध रोमन वकीलों का मित्र था और स्वयं उसने बहुत सारे कानून बनाये। इस क्षेत्र में उसकी तुलना चार्ल्स महान से की गयी है। साम्राज्य में शांति और सुरक्षा

बनाये रखने लिऐ लैंड पीस नामक कानून बनाया गया। इस कानून की विशेपता थी कि यह पहले के राजाओं द्वारा बनाये गए समान कानूनों से अधिक व्यापक था और इसे सम्पूर्ण जर्मनी में लागू किया गया। पहले से आती हुई कानून-व्यवस्था को विकसित कर स्थायी रूप दिया गया। इन कानूनों की उपेक्षा करने पर कठोर दंड दिया जाता था। हत्या और चोरी की सजा मृत्यु दंड होती थी। छोटे-छोटे अपराधों की सजा अर्थ दंड, अंगभंग तथा कोड़े की मार होती थी। भूमि संबंधी झगड़ों की सुनवाई भी अब अधिक नियमित रूप से होने लगी। फसल के बाद हर साल अनाजों का दाम निश्चित किया जाता था और निश्चित दर से अधिक दाम पर अनाज बेचने वालों को दंडित किया जाता था। सन ११५८ में रानकाग्लिया की सभा द्वारा शांति संविधान बनाया गया जिसे पूरे साम्राज्य में लागू किया गया। अब लैंडफ्रिडेन द्वारा निजी युद्ध पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया। दंड विधान एवं दंड प्रक्रिया में एकरूपता लाकर उसे समस्त साम्राज्य में प्रचलित किया गया। कहा जाता है फ्रेडरिक ने शान्ति संविधान तथा लैंडफ्रिडेन को लागू करने में बहुत सख्ती से काम लिया। बहुतों को फाँसी की सजा दी गयी, अनेक गिरिजाघर और शहर जला दिए गए। इस कड़ाई के कारण वह साम्राज्य में शान्ति स्थापित करने तथा अपराधियों का दमन करने में सफल हुआ। परन्तु आगे चलकर फ्रेडरिक के ज्यादातर इटली में व्यस्त रहने के कारण उपर्युक्त कानूनों को लागू रखना कठिन हो गया और अंत में ११८६ में उसे पुनः कुछ प्रतिबंधों के साथ निजी युद्ध के अधिकार को स्वीकार करना पड़ा। वस्तुतः जर्मनी का स्थानीय शासन उस समय तक सामंतवाद पर इतना अधिक आधारित था कि निजी युद्धों को पूर्णरूपेण रोकना प्रायः असंभव था।

शार्लमन की तरह फ्रेडरिक भी चर्च पर अपना नियंत्रण कायम करना चाहता था। इस उद्देश्य में उसे अतिशीघ्र एवं आश्चर्यजनक सफलता मिली। लोथेयर एवं कॉनराड ने अपने आपको चर्च का दास बना लिया था, परन्तु फ्रेडरिक ने ओटो सम्राटों की चर्च एवं चर्च की सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने की नीति का अनुसरण किया। उसकी चर्च-नीति को किसी भी अर्थ में पादरी वर्ग से मित्रता की नीति नहीं कहा जा सकता है। सन् ११५३ ई० में संत बरनार्ड की मृत्यु हो चुकी थी और पोपतंत्र कई संकटों से घिरा हुआ था। फ्रेडरिक ने निश्चय किया कि बिशपों एवं एबोट्स के चुनाव में उसका प्रभाव रहे। अतः ११२२ ई० की वर्म्स की धर्मसन्धि द्वारा राजतंत्र को मिले प्रत्येक अधिकार पर उसने जोर दिया और उसने देखा कि जर्मनी का पादरी—वर्ग भी राजा के इन अधिकारों का विशेष

विरोधी नहीं था। अपने राज्यारोहण के दो मास के भीतर ही उसने मैकडेवर्ग के चर्च के अधिकारी के चुनाव में हस्तक्षेप किया और जेड्ज के विशप को इस पद के लिए चुना। पहले तो पोप ने इस चुनाव को स्वीकार नहीं किया, परन्तु पीछे यह चुनाव स्वीकार कर लिया गया। साधारणतः चुनावों के समय स्वयं उपस्थित न रहकर भी फ्रेडरिक अपने विश्वासपात्र प्रतिनिधियों द्वारा चुनावों को प्रभावित करता था। प्रायः वह पोप की केन्द्रीयकरण की नीति से सहानुभूति रखने वाले विशपों की जगह अपने विश्वासपात्रों को निर्वाचित करवा लेता था। जर्मन चर्च पर नियंत्रण बनाये रखने में उसे डेसेल के रेनाल्ड और मेयेन्स के क्रिश्चियन से काफी सहायता मिली। वेनिस की शांति के बाद भी विशपों के चुनाव पर वह अपना नियंत्रण रखता था। वह इस बात पर ध्यान देता था कि उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी विशप का रिक्त स्थान भरा जाए। किसी निर्वाचन में विवाद होने पर वह स्वयं निर्णायक बन जाता था। सन् ११५२ के पीस आर्डिनांस के द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि कोई पादरी शांति भंग करने का अपराध करे तो उसे स्थानीय सामान्य न्यायालय द्वारा दंडित किया जाए। फ्रेडरिक का दावा था कि राज्य की ओर से चर्च को जो भी भूमि मिली थी, आवश्यक शर्तों का पालन न करने पर उसे वापस लिया जा सकता था। पादरियों के लौकिक कर्त्तव्यों पर भी पूरा जोर दिया जाता था और आवश्यकता के समय सैनिक सहायता न करने पर उनकी जागीर जब्त की जा सकती थी। अपनी योग्यता तथा राज्य के लिए उपयोगिता की दृष्टि से फ्रेडरिक द्वारा चुने गए अधिकांश विशप अति कुशल थे।

जर्मनी में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों पर भी फ्रेडरिक ने अपना प्रभाव स्थापित किया। उसने वेहेमिया, पोलैंड और हंगरी को भी अपने नियंत्रण में रखा। पोलैंड में बोलेस्लाव ने फ्रेडरिक की अधीनता अस्वीकार कर दी और ५०० मार्क्स जो कर के रूप में देता था, देना बन्द कर दिया। फ्रेडरिक ने पोलैन्ड पर चढ़ाई की और बोलेस्लाव को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। हंगरी का गेजा द्वितीय साम्राज्य का विरोधी बन गया था। अब उसने भी फ्रेडरिक के सम्मुख उपस्थित होकर इटली के आक्रमण में सहायता देने का वचन दिया। फ्रेडरिक ने वोहेमिका के व्लाडीस्लाभ द्वितीय को वांजेन का इलाका दिया और उसकी डची को स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया। इसके बदले में व्लाडीस्लाभ ने उसे इटली के द्वितीय आक्रमण में सहायता देने का वादा किया। इस तरह पोलैण्ड तथा हंगरी को जो फ्रेडरिक के पूर्वजों के सरदर्द थे, उसने अपने नियंत्रण में रखा। उसने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की और केन्द्रीय शासन को बहुत सबल बनाया।

सिंहासनारोहण के दो वर्ष के भीतर ही फ्रेडरिक ने जर्मनी में अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया था। अब वह अपनी योजना के दूसरे भाग को हाथ में ले सकता था—अर्थात् इटली पर साम्राजिक अधिकार को पुर्नस्थापित करना। इटली पर आक्रमण करने का समय अब आ गया था और इटली के साथ यह संघर्ष अगले तीस वर्षों तक चलता रहा जब तक कि ११८४ ई० में लोम्बार्ड लीग के साथ कान्सटांस की सन्धि न हो गई। यही वह वर्ष था जब फ्रेडरिक की प्रतिष्ठा सर्वोच्च थी। मेंज में उसके दो लड़कों के नाइट बनाए जाने के समारोह में यूरोप के सभी राज्यों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। हजारों की संख्या में नाइट भी उपस्थित थे। यद्यपि फ्रेडरिक की आयु उस समय साठ से भी अधिक हो गयी थी, वह स्वय चक्रस्पर्धाओं में शामिल हुआ। फ्रांसीसी और जर्मन गायकों ने साथ-साथ उसकी प्रशंसा के गीत गाए। परन्तु शायद इसी वर्ष उसकी प्रशसा के गीत गाए। परन्तु शायद इसी वर्ष उसकी शक्ति न्यूनतम थी क्योंकि तीस वर्षों की अविराम लड़ाई के बाद उसने इटली में जो कुछ भी हासिल किया था उसे अधिक-से-अधिक एक काम-चलाऊ समझौता ही कहा जा सकता है।

सैक्सन और सेलियन सम्राटों के सभी प्रयासों के बावजूद इटली पर सामाजिक नियंत्रण कभी भी बहुत दृढ़ नहीं था। ग्यारहवीं शताब्दी से ही दक्षिण इटली में नारमनों ने सम्राटों के सभी अधिकारों की उपेक्षा की थी। उस क्षेत्र में साम्राज्य के प्रभाव को पुर्नस्थापित करने के प्रयास विफल रहे थे। एक बार स्वतंत्र हो जाने के बाद पोपतंत्र ने जर्मनी अथवा किसी भी अन्य शक्ति के इटली पर बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध किया था। मध्य-उत्तरी और उत्तरी इटली जहाँ समय-समय पर जर्मन सत्ता की स्थापना हुई थी, बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी के प्रभाव का सर्वथा अंत हो गया। लोथेयर ने इटली से कोई विशेष मतलब नहीं रखा था। कॉनराड तृतीय तो वहाँ कभी गया ही नहीं। इटली के प्रति जर्मन सम्राटों की इस उदासीनता के काल में स्थानीय उद्योग और भूमध्य-सागर के तटवर्ती क्षेत्रों के साथ नवीन व्यापार के फलस्वरूप पो घाटी में नगरों का विकास हो गया था। लोम्बार्ड व्यापारियों एवं उद्योगपतियों ने कांसलों के मातहत स्वशासन पर आधारित नगरीय सरकारों की स्थापना कर ली थी। जर्मन सम्राटों ने विशपों एवं सामन्तों को जो राजकीय अधिकार दे रखे थे उनका उपयोग अब ये शहर करने लगे थे, यद्यपि इसके लिए आवश्यक अनुमति सम्राटों से कभी नहीं ली गई। फ्रेडरिक बारबरोसा इसे बरदाश्त करने को तैयार नहीं था। इस तरफ फ्रेडरिक विरोध करने पर लोम्बार्ड नगरों को नष्ट कर देना चाहता

था। वह पोपतंत्र की स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगाना चाहता और था दक्षिण इटली के नारमनों पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। संक्षेप में कन्सटनटाइन और जस्टिनियन के उत्तराधिकारी के रूप में वह इटली पर ठीक उसी तरह प्रत्यक्ष शासन करना चाहता था जैसा कि प्राचीन रोमन सम्राट करते थे अथवा अपने काउन्टों एवं मिसी डोमिनकी के माध्यम से शार्लमन करता था। उसके समक्ष नारमनों का उदाहरण तो बिल्कुल ताजा था और उन्होंने जैसे नारमंडी, इंगलैण्ड एवं दक्षिण इटली तथा सिसली में अपना मजबूत शासन स्थापित किया था, वह भी वैसा ही नियंत्रण इटली पर कायम करना चाहता था। इस तरह इटली संबंधी उसकी योजना सचमुच बहुत कठिन थी। यह भी सम्भव था कि लोम्बार्ड नगर, पोप और नारमन लोग आपस में मिलकर उसका विरोध करें। वैसी हालत में इटली में साम्राज्य की पुर्नस्थापना के लिए आरम्भ किया जानेवाला युद्ध अत्यन्त व्यापक एवं भयंकर हो सकता था।

फ्रेडरिक अपनी सेना के साथ इटली में ११५४ ई० में प्रविष्ट हुआ। उसके सौभाग्य से पोप, लोम्बार्ड नगरों एवं दक्षिण इटली के नारमनों ने एक साथ मिलकर उसका विरोध नहीं किया। बल्कि पोप हेड्रियन चतुर्थ ने तो उससे गुप्त समझौता तक कर लिया था। पोप लोम्बार्ड नगरों की स्वतंत्र नीति से खफा था। उसे नारमनों द्वारा आक्रमण का भी भय था। अतः उसने सम्राट् का साथ दिया। रोम में ब्रेस्सिया के आरनल्ड के क्रांतिकारी विचारों के फलस्वरूप प्रजातंत्र की स्थापना हो गई थी। पोप एवं फ्रेडरिक में तय पाया कि फ्रेडरिक रोमन प्रजातंत्र को समाप्त करने, लोम्बार्ड नगरों को नियंत्रण में लाने और नारमनों का दमन करने में पोप की सहायता करेगा। साथ-ही-साथ वह बैजन्टाइनों इटली में पुनः अपनी शक्ति स्थापित करने से भी रोकेगा। इन सभी सेवाओं के बदले में पोप ने फ्रेडरिक का रोमन सम्राट के रूप में अभिषेक करने का वचन दिया।

रोम पहुँचने से पहले फ्रेडरिक को लोम्बार्ड नगरों के विरोध का सामना करना पड़ा। मिलान ने डटकर उसका सामना किया। परन्तु, मिलान के विरोधी नगर पेभिया ने फ्रेडरिक का साथ दिया। पेभिया के कहने पर फ्रेडरिक ने मिलान द्वारा संरक्षित नगर टारटोना को धूल में मिला दिया। परन्तु इसे छोड़कर लोम्बार्डी में कोई अन्य उल्लेखनीय सफलता उसे नहीं मिली। रोम पहुँचने पर वहाँ भी कुछ मामूली बातों को लेकर पोप से मतभेद हो गया। यद्यपि जून ११५५ में उसका राज्याभिषेक हुआ, परन्तु ले-देकर पोप निराश ही हुआ। आरनल्ड को फाँसी दिलाने के अतिरिक्त रोमन प्रजातंत्र के विनाश के लिए फ्रेडरिक ने कुछ भी

नहीं किया। नारमनों के विरुद्ध भी उसने कोई कदम नहीं उठाया। वह अब सम्राट बन चुका था, उसकी सेना मलेरिया से ग्रस्त थी, और शीघ्रतापूर्वक जर्मनी लौटना आवश्यक हो गया। उसने बहुत नाम कमाया था, परन्तु उतनी ही दुश्मनी उसने मोल ली थी। मिलान की पुनः लोम्बार्डी में प्रधानता हो गयी। उसने टारटोना का पुनर्निर्माण कर लिया। अकेला पड़ जाने के कारण पोप के लिए भी कुछ नये उपाय सोचना आवश्यक हो गया। उसने सिसली के नार्मन राजा विलियम प्रथम से समझौता कर लिया। इसतरह इटली में फ्रेडरिक के दो दुश्मन आपसमें मिल गए। पोप के नारमनों से मिल जाने के कारण सम्राट् एवं पोप के बीच जो द्वेष पैदा हुआ था, वह एक अन्य घटना के कारण और भी तीव्र हो गया। अक्तूबर, ११५७ ई० बेसेनकोन की सभा हुई। इसमें समूचे साम्राज्य के सामन्त अन्य राज्यो के प्रतिनिधि पोप के दूत शामिल हुए। हेड्रियन चतुर्थ ने शिकायत की कि लुंड के आर्कविशप के रोम से लौटते समय कुछ बरगडीयन नाइटों ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया था और सम्राट ने उन नाइटों को कोई दंड नहीं दिया। पोप ने अपने पत्र में लिखा था कि उसने फ्रेडरिक को सम्राटों का मुकुट पहनाया था और अभी भी उससे भी बढ़कर उपकार करने को तैयार था। डैसेल के रेनाल्ड ने पत्र में प्रयुक्त **बेनेफिसिना** शब्द का अनुवाद जागीर किया। इससे एक तूफान, सा उठ खड़ा हुआ और पोप के प्रतिनिधियों का प्रमुख कार्डिनल रोलाँ, जो बाद में स्वयं अलेक्जेंडर तृतीय के नाम से पोप बना, बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा कर लौटा सका। इस अवसर पर फ्रेडरिक ने जो घोषणा की वह इस प्रकार थी। "राज्य एवं साम्राज्य पर हमारा नियंत्रण दैव-प्रदत्त है———अतः जो भी कहता है कि साम्राजिक मुकुट हम पोप से उपहार के रूप में धारण करते हैं, दैवी संस्था का विरोध करता है और मिथ्याभाषी है।" फ्रेडरिक की दृष्टि में साम्राज्य एवं उसकी स्वतंत्रता का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही खतरे में पड़ गया था। पोप जानता था कि इटली पर अपने नियंत्रण को स्थायी बनाने के लिए फ्रेडरिक एक विशाल सेना के साथ अवश्य आएगा। अतः उसने पत्र लिखकर फ्रेडरिक को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया।

फ्रेडरिक ने शीघ्रतापूर्वक इटली पर आक्रमण किया। परन्तु इटली में प्रवेश करने से पहले उसने जर्मनी की सुरक्षा का इंतजाम किया। पोलैंड को जर्मनी के प्रति राजनिष्ठा की शपथ लेनी पड़ी और बोहेमिया को इटली अभियान के लिए एक फौजी टुकड़ी देनी पड़ी। जुलाई, ११५८ में फ्रेडरिक ने ब्रेनेर घाटी होकर अल्प्स पर्वत को पार किया। उसके साथ दस हजार सैनिक थे। इस बार उसे इटली में चार वर्ष तक रुकना पड़ा। सर्वप्रथम मिलान पर हमला हुआ।

लोम्बार्डी में उनकी प्रधानता का अंत कर दिया गया। अब इतिहास-प्रसिद्ध रानकालिया की सभा हुई जिसमें बोलोना विश्वविद्यालय के रोमन कानून के चार विद्वान प्राध्यापकों की सहमति से फ्रेडरिक ने घोषणा की कि "ड्यूकों' मारक्वीजों, काउण्टों और कांसलों को नियुक्त करने, सिक्का ढालने — —केवल जमीन ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति से भी सालाना कर वसूल करने के अधिकार राजकीय थे। अतः केवल उन्हीं शहरों को इन अधिकारों का उपयोग करने दिया जाएगा जिन्हें इसके लिए राजाज्ञा मिली रहेगी।" अन्य नगरों में सम्राट की ओर से शासन चलाने के लिए पोटेस्टा नामक अधिकारी नियुक्त कर दिए गए। इसका मतलब था उन सभी विशेषाधिकारों और सुविधाओं का अंत, जिनके लिए नगरवासी तब तक संघर्ष करते रहे थे। अतः आरम्भ से ही उन्होंने इस घोषणा का विरोध किया और इसे मानना अस्वीकार कर दिया। पोप ने भी शुरु से ही इसका विरोध किया क्योंकि इस नियम को समान रूप से पोप के प्रदेशों में भी लगाया जाना था। अब पोप, नारमन सिसली और लोम्बार्ड नगर सभी एक स्वर से सम्राट के विरुद्ध उठ खड़े हुए।

राजकीय अधिकारों का परित्याग करने के अनिच्छुक लोम्बार्ड नगरों के दमनार्थ इटली पर फ्रेडरिक ने तीसरी बार हमला किया लोम्बार्ड नगरों के खिलाफ कठोर कार्रवाई की गई। क्रेमा को धूल में मिला दिया गया। पियासेजा और ब्रेस्सिया की मोर्चाबन्दी को नष्ट कर दिया गया। मिलान नगर के रसद पानी को काटकर उसे आत्मसमर्पण करने को बाध्य किया गया। बाद में उस नगर को भी नष्ट कर दिया गया। फ्रेडरिक की इन कारवाइयों से लोम्बार्डी में सर्वत्र आतंकव्याप्त हो गया। सामुद्रिक शक्ति वाले नगरों, जेनेवा और पिसा से फ्रेडरिक ने समझौता कर लिया ऐसा लगता था, मानों सम्पूर्ण इटली सम्राट के समक्ष नतमस्तक हो। सन् ११६२ ई० में रोम तथा नार्मन सिसली को भी परास्त करने के लिए फ्रेडरिक आगे बढ़ा। इसी बीच ११५९ ई० में हेड्रियन चतुर्थ की मृत्यु हो चुकी थी। सम्राट, विरोधी कार्डिनलों ने शायना कार्डिनल रोलां को अलेक्जेंडर तृतीय के नाम से नया पोप चुना। सम्राट् के पक्षधर कार्डिनलों ने आक्टेवियन को विक्टर चतुर्थ के नाम से पोप चुना। इससे पोप-पद के लिए संघर्ष छिड़ गया। फ्रेडरिक ने पेभिया में एक धर्म-सभा बुलाई। इस सभा में मुख्यतः साम्राज्य में रहने वाले पादरी ही शामिल हुए। इस सभा ने विक्टर चतुर्थ को पोप स्वीकार किया और अनुपस्थित अलेक्जेंडर तृतीय को जाति-बहिष्कृत कर दिया। इसके जवाब में अलेक्जेंडर तृतीय ने विक्टर चतुर्थ और फ्रेडरिक के जाति-बहिष्कृत किये जाने की घोषणा की इस तरह अलेक्जेंडर और फ्रेडरिक के बीच उस संघर्ष का आरम्भ हुआ। जो अगले अठारह वर्षों तक चलता रहा।

फ्रेडरिक की इच्छा थी कि यूरोप का ईसाई समुदाय विक्टर चतुर्थ को ही पोप रूप में स्वीकार करे। परन्तु सिसली, स्पेन, फ्रांस और इंग्लैंड जर्मन साम्राज्य की शक्ति को बढ़ने देना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने सम्राट् द्वारा समर्थन-प्राप्त पोप का साथ नहीं दिया। विक्टर चतुर्थ की मृत्यु के बाद सम्राट् द्वारा समर्थन, प्राप्त पोप का प्रभाव और भी कम हो गया। फ्रेडरिक का चतुर्थ इटालियन अभियान (११६६ ई०) सीधा रोम के खिलाफ हुआ। परन्तु अलेक्जेंडर तृतीय के भाग जाने के कारण उसे पकड़ा न जा सका। पैसकल तृतीय नया पोप स्वीकृत किया गया। उसने फ्रेडरिक का पुनः राज्यभिषेक किया। अगले वर्ष रोम में महामारी फैल गई। इसका सम्राट् की सेना पर भी असर पड़ा और यह अभियान समाप्त हो गया। फ्रेडरिक की सेना का अधिकांश भाग प्लेग से नष्ट हो गया। डेसेल के रेनाल्ड की भी रोम में ही मृत्यु हो गई। लाचार फ्रेडरिक एक किसान का रूप धारण कर किसी तरह उत्तरी इटली होता हुआ जर्मनी लौटा। सन् ११६७ ई० के पहले से ही उत्तरी इटली के लोग सम्राट् के विरुद्ध संगठित होने लगे थे। सन् ११६४ ई० में ही भेरोना संघ की स्थापना हो चुकी थी। सन् ११६६ ई० से पहले ही लोम्बार्ड लीग भी तैयार हो चुका था। इन दोनों संघों का सम्राट् के विरुद्ध गटबंधन हुआ। दोनों संघों ने मिलकर एक संयुक्त प्रशासन, सेना और मित्र पोप अलेकजेंडर के नाम पर अलेजेंड्रिया नामक नगर की स्थापना की। इसी संगठित और निश्चित अवरोध को पार कर फ्रेडरिक किसी तरह जर्मनी लौट सका था।

परन्तु फ्रेडरिक निराश होने वाला व्यक्ति नहीं था। सन् ११७४-७८ ई० के बीच उसका पंचम इटालियन अभियान सीधा अलेजेंड्रिया के खिलाफ हुआ। वह आक्रमण असफल रहा। अब फ्रेडरिक ने भी लोम्बार्ड लीग से समझौता करना आवश्यक समझा। अतः उसने लीग ने उन शर्तों को नामंजूर कर दिया। बाध्य होकर सम्राट् को युद्ध जारी रखना पड़ा। सन् ११७६ ई० में फ्रेडरिक की लेगनानो की लड़ाई में हेनरी द लायन के असहयोग के कारण पराजय हुई। मध्यकालीन यूरोप का यह प्रथम युद्ध था जिसमें सामन्ती अश्वसेना की पैदल सेना से पराजय हुई। अब वह समझ गया कि लोम्बार्डी एवं पोप के दमन की उसकी नीति गलत थी। फिर भी, न तो वह जर्मन चर्च पर से अपना नियंत्रण हटाना चाहता था और न लोम्बार्ड नगरों पर अधिकार करने की संभावना का ही परित्याग करना चाहता था। अतः उसने सबसे पहले पोप अलेक्जेंडर से समझौता किया। स्वयं पोप भी इस घातक संघर्ष को परिस्थितियों के अनुकूल रहते हुए ही समाप्त करना चाहता था। सन् ११७७ ई० में दोनों पक्षों के बीच समझौता हो गया। फ्रेडरिक ने अपने

तीसरे पोप की जगह अलेक्जेंडर तृतीय को पोप मान लिया। पोप ने फ्रेडरिक के विरुद्ध जाति-निष्कासन का अपना आदेश वापस ले लिया। सबसे महत्वपूर्ण निर्णय यह लिया गया कि चुनाव बहुमत से होना निश्चित हुआ। यद्यपि किसी भी उम्मीदवार को दो-तिहाई बहुमत न मिलने पर पोप के चुनाव में विलम्ब हो सकता था, परन्तु भविष्य में एकसाथ ही दो विरोधी पोपों का चुना जाना संभव न रह गया। यह सही है कि सम्राट् पोप पर अपना आधिपत्य स्थापित न कर सका परंतु कुछ समय के लिए ही सही, साम्राज्य पर पोप के राजनीतिक नियंत्रण का सिद्धांत खोखला सिद्ध हो गया।

लोम्बार्ड लीग के साथ छह वर्षों के लिए युद्ध-विराम हुआ। उसी तरह नारमन राजा विलियम द्वितीय के साथ भी पन्द्रह वर्षों के लिए युद्ध-विराम हुआ। छह वर्ष बाद ११८३ ई० में कान्सटान्स की संधि द्वारा लोम्बार्ड लीग के साथ अंतिम समझौता हुआ। यद्यपि उत्तरी इटली पर सीधा शासन स्थापित करने का फ्रेडरिक का स्वप्न पूरा नहीं हुआ, लोम्बार्ड नगरों ने उसकी नाममात्र की संप्रभुता को स्वीकार किया और सम्राट् ने उन्हें विशिष्ट राजकीय अधिकार दिये। पश्चिमी लोम्बार्डी में राजकीय भू-सम्पदा की देख-भाल के लिए अलेसेंड्रिया को सम्राट् के कब्जे में रहने दिया गया। नगरों को उनके संघ को बनाये रखने की अनुमति दी गई और साम्राज्य में उनका स्थान ठीक अन्य प्रान्तों की तरह माना गया। इस तरह उत्तरी इटली पर सम्राट् का सैद्धान्तिक नियंत्रण बना रहा जिसे भविष्य में आवश्यक योग्यता एवं शक्ति रहने पर उसके उत्तराधिकारी वास्तविकता में परिणत कर सकते थे। इटली में साम्राजिक शक्ति के विस्तार का मार्ग हमेशा के लिए बंद नहीं हो गया था।

इटली संबन्धी अपनी बदली हुई नीति के फलस्वरूप फ्रेडरिक अब नारमन सिसली पर कब्जा करने की बजाय उससे मित्रता करना चाहता था। सन् ११८४ ई० में उसके बड़े लड़के हेनरी का विलियम द्वितीय की कन्या कान्सटांस से, जो सिसली की गद्दी की उत्तराधिकारिणी थी, विवाह निश्चित हुआ। यह विवाह ११८६ ई० में सम्पन्न हुआ। इस तरह, दक्षिणी इटली एवं सिसली से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण, भविष्य में इटली में साम्राज्य के विस्तार की संभावना बनी रही। लोम्बार्डी पर संप्रभुता के साथ-साथ यदि दक्षिण इटली पर भी अधिकार हो जाए तो भविष्य में हेनरी रोम स्थित पोप पर दबाव डाल सकता था। स्वभावतः पोप को चिंता हुई। तीस वर्ष तक इटली में व्यर्थ लड़ते-झगड़ते रहने के बाद फ्रेडरिक ने युद्ध की जगह कुटनीति का आश्रय लिया था। इस तरह, गैरधार्मिक

बातों में उसने पोप के साथ बराबरी का दर्जा हासिल कर लिया था और पोप ने साम्राज्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार कर लिया था। लोम्बार्डी पर, नाममात्र को ही सही, संप्रभुता बनी हुई थी। भविष्य में दक्षिण इटली को साम्राज्य में शामिल करने की संभावना थी। इटली में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न अभी भी नहीं टूटा था।

सन् ११८८ ई० में तीसरे धर्म-युद्ध का नेतृत्व स्वीकार कर फ्रेडरिक ने और अधिक नाम तो कमाया ही, साथ ही, धर्म-युद्धों के क्षेत्र में पोप के परम्परागत नेतृत्व को भी उसने चुनौती दी। उसकी इच्छा थी कि यूरोप के सभी ईसाई राजा धम-युद्ध में उसका साथ दें, परन्तु उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। वह जर्मनी की ही सुसंगठित और सुसज्जित सेना लेकर हंगरी तथा बालकन प्रदेश होते हुए कान्स्टेटीनोपुल की ओर बढ़ा। वह अपने साथ बीस नाइटों को, जो प्रशिक्षित सैनिक थे, लेता गया था। उसे रास्ते में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु उसने हिम्मत न हारी। कान्स्टेटीनोपुल के सम्राट द्वारा भड़काए जाने पर बुलगारों ने फ्रेडरिक की फौज का विरोध करना शुरू किया। ग्रीक राज्य की राजधानी में फ्रेडरिक ने अपने दूत मन्सटर के बिशप को भेजा। उसे गिरफ्तार कर लिया गया, परन्तु जर्मन सेना के पहुँचने पर ग्रीक नगरों ने आत्मसमर्पण कर दिया। ईशाक से फ्रेडरिक की सेना को एशिया माइनर तक पहुँचाने तथा उसे साज-सामान तथा रसद देने का वादा किया। फ्रेडरिक गैलीपोली होता हुआ एशिया माइनर पहुँचा। वहाँ भी उसे बहुत परेशानी हुई। इकोनियम के सुल्तान से, जिससे उसे बहुत उम्मीद थी, उसे कोई विशेष सहायता नहीं मिली। तुर्की सेना जर्मनों पर आक्रमण करती रही और उसे साज सामान एवं रसद मिलने में विघ्न डालती रही। आरमोनियम पथ-प्रदर्शकों की सहायता से वह आगे बढ़ता रहा और सेलेफ नदी के तट पर पहुँचा। वहीं इस महान सम्राट की ११९० ई० में मृत्यु हो गयी। इसकी मृत्यु कैसे हुई इसके विषय में ठीक-ठीक जानकारी नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि यह देखकर कि उसकी सेना संकीर्ण पुल से होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी, फ्रेडरिक ने स्वयं घोड़े पर चढ़कर नदी को पार करने का प्रयत्न किया, परन्तु नदी की धारा तेज होने के कारण प्रवाह में वह सँभल नहीं पाया और बह गया। अन्य लोगों का कहना है कि वह नदी में स्नान करने गया था और नदी के तेज प्रवाह में बुढ़ापे के कारण बह गया। जो भी हो, नदी से जब उसका शरीर बाहर निकाला गया, उसकी मृत्यु हो चुकी थी। उस समय उसकी अवस्था ७० वर्ष की थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फ्रेडरिक बारबेरोसा ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। साथ-ही-साथ उसने केन्द्रीय शासन को बहुत सबल बनाया। उसने जर्मनी को अराजकता एवं अशांति से मुक्त किया इटली को नियंत्रण में रखा तथा पोप को राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने से रोका। स्वाभाविक था कि उसे जर्मन जाति का राष्ट्रीय, पराक्रमी तथा पूज्य पुरुष माना जाने लगा। उसके विषय में यह विश्वास किया जाने लगा कि फ्रेडरिक, लाल दाढ़ी वाला बुड्ढा राजा, अपने सैनिक वेष में पहाड़ की ऊँची गुफा में सोया हुआ है और जब आवश्यकता होगी तब वह अपनी निद्रा से उठकर नीचे आएगा और शांति, शक्ति तथा एकता की स्थापना करेगा। इसलिए १९ वीं शताब्दी में, जब जर्मन एकता का संघर्ष चल रहा था, फ्रेडरिक एक राष्ट्रीय नेता का आदर्श बन गया और जर्मनी में अनेक स्थलों पर उसके स्मारक बने जो जर्मन देशभक्तों के तीर्थस्थान बन गए।

हेनरी छठा (११९०-११९७ ई०)

फ्रेडरिक बारबरोसा के पुत्र हेनरी छठा के संक्षिप्त शासनकाल में पवित्र रोमन साम्राज्य का सैद्धान्तिक एवं वास्तविक रूप में सम्पूर्ण मध्य युग में सर्वाधिक विकास हुआ। यद्यपि उसमें अपने पिता के शौर्य का अभाव था, वह विद्वान, व्यावहारिक, चतुर, कर्मठ एवं उच्च कोटि का कुटनीनितिज्ञ था राजनीति के क्षेत्र में वह अपने पिता से अधिक यथार्थवादी था। उसका एकमात्र उद्देश्य था साम्राज्य को और अधिक विस्तृत और शक्तिशाली बनाना। अपनी पत्नी कान्सटान्स की दक्षिण इटली एवं सिसली स्थित पैतृक सम्पत्ति का ११९४ ई० में उत्तराधिकारी बन जाने के बाद उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में बहुत सुविधा हो गयी। नरमल सिसली पर कब्जा हो जाने के बाद उसने कान्सटैन्टीनोपुल से भी कर वसूल किया। आरमेनिया तथा साइप्रस के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। जर्मनी की शक्ति का इतना अधिक विकास पहले कभी नहीं हुआ था।

प्रारम्भ में सिसली को लेकर हेनरी को कुछ कठिनाई अवश्य हुई थी। नारमन सिसली में एक ऐसा वर्ग भी था जो होहेनस्टौफेन उत्तराधिकार के विरुद्ध था। इस वर्ग को पोप का समर्थन प्राप्त था। इंग्लैंड का राजवंश वैल्फ परिवार से सम्बद्ध था। अतः होहेनस्टौफेन विरोधी वर्ग को इंग्लैड का भी समर्थन प्राप्त था। हेनरी विरोधी दल ने सिसली के भूतपूर्व राजा के सौतेले भाई, टेन्क्रेड को गद्दी पर बिठाया। इसी बीच वेलफ परिवार का नेता **हेनरी द लायन** जर्मनी लौटकर अपनी खोई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था। हेनरी-विरोधी दल में कोलोन के आर्कबिशप के नेतृत्व में निम्न राइन प्रदेश के सामंतों के मिल

जाने से हेनरी की कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। परन्तु हेनरी निराश नहीं हुआ और उसने अपने खिलाफ तैयार किए गए इस अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चे को तोड़ने का प्रयास शुरू किया। सन ११९२ ई० में वह अपनी सेना के साथ इटली में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसका सम्राट के रूप में अभिषेक हुआ। परन्तु, टैन्क्रेड के विरुद्ध उसका अभियान असफल रहा। अगले वर्ष रिचर्ड द लायन तीसरे धर्मयुद्ध से लौटते समय वियना में गिरफ्तार कर लिया गया। अन्त में उसे एक भारी रकम लेकर छोड़ दिया गया। सन् ११९४ ई० में टैन्क्रेड की मृत्यु हो गयी। अब हेनरी बिना किसी विरोध के पालेरमो पहुँच गया। उसी साल क्रिसमस के दिन उसका सिसली, अपुलिया और कैलेब्रिया के राजा के रूप में अभिषेक हुआ। अब उसने सम्पूर्ण इटली पर अपना वंशानुगत अधिकार कायम करने का निश्चय किया। सन् ११९४ में ही कान्सटान्स ने एक पुत्र, फ्रेडरिक द्वितीय को जन्म दिया। हेनरी पोप द्वारा इस नवजात बालक का अगले सम्राट के रूप में अभिषेक कराना चाहता था। परन्तु कोलोन के आर्कबिशप एवं पोप ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। दो वर्ष बाद जर्मन सामन्तों ने फ्रेडरिक द्वितीय को रोमनों का राजा चुन लिया, यद्यपि यह विरुद्ध किसी सम्राट को केवल पोप द्वारा अभिषेक किए जाने पर ही प्राप्त हो सकता था।

अब हेनरी ने बैजन्टाइन प्रदेशों को जीतने की ओर ध्यान दिया। वह वैवाहिक संबंध द्वारा बैजन्टाइन इन गद्दी को भी हासिल करना चाहता था। उसकी यह योजना असफल रही। कान्सटेंटीनोपुल से कर वसूल कर और छोटे आरमेनिया तथा साइप्रस के राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार करा ही उसे संतुष्ट होना पड़ा। उत्तरी अफ्रिका के मुस्लिम शासक जो कर अबतक नारमन राजाओं को देते थे वह अब हेनरी को मिलने लगा। डेनमार्क ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। जर्मन राज्य की पूर्वी सीमा पर बोहेमिया और हंगरी उसके अधीन बने रहे। अपने पिता की तरह हेनरी भी धर्मयुद्ध का नेतृत्व ग्रहण करना चाहता था, परन्तु सितम्बर, ११९७ ई० में पालेरमो में बत्तीस वर्ष की आयु में ही मृत्यु हो जाने के कारण उसकी यह योजना अधूरी ही रह गयी।

हेनरी छठा की मृत्यु के बाद जर्मनी में वेल्फों एवं होहेनस्टौफेनों की पुरानी शत्रुता पुनः सामने आ गयी। सन् ११९६ ई० में जर्मन सामंतों द्वारा हेनरी के बालक पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय का चुनाव वेल्फों एवं होहेनस्टौफेनों, दोनों ने ही अस्वीकार कर दिया। सन् ११९८ ई० में होहेनस्टौफेन दल ने हेनरी छठा के भाई, स्वेबिया के ड्यूक फिलिप को राजा चुना। वेल्फ दल ने हेनरी द लायन के पुत्र,

ब्रूजविक के ओटो को ओटो चतुर्थ के नाम से चुना। इन दोनों विरोधियों का संघर्ष अगले चौदह वर्ष तक चलता रहा। पादरी एवं सामान्य सामंत दोनों ही किसी न किसी पक्ष को सहायता देने का आश्वासन देकर भूमि प्राप्त करते रहे। स्थिति तब और भी गंभीर हो गयी जब ओटो चतुर्थ की माता ने अपने भाई इंग्लैंड के रिचर्ड से सहायता की याचना की। रिचर्ड होहेनस्टोफेन राजा हेनरी छठा द्वारा अपने प्रति किए गए दुर्व्यवहार को नहीं भूला था। अतः वह तत्काल सहायता देने को तैयार हो गया। दूसरी ओर स्वेविया के फिलिप ने रिचर्ड के शत्रु, फ्रांस के फिलिप ऑगस्टस से सहायता माँगी। इस तरह जर्मनी के गृह-युद्ध का स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय हो गया।

हेनरी छठा की मृत्यु के बाद इटली में भी जर्मनों का तीव्र विरोध हुआ। फ्रेडरिक द्वितीय की माता कान्सटान्स ने अपने पुत्र के लिए नारमन राज्य को बचा लिया। परन्तु ऐसा करने में उसे सिसली के चर्च पर पोप का अधिकार मान लेना पड़ा। उसकी मृत्यु के बाद नवीन पोप इनोसेंट तृतीय उसके बालक पुत्र का अभि-भावक बन गया। बालक फ्रेडरिक के प्रति पोप इनोसेंट तृतीय की कर्त्तव्य-भावना बालक के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार पोप ने फ्रेडरिक द्वितीय की शिक्षा दीक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और वह पाले-रमों की सड़कों एवं बाजारों में किसी भी अन्य सिसिलियन लड़के की तरह बढ़ता रहा। परन्तु अन्य लोगों का कहना है कि पोप इनोसेंट तृतीय ने योग्यतम शिक्षकों को नियुक्त कर, सर्वोत्तम संभव शिक्षा प्रदान कर सिसली में उसके हितों की रक्षा कर और उसकी विद्रोही प्रजा से उसे बचाकर बालक फ्रेडरिक के प्रति अपने कर्त्तव्यों का अत्यंत निष्ठापूर्वक पालन किया।

इनोसेंट तृतीय ने जर्मनी में ओटो चतुर्थ को राजा के रूप में स्वीकार कर लिया। इसके बदले में ओटो ने इटली में पोप की स्वतंत्रता को स्वीकार तो किया ही जर्मन चर्च पर से राजकीय नियन्त्रण को भी वापिस ले लिया। सन् ११२२ की वर्म्स की धर्मसन्धि द्वारा राजा को प्राप्त सभी अधिकारों को भी उसने छोड़ दिया। परन्तु पोप द्वारा मान्यता दिये जाने पर भी जर्मनी में ओटो की स्थिति मजबूत न हो सकी। होहेनस्टोफेनों का प्रभाव अभी भी वहाँ प्रबल था। पुनः, स्वेविया का फिलिप जर्मनी में अत्यंत लोकप्रिय था। इनोसेंट ने ओटो की स्थिति को कमजोर पाकर अपना समर्थन वापिस ले लिया। उसने अब स्वेविया के फिलिप को जर्मनी का राजा मान लिया। फिलिप के सम्राट के रूप में अभिषेक की बात चल रही थी कि इसी बीच उसकी हत्या हो गयी। जर्मन सामंत भी लम्बे गृहयुद्ध से थक चुके

थे। वे जर्मनी की राजनीति में पोप द्वारा रक्षित फ्रेडरिक द्वितीय को प्रवेश करने देना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने फिलिप की विधवा से ओटो चतुर्थ का विवाह करा के परस्पर विरोधी दोनों परिवारों में मेल कराना चाहा। ओटो ने भी पोप के प्रति किए गए वादों को निभाने का वचन दिया। सन् १२०९ ई० में उसका सम्राट के रूप में अभिषेक हुआ। परन्तु शीघ्र ही ओटो ने परम्परागत जर्मन साम्राजिक नीति को अपना लिया। उसने मेटिल्डा की टस्कन भूमि पर भी दावा किया, यद्यपि इससे पहले उसपर वह पोप के अधिकार को स्वीकार कर चुका था। सिसली पर फ्रेडरिक के अधिकार को समाप्त कर सिसली एवं दक्षिण इटली को साम्राज्य में मिलाने का अभियान भी उसने शुरू किया।

ओटो चतुर्थ की पोप एवं इटली के प्रति बदली हुई नीति के कारण अब इनोसेंट तृतीय ने फ्रेडरिक द्वितीय का समर्थन करना शुरू किया। उसने असंतुष्ट जर्मन सामंतों एवं फ्रांस के फिलिप ऑगस्टस से मिलकर फ्रेडरिक द्वितीय को जर्मनी के राजा के रूप में चुनवाने का षड्यंत्र किया। जबतक कि ओटो चतुर्थ अपने सिसली अभियान को पूरा करता उसे सूचना मिली कि फ्रेडरिक का आकेन में (दिसम्बर १२१२) रोमन सम्राज के रूप में अभिषेक किया जा चुका था। सन् १२१४ ई० में बाउभिन्स की लड़ाई में फ्रेडरिक ने फिलिप आगस्टस की सहायता से अँग्रेजों वेल्फों की संयुक्त सेना को पराजित किया। अब जर्मनी में फ्रेडरिक को चुनौती देने वाला कोई नहीं बचा। पोप से प्राप्त सहायता के बदले में फ्रेडरिक ने जर्मन चर्च पर पोप के नियंत्रण को स्वीकार कर लिया और यह भी तय पाया कि जर्मनी एवं सिसली को एकसाथ करने का कोई प्रयास भविष्य में नहीं किया जाएगा। सन् १२१५ ई० की चौथी लेटेरन काउंसिल में पोप ने गद्दी पर फ्रेडरिक का अधिकार स्वीकार कर ओटो चतुर्थ को गद्दी एव धर्म से बहिष्कृत कर दिया।

फ्रेडरिक द्वितीय (१२१५-१२५०) ई०

फ्रेडरिक द्वितीय फ्रांस के फिलिप आगस्टस तथा पोप इनोसेंट तृतीय की सहायता से जर्मनी की गद्दी पर बैठा था, परन्तु उसे जीवन भर पोपतंत्र के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। उसे उत्तराधिकार में सिसली का राज्य मिला था जहाँ गैर-सामंती निरकुंश राजतंत्र की परम्परा रही थी। जर्मनी, जिसका वह फ्रेडरिक प्रथम के पौत्र के रूप में उत्तराधिकारी बना था, शुरू से ही सामंतवाद का गढ़ था। इस तरह, परस्पर प्रायः दो विरोधी परम्पराओं पर आधारित, साम्राज्य के दो भागों में सामंजस्य स्थापित करना उसके लिए बहुत बड़ी समस्या थी।

जर्मनी में पिछले कई दशकों से राजनीतिक शक्तिसामंतों के हाथ में चली गयी थी और इस स्थिति को बदलने के लिए बहुत साहस की आवश्यकता थी। अत्यंत शक्तिशाली जर्मन सामंतों को दबाना लगभग असंभव जानकर फ्रेडरिक ने जर्मनी को उसके भाग्य के सहारे ही छोड़ देना अधिक उचित समझा। फ्रेडरिक को पूर्ण रूप से जर्मन राजा मानना भी कठिन था क्योंकि वह अधिक-से-अधिक अर्द्ध जर्मन ही था। सम्राट के रूप में अभिषेक होने के बाद वह केवल एक बार जर्मनी लौटा था। वहाँ के सामन्तों की सैनिक सहायता प्राप्त करना ही वह अपना परम लक्ष्य मानता था, और इसके लिए वह उन्हें अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान करने को तैयार रहता था। जर्मनी का, उसकी दृष्टि में, साम्राज्य के एक प्रांत से अधिक कोई विशेष महत्त्व नहीं था। वह जर्मनी को प्रभाव, शक्ति और सैनिक प्राप्त करने का साधन मात्र समझता था न कि साम्राज्य का मूल भाग। सन् १२२० ई० में अभिषेक के लिए रोम जाने से पूर्व उसने साम्राज्य की अखंडता को बनाए रखने के लिए पुत्र हेनरी को जर्मन सामन्तों द्वारा जर्मनी के राजा और भावी रोमन सम्राट के रूप में स्वीकार करा लिया था। सन् १२२८ ई० तक हेनरी बालिग हो गया। वह रोमन सम्राट की जगह जर्मन राजा कहलाना अधिक अच्छा समझता था। अतः उसकी जर्मनी संबंधी नीति फ्रेडरिक की नीति से सर्वथा भिन्न थी। उसने सामंतों की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाकर और शहरों को प्रोत्साहन प्रदान कर जर्मन राजतंत्र को सबल बनाने का प्रयास किया। परन्तु फ्रेडरिक जर्मन सामंतो को अधिक से अधिक छूट देता गया और उसकी इस नीति के कारण जर्मन राजतंत्र की शक्ति प्रायः समाप्त हो गई। सन् १२३१ ई० में फ्रेडरिक द्वारा जर्मन सामंतों को दिए गए विशेषाधिकार इतने व्यापक थे कि नाराज होकर हेनरी ने लोम्बार्ड संघ के साथ मिलकर अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। फ्रेडरिक जर्मनी आया। हेनरी को बंदी बना लिया गया और बंदी अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो गयी। फ्रेडरिक के बड़े लड़के कॉनराड को जर्मनी का राजा और भावी सम्राट घोषित किया गया। जर्मनी में शांति बनाए रखने के लिए फ्रेडरिक ने वेल्फो के साथ समझौता कर लिया और उनकी भू-सम्पति को सम्राट से मिली हुई जागीर के रूप में उनके पास रहने दिया। उसने ऑस्ट्रिया पर भी कब्जा कर लिया और कुछ समय तक उसपर अपना नियंत्रण बनाये रखा। मेंज में एक राजसभा हुई जिसमें निजी युद्धों पर प्रतिबंध लगाकर जर्मनी में शांति बनाये रखने की चेष्टा हुई।

इटली :—

फ्रेडरिक के गद्दी पर बैठते समय इटली में सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी। उत्तरी एवं मध्य उत्तरी इटली में स्थानीय स्वायत्त शासनवादी सरकारों की स्थापना हो चुकी थी। मध्य इटली में पोप की सत्ता सर्वोच्च तो थी ही, उसका विस्तार भी हो रहा था। दक्षिण इटली और सिसली पहले हेनरी छठा और बाद में कॉन्सटान्स की मृत्यु से अराजकता तो फैल ही गई थी, यत्र-तत्र राजकीय भू-सम्पदा पर भी लोग जबरन अधिकार करने लगे। सन् १२२० ई० में रोम में उसका सम्राट के रूप में अभिषेक हुआ। परन्तु वह जानता था कि पूरे साम्राज्य में एक ही प्रकार

की शासन-व्यवस्था अथवा समान रूप से राजकीय नियंत्रण स्थापित करने का कोई भी प्रयास व्यर्थ जायगा। अतः उसने नारमन दक्षिण इटली एवं सिसली को ही अपनी शक्ति का प्रमुख केन्द्र बनाने का निश्चय किया क्योंकि वर्तमान अराजकता के बावजूद वहाँ गैर सामन्ती केन्द्रीयता एवं नौकरशाही पर आधारित मजबूत प्रशासन की परम्परा पुरानी थी। वहाँ से मध्य एवं उत्तरी इटली पर भी अधिकार करने में सुविधा हो सकती थी। परन्तु इसमें उसे पोप द्वारा विरोध का सामना करना पड़ा। यह उसका दुर्भाग्य था कि उसके सभी विरोधी पोप कुशल राजनीतिज्ञ एवं शक्तिशाली थे। प्रारम्भ में वह पोप पर नियंत्रण स्थापित करने का विचार नहीं रखता था। वह एक व्यापक साम्राज्य कायम करना चाहता था। जिसमें पोप एवं सम्राट् दोनों का समान स्थान हो। परन्तु पोप उसे सहयोग देना तो दूर रहा, शांतिपूर्वक रहने देना भी नहीं चाहते थे। वे उसे अपने अधीन देखना चाहते थे और आक्रामक नीति में हमेशा पहल करते थे। बाध्य होकर फ्रेडरिक को भी उनपर अपना अधिकार जताना पड़ता था।

फ्रेडरिक ने अपने पिता तथा पितामह की तरह धर्मयुद्ध का नेतृत्व ग्रहण करना चाहा। परन्तु यरूशलम के राज्य की उत्तराधिकारिणी इजाबेल से विवाह करने के अतिरिक्त उसने इस दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं किया। पोप होनोरियस तृतीय ने उस पर अपने वचन को पूरा न करने का आरोप लगाया। अतः पोप को संतुष्ट रखने की दृष्टि से फ्रेडरिक ने १२२७ ई० में धर्मयुद्ध पर जाने का अपना निश्चय दुहराया। परन्तु १२२७ ई० में यरूशलम जाते हुए वह बीमार होकर रास्ते से ही लौट आया। तत्कालीन पोप ग्रिगोरी नवाँ ने इसे केवल बहाना मानकर फ्रेडरिक को जाति बहिष्कृत कर दिया। अच्छा होकर फ्रेडरिक पुनः यरूशलम के लिए रवाना हुआ। वस्तुतः युद्ध करने का उसका इरादा था ही नहीं और वह मिस्र के सुलतान अल-कामिल से समझौता कर यरूशलम के राज्य को हस्तगत करना चाहता था। इसमें उसे सफलता भी मिली, परन्तु विधर्मी अल-कामिल से उसके समझौते को धर्म-विरोधी बताकर पोप ने यरूशलम के राज्य को धार्मिक उत्सवों से वंचित करने का निर्देश दिया। इस तरह फ्रेडरिक एवं पोपतंत्र के बीच उस संघर्ष का आरम्भ हुआ जो उसके समस्त जीवनकाल में चलता रहा। फ्रेडरिक की अनुपस्थिति में ग्रिगोरी ने दक्षिण इटली स्थित उसके राज्य पर आक्रमण करने के लिए अपने वेतनभोगी सैनिकों को भेज दिया। इन सैनिकों को काफी सफलता मिली। परन्तु वापिस लौटने पर फ्रेडरिक ने पोप के सैनिकों को निकाल बाहर किया, यद्यपि झगड़े को और न बढ़ाकर पोप से समझौता करने की कोशिश की। पोप ने जातिबहिष्कार का अपना आदेश वापिस ले लिया और फ्रेडरिक ने भी पोप को सिसली में कई रियायतें दीं।

लोम्बार्ड नगरों के विरुद्ध फ्रेडरिक के प्रारम्भिक प्रयास प्रायः असफल रहे। कॉन्स्टान्स की संधि की शर्तों को मनवाने का उसने दो बार असफल प्रयास किया। बाद में उसने लोम्बार्ड नगरों के विरुद्ध नियमित रूप से युद्ध आरम्भ कर दिया। सन् १२३७ ई० में लोम्बार्ड कार्टेनुओवा की लड़ाई में पराजित हुए, यद्यपि उनके कुछ नगर बाद तक उसका विरोध करते रहे। लोम्बार्ड नगरों के साथ अपनी लड़ाई के समय उसने पोप की मध्यस्थता को तो अस्वीकार कर ही दिया, लड़ाई में सफल होने के बाद उसने रोम को रोमन प्रांतपतियों के अधीन कई भागों में बाँटने की भी योजना बनाई। सार्डिनिया को ग्रिगोरी पोपप्रदत्त जागीर समझता था, परन्तु फ्रेडरिक ने अपने लड़के का विवाह सार्डिनिया की उत्तराधिकारिणी से कर दिया। इन सभी बातों से नाराज होकर ग्रिगोरी ने १२३९ ई० में फ्रेडरिक को पुनः जातिबहिष्कृत किया। साथ ही उसने फ्रेडरिक के खिलाफ लोकमत तैयार करना शुरू किया। इस्लाम के प्रभाव में पड़कर एक नया धर्म चलाने का झूठा आरोप तक उस पर लगाया गया। इसके जवाब में फ्रेडरिक ने पादरियों से एक धर्मसभा बुलाकर झगड़े के कारणों पर विचार करने और चर्च में आवश्यक सुधार लाने का आग्रह किया। उसने इटालियन नगरों को भी अपनी ओर मिला लिया। उत्तरी इटली के शासन को भी सिसली की शासन-व्यवस्था के अनुकूल संगठित किया गया। इन सभी बातों से स्वभावतः ग्रिगोरी नवाँ को चिंता हुई। उसने १२४१ ई० में एक धर्म-सभा का रोम में आह्वान किया। इस सभा का एकमात्र उद्देश्य फ्रेडरिक को गद्दी से उतारना था। अतः फ्रेडरिक ने सभा में भाग लेने जा रहे प्रायः एक सौ प्रिलेटों को बंदी बना लिया। उसने सीधे रोम पर आक्रमण करने के लिए भी अपने सैनिकों को बटोरना शुरू किया। शीघ्र ही स्पोलेटो, एनकोना और टस्कनी आदि पर पोप का अधिकार समाप्त हो गया और इन्हें साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। इन सभी घटनाओं से दुखित ग्रिगोरी की मृत्यु हो गई। परन्तु मृतक ग्रिगोरी जीवित ग्रिगोरी से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उसका उत्तराधिकारी इनोसेंट चतुर्थ बोलोना विश्वविद्यालय में कानून का प्राध्यापक रह चुका था। फ्रेडरिक ने उसे संतुष्ट करने का प्रयास किया, परन्तु इनोसेंट साम्राज्य एवं सम्राट् को नष्ट करने पर तुला हुआ था। सन् १२४५ ई० में उसने लियोंस में एक धर्म-सभा बुलाकर फ्रेडरिक को गद्दी से उतारे जाने की घोषणा कर दी। दूसरी ओर, फ्रेडरिक ने भी पोप का डटकर सामना करने का निश्चय किया।

अगले पाँच वर्ष सम्राट् एवं पोप के बीच भयानक संघर्ष में बीते। इनोसेंट

ने जर्मनी में थुरिंगिया के हेनरी को गद्दी पर बिठाया और फ्रेडरिक के पुत्र कॉनराड को निकाल बाहर कराया। हेनरी की मृत्यु के बाद उसने हॉलैंड के काउन्ट विलियम को जर्मनी का राजा बनाया। गद्दी से उतारने और जातिबहिष्कृत करने की धमकी देकर पोप ने अधिकांश जर्मन सामन्तों को सम्राट् के विरुद्ध कर दिया। फिर भी, जर्मनी में होहेनस्टोफेनों की शक्ति को बिल्कुल समाप्त करना पोप के लिए संभव न हो सका। इटली में भी पोप के समर्थकों ने सम्राट् एवं उसके सहायकों को मार डालने का षड्यंत्र किया। फ्रेडरिक के व्यक्तिगत चिकित्सक ने ही उसे जहर देने का निष्फल प्रयास किया। षड्यंत्रकारी पकड़े गए और उनको कठोर दंड दिया गया। पारमा के निकट पराजित हो जाने पर भी फ्रेडरिक ने मध्य एवं उत्तरी इटली पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। अपने वंश को स्थायी बनाने के लिए वह चौथी बार शादी करने की तैयारी कर ही रहा था कि पेचिश के कारण दक्षिण इटली में १२५० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

फ्रेडरिक द्वितीय का मूल्यांकन :

मध्यकालीन यूरोप का कोई भी शासक इतिहास के विद्यार्थी को उतना आकर्षित नहीं करता जितना फ्रेडरिक द्वितीय करता है। मध्यकालीन योरोपीय शासकों में सर्वाधिक योग्य, शिक्षित एवं संकुल व्यक्तित्ववाला फ्रेडरिक अपने युग से बहुत आगे और अनेक आधुनिक गुणों से युक्त व्यक्ति था। बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न, वह एक राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ एवं सैनिक, सेनापति एवं नैयायिक, कवि एवं सामकुशल, शिल्पी एवं जीव विशेषज्ञ, गणितज्ञ एवं बहुभाषाविद् था। वह प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का संग्रहकर्त्ता, एक शिल्प विद्यालय का निदेशक, वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ता और कई राज्यों का संगठनकर्त्ता भी था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस सर्वतोमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति को विश्व का आश्चर्य कहा गया है।

फ्रेडरिक द्वितीय के संकुल व्यक्तित्व को आसानी से तभी समझा जा सकता है जब उस पर पड़नेवाले वंश, आवेष्टन और शैक्षणिक प्रभावों का विश्लेषण किया जाय। अपने पिता से उसे सर्वव्यापी साम्राज्य का आदर्श और माता से कठोर व्यक्तिगत शासन की परम्परा विरासत के रूप में मिली थी। नारमन सिसली में उस समय यूरोप की सर्वाधिक सुसंगठित शासन-व्यवस्था थी। वहाँ की संस्कृति ग्रीक एवं मुस्लिम संस्कृतियों का मिश्रित रूप थी। जनसंख्या मिश्रित थी। राजनीति एवं सामाजिक संस्थानों में भी यह सम्मिश्रण स्पष्ट परिलक्षित होता था।

नारमन शासन कठोर होते हुए भी अत्याचारपूर्ण नहीं था। वैजन्टाइन एवं अरब प्रशासनिक संस्थानों के प्रशंसक, उदार एवं सहिष्णु नारमन राजाओं ने उन संस्थाओं को अपना लिया था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन वाह्य एवं आंतरिक प्रभावों के सत्प्रभाव के कारण फ्रेडरिक अपने युग का विलक्षण व्यक्ति सिद्ध हुआ। वस्तुतः ये सभी प्रभाव उसके विविध कार्यों में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

पिछले कई दशकों से सर्वत्र व्याप्त अराजकता को समाप्त करने के बाद फ्रेडरिक द्वितीय ने अपने साम्राज्य में अमन-चैन कायम किया। सामंतों का दमन किया गया। नियमों-कानूनों की पुनर्स्थापना हुई। कर-व्यवस्था का पुनर्संगठन हुआ। राजकीय भूसंपदा का कुछ भाग कई लोगों ने हथिया लिया था। इसे पुनः वापस ले लिया गया। गैरकानूनी करों को समाप्त किया गया। सामंतों के कई किलों को ध्वस्त कर उनकी जगह पर राजकीय किलों की स्थापना हुई जिनमें भाड़े के सैनिकों को न रख कर सरकारी वेतनभोगी नियमित सैनिकों को रखा गया। राज्य द्वारा आबाद की गई भूमि में नये उपनिवेशों की स्थापना हुई। सन् १२३१ ई० में फ्रेडरिक ने मेल्फी के संविधान की घोषणा की जिसमें निरंकुश राजतन्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों को समान रूप से अपनाया गया था। निस्संदेह यह संविधान मध्ययुगीन राजकौशल का एक अति विलक्षण और सृजनात्मक उदाहरण था।

फ्रेडरिक की विधि-व्यवस्था शार्लमन के बाद सर्वाधिक व्यापक थी। उसके कानूनों में रोमनों, लोम्बार्डो, मुसलमानों एवं नारमनों के कानून मिश्रित थे। पूर्वकालीन सामंती कानूनों को समाप्त कर दिया गया। पुरानी दंड-व्यवस्था, जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सामाजिक स्तर के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती थी, समाप्त कर दी गई। अब समान अपराधों के लिए समान दंड निर्धारित किए गए। न्याय के क्षेत्र में, प्रतिवादी अब अपना वकील रख सकता था। अप्राकृतिक एवं निराधार होने के कारण द्वन्द्व अथवा दैवी परीक्षा द्वारा अब मुकदमों का फैसला बन्द कर दिया गया। कचहरियों की सम्पूर्ण कार्यवाही एवं प्रमाणों को अब लिपिबद्ध किया जाने लगा। सभी नैय्यायिक कागजात एवं सनद अब लिखित होने लगे। काउण्टों एवं बैरनों की जगह पर कानूनवेत्ताओं को न्यायाधीश नियुक्त किया जाने लगा। उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में फ्रेडरिक मध्ययुगीन से कहीं अधिक आधुनिक जान पड़ता है।

सामाजिक मान्यताओं के क्षेत्र में फ्रेडरिक कुछ-कुछ रूढ़िवादी था। सामंतों, नगरवासियों और किसानों के बीच सामाजिक विभेद को उसने बनाये रखा। नारमन अभिजात वर्ग की प्रतिष्ठा बनाए रखने की ओर वह विशेष ध्यान देता था। सामंतों के मुकदमें सामंती कचहरियों में ही देखे जाते रहे। नैय्यायिक साक्ष्य की प्रामाणिकता भी गवाह के सामाजिक स्तर द्वारा निर्धारित होती रही। उच्च वर्गों के विरुद्ध निम्नवर्गीय गवाह की साक्षी संदिग्ध मानी जाती रही। इस तरह, कानून की दृष्टि में फ्रेडरिक ने सभी लोगों को एक समान धरातल पर खड़ा नहीं किया। फिर भी, सामंतों के केवल सामाजिक विशेषाधिकार ही सुरक्षित रहे। उनके प्रशासकीय एवं राजनीतिक अधिकार निस्संदेह पहले से बहुत कम हो गए।

जहाँ तक राजस्व एवं कर-नीति का प्रश्न है, फ्रेडरिक ने इन क्षेत्रों में नवीन प्रशासकीय विचारों का समावेश किया। प्राचीन सामंती सेवाओं के बदले में अब नकद धन वसूला जाने लगा। भूमि और आमदनी के आधार पर अब प्रत्येक व्यक्ति से कर वसूला जाने लगा। सभी प्रकार के राजस्वविषयक कार्य अब एक राजस्व समिति द्वारा देखे जाने लगे। इस विभाग के अधिकांश अधिकारी नारमन ग्रीक, यहूदी अथवा अरब थे। इस तरह, फ्रेडरिक द्वितीय के अधीन सिसली में जिस राजस्व व्यवथा की स्थापना हुई उसे देखकर समकालीन लोगों को बहुत आश्चर्य होता था।

फ्रेडरिक द्वितीय की देख-रेख में व्यापार, उद्योग और कृषि की असाधारण उन्नति हुई। इस उन्नति के फलस्वरूप उसकी आय इतनी बढ़ गई कि यूरोप का कोई भी अन्य शासक समृद्धि की दृष्टि से उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। कृषि में वृद्धि हुई। दलदलों को आबाद किया गया। बगीचे लगाए गए। कपास, गन्ना और नील आदि की खेती होने लगी। राजकीय भूमि से कृषिदास-प्रथा को समाप्त कर दिया गया। स्मरणीय बात यह है कि यह प्रथा रूस में कई सौ वर्ष बाद उन्नीसवीं शताब्दी में समाप्त की जा सकी। आंतरिक चुंगी को समाप्त कर दिया गया और व्यापार की उन्नति के लिए उत्तर इटली, मिस्र और ट्यूनिस आदि सामुद्रिक व्यापारवाले देशों से व्यापारिक संधियाँ हुईं। पचासी जहाजों वाले एक जहाजी बेड़े की स्थापना हुई जिसके दो कप्तान अरब थे। गल्ला बाजार, मुद्रा-विनिमय, नमक, लोहा, सूती एवं रेशमी कपड़ों के व्यापार पर सरकारी एकाधिकार कायम किया गया जिससे राज्य की आमदनी काफी बढ़ गयी।

फ्रेडरिक द्वितीय की सर्वश्रेष्ठ एवं स्थायी उपलब्धियाँ निःसन्देह संस्कृति एवं विज्ञान के क्षेत्रों में थीं। वस्तुतः उसके बाद की पीढ़ियाँ उसे एक महान संस्कारक के रूप में याद करती रहीं। उसकी रुचि अत्यन्त व्यापक थी यद्यपि कभी-कभी उसकी रुचि धर्म-विरोधी भी जान पड़ती थी। रुचि की यह व्यापकता ग्रीकों, रोमनों बैजन्टाइनों, मुसलमानों और नारमनों के प्रभाव के कारण थी। इन लोगों की सभ्यताओं का सिसली की सभ्यता पर गहरा प्रभाव पड़ा था। स्वयं एक विद्वान होने के नाते वह विभिन्न देशों से विद्वानों को अपने दरबार में आमंत्रित करता था। इसमें जाति अथवा धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं बरता जाता था। स्कॉटलैंड से माइकल स्कॉट को बुलाया गया। उसने अरस्तू के कई ग्रंथों का लैटिन भाषा में अनुवाद किया। शार्लमन के दरबार की तरह फ्रेडरिक का दरबार भी साम्राज्य का बौद्धिक केन्द्र बन गया। फ्रेडरिक के निरंकुशतावादी और पैतृकवादी शासकीय आदर्शों के कारण उसके राज्य में शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के स्वतन्त्र संगठनों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। सालेरनो विश्वविद्यालय पर कानूनी प्रतिबंध लगाकर उसे एक राजकीय मेडिकल विद्यालय का रूप दे दिया गया। राजकीय पदाधिकारियों के प्रशिक्षण की दृष्टि से नेपल्स विश्वविद्यालय में आवश्यक सुधार किए गए। राजकीय अधिकार-पत्र द्वारा इटली में स्थापित होनेवाला पहला विश्वविद्यालय नेपल्स का ही था। फ्रेडरिक ने इसे अरब एवं ग्रीक दार्शनिकों की पुस्तकों अथवा अनुवादों द्वारा समृद्ध बनाया। फ्रेडरिक स्वयं एक अच्छा लेखक था। अपनी पुस्तक **ऑन द आर्ट ऑफ हंटिंग विद फैलकॉन्स** नामक पुस्तक में उसने अरस्तू की भी आलोचना की है। इस पुस्तक से उसकी लेखन-प्रतिभा का पता चलता है।

मध्यकालीन यूरोप में फ्रेडरिक द्वितीय विज्ञान का सबसे बड़ा संरक्षक था। सरकारी काम के अलावा वह स्वयं विज्ञान के अध्ययन में काफी समय लगाता था। सभी प्रकार के पक्षियों के अतिरिक्त गणित, ज्योतिष और खगोलशास्त्र में उसकी अपार अभिरुचि थी। पशुओं में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वह पशु जगत का सूक्ष्म अध्ययन करता था और उनकी आदतों को समझने की चेष्टा करता। घोड़े, कुत्ते और बाज उसके सर्वश्रेष्ठ मित्र थे। उसका एक अपना वन्यपशु-संग्रह भी था। उपर्युक्त पुस्तक में उसने शिकारी पक्षियों, विशेषतः बाजों की शरीर-रचना, पालन और आदतों की सूक्ष्म विवेचना की है। दूसरों के विचारों के साथ-साथ सत्य को जानने के लिए वह स्वयं अपनी प्रयोगशालाओं में स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया

था। इससे उसकी जिज्ञासु प्रवृति का पता चलता है। असाधारण प्रयोगकर्त्ता के रूप में शीघ्र ही उसकी ख्याति चारों ओर फैल गयी और उसके कई विलक्षण प्रयोगों की चर्चा हेसकिस ने की है। मुर्गी के अण्डों को सूर्य की उष्मा द्वारा सेने का उसने प्रयास किया। घोड़ों के पालन और नस्ल-सुधार में उसकी रुचि थी। उसके एक अधिकारी रूफो ने पशुचिकित्सा संबंधी एक पुस्तक लिखी। फ्रेडरिक चिकित्सा-शास्त्र में भी रुचि रखता था। सन् १२३१ ई० में उसने अनुज्ञा-पत्र के बिना चिकित्सा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिससे नीम-हकीमों की संख्या न बढ़ सके।

तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र से भी फ्रेडरिक का लगाव था। उसके दरबार का प्रमुख दार्शनिक मास्टर थियोडोर था। फ्रेडरिक सम्पूर्ण सृष्टि के रहस्य और आत्मा की अंतिम परिणति को समझना चाहता था। इस उद्देश्य से उसने एशिया माइनर, मिस्र, अरब, मोरक्को और स्पेन के मुसलमान दार्शनिकों के पास अनेक महत्त्वपूर्ण धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रश्न समाधान के लिए भेजे। संभवतः वह आत्मा की अनश्वरता में विश्वास नहीं करता था। यही कारण है कि दांते ने उसकी आत्मा को कोसा था। इस तरह, फ्रेडरिक अत्यन्त बौद्धिकता-वादी था और सत्यान्वेषण की उसमें अपरिमित इच्छा थी। यूरोप के बौद्धिक विकास पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ा और पुनर्जागरण का मार्ग उसके द्वारा प्रशस्त हुआ।

मध्य युग का होते हुए भी फ्रेडरिक साथ-ही-साथ आधुनिक युग का भी था। यद्यपि उसने जर्मनी में विधर्मियों का दमन किया, वह अपने धार्मिक विचारों में उदार था। सिसली में सभी धर्मों के प्रति वह सहिष्णु था। उसका दृष्टिकोण सर्वथा आधुनिक था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी नीति धर्म की बजाय राजनीतिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होती थी। उस सामंती युग में भी वह सामंती विचारों से मुक्त था। उसका सिसली का राज्य प्रथम आधुनिक राज्य और स्वयं वह प्रथम आधुनिक राजा माना जाता है। अठारहवीं शताब्दी के उदार राजाओं की तरह उसकी निरंकुशता भी लोकरंजन पर आधारित थी। उसने नेपल्स विश्वविद्यालय की स्थापना की और अपनी प्रजा की शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया। राज्य के आर्थिक विकास के निमित्त वह सदैव सचेष्ट रहा। उसने कई नगरों की स्थापना की और नदियों पर पुल बनवाए। कृषि-एवं व्यापार को उसने राजकीय संरक्षण प्रदान किया और व्यापारिक मेलों की व्यवस्था की।

अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि फ्रेडरिक की सर्वतोमुखी प्रतिभा राजनीतिज्ञ, विद्वान, कलाविद, विज्ञानी और संस्कृति के पोषक के रूप में उसकी विलक्षणता को ध्यान में रखकर उसके एक समकालीन व्यक्ति ने उसे "विश्व का आश्चर्य" की संज्ञा दी थी।

फ्रेडरिक द्वितीय की पेचिश से दक्षिण इटली में १२५० ई० में मृत्यु हो गयी। वस्तुतः उसकी मृत्यु के बाद होहेनस्टाफेन राजवंश की शक्ति का अन्त हो गया, यद्यपि कुछ नामधारी राजा अगले कई वर्षों तक शासन करते रहे। इन नाममात्र के राजाओं का पोप तबतक विरोध करते रहे जबतक कि इस राजवंश का अन्त न हो गया। फ्रेडरिक के बाद कॉनराड चतुर्थ राजा हुआ, परन्तु १२५४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। सिसली का राज्य होहेनस्टाफेन मेनफ्रेड के अधीन बना रहा। जर्मनी का शासन कॉनराड चतुर्थ के पुत्र एवं उत्तराधिकारी कानरेडिनो के अधीन था। वह अभी बालक ही था, अतः उसकी देख-रेख का भार उसके नाना को सौंपा गया था। पोप अरबन चतुर्थ और क्लिमेंट चतुर्थ के षड्यन्त्रों के फलस्वरूप फ्रांस के राजा लुई नवाँ का भाई अंजाउ का चार्ल्स इटली में प्रविष्ट हुआ। इस महत्वाकांक्षी व्यक्ति ने मेनफ्रेड के राज्य पर १२६६ ई० में आक्रमण किया। मेन्फ्रेड बेनेमेन्टो की लड़ाई में पराजित हुआ और मारा गया। इटालियनों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने जर्मनी से कॉनरेडिनो को आमन्त्रित किया। परन्तु, १२६८ ई० में फ्रांसीसी सेना ने जर्मनों को पराजित कर कानरेडिनो को बन्दी बना लिया। उसे नेपल्स ले जाया गया जहाँ पोप क्लिमेंट चतुर्थ की राय से उसकी हत्या कर दी गयी। इस तरह, १२६८ ई० में तथाकथित पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। इसके बाद बहुत कम जर्मन राजाओं ने इटली के साम्राज्य में शामिल करने का विचार किया। स्वयं जर्मनी में सामन्तवाद की प्रधानता हो गयी और इसका एकीकरण कई शताब्दियों के लिए रुक गया।

अध्याय ९

चर्च का सुधार

दसवीं शताब्दी का उतरार्द्ध और ग्यारहीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध पश्चिमी चर्च के इतिहास में विभिन्न प्रकार की बुराइयों का युग था। कैरोलिंगियन साम्राज्य के पतन के बाद संस्कृति एवं शासन की ही तरह धर्म के क्षेत्र में भी अवनति हुई। यह सही है कि इस पतन के युग में भी धर्मात्मा एवं आत्मनिष्ठ व्यक्तियों की कमी न थी। ऐसे सुधारकों में निलुस का नाम लिया जा सकता है जिसने इटली में कुछ मठों की स्थापना की। रोसानो में उत्पन्न इस व्यक्ति पर सन्त एन्टनी की जीवनी का गहरा प्रभाव पड़ा था और आरम्भ से ही इसने पवित्रता, आत्मत्याग और धर्मोचित आचरण को अपनाया। उसकी प्रतिभा के कायल उसके अनेक अनुयायी हुए। अठासी वर्ष की आयु में भी दया की भावना से अभिभूत होकर उसने ओटो तृतीय द्वारा दंडित पियासेंजा के पिलेगेथस के साथ रोम बन्दी जीवन व्यतित करने का निश्चय किया। निलुस से भी अधिक प्रभावशाली इटली में उत्पन्न डिजों का विलियम था। बरसेल के एक मठ में उसका लालन-पालन हुआ था, परन्तु शीघ्र ही उसने क्लुनी को अपने आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में स्वीकार कर लिया। वहाँ के एबोट ओडिलो ने उसे डिजों में सुधार-कार्य का जिम्मा दिया। डिजों से उसका मठीय सुधार-कार्य शीघ्र ही बरगंडी, फ्रांस और लोरेन में फैल गया। क्लूनी की सुधारक प्रक्रिया का उसके द्वारा गॉर्ज और तुल इत्यादि में प्रसार हुआ। बरडन के निकट के संत वेनेस का रिचर्ड, लोरेन में विशेष प्रभावशाली सिद्ध हुआ। स्टेबलो का एबोट पोपो उसका शिष्य था। पोपो के माध्यम से आन्दोलन जर्मनी सुधार में फैला। उसी तरह नेमुर के निकट ब्रोग्न के गेरार्ड की सेवा भी कम महत्त्वपूर्ण न थी। पोपो के मित्र पिलग्रिम (१०२१-१०३६) के प्रयासों के फलस्वरूप जर्मनी में सुधार-आन्दोलन दृढ़ हुआ। परन्तु, इन सभी सुधारकों के प्रयास के बावजूद चर्च के जीवन में सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला था। पादरियों को ईसाई मत का सही स्वरूप विस्मृत होता जा रहा था। विसेंजा के अधिकांश पादरी तो ईसाई धर्म को ही भूलते जा रहे थे। पादरियों का नैतिक स्तर तो और भी निम्न था। साधारण जनता से वे केवल अपनी पोशाकमात्र की दृष्टि से

भिन्न थे। राजनीति में व्याप्त अराजकता के कारण चर्च का भी सुधार कठिन जान पड़ता था। पादरियों द्वारा ब्रह्मचर्य-जीवन का पालन कराना कठिन था। उनमें से कुछ ने विवाह कर लिया था तो कुछ सरेआम व्यभिचारी थे। धर्म-सभाओं में भाग लेना व्यर्थ जान पड़ता था और जेलों में डाल देने का भी उन पर विशेष असर नहीं पड़ता था। रेथेरियस (८८७-९७४) की जीवनी, यात्राओं और लेखों से उस समय की दयनीय स्थिति पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त पतन के बावजूद बर्नवार्ड, गोडहार्ड, रिचर्ड, फुलबर्ट, ओडो, लेनफ्रैंक और डुरेंड आदि ने कला, शिल्प एवं आध्यात्मिकता के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। जर्मनी में धर्मसूत्र का विशेष तौर पर विकास हुआ। इससे सुधारों की संवैधानिक पृष्ठभूमि तैयार हुई। इस क्षेत्र में वर्म्स के बिशप बरचर्ड (१०००-१०२५ ई०) और लिज के बिशप वाजो (१०४१-१०४८ ई०) के कार्य विशेष उल्लेखनीय थे। कुछ सुधारक बिशप थे, परन्तु अधिकांश मठवासी थे; क्योंकि सुधारों का स्वरूप मुख्यतः मठीय सुधार का था। धीरे-धीरे सुधारों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा। सुधार की प्रक्रिया कभी तो व्यक्तिविशेषों द्वारा आगे बढ़ी तो कभी उस पर विशिष्ट सिद्धान्तवादी वर्गों का प्रभाव पड़ा। सुधारों के क्षेत्र में कुछ बातें सर्वत्र समान रूप से देखने को मिलती थीं, परन्तु कहीं-कहीं स्थानीय प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता था। पोप सिल्वेस्टर द्वितीय धर्मपद-विक्रय को उस युग के चर्च का सबसे बड़ा अभिशाप मानता था। स्मरणीय बात यह है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों का उस समय तक भी यूरोप के सभी देशों पर पूरा-पूरा प्रभाव नहीं पड़ा था। सबसे पहले ईसाई मत को स्वीकार करनेवाले देशों में भी चर्च में अनेक बुराइयाँ घर कर गई थीं और नये ईसाइयों की अर्द्ध-धार्मिकता पुराने ईसाइयों को भी प्रभावित कर रही थी। सामन्त और सामान्य लोगों की चर्च के नियमों में बहुत कम आस्था थी। व्यभिचार एवं कामुकता सर्वत्र फैली हुई थी। गाँवों के गिरजाघरों में नियुक्ति के लिए भारी रकम देनी पड़ती थी। मठों पर नियन्त्रण रखना प्रायः असंभव था; क्योंकि बिशप लोग साधारणतः स्वयं धर्म के प्रति उदासीन और दुश्चरित्र थे। सुधार लाने के प्रयासों का अन्त कभी-कभी रक्तपात में होता था। एबौट इरलुइन ने जब चर्च के नियमों को मनवाने का प्रयास किया तो तीन असंतुष्ट व्यक्तियों ने जीभ काटने के बाद उसे अन्धा भी बना दिया। इटली में फारफा के प्रसिद्ध मठ पर ९१५ ई० के लगभग अरबों ने कब्जा कर लिया और बाद में ईसाई लुटेरों ने ही इसे जला डाला।

इस मठ के निवासी भागकर रोम; रियेटी और फेरमो चले गए। इस मठ की भूमि उजाड़ पड़ गई और एबोट पीटर की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी रिमो रोम चला गया जहाँ ज़हर देकर उसकी हत्या कर दी गई। इटली के सामन्त इस मठ को क़िले के रूप में उपयोग करना चाहते थे, परन्तु राजा ह्यू ने एक नए एबोट रेफ्रिड का समर्थन किया। रेफ्रिड ने प्रायः एक सौ परिवारों को बुलाकर मठ के आसपास बसाया और मठ की मरम्मत की। जहाँ तक संभव हुआ, सभी मठवासियों को वापस बुला लिया और मठ के खाली कोष को फिर से भरा गया। परन्तु, धर्मशास्त्रों के अध्ययन और पवित्र जीवन-यापन में वहाँ किसी की रुचि नहीं थी। केवल चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई होती रही जिसमें जहरों का भी ज्ञान शामिल था; क्योंकि एक के बाद कई एबोटों को अपनी रक्षा अथवा प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या के लिए इस ज्ञान की आवश्यकता पड़ती थी। जब रेफ्रिड को जहर दे दिया गया तो उसके एक हत्यारे ने सैनिक बल द्वारा मठ पर अपना अधिकार बनाए रखा। तथाकथित मठवासी खुलेआम अपनी रक्षिताओं के साथ रहते थे। केवल रविवार को प्रार्थना होती थी। धीरे-धीरे वह भी बन्द हो गई। कैम्पों, जिसे राजा ह्यू ने मठ को जागीर के रूप में दे दिया था, अपनी सात कन्याओं और तीन पुत्रों को मठ की सम्पत्ति से धनवान बनाने में लगा रहा। जब कुछ भिक्षुओं को मठ में धर्मानुकूल आचरण की स्थापना के लिए भेजा गया तो कैम्पों ने उन्हें भगा दिया। तब अलबेरिक ने बल-प्रयोग द्वारा कैम्पों को निकाल बाहर किया और डागोबर्ट को एबोट बनाया। पाँच वर्ष बाद डागोबर्ट की भी जहर देकर हत्या कर दी गई। अलबेरिक और जॉन बारहवें की सहायता से लुक्का का एडम नया एबोट बना, किन्तु उसका जीवन भी कैम्पों की ही तरह पतित था। बाद में स्पोलेटो के थियोबाल्ड ने अपने भाई हुबर्ट को एबोट बनाया, किन्तु जॉन बारहवें ने उसे हटाकर सन्त एंड्रिया के लियो को एबोट बनाया। इस तरह, एक समय में शांति एवं धर्म के केन्द्र मठ आतंक एवं अनाचार के केन्द्र बन गए थे। ग्रामीण गिरजाघरों की दशा तो और भी ख़राब थी। पादरी अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को भूल चुके थे। उन पर बिशपों का नियन्त्रण समाप्त हो चुका था।

बिशपों के चुनाव के विषय में प्राचीन नियम था कि वे पादरियों एवं जनता द्वारा चुने जाएँगे। परन्तु, शीघ्र ही प्रधान गिरजाघर के पादरी इन चुनावों में प्रमुख भाग लेने लगे। बाद में प्रमुख एबोटों की इस क्षेत्र में प्रधानता हो गई। जनता का इन चुनावों में कोई हाथ न रहा। कुछ समय बाद इन चुनावों में

राजाओं का प्रमुख हाथ हो गया। राजाओं का विशपों से विशेष लगाव था; क्योंकि विशप धार्मिक मामलों में उनके प्रमुख परामर्शदाता थे। राजागण विशपों का अन्य क्षेत्रों में भी उपयोग करते थे। जर्मनी में उन्हें प्रशासनिक कार्य तक सौंपे गए थे। धार्मिक कारणों के अतिरिक्त सामान्य सामंतों की तुलना में विशपों की शक्ति बढ़ाना राजा अपने हित में समझते थे। धार्मिक सामंतों का सामान्य सामन्तों के खिलाफ उपयोग किया जा सकता था। साधारणत: विशप सामान्य सामन्तों की तुलना में प्रशासनिक कार्यों के लिए अधिक प्रशिक्षित रहते थे। साथ ही साथ, राजाओं द्वारा आरम्भ में चर्च की सेवाओं को भी विशप अनुग्रहपूर्वक स्मरण करते थे। फ्रांस में, जहाँ राजा की शक्ति सीमित थी, बड़े सामन्त अपने क्षेत्रों में राजा की ही तरह शक्तिशाली थे। वहाँ विशपों का जनता द्वारा चुनाव प्राय: समाप्त ही हो गया था। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक फ्रांस में विशपों का चुनाव प्राय: समाप्त हो चुका था और विशपी को जागीर माना जाने लगा था। इंग्लैंड में विशप राजाओं द्वारा मनोनीत किए जाने लगे यद्यपि राजा द्वारा चुने गए नाम की घोषणा आम जनता और पादरियों की उपस्थिति में की जाती थी। यूरोप के प्राय: प्रत्येक देश में विशपों का चुनाव राजाओं दारा होने लगा और अन्य लोगों का हाथ केवल नाममात्र का होता था। धर्माध्यक्ष का काम केवल पवित्रीकरण रह गया और विशप के क्षेत्र में केवल प्रतिष्ठापन समारोह होता था। मध्य यूरोप में ईसाई-धर्म के प्रसार का काम पूरा हो चुका था। वहाँ भी पल्ली-गिरजाघरों के पादरियों की नियुक्ति भूमिपति ही कर रहे थे। अंतिम स्वीकृरि देने का अधिकार विशप का था, परन्तु भूमिपति इन पदों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझने लगे थे। कभी-कभी तो इन पदों की खरीद-बिक्री भी होती थी। सामन्ती प्रथा के अनुकूल भूमिपति पल्ली-पादरी को अपना अधीनस्थ और चर्च की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति समझने लगा था। इस तरह, ग्यारहवीं शताब्दी तक चर्च-सम्पत्ति-अपहरण-भ्रष्टाचार गिरजाघरों पर व्यक्तिगत नियन्त्रण और पदों का क्रय-विक्रय यूरोप में सर्वत्र व्याप्त हो गए थे। जर्मनी में कुछ राजाओं ने सचमुच चर्च को सुधरने का प्रयास किया किन्तु कॉनराड दितीय जैसे शासकों ने पदों का क्रय-विक्रय कर काफी धन भी कमाया। फ्रांस में पदों के क्रय-विक्रय का बोलबाला था। धर्ममण्डलों का क्रय आम प्रथा के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। धन खर्च कर विशप बने लोग धर्मभीरु लोगों से धन वसूल कर अपनी क्षति-पूर्ति करते थे। पादरी-पद की बिक्री का रोग इतना बढ़ गया कि सुधारवादी कहने लगे कि चर्च पर "पदविक्रय रूपी

जादूगर'' का शासन था। धर्म-सभाओं में चर्च की बुराइयों का विरोध किया जा सकता था, परन्तु धर्म-सभाओं की ही संख्या कम होती जा रही थी। फिर भी, ९४८ ई० में इजेलहम की धर्म-सभा ने सामान्य जनता को किसी भी पल्ली-पादरी को विशप की आज्ञा के बिना पादरी नियुक्त करने अथवा उस पद से हटाने से मना किया। सन् १०२३ में सेलिजेस टाड की प्रसिद्ध धर्म-सभा में निर्णय लिया गया कि कोई भी सामान्य जन अपना गिरजाघर किसी पादरी को तब तक नहीं देगा जब तक विशप द्वारा उस व्यक्ति की पादरी-पद के लिए योग्यता की जाँच न कर ली जाए। सन् १०३१ ई० में वोरगेस की धर्म-सभा ने विशपों को पादरी-पद पर नियुक्ति, नामकरण तथा अन्त्येष्टि क्रिया के लिए पैसा लेने से मना कर दिया, यद्यपि उपहार लिये जा सकते थे। इंग्लैंड में भी चर्च को बिकाऊ वस्तु बनाने से रोकने के लिए जुर्माने की व्यवस्था की गई थी।

पादरी वर्ग में धर्माचरण बनाए रखने के लिए दसवीं शताब्दी से पूर्व विशपों को धर्मप्राण राजाओं तथा साहसी पोपों से सहायता मिलती रही थी। परन्तु अब स्वयं विशप-समाज भ्रष्ट हो गया था और राजा लोग भी अपने स्वार्थ के लिए इसका उपयोग करने लगे थे। "वे ऐसे उपदेशक थे जो उपदेश नहीं देते थे, वे ऐसे मार्गदर्शक थे जो परिचारकों की तरह रहते थे।" गुडफ्रिड दस वर्ष की आयु में ही भारी रकम घूस में देकर नारबॉन का आर्कविशप बन गया था। उसने गिरजाघरों की प्रायः सभी सम्पत्ति को बेच डाला और अपने रिश्तेदारों को समृद्ध बनाने में ही हमेशा लगा रहा। गैस्कनी के एक विशप ने अपने अधीन के आठ गिरजाघरों को लिखा-पढ़ी द्वारा बेच दिया। गिरजाघरों में रुपयों का लेन-देन करने-वालों की प्रायः भीड़ लगी रहती थी। सिल्वेस्टर द्वितीय पदों के क्रय-विक्रय को चर्च का सबसे बड़ा दोष मानता था। परन्तु, अधिकांश सुधारक पादरियों की दुश्चरित्रता को उनका सबसे बड़ा अवगुण समझते थे। उच्च कोटि की नैतिकता के लिए प्रतित्याग-भावना को आवश्यक माना जाता था। अतः अब साधुवाद के साथ-साथ ब्रह्मचर्य पर अधिक जोर दिया जाने लगा। साधुता की भावना से पहले भी चर्च की पवित्रता को बल मिलता रहा था, अतः अब अधिकांश सुधारक मठीय व्यवस्था पर जोर देने लगे। पादरियों द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करा के सभी प्रकार के दोषों से त्राण पाने की आशा की जाने लगी। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी की धर्म-सभाओं में ब्रह्मचर्य और पदों के विक्रय की चर्चा बार-बार हुई। प्रायः सभी सुधारवादी ब्रह्मचर्य का पालन करने पर जोर देते थे। सन्

१००० ई० में प्वायटियर्स की धर्म-सभा ने ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले विशपों को जाति-वहिष्कृत करने तक की धमकी दी। सन् १०३१ ई० की वोरगेस की सभा में सभी उप-डीकनों को पत्नी अथवा रखैल न रखने का आदेश दिया गया। परन्तु, इन सभी सुधारों को लागू करने के लिए रोम के पोप का शक्तिशाली होना आवश्यक था। दुर्भाग्यवश रोम में धार्मिक वातावरण का अभाव तो था ही, वहाँ की राजनीति भी विपाक्त थी। सामन्तों के पारस्परिक झगड़ों से रोम में अराजकता फैली हुई थी। सन् १०१२ ई० में सरजियस की मृत्यु के बाद पोप पद के लिए दो प्रतिद्वन्दी उठ खड़े हुए। जर्मनी के हेनरी द्वितीय की सहायता से वेनेडिक्ट आठवाँ पोप पद पर आसीन हुआ। नए पोप ने हेनरी का अभिषेक किया। सम्राट् और पोप ने मिलकर सुधारों की ओर ध्यान दिया, यद्यपि सुधारों के पीछे उनके उद्देश्य अलग-अलग थे। सन् १०१८ ई० में पेभिया की धर्मसभा में वेनेडिक्ट ने चर्च की वुराइयों का विशद विश्लेषण किया। इस सभा ने चर्च के सभी पदाधिकारियों पर विवाह करने अथवा रखैल रखने पर प्रतिवंध लगा दिया। सम्राट् ने इन आदेशों को कानूनी मान्यता दे दी। सम्राट् ने पदों के विक्रय तथा चर्च की भूसम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी प्रतिवंध लगा दिया। जर्मनी में चर्च के अनुशासन, पूजनविधि तथा नैतिक आचरण में एकरूपता लाने की कोशिश की गई। सम्राट के निजी पुरोहित एरिवों ने इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

जून १०२४ ई० में वेनेडिक्ट अष्टम की मृत्यु हो गई। उसका भाई रोमेनुस जॉन उन्नीसवाँ के नाम से नया पोप वना। उसके पोप वनने के एक मास के भीतर ही सम्राट हेनरी द्वितीय की मृत्यु हो गई। जॉन उन्नीसवाँ ने नए जर्मन राजा कॉनराड द्वितीय का २६ मार्च, १०२७ को रोम में सम्राट के रूप में अभिषेक किया। परन्तु, जॉन उन्नीसवाँ का काल महत्त्वहीन और सुधारविहीन सावित हुआ। इटली में पूर्ववत् चर्च की सभी वुराइयाँ प्रकट होने लगीं, यद्यपि जर्मनी में सुधार की प्रक्रिया वनी रही। जॉन उन्नीसवाँ के भतीजे वेनेडिक्ट नवाँ के पोप वनने पर तो पोपतंत्र की दशा और भी खराव हो गई। तथाकथित वंशानुगत पोपों में वह अंतिम था। इसके वाद सुधारवादी और शक्तिशाली पोपों के युग का आरम्भ हुआ। दूसरी ओर पोपतंत्र के प्रति सम्राटों की नीति में भी परिवर्तन हो रहा था। कॉनराड द्वितीय ने जॉन उन्नीसवाँ और वेनेडिक्ट नवाँ को अपने हाथ का कठपुतला वना लिया था। वाद में वेनेडिक्ट ने जॉन ग्रेसियर के पक्ष में पोप पद का परित्याग कर दिया। जॉन ग्रेसियन ग्रिगोरी छठा के नाम से नया पोप वना। ग्रिगोरी

सुधारवादी, उत्तम-चरित्र और उच्च-कुल-संभव व्यक्ति था। चर्च के इतिहास के लिए सबसे बड़ी बात यह थी कि वह युवा हिल्डेब्राँ से सम्बद्ध था जो आगे चलकर पोप ग्रिगोरी सप्तम के नाम से विख्यात हुआ। ग्रिगोरी छठा दो वर्ष पोप रहा, परन्तु सुधार की गति तब भी धीमी ही रही। बाद में पोप पद को खरीदने का इल्जाम लगाकर ग्रिगोरी को हटा दिया गया और निर्वासित अवस्था में १०४७ में जर्मनी में उसकी मृत्यु हो गई। अब हेनरी तृतीय ने बैम्बर्ग के सुइगर को क्लेमंट द्वितीय के नाम से नया पोप चुनवाया। क्लेमंट द्वितीय का पोपत्व अल्पकालीन सिद्ध हुआ। ९ अक्टूबर, १०४७ को उसकी मृत्यु हो गई। अगले एक वर्ष के भीतर बेनेडिक्ट नवाँ और डेमसस द्वितीय दो अन्य पोप हुए। तब हेनरी ने अपने एक संबंधी ब्रूनों को लियो नवाँ के नाम से नया पोप बनाया। लियो नवाँ के समय में रोम, पेभिया, रिम्स, मेयेन्स, सालेरनो, बरसेली और मंटुआ में धर्म-सभाएँ हुईं। प्रत्येक सभा में चर्च की आंतरिक बुराइयों और मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया गया। पद-विक्रय एवं पादरियों के विवाहों के विरुद्ध नियम बनाए गए। दोषी बिशपों को उनके पदों से हटाया गया। लियो को पोपतंत्र की राजनीतिक शक्ति का संस्थापक कहा गया है। चर्च द्वारा उसके कर्त्तव्यों के पालन के लिए लियो चर्च में नवीन जागृति लाना और इसे शक्तिशाली बनाना आवश्यक समझता था। उसने जो युद्ध किए उनके पीछे भी यही उद्देश्य थे। पोपतंत्र को उसने सच-मुच एक नई दिशा दी। धर्म-सभाओं और कानूनों सम्बन्धी उसके कार्य न्यायिक थे, यद्यपि ग्रिगोरी सप्तम की तरह उसके जीवन के अंतिम वर्षों में इन कार्यों में शिथि-लता आ गई थी। उसने बिशपों एवं रोम के बीच अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित किया। उसने हंगरी और इंग्लैंड सहित कई देशों पर पोपतंत्र का नियंत्रण स्थापित किया। बाल्टिक प्रदेशों के लिए ब्रेमेन के एडलबर्ट को भिकार नियुक्त किया गया। उसके समय में आरम्भ किया गया कार्य बाद के पोपों द्वारा पूरा हुआ। इस तरह, उसका पोपत्व भविष्य के लिए एक उत्तम उदाहरण होने के साथ-साथ नवीन प्रेरणा का स्रोत था। रोम के बाहर उसकी यात्राओं और धर्म-सभाओं से पोप-पद की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सम्राट के दफ्तर की तरह पोप के दफ्तर का पुनर्गठन किया गया। इस तरह, कार्डिनलों का महत्त्व बढ़ने लगा। उसके बाद पोपों के निरंतर बढ़ते आत्म-विश्वास के कारण पोपतंत्र सामाजिक नियंत्रण से मुक्त होने का प्रयास करने लगा। इस तरह, पोपों और सम्राटों के संघर्ष का आरम्भ हुआ।

लियों के बाद विक्टर द्वितीय १३ अप्रैल, १०५५ को पोप बना। ५ अक्टूबर,

१०५६ को हेनरी तृतीय की भी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु और उसके उत्तराधिकारी हेनरी चतुर्थ के सिंहासनारोहण के समय नया पोप उपस्थित था। सन् १०५७ में विक्टर द्वितीय ने रोम में एक धर्म-सभा की। उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। अगस्त १०५७ में लोरेन का फ्रेड्रिक, स्टीफन नवम् के नाम से पोप चुना गया। परन्तु अगले वर्ष मार्च में फ्लोरेंस में उसकी भी मृत्यु हो गई। वहीं उसे दफनाया भी गया। स्टीफन की अचानक मृत्यु के बावजूद यह लगभग निश्चित था कि चर्च में सुधारों की प्रक्रिया बनी रहेगी। स्टीफन ने अपने चतुर्दिक सुधारकों का एक अच्छा दल तैयार कर लिया था। संत पीटर डेमियन और एन्सेलम इनमें प्रमुख थे। इनके प्रयासों से चर्च में पोप की सर्वोच्चता निश्चित रूप से स्थापित हो गई। विभिन्न धर्माध्यक्ष पोपतंत्र की शक्ति के प्रमुख स्रोत बन गए। फिर भी, स्टीफन नवाँ की मृत्यु के बाद पोप पद के लिए विवाद उठ खड़ा हुआ। कुछ समय से साम्राज्य एवं पोपतंत्र अलग-अलग पड़ते जा रहे थे। रोमन सामन्त तथा नवोदित टस्कन और नॉरमन राज्य साम्राज्य के प्रभाव से मुक्त होना चाहते थे। उन्होंने बेनेडिक्ट दशम को नया पोप चुना। परन्तु, अधिकांश कार्डिनलों ने बेनेडिक्ट का विरोध किया। सम्राज्ञी एग्नस, गोडफ्रि और बेनेडिक्ट विरोधी कार्डिनलों की सहायता से गेरार्ड को निकोलस द्वितीय के नाम से पोप चुना गया। निकोलस द्वितीय २४ जनवरी, १०५९ को पोप की गद्दी पर बैठा। बेनेडिक्ट को नारमनों की सहायता से पकड़ कर संत एग्नस के गिरजाघर में लगभग बंदी की स्थिति में रखा गया। निकोलस नारमनों की भी सहायता से पोप बना था। अतः अब पोप का रोमनों अथवा सम्राटों पर ही निर्भर रहना आवश्यक नहीं रह गया। निकोलस के चुनाव में हिल्डेब्राँ का भी महत्त्वपूर्ण योग था। नए पोप ने मैल्फी में एक धर्म-सभा की जिसमें ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कानूनों को पुनः दुहराया गया और नारमनों के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित किया गया। १०५९ ई० में पोप के निर्वाचन संबंधी उद्घोषणा में दो विरोधी मतों को व्यक्त किया गया था। इस उद्घोषणा के दो रूपों में एक में केवल कार्डिनलों द्वारा पोप के चुनाव पर जोर दिया गया था, परन्तु दूसरे में चुनाव की प्रक्रिया में सम्राट् को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। सन् १०६० में रोम में हुई धर्म-सभा में निर्णय लिया गया कि पदों के विक्रय करनेवाले बिशपों से भी प्राप्त पादरी पद को नियमित माना जाएगा, बशर्ते कि उसके लिए धन न दिया गया हो। परन्तु यह नियम भविष्य में भी लागू न होगा। जुलाई १०६१ में निकोलस की फ्लोरेंस के निकट अचानक मृत्यु हो गई। पोप के चुनाव

सम्बन्धी १०५९ की उद्घोषणा की परीक्षा का अवसर अब आ गया। पोप की नारमनों के साथ संधि और चुनाव-उद्घोषणा के कारण पोप और सम्राट् का संबंध नाजुक हो गया था। जब तक हेनरी चतुर्थ नाबालिग था, कोई विशेष दिक्कत नहीं हुई। परन्तु, उसके बालिग होने पर पोप के साथ साम्राज्य के सम्बन्धों में परिवर्त्तन आने लगा। इसी बीच मिलान में कुछ ऐसी घटनाएँ हो रही थीं जिनका पोपतंत्र के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। वहाँ का संत अम्ब्रोस नगर धन, परम्परा एवं राजनीति में रोम का प्रतिद्वन्द्वी था। परन्तु, धन की प्रचुरता तथा पादरियों के बाहुल्य के बावजूद मिलान का चर्च सांसारिकता एवं अनाध्यात्मिकता का केन्द्र था। अधिकांश पादरी विवाहित थे। पादरी पदों की बिक्री सामान्य बात थी। अतः वहाँ के चर्च में सुधार लाना क्रांति के बराबर था। फिर भी, पहले हिल्डेब्राँ और बाद में डेमियन ने मिलान के चर्च को सुधारने का प्रयास किया था। डेमियन को काफी सफलता भी मिली थी। मिलान ने सुधार का मार्ग अपना लिया था और ऐसा करते हुए रोम की अधीनता मान ली थी।

निकोलस द्वितीय की अचानक मृत्यु के बाद पोप पद के लिए प्रतिद्वन्द्वी उठ खड़े हुए और यह संघर्ष काफी दिनों तक चलता रहा। रोमन सामन्त और लोम्बार्ड बिशप अपने-अपने क्षेत्रों से पोप पद को भरना चाहते थे। सम्राट् हेनरी चतुर्थ की सहायता से होनोरियस द्वितीय और उसके विरोधियों की सहायता से अलेक्जेंडर द्वितीय अलग-अलग पोप चुने गए। मार्च, १०६२ में होनोरियस के बलपूर्वक रोम में प्रविष्ट होने पर भी झगड़े का अन्त न हुआ। अक्टूबर १०६२ में झगड़े का निपटारा करने के लिए आग्सबर्ग में एक सभा में एक सभा बुलाई गई। जर्मन बिशप लोम्बार्ड होनोरियस के विरुद्ध थे। सम्राज्ञी एगनस ने राजनीति से संन्यास ले लिया था। इस तरह, आग्सबर्ग की धर्म-सभा ने अलेक्जेंडर द्वितीय के पक्ष में निर्णय लिया बाद में नए पोप ने होनोरियस को जाति बहिष्कृत किया और पद-विक्रय एवं पादरियों के विवाह से सम्बन्धित पुराने नियमों को दुहराया। अलेक्जेंडर के समय में बिशप पोपतंत्र की शक्ति के अधिकाधिक स्रोत बनते गए। परन्तु, फ्रांस एवं जर्मनी में अधिकांश निर्णय प्रांतीय धर्म-सभाओं द्वारा लिये जाने लगे यद्यपि परोक्ष रूप में इनके द्वारा भी पोप की शक्ति बढ़ती रही। अलेक्जेंडर के अन्तिम वर्षों में सुधारों की गति धीमी पड़ गई जान पड़ती है। इसका एक कारण यह था कि सुधार के नाम पर बिशपों के साथ पक्षपात और साधारण पादरियों के प्रति कठोरता बरती जा रही थी। दूसरी बात कि चर्चसुधार-

आन्दोलन का स्वरूप अब आध्यात्मिक कम और सांविधानिक अधिक हो गया था। अन्तिम कारण यह था कि पोप की निरंतर बढ़ती जिम्मेदारियों को निभाने के लिए रोम में उपलब्ध सुविधा अपर्याप्त होती जा रही थी। केवल इंग्लैंड में राजकीय संरक्षण के कारण चर्च का आचरण धर्मानुकूल, सुधारों की गति तीव्र और झुकाव रोम की तरफ था। अलेक्जेंडर के समय में भी पोपतंत्र अपने प्रतिनिधियों से, विशेषकर फ्रांस में, काम लेता रहा। फ्रांस और अन्य देशों में भी धर्म-सभाएँ अब जल्दी-जल्दी होने लगी थीं। आचरण सम्बन्धी अति साधारण बातों पर भी इन सभाओं द्वारा निर्देश दिए जाने लगे। सन् १०७३ में अस्वस्थ अलेक्जेंडर ने सम्राट् हेनरी चतुर्थ के सलाहकारों को यह कहकर धर्म-बहिष्कृत कर दिया कि वे मिलान के चर्च के विषय में सम्राट् को धर्मोचित परामर्श नहीं दे रहे थे। यह अलेक्जेंडर का प्रायः अंतिम महत्त्वपूर्ण काम था। उसके सभी महत्त्वपूर्ण समकालीन व्यक्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गए थे। होनोरियस को १०७२ में मृत्यु हो चुकी थी। ड्यूक गॉडफ्रि १०६९ में मर चुका था। पीटर डेमियन और एडेलबर्ट १०७२ में मर चुके थे। इस तरह, चर्च के क्षेत्र में एक मात्र महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हिल्डेब्रॉ ही बच रहा था। २१ अप्रैल, १०७३ को अलेक्जेंडर की मृत्यु हो गयी। यह सही है कि उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए कुछ कठिनाइयाँ भी रख छोड़ी थीं, परन्तु यह भी सही है कि उसने पोपतन्त्र को आत्म-निर्भर, शुद्धता पर आधारित और व्यापक स्थिति में छोड़ा था। विकास, शुद्धता एवं शक्ति के उस स्तर पर पोपतन्त्र को पहुँचाया जा चुका था जिसकी बेनेडिक्ट नवाँ के समय में कल्पना भी न की जा सकती थी।

अलेक्जेंडर द्वितीय की मृत्यु के बाद हिल्डेब्रॉ का पोप होना लगभग निश्चित था। ३० जून, १०७२ को वह ग्रिगोरी सप्तम के नाम से पोप बना। वह न तो सम्राट् का नुमाइंदा था और न रोमन सामन्तों का। उसे तो रोमन जनता ने स्वेच्छा से पोप चुन लिया था। सुधारवादी पोपों में ग्रिगोरी सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। शार्लमन के बाद वह मध्ययुग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। वह १०८५ ई० तक पोप पद पर बना रहा। उसने साफ-साफ शब्दों में कहा कि साम्राजिक शक्ति पोपतंत्र की शक्ति से श्रेष्ठ तो नहीं ही है, उसके बराबर अथवा उसकी पूरक भी नहीं है। संक्षेप में, उसका विचार था कि सभी ईसाई राज्यों का एक व्यापक धर्माधारित राज्य होना चाहिए। इस पर, ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में, पोप का शासन होना चाहिए। इस उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए,

पोप होते ही उसने दो सुधारों की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया। ये सुधार थे—पादरियों द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करना और चर्च के पदों का क्रय-विक्रय रोकना।

जिस समय ग्रिगोरी पोप पद पर आसीन हुआ चर्च के लिए एक बड़ा संकट पादरियों का विवाह था। ग्यारहवीं शताब्दी में सामान्य पादरियों का बहुत बड़ा भाग विवाहित था। इससे चर्च में सामन्ती उत्तराधिकार के नियमों का प्रवेश होता जा रहा था। पादरी अपनी भूमि और पद को जागीर समझने लगे थे जिसे वे अपने बच्चों को दे सकते थे। चर्च के पदों के वंशानुगत हो जाने से पोप का पादरियों पर नियन्त्रण और प्रभाव घटता जा रहा था। अतः ग्रिगोरी ने सभी पादरियों से ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कराने का दृढ़ निश्चय किया। पारिवारिक आसक्ति और जिम्मेदारियों से पादरी वर्ग को सर्वथा मुक्त कर ग्रिगोरी उसे पूर्णरूपेण चर्च के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ और चर्च पर ही आश्रित बनाना चाहता था। इस तरह, धर्माधारित पोपतंत्रीय राज्य की सफलता के लिए पादरी वर्ग का ब्रह्मचारी होना वह आवश्यक समझता था। अधिकांश पादरियों द्वारा विरोध किए जाने के बावजूद यह सुधार पूरा हुआ, यद्यपि ग्रिगोरी के जीवन-काल में ऐसा न हो सका। कालांतर में पादरियों एवं भिक्षुओं, दोनों के लिए, ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक हो गया। इस सुधार से कैथोलिक पादरी वर्ग की कार्य-कुशलता तो बढ़ी ही, पोपतन्त्र की शक्ति एवं प्रभाव में भी वृद्धि हुई।

चर्च पदों के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाने का उद्देश्य था चर्च की भूमि एवं पदों पर गैर-पादरी सामन्तों एवं शासकों का नियन्त्रण समाप्त कर इन्हें पूर्ण-रूपेण पोप के नियन्त्रण में रखना। योरोपीय समाज पर सामन्तवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ-साथ, व्यक्तियों एवं नगरों की ही तरह, चर्च के आंतरिक सम्बन्ध भी सामन्ती प्रथाओं द्वारा प्रभावित होने लगे। इस तरह, सुरक्षा की आवश्यकता के कारण, मठों एवं चर्चों के एबोट तथा बिशप शक्तिशाली बैरनों तथा राजाओं के अधीनस्थ सामन्त बन गए। एक बार पादरी द्वारा अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसकी भूमि सामन्त द्वारा दी गई जागीर बन जाती थी और उसे सामन्ती भूमिधारी के सभी कर्त्तव्य निभाने पड़ते थे। सामान्य जागीर की ही तरह यहाँ भी किसी पादरी की मृत्यु हो जाने पर सामन्त को रिक्त स्थान भरने का अधिकार मिल जाता था। इस तरह, समूचे यूरोप में शासकगण चर्च के प्रायः सभी अधिका-रियों को मनोनीत करने अथवा उनके चुनाव की पुष्टि करने का अधिकार पा

गए थे। विशपी अथवा मठ में नियुक्त किये जानेवाले व्यक्ति से वे नियुक्ति अथवा अभिषेक के बदले में उस पद से होनेवाली आमदनी के अनुपात में रकम वसूल लेते थे। इससे चर्च में भ्रष्टाचार बढ़ गया था; क्योंकि सबसे अधिक धन देने वाले को ही धार्मिक पदों की प्राप्ति हो जाती थी। पुनः अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति विशप तथा एबॉट बन जाते थे। चर्च की एकता को बनाए रखने तथा धर्म की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक हो गया था कि धार्मिक पदों एवं चर्च की सम्पत्ति को गैर-पादरी शासकों के प्रभाव से मुक्त किया जाए। इन बुराइयों को दूर करने के लिए ग्रिगोरी ने आदेश निकाले कि किसी भी पादरी को विशपी, मठ अथवा गिरजाघर का पदस्थापन किसी सामन्त अथवा राजा से प्राप्त नहीं करना चाहिए। इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को धार्मिक अभिशाप का भय दिखाया गया। इस अभियान के सफल हो जाने से विशाल धार्मिक जागीरों पर पोप के स्वामित्व की स्थापना तो हो ही जाती, साथ-साथ ईसाई-जगत में सभी शासकों की शक्ति भी काफी कमजोर पड़ जाती; क्योंकि यूरोप की प्रायः एक-चौथाई भूमि चर्च के कब्जे में थी।

अपनी इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए ग्रिगोरी ने चर्च के दो आध्यात्मिक अस्त्रों का उपयोग किया। ये अस्त्र थे—जातिबहिष्कार और निषेधाज्ञापन। जाति-बहिष्कार केवल व्यक्तियों का हो सकता था। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति का अपने स्वजनों से सम्बन्ध टूट जाता था। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति यदि राजा हुआ, तो उसकी प्रजा राजभक्ति की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती थी। जाति-बहिष्कृत होने पर वह संक्रामक व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति की तरह समाज से अलग कर दिया जाता था। मर जाने पर उसकी अंत्येष्टि-क्रिया भी न होने पाती थी। निषेधाज्ञापन का उपयोग किसी नगर, प्रान्त अथवा पूरे राज्य के खिलाफ होता था। उस सम्पूर्ण क्षेत्र में निषेधाज्ञापन के फलस्वरूप गिरजाघर बन्द हो जाते थे। न कोई घण्टी बजती थी, न विवाह होता था और न अंत्येष्टि-क्रिया सम्पन्न होती थी। केवल नामकरण और मृत्युपरांत पवित्र विलेपन-संस्कार ही सम्पन्न हो सकते थे। उस युग में, जब धर्म का भय प्रायः सबों को सताता था, कठिन से कठिन व्यक्ति भी चर्च के इन अस्त्रों का बहुत दिनों तक सामना नहीं कर सकता था।

आध्यात्मिक एवं राजनीतिक, दोनों ही क्षेत्रों में पोप की सर्वोच्चता के सिद्धांत का ग्रिगोरी से बढ़कर कोई दूसरा प्रतिपादक नहीं हुआ। किसी भी अन्य पोप को

पद की महत्ता का उतना बड़ा एहसास न था जैसा ग्रिगोरी को था। कोई भी अन्य पोप अपने आप को सन्त पीटर के उतना करीब न समझता था, जितना ग्रिगोरी अपने को समझता था। ग्रिगोरी की दृष्टि में धार्मिकता का अर्थ था ईश्वर के प्रति भक्ति और ईश्वर के प्रति भक्ति का अर्थ था, पोप के प्रति भक्ति। ईसाइयों द्वारा अपनी आज्ञा के पालन और उनके द्वारा अपनी बात को मनवाने के लिए ग्रिगोरी ने चर्च की केन्द्रीयकृत शासन व्यवस्था का पूरा-पूरा उपयोग किया। आज्ञा उल्लंघन का अर्थ होता था पद से निष्कासन अथवा जाति-बहिष्कार। अपनी डिकटेट्स पेपेई में उसने घोषणा की कि रोमन चर्च ने न कभी भूल की है और न भविष्य में कभी करेगा। पोप का विचार कोई दूसरा नहीं करेगा और प्रत्येक चर्च के महत्त्वपूर्ण प्रश्न समाधान के लिए उसके पास भेजे जाएँगे। "उसके द्वारा दिया गया दण्ड किसी के भी द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। किसी भी धर्म-सभा को, उसकी स्वीकृति के बिना, आम नहीं माना जा सकता। किसी भी धर्म-सभा में पोप का प्रतिनिधि, चाहे वह कितना ही निम्न स्तर का हो, शेष सभी बिशपों से श्रेष्ठ माना जाएगा और उनकी पदच्युति की आज्ञा दे सकेगा।" इस तरह ग्रिगोरी की धर्माधारित पोपतन्त्र की कल्पना विलक्षण थी। शार्लमन के समय में चर्च पोप के निययंत्र में रहते हुए भी सम्राट् के अधीन था। परन्तु ग्रिगोरी धर्माधारित राज्य की व्याख्या भिन्न रूप में करता था। उसकी दृष्टि में सम्राट् नहीं, पोप ईश्वर का पृथ्वी पर प्रतिनिधि था। इस तरह, उसके अनुसार, पृथ्वी पर वास्तविक सम्राट् पोप ही था। सम्राट्, राजा और सामन्त उसके अधीनस्थ थे और उनकी सम्पदा पोप से मिली हुई जागीर थी। संक्षेप में वह ईसाई-जगत पर पोप की सर्वोच्च सत्ता में विश्वास करता था। इस विश्वास को वास्तविकता में परिणत करने की उसने पूरी-पूरी कोशिश की।

●

अध्याय १०

पोपतंत्र और साम्राज्य का संघर्ष

मध्यकालीन यूरोप के इतिहास का एक बहुत बड़ा भाग साम्राज्य एवं पोपतंत्र के पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष से सम्बद्ध है। कैरोलिंगियन साम्राज्य के विघटन का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि अब पोप का कोई शक्तिशाली संरक्षक नहीं रह गया। अत: रोमन कैथोलिक चर्च की शक्ति निरंतर क्षीण होती गई। बिशप लोग भी सामंत बन गए। यद्यपि बिशपों का चुनाव पादरी लोग करते थे, परन्तु वास्तव में कुलीन वर्ग और राजा ही मिलकर बिशपों को चुनते थे। यदि राजा का प्रतिनिधि बिशप नहीं चुना जाता था तो राजा चुने गए बिशप को कोई सुविधा नहीं देता था। नियुक्ति के बाद बिशपों को राजभक्ति दिखलानी पड़ती थी। रोम इस स्थिति को अपमानजनक मानता था क्योंकि वह धार्मिक मामलों में पूरी स्वतंत्रता चाहता था। उसका कहना था कि बिशपों का चुनाव चर्च का आंतरिक मामला है और इसमें राजा द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। लेकिन किसी भी राजा को यह बात मान्य नहीं थी। अत: दोनों पक्षों में एक लम्बे संघर्ष का आरम्भ हुआ जिसे अधिकार-संघर्ष कहा गया है।

पश्चिमी यूरोप में साम्राज्य पुनर्स्थापना एवं साथ-साथ पोपतंत्र की शक्ति में विकास के युग में उनके प्रारम्भिक संबंध तीन सिद्धांतों पर आधारित थे। पहला सिद्धांत यह था कि ईश्वर ने पोप और सम्राट को अलग-अलग क्रमशः मनुष्यों की आत्मा एवं शरीर पर शासन करने के लिए भेजा था। दोनों की शक्ति ईश्वर-प्रदत्त थी, अतः दोनों न केवल समकक्ष थे, बल्कि उनका आपस में सहयोग भी अपेक्षित था। सम्राट का काम चर्च की रक्षा करना था और जनता को शांति एवं एकता प्रदान करना चर्च का कर्तव्य था। दूसरा सिद्धांत सम्राट के समर्थकों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। इसके अनुसार गैर धार्मिक मामलों में सम्राट को पोप से श्रेष्ठ माना गया था। इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए तर्क एवं प्रमाण धर्म-ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक घटनाओं से एकत्रित किए जाते थे। उदाहरणार्थ, ईसा द्वारा दिए जानेवाले कर अथवा रोमन न्यायाधिकरण के समक्ष उनका विचारार्थ आत्म-समर्पण इस बात के प्रमाण बताए जाते थे कि स्वयं ईसा राजकीय सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार

करते थे। पुनः, कहा जाता था कि पिपिन तथा शार्लमन द्वारा पोपों को दिए गए दान ने उन्हें सम्राट का अधीनस्थ बना दिया था। तीसरी बात पोपतन्त्र के समर्थकों द्वारा कही जाती थी। इन लोगों का कहना था कि राजकीय सत्ता के गैर धार्मिक मामलों में भी आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्चता को मानना चाहिए। पोप के समर्थकों के अनुसार आध्यात्मिक एवं राजकीय सत्ताओं का पारस्परिक सम्बंध सूर्य तथा चांद अथवा आत्मा तथा शरीर की तरह था। जिस तरह चांद सूर्य से छोटा है और अपना प्रकाश उसी से प्राप्त करता है, ठीक उसी तरह सम्राट पोप से घटिया है और उसी से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। पुनः कन्स्टनटाइन के दान और शार्लमन के पोप द्वारा राज्याभिषेक को भी सम्राट के ऊपर पोप की श्रेष्ठता का प्रमाण बताया जाता था। इस तरह ईसाई जगत दो दलों में विभक्त था। दोनों दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण मध्यकालीन यूरोप में काफी रक्तपात हुआ और कटुता बढ़ी।

पोपतन्त्र एवं सम्राटों के बीच का यह ऐतिहासिक संघर्ष ग्यारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ। उस समय तक न केवल साम्राज्य की पुनर्स्थापना हो चुकी थी, बल्कि उसी शताब्दी में लगातार कई शक्तिशाली परन्तु अविनीत पोप भी हुए। सन् १०५७ ई० में पोप निकोलस द्वितीय ने धर्मादेश जारी करके सम्राट तथा रोम की जनता के हाथों से पोप का निर्वाचन अपने हाथ में लेकर उसे कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स के जिम्मे सौंप दिया। इसके बाद प्रसिद्ध ग्रिगोरी सप्तम का जो हिल्डेब्रा के नाम से पहले से ही विख्यात था, युग आया। वह १०७३ से १०८५ तक पोप की गद्दी पर आसीन रहा। उसके पहले १०५८ ई० में कार्डिनल हुमबर्ट ने अपनी पुस्तक एडमर्सस साइमोनिएकोस में पादरियों की चरित्रहीनता तथा पदों के विक्रय के लिए गैर-पादरियों द्वारा पदस्थापन को मूल रूप में जिम्मेदार ठहराया था। उस समय बिशपियों एवं मठों के वास्तविक स्वामी राजागण बन गए थे। दशवीं शताब्दी के अंत तक पोप सम्राटों के हाथ के कठपुतले बन गए थे। कार्डिनल हमबर्ट के सिद्धांत को अक्षरशः स्वीकारते हुए ग्रिगोरी ने राजकीय शक्ति पर आध्यात्मिक शक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित करने का पूर्ण निश्चय कर लिया था। उसने अपनी पुस्तक में पोप के अधिकारों की विशद व्याख्या की। उसके अनुसार पोप को इस बात का पूर्ण अधिकार था कि वह जिस बिशप को चाहे पद से हटा सकता था अथवा पुनः नियुक्त कर सकता था। उसने सम्राट को भी गद्दी से हटा सकने का दावा किया। पोप के आदेशों की किसी भी दशा में उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। सांसारिक शक्तियों में पोप ही सर्वोपरि था और कोई भी पोप के आदेश को नहीं बदल सकता था। इस तरह पोपतन्त्र एवं राजतन्त्र में इस ऐतिहासिक संघर्ष का फरवरी १०७५ में आरम्भ

हुआ। रोम में होनेवाली एक धर्म-सभा में ग्रिगोरी सप्तम ने गैर-पादरियों द्वारा पद-स्थापन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पोप के प्रतिनिधियों ने १०७७ ई० में इस आदेश को फ्रांस में लागू किया। फिलिप प्रथम ने पदों से निकाले गए बिशपों की सहायता करने का निष्फल प्रयास किया। दूसरी ओर इंग्लैंड में विलियम द कंकरर और पोप के सम्बन्ध पहले से ही तनावपूर्ण थे। इस स्थिति को सुधारने का प्रयास दोनों में से किसी पक्ष ने नहीं किया।

ग्रिगोरी के सुधारों का सबसे जोरदार विरोध जर्मनी में हुआ। सम्राट हेनरी चतुर्थ (१०५६-११०६) चर्च पर अपने अधिकारों को छोड़ने को तैयार नहीं था। परन्तु, सैक्सनों के विद्रोह के कारण वह कुछ समय तक पोप को समझौते की बात कहकर टालता रहा। इस विद्रोह के समाप्त होते ही उसने पोप का विरोध करना शुरू कर दिया। अचानक उसने कुछ महत्त्वपूर्ण बिशपियों में अपने लोगों को नियुक्त कर दिया और कई बिशपों को (जैसे रेमेना के गुइबर्ट को) पोप का विरोध करने को प्रोत्साहित किया। २५ दिसम्बर १०७५ को जब ग्रिगोरी ईसा का जन्मोत्सव मना रहा था सम्राट सेनसियस नामक एक रोम समर्थक ने पोप को बन्दी बना लिया। दूसरे दिन क्रुद्ध भीड़ ने पोप को छुड़ाया और पोप की कृपा से ही सेनसियस की जान बच सकी। जनवरी, १०७६ ई० में पोप ने अभियोगों का उत्तर देने के लिए सम्राट को रोम बुलाया और यह भी कहा कि यदि सम्राट पोप की उपेक्षा करेगा तो उसे जातिबहिष्कृत कर गद्दी से उतार दिया जायगा। परन्तु हेनरी इस धमकी से डरनेवाला नहीं था। उसने जर्मन बिशपों की एक सभा वर्म्स में बुलाई। इस सभा ने २४ जनवरी १०७६ को ग्रिगोरी के पोप पद से हटाये जाने की घोषणा की। वहाँ उपस्थित बिशपों ने पोप के पत्र के उत्तर में लिखा कि चूँकि पोप उन्हें बिशप नहीं मानता है, वे भी उसे पोप नहीं मानते हैं। अपनी ओर से लिखे गए पत्र में हेनरी ने पोप को हिल्डेब्रां कह कर सम्बोधित किया और उसे पोप की गद्दी छोड़ देने को कहा। इन पत्रों के मिलने पर १०७६ की लेंटेन धर्म-सभा में ग्रिगोरी ने मेंज के आर्कबिशप और अन्य विरोधी बिशपों को धर्मबहिष्कृत कर उन्हें उनके पदों से हटा दिया। अन्य जर्मन बिशपों को कहा गया कि वे यदि अपने पदों की रक्षा चाहते हैं तो उन्हें तत्काल रोम की अधीनता को स्वीकार कर लेना चाहिए। जहाँ तक हेनरी चतुर्थ का प्रश्न था, ग्रिगोरी ने सम्राज्ञी एग्नस की उपस्थिति में ही उसके जातिबहिष्कार और गद्दी से उतारे जाने की घोषणा की। साथ-साथ, जर्मन प्रजा को सम्राट के प्रति उनकी स्वामिभक्ति से भी मुक्त कर दिया। किसी को भी राजा के

रूप में उसकी सेवा करने मना कर दिया। इस घोषणा का असली महत्व यह था कि पोप द्वारा अभिशाप दिए जाने के कारण हेनरी की प्रजा अब निःसंकोच उसका विरोध कर सकती थी।

पोप की आज्ञा पर स्वभावतः हेनरी चतुर्थ को बहुत क्रोध आया। परन्तु, जनमत पोप के पक्ष में था। उन दिनों लोगों के मन पर धर्म का भय छाया रहता था। अतः जब पोप की आज्ञा के खिलाफ एक गद्दी एवं जाति से निष्कासित राजा की आज्ञा मानने का प्रश्न उठा तो अधिकांश लोग विचलित हो उठे। इससे जर्मन चर्च की एकता समाप्त हो गई। हेनरी की कार्य-विधि और उसकी योजनाओं से भी कुछ लोग असंतुष्ट थे। ऐसे लोगों ने भी पोप का साथ दिया। बिशपों में जो अधिक डरपोक थे उन्होंने तो हेनरी का तुरंत साथ छोड़ दिया। धीरे-धीरे प्रायः समस्त प्रजा सम्राट के खिलाफ हो गयी। कुछ लोग तो स्वयं पोप से भी अधिक उग्र जान पड़ते थे। हेनरी के विरुद्ध जर्मनी में आंदोलन इतना तेज हो गया कि उसे जर्मन शासकों की एक सभा १६ अक्टूबर १०७६ में बुलानी पड़ी इस सभा में अपना मान-अपमान भूल-कर उसे रोमन चर्च तथा पोप ग्रिगोरी सप्तम के प्रति अपनी वफादारी व्यक्त करनी पड़ी। फिर भी, उसके अधीनस्थ शासक असंतुष्ट ही रहे। उन्होंने निर्णय लिया कि यदि २२ फरवरी, १०७७ तक पोप ने हेनरी के जाति-बहिष्कार को समाप्त न कर दिया तो वह उसे अपना राजा मानना भी बन्द कर देंगे। उन्होंने यह भी निर्णय लिया कि फरवरी, १०७७ में पोप के सभापतित्व में ऑग्सबर्ग में एक सभा होगी जिसमें, यदि आवश्यकता हुई तो, हेनरी की जगह कोई अन्य व्यक्ति राजा चुना जायगा।

ऑग्सबर्ग में अपने विरोधी अधीनस्थों के समक्ष उपस्थित होने की जगह, हेनरी ने रोम जाकर पोप से क्षमा मांग लेना अधिक उचित समझा। परन्तु उसके अनुनय-विनय पर कोई ध्यान न देकर पोप दिसम्बर १०७६ में ऑग्सबर्ग के लिए रवाना हो गया। अब अपनी प्रिय रानी बर्था के साथ हेनरी भीषण शीत के बीच चुपचाप इटली में प्रविष्ट हुआ। इटालियनों ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया और सैनिक सहायता देने को तैयार हुए। उसने सैनिक सहायता लेना अस्वीकार कर दिया। इससे इटालियनों को निराशा हुई। उधर मंटुआ पहुँचने पर पोप ने सुना कि हेनरी रोम की ओर बढ़ रहा था। भयभीत ग्रिगोरी ने टस्कनी की काउन्टेस मेटिल्डा के पास शरण ली। काउन्ट बोनिफेस की यह कन्या पोप के प्रति वफादार थी। सैन डोनिनो के निकट स्थित कनोस्सा के अपने किले में उसने ग्रिगोरी को आश्रय दिया। कनोस्सा

पहुँचते ही ग्रिगोरी ने कुछ जर्मन विशपों और सामान्य लोगों को जातिबहिष्कार की सजा से मुक्त कर दिया और उन्हें अपनी ओर मिला लिया। कोई अन्य उपाय न देख-कर हेनरी अब स्वयं कनोस्सा पहुँचा और उसने काउन्टेस मेटिल्डा तथा क्लुनी के संत ह्यूग से पोप को समझाने का आग्रह किया। उन्होंने उसे सहायता करने का वचन ऐब्रे माउरेट के शब्दों में, २५ जनवरी, १०७७ की सुबह हेनरी चतुर्थ, बर्फ में नंगे पाँव, पश्चात्तापी का ऊनी-कोट पहने हुए, किले के फाटक पर उपस्थित हुआ। वहाँ वह पश्चाताप करता, रोता और क्षमा-याचना करता शाम तक खड़ा रहा। अगले दो दिन भी यही दृश्य बना रहा। तीसरे दिन शाम को वह संत निकोलस के छोटे गिरजाघर में पहुँचा जहाँ उसने क्लुनी के एबौट और काउन्टेस मेटिल्डा और संत ह्यूग ने पोप से मिलना स्वीकार किया। ग्रिगोरी मान गया और दूसरे दिन सुबह राजा को लोगों के सामने उपस्थित करने का वचन दिया, बशर्ते सर्वप्रथम हेनरी साम्राज्य के शासकों की एक धर्म-सभा के समक्ष उपस्थित होकर उस पर लगाए अभियोगों की सफाई दे, और द्वितीयतः कि जबतक कोई फैसला न हो जाय वह राज्य के शासन में कोई भाग न लेगा और उसे जो कुछ करने को कहा जाए करेगा।

बाह्य तौर पर कनोस्सा में ग्रिगोरी की विजय हुई क्योंकि हेनरी चतुर्थ का असाधारण अपमान हुआ और उसे पोप की सर्वोच्चता को स्वीकार करना पड़ा। परंतु, गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कनोस्सा में हेनरी पोप को चकमा देने में सफल हुआ। उसने ग्रिगोरी को अपने जर्मन शत्रुओं से नहीं मिलने दिया। यदि उसे जर्मनों की ऑग्सबर्ग की सभा में उपस्थित होना पड़ता तो उसकी बड़ी भद्द होती। उसके समकालीन लोगों के लिए कनोस्सा की घटनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। उनकी दृष्टि में चर्च के माध्यम से ईश्वर के प्रति क्षमा याचना करना कोई ग्लानि की बात नहीं थी। ग्रिगोरी की सफलता केवल इतनी ही थी कि एक राजा को जाड़ा में ठिठुरते हुए लम्बी यात्रा कर उससे माफी माँगनी पड़ी थी। कनोस्सा को चर्च के समक्ष राज्य के आत्म-समर्पण का प्रतीक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः कनोस्सा को परोक्ष रूप में हेनरी चतुर्थ की विजय का प्रतीक माना जा सकता है। उसने ग्रिगोरी को जर्मनी आकर ऑग्सबर्ग की सभा का सभापतित्व करने से रोक दिया था। पोप ने राजा को तीन दिनों तक अपने दरवाजे पर खड़ा रखकर लोगों की सहानुभूति को खो दिया, क्योंकि लोग उसे कठोर और दम्भी मानने लगे। अब पोप के सभी शत्रु हेनरी से मिल गए। इस समय से हेनरी की शक्ति बढ़ने लगी और ग्रिगोरी की शक्ति का ह्रास होने लगा।

बहुत जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि हेनरी कनोस्सा में किए गए वायदों के विषय में ईमानदारी नहीं बरत रहा था। जर्मनी पहुंचने से पहले ही उसने ग्रिगोरी के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू किया। जर्मनी के राजे और सामंत पूर्ववत् उसका विरोध करते रहे। सन् १०७७ ई० में पोप के दो प्रतिनिधियों की उपस्थिति में उन्होंने स्वेविया के रुडोल्फ को इस शर्त पर नया सम्राट चुना कि वह राजगद्दी पर अधिकार वंशानुगत न होने देगा। दूसरी ओर ग्रिगोरी राजा चुनने के अपने अंतिम अधिकार पर जोर देते हुए हेनरी तथा रुडोल्फ के समक्ष कई प्रकार की शर्तें रखता रहा। इस तरह जर्मनी में कई वर्ष तक गृह-युद्ध चलता रहा। तीन वर्ष के गृह-युद्ध के बाद हेनरी चतुर्थ ने रुडोल्फ को मर्जेबर्ग की लड़ाई में पराजित कर उसकी हत्या कर दी। परन्तु इसी बीच ७ मार्च, १०७९ ई० को ग्रिगोरी ने पुनः हेनरी के गद्दी से उतारे जाने और जाति से निकाले जाने की घोषणा कर दी थी। हेनरी ने इसका उत्तर एक नया पोप खड़ाकर और ग्रिगोरी को पोप की गद्दी से उतारने के लिए इटली पर आक्रमण कर दिया। उसने २५ जून, १०८० ई० को ब्रिक्जेन की धर्म-सभा में रेभेना के आर्कबिशप गुइदर्ट को विलमंट तृतीय के नाम से पोप चुनवाया। साथ-ही-साथ उसने इटली पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से आतंकित होकर ग्रिगोरी ने रॉबर्ट गुइसकार्ड और उसके नार्मन सैनिकों से सहायता माँगी। काउन्टेस मेटिल्डा ने भी पोप से एक निश्चित समझौता कर लिया। हेनरी ने टस्कनी को प्रायः उजाड़ दिया और मई १०८० में रोम की चहारदिवारी तक पहुंच गया। परंतु ग्रिगोरी द्वारा प्रोत्साहित किए जाने पर रोमनों ने हेनरी का डटकर सामना किया और उसे लौटने को बाध्य होना पड़ा। फिर भी वह दो वर्ष के बाद पुनः इटली में प्रविष्ट हुआ। उसने आगे बढ़कर २ जून, १०८३ को रोम के एक भाग पर कब्जा कर लिया और संत पीटर के गिरजाघर में विलमंट तृतीय का अभिषेक कराया। इस बीच रोम नगर के मुख्य भाग और संत एंजेलो के किले पर ग्रिगोरी का कब्जा बना रहा।

हेनरी चतुर्थ ने रोमवासियों में से कुछ को अपनी ओर मिला लिया और पोप के साथ बातचीत शुरू करने की कोशिश की, यद्यपि इसमें वह बहुत ईमानदारी नहीं बरत रहा था। ग्रिगोरी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने २४ जून १०८३ को हेनरी को पुनः जातिबहिष्कृत किया। अंत में पूर्वी सम्राट से मिले धन को कुछ रोमनों में बाँटकर हेनरी ने नगर के फाटकों को खुलवा लिया। उसने एक धर्मसभा बुलाई। इस सभा ने विलमंट तृतीय को नए पोप के रूप में स्वीकार कर

लिया। ग्रिगोरी ने अपने आप को संत एंजेलो के किले में बंद रखा और हेनरी के समक्ष आत्मसमर्पण करने से इनकार कर दिया। कई महीने तक यही स्थिति रही। मई में सुना गया कि रॉबर्ट गुइसकार्ड नॉर्मनों की एक विशाल सेना लेकर रोम की ओर बढ़ रहा था। यह समाचार मिलते ही हेनरी भाग खड़ा हुआ। रॉबर्ट गुइसकार्ड अपने ३००० पैदल सैनिकों और ६००० नाइटों के साथ रोम में प्रविष्ट हुआ। हेनरी चतुर्थ से कहीं ज्यादा क्रोध उसे भ्रष्ट रोमनों पर था। सम्राट के हाथ अपने आप को बेच डालने का दंड देने के लिए उसने रोम में कत्लेआम कराया और हजारों रोमनों को बंदी बना लिया गया। क्लिमेंट तृतीय ने टिवोली में आश्रय लिया था जहाँ से नॉरमन उसे नहीं निकाल सके। हेनरी अब भी इटली में ही था, अतः ग्रिगोरी गुइसकार्ड के साथ प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में चला गया। उसने सालेरनों में शरण ली, जहाँ २५ मई, १०८५ को उसकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु से पूर्व उसने हेनरी चतुर्थ और क्लिमेंट तृतीय को छोड़ उन सभी को माफ कर दिया जिन्हें उसने जातिबहिष्कृत किया था। "मैंने न्याय का पक्ष लिया था और अन्याय का विरोध किया था, इसी-लिए मैं निर्वासन में मर रहा हूँ"—ग्रिगोरी के अंतिम शब्द थे।

यह स्मरणीय है कि साम्राज्य से संघर्ष में रत रहने पर भी ग्रिगोरी यूरोप की सभी बिशपियों से पत्र-व्यवहार करता रहा था। गैर-ईसाई देशों में भी, विशेषतः उत्तरी अफ्रिका में, ईसाई मत के प्रचार की ओर उसने पूरा-पूरा ध्यान दिया। पूरब की ओर भी, जहाँ तुर्कों की शक्ति निरंतर बढ़ रही थी, उसका ध्यान था। उसने ही सर्वप्रथम तुर्कों के विरुद्ध धर्म-युद्ध की स्पष्ट कल्पना की। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ग्रिगोरी अपने उच्च उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा था। उसे इंगलैंड के विलि-यम और फ्रांस के फिलिप प्रथम को छूट देनी पड़ी थी। इन दोनों ने पदप्रतिष्ठापन का अपना अधिकार बनाए रखा। स्पेन में उसके प्रतिनिधियों का अपमान हुआ और स्वयं उसकी निर्वासन में मृत्यु हुई। हेनरी चतुर्थ को भी काफी दूर तक उसके विरुद्ध सफलता मिली। कनोस्सा में उसकी विजय भी संदिग्ध थी। साम्राजिक शक्ति पर न तो पोपतंत्र की विजय ही हुई और न प्रदप्रतिष्ठापन का संघर्ष ही समाप्त हुआ। ग्रिगोरी की सफलता अपूर्ण थी इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उसके उत्तरा-धिकारियों ने राजाओं पर पोपतंत्र की राजनीतिक सर्वोच्चता पर जोर न देकर सुधारों पर अधिक जोर दिया। फिर भी, ग्रिगोरी कम-से-कम यूरोप के सभी भागों में पोप के प्रतिनिधियों को भेजने की प्रथा को तो स्थापित कर ही गया। धर्म-सभाओं पर पोप का नियंत्रण निश्चित हो गया और सभी पादरियों को सीधा पोप के पास

आवेदन करने की सुविधा मिल जाने से बिशपों की स्वतंत्रता समाप्त हो गयी। पादरियों द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन चर्च का निश्चित नियम बन गया। कार्डिनलों द्वारा चुनाव का नियम बन जाने से पोपतंत्र को सम्राट् अथवा रोमनों के हस्तक्षेप से मुक्ति मिल गई। संक्षेप में, ग्रिगोरी ने पोपतंत्र की अबाध शक्ति के सिद्धान्त को अक्षुण्ण बनाए रखा। इससे उसके उत्तराधिकारियों का मार्ग-निदेशन होता रहा।

ग्रिगोरी सप्तम की मृत्यु से पदप्रतिष्ठापन-संघर्ष का अन्त न होकर आरम्भ ही हुआ। परन्तु, अब संघर्ष का रूप थोड़ा बदल गया। राज्य एवं चर्च के सम्बंधों की बौद्धिक स्तर पर भी मीमांसा होने लगी। हेनरी चतुर्थ ने अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए पीटर क्रासस नामक एक नैयायिक का सहारा लिया। पोप ने यह काम लेंटेनबाक के मेरीगोल्ड को सौंपा। ग्रिगोरी के बाद पोप अरबन द्वितीत को कई वर्षों तक हेनरी चतुर्थ द्वारा खड़े किए गए पोप से संघर्ष करना पड़ा। षड्यंत्र का सहारा लेकर क्लिमंट तृतीय १०८९ में रोम पहुँच गया। उसके समर्थक जर्मनी में अरबन द्वितीय के विरुद्ध लोगों को भड़काते रहे। इन लोगों के विरुद्ध अरबन ने कान्सटांस के बिशप गेबहार्ड का सहारा मिला। गेबहार्ड के नाम ८ अप्रैल, १०८९ के अपने पत्र में अरबन ने जातिबहिष्कृत लोगों के विषय में उन कानूनों का उल्लेख किया जो आगे चलकर चर्च के कानून में नियमित रूप से शामिल कर लिए गए। सन् १०८९ में अरबन ने काउन्टेस मेटिल्डा का विवाह बेवेरिया के ड्यूक के लड़के गुयेल्फ पंचम से कराया। इससे हेनरी चतुर्थ और भी नाराज हुआ। सन् १०९० में हेनरी ने टस्कनी पर आक्रमण किया और मंटुआ का घेरा डालने के बाद क्लिमंट को रोम में प्रविष्ट कराया। अरबन को रोम छोड़ कर भागना पड़ा और १०९३ में मेटिल्डा को सम्राट् की सत्ता को स्वीकार करनी पड़ा। परन्तु हेनरी चतुर्थ का बड़ा लड़का कानराड अपने पिता के दरबारियों एवं उसकी राजनीति से चिढ़कर काउन्टेस मेटिल्डा से जा मिला। उसे इटली का राजा घोषित किया गया। उसी तरह हेनरी चतुर्थ की रानी प्रैक्सेडिस भी पति के व्यवहार से संतुष्ट होकर मेटिल्डा ने पोप के समर्थकों का एक दल तैयार किया जिसमें मिलान, क्रेमोन, लोदी और पियासेंजा के नगर भी शामिल थे। लाचार होकर हेनरी चतुर्थ ने अपने आप को एक किले में बन्द कर लिया। दूसरी ओर अरबन ने मई १०९४ में लेटेरन महल पर कब्जा कर लिया। जुलाई १०९९ में अरबन द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी पैस्कल द्वितीय १३ अगस्त, १०९९ को पोप चुना गया। विरोधी पोप क्लिमंट तृतीय अक्टूबर, ११०० में मृत्यु हो गई। इस नुकसान से दुःखी हेनरी चतुर्थ ने कुछ समय के लिए संघर्ष को स्थगित कर दिया। परन्तु, जुलाई, ११०१ में अपने पुत्र कानराड की

मृत्यु हो जाने पर उसने संघर्ष को पुनः आरम्भ किया। दिसम्बर, ११०४ में हेनरी चतुर्थ के दूसरे लड़के हेनरी पंचम ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया। पोप ने उसे तत्काल जातिबहिष्कार की सजा से मुक्त कर दिया। हेनरी पंचम ने धोखा देकर अपने पिता को बन्दी बना लिया। दिसम्बर, ११०५ में मेंज की राज-सभा ने हेनरी चतुर्थ को गद्दी से उतार दिया और ५ जनवरी, ११०६ को हेनरी पंचम को राजा घोषित किया गया। कुछ समय बाद हेनरी चतुर्थ कैद से भाग निकला। परन्तु ७ अगस्त, ११०६ को उसकी मृत्यु हो गई। पिता के भय से मुक्त हो जाने के बाद हेनरी पंचम को पोप के समर्थन की आवश्यकता नहीं रह गई। उसने तत्काल घोषणा की कि वह अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण करता रहेगा। अब पैस्कल ने फ्रांस के राजा को हेनरी के विरुद्ध सहायता करने को कहा। दूसरी ओर हेनरी पंचम एक विशाल सेना लेकर १११० ई० में रोम में प्रविष्ट हुआ। फरवरी, ११११ में पोप एवं सम्राट् के बीच समझौता हो गया। परन्तु समझौते के कार्यान्वियन के पूर्व ही हेनरी ने पोप को बंदी बना लिया। इस पर रोमनों ने विद्रोह कर दिया। हेनरी भागा, परन्तु साथ में पैस्कल को भी लेता गया। दो मास बन्दी रहने बाद पैस्कल ने १० अप्रैल, ११११ को पद-प्रतिष्टापन के अधिकार का परित्याग कर दिया। उसने १३ अप्रैल, ११११ को रोम में हेनरी को सम्राट् के रूप में अभिषेक किया। अब विरोधी पोप सिल्वेस्टर चतुर्थ ने पोप पैस्कल द्वितीय के समक्ष आत्म-समर्पण किया।

पोप द्वारा पदप्रतिष्ठापन का आधिकार छोड़ देने की पादरी वर्ग में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अतः पोप इस भूल को सुधारना चाहता था। उसने पहले तो गद्दी से उतारना चाहा, परन्तु बाद में १२ मार्च, १११२ को हेनरी को दी गई छूटों को वापस ले लिया। सन् १११७ तक शांत रहने ने बाद हेनरी पुनः रोम की ओर बढ़ा। इसकी सूचना पाकर पैस्कल द्वितीय वेनेभेंटों चला गया जहाँ से उसने नारमनों से सहायता माँगी। हेनरी ने नारमनों को पराजित कर दिया, परन्तु कई शहरों तथा स्वयं रोमनों की सहायता से पोप जनवरी, १११८ में रोम लौट आया। कुछ दिन बाद २१ जनवरी, १११८ को उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु-शय्या से उससे कार्डिनलों को संयुक्त रहने और "ट्यूटानी राक्षस" से संघर्ष जारी देखने का आग्रह किया। पैस्कल द्वितीय का उत्तराधिकारी गेलेसियस द्वितीय हुआ। हेनरी पंचम के वायदों एवं धमकियों की उसने कोई चिन्ता नहीं की। तब हेनरी ने अपने मित्र बोर्डिन को ग्रिगोरी अष्टम के नाम से विरोधी-पोप के रूप में खड़ा किया। गेलेसियस ने, विरोधी

पोप एवं सम्राट् को जातिवहिष्कृत करने के बाद, स्वयं भी अक्तूबर १११८ में रोम का परित्याग कर फ्रांस में आश्रय लिया। । वहीं २९ जनवरी, १११९ को क्लुनी में उसकी मृत्यु हो गई।

वर्म्स की धर्मसंधि (११२२ ई०)

गैलेसियस द्वितीय की मृत्यु के तीन दिन बाद, उसके साथ फ्रांस भागे हुए छह: कार्डिनलों ने, आर्कबिशप गाई को कैलिस्टस द्वितीय के नाम से नया पोप चुना। साम्राज्य में व्याप्त झगड़े से हेनरी पंचम भी थक चुका था और पोप की ही तरह वह भी समझौते का इच्छुक था। परन्तु कैलिस्टस, विरोधी पोप अथवा सम्राट् से बात-चीत न कर, एक धर्म-सभा के निर्णय द्वारा उन पर दवाव डालना चाहता था। हेनरी पंचम ने २० अक्टूबर १११९ को नए पोप से बात-चीत भी की, परन्तु पोप को उस पर विश्वास नहीं हुआ। अतः रिहम्स की धर्म-सभा ने एक बार फिर से हेनरी को धिक्कारा। सभा के बाद पोप रोम लौट गया। उसके बाद सम्राट् का पक्ष बराबर कमजोर पड़ता गया। विरोधी पोप ग्रिगोरी अष्टम, कैलिस्टस के समर्थकों द्वारा पकड़ा जाकर रोम में बन्दी बना लिया गया। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी की भी जनता ने कैलिस्टस का ही पक्ष लिया। बाध्य होकर हेनरी को पोप के साथ समझौता करना पड़ा। दोनों पक्षों के बीच २३ सितम्बर, ११२२ को वर्म्स की संधि हुई। सम्राट् ने पदप्रतिष्ठापन का अपना दावा छोड़ दिया और बिशपों तथा एबौटों के चुनाव में चर्च की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर पोप ने इन चुनावों में सम्राट् अथवा उसके प्रतिनिधियों का उपस्थित रहना स्वीकार कर लिया। परन्तु विवाद-ग्रस्त चुनावों में सम्राट् को अंतिम निर्णय देने का अधिकार दिया गया। पादरियों को उनकी जमीन तथा सभी नागरिक एवं कानूनी अधिकार सम्राट् द्वारा ही मिल सकते थे। इस प्रकार के प्रतिष्ठापन का प्रतीक सम्राट् से मिलने वाला प्रतीक रूप दण्ड था। वर्म्स की संधि ने बिशप पद के आध्यात्मिक तथा राजनीतिक, दुहरे स्वरूप को स्वीकार किया। इस धर्मसन्धि ने आत्मा के मार्गनिदेशक तथा सामन्ती अधीनस्थ के रूप में बिशप के पद में भेद स्वीकार कर पचास वर्षों से चल रहे संघर्ष को कुछ समय के लिए समाप्त किया। इस तरह ग्रिगोरी सप्तम के विचारों की विजय हुई।

इसी बीच फ्रांस तथा इंग्लैंड में भी कुछ संघर्ष के बाद पदप्रतिष्ठापन का झगड़ा समाप्त हो चुका था। इंग्लैंड में यह झगड़ा ११०६-०७ में समाप्त हुआ। यह तय पाया कि बिशप अथवा एबौट का पदप्रतिष्ठापन राजा द्वारा नहीं होगा, परन्तु प्रत्येक चुनाव में राजा अथवा उसका प्रतिनिधि अवश्य उपस्थित रहेगा। चुने गए बिशप

अथवा एवौट की सम्पदा तथा अधिकारों की पुष्टि राजा उसके द्वारा राजनिष्ठा की शपथ लिये जाने के बाद ही करेगा। फ्रांस में चर्च अपने को राजा के नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त नहीं कर सका।

वर्म्स की धर्मसन्धि से पदप्रतिष्ठापन का झगड़ा यद्यपि अन्तिम रूप से समाप्त न हो सका, परन्तु यह निश्चित हो गया कि "आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत चर्च था और राजनीतिक शक्ति का स्रोत राज्य था।' निःसंदेह यह झगड़े में मध्यमार्ग निकालने का प्रयास था। परतन्त्र, पोपतन्त्र को निश्चित ही अधिक लाभ हुआ था क्योंकि नैतिक विजय उसी की हुई थी। इस धर्मसन्धि ने चर्च को राजकीय नियंत्रण के भारी खतरे से बचा लिया था क्योंकि सम्राट् की विजय का अर्थ होता है कि चर्च सामाजिक शक्ति के हाथ का कठपुतला-मात्र बन कर रह जाता।

फिर भी, इस धर्मसन्धि से झगड़े का हमेशा के लिए अंत नहीं हुआ। धर्म-युद्धों की वजह से यह झगड़ा केवल कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गया था। धर्मयुद्धों के फलस्वरूप पोपों को ग्रिगोरी की योजना को पूर्ण करने के लिए सहायता मिली। उससे भी बड़ा कारण यह था कि पोप की गद्दी पर एक के बाद एक कई अति योग्य पोप बैठे। उन सबों का केवल एक ही उद्देश्य था—पोप की सत्ता को सर्वोच्च बनाना। पोप ग्रिगोरी सप्तम के कई सुयोग्य उत्तराधिकारी हुए। इनमें सर्वश्रेष्ठ अलेक्जेंडर तृतीय तथा इंनोसेंट तृतीय थे। उनके समय में पोपतन्त्र की शक्ति सर्वाधिक थी। उनके समय में जो घटनाएँ हुईं उनके फलस्वरूप पोपतन्त्र की पहले साम्राज्य और बाद में फ्रांस तथा इंग्लैंड के राजाओं पर विजय हुई।

पोपतंत्र और होहेनस्टौफेन राजवंश का संघर्ष

वर्म्स की धर्मसन्धि के कुछ समय बाद पोपतन्त्र तथा होहेनस्टौफेनों के बीच एक लंबे संघर्ष का आरम्भ हुआ जो प्रायः सौ वर्षों तक चलता रहा। इस संघर्ष के मूल में भी यही प्रश्न था कि "विश्व-पादरी" और विश्व-राजा" में कौन श्रेष्ठ है। यह संघर्ष उथल-पुथल और हिंसा से युक्त था, विशेषतः पोप अलेक्जेंडर तृतीय (११५९-११८१) और फ्रेड्रिक बारबेरोसा के बीच संघर्ष के काल में। अन्त में पराजित एवं अपमानित फ्रेड्रिक ने नाटकीय रूप में पोप के साथ ११७७ ई० में वेनिस का समझौता किया। साम्राजिक शक्ति के लिए वेनिस दूसरा कनोस्सा था।

हेनरी पंचम की मृत्यु के बाद सैक्सनी का ड्यूक लौथेयर राजा चुना गया। उसने पोप के साथ समझौता कर लिया और चर्च के हितों की रक्षा का आश्वासन

दिया। उसने अपने चुनाव का पोप द्वारा अनुमोदन भी कराया। सन् ११३० में विरोधी दलों ने दो पोपों का चुनाव किया। इनमें एक पोप इंनोसेंट द्वितीय था। लोथेयर ने इटली जाकर पोप इनोसेंट द्वितीय को पोप की गद्दी पर बिठाया। कृतज्ञ पोप इनोसेंट ने लोथेयर को टस्कनी की जागीर दी। इस तरह वह पोप का अधीनस्थ सामन्त बन गया।

लोथेयर की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी होहेनस्टौफेन वंश का प्रथम राजा कॉनराड तृतीय चुना गया। कॉनराड तृतीय के बाद ११५२ ई० फ्रेड्रिक बारबेरोसा राजा चुना गया। उसने पोप यूजेनियस तृतीय को समर्थन देने का वायदा किया। परन्तु यह वायदा ईमानदारीपूर्वक नहीं किया गया था, क्योंकि फ्रेड्रिक साम्राज्य को पूर्ववत् शक्तिशाली बनाना चाहता था। वह हेनरी चतुर्थ से भी अधिक महत्त्वाकांक्षी था। इस बात का प्रमाण यह था कि उसने वर्म्स की संधि की उपेक्षा कर, पोप की इच्छा के विरुद्ध, अपने एक व्यक्ति को मैग्डेबर्ग का आर्कबिशप नियुक्त किया। राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर उसने मेंज के आर्कबिशप सहित अन्य कई बिशपों को भी उनके पदों से हटा दिया। धीरे-धीरे उसने सभी जर्मन बिशपियों को अपने नुमाइंदों से भर दिया। बिशपों द्वारा सामन्ती सेवाओं के न किए जाने पर उन्हें राजा की ओर से मिले अधिकार छीने जाने लगे। इस तरह ११५४ ई० तक फ्रेड्रिक ने जर्मन चर्च पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। उधर ३ दिसम्बर, ११५४ को पोप एनसटेसियस चतुर्थ की मृत्यु हो गई। दूसरे ही दिन कार्डिनलों ने अलबानों के बिशप निकोलस ब्रेकस्पीयर को एड्रियन चतुर्थ के नाम से नया पोप चुना। एड्रियन चतुर्थ के चुनाव के तुरत बाद सूचना मिली कि बारबेरोसा इटली में प्रविष्ट हो चुका था। प्रायः उसी समय ब्रेशिया के आर्नोल्ड के नेतृत्व में रोमनों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु, नगर में निषेधाज्ञापन द्वारा पोप ने विद्रोह को दबा दिया। उसी बीच बारबेरोसा मार्ग में सभी विरोधों को कुचलता हुआ रोम की ओर बढ़ रहा था। सुट्री में भेंट होने पर उसने पोप के प्रति केवल नाममात्र का सम्मान दिखलाया। उसका एकमात्र उद्देश्य था कि पोप किसी तरह उसका राज्याभिषेक करने को तैयार हो जाए। वस्तुतः १८ जून, ११५६ को पोप ने सम्राट् के रूप में उसका अभिषेक किया भी। इसके तुरन्त बाद बारबेरोसा ने सम्पूर्ण इटली का स्वामी बनने का अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया। संभवतः उसने सुट्री में ही घोषणा की, "मैं शार्लेमन का उत्तराधिकारी हूँ, इसलिए रोम पर मेरा ही कानूनी अधिकार है।" इसी तरह की मनःस्थिति में इस नवीन जर्मन सीजर ने पोप के

राज्य पर आक्रमण कर पोपतन्त्र की राजनीतिक स्वतंत्रता को समाप्त करने का निश्चिय किया।

उत्तर और दक्षिण, दोनों ही ओर से शत्रुओं से घिर जाने की संभावना को देख कर एड्रियन ने सिसली के विलियम से ११५६ ई० में वेनेवेंटो की संधि कर ली। इस संधि से वारवेरोसा को वहुत क्रोध हुआ। उसकी क्रोधाग्नि को वढ़ाने में डैसल के रेनाल्ड का भी हाथ था। सन् ११५७ में वेकेनकॉन की धर्मसभा में कार्डिनल रोला ने जव यह कहा कि पोप साम्राटों से श्रेष्ठ था, तो उसकी जान जाने की नौवत आ गई। फिर भी, आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए, एड्रियन ने वारवेरोसा को पत्र लिखा और कुछ समय के लिए दोनों में समझौता हो गया। परन्तु, उपर्युक्त समझौता वहुत अस्थायी सिद्ध हुआ। उस समय वोलोना सुयोग्य नैयायिकों का केन्द्र था। अपने दावे को नैतिक वल प्रदान करने के लिए फ्रेड्रिक ने नवम्वर, ११५८ में रानकाग्लिया की धर्मसभा की। इस सभा में नैयायिकों ने उन कानूनों की घोषणा की जिन्हें एक साथ रानकारिलया की संहिता कहा गया है। इन नैयायिकों ने सम्पूर्ण साम्राज्य को नगरों, गाँवों, घरों सामानों और संस्थाओं सहित सम्राट् के अधीन वताया। इस "संहिता" के कार्यान्वयन के रूप में फ्रेड्रिक ने काउन्टेस मेटिल्डा की सम्पत्ति को, जो पोप को मिलनी चाहिए थी, व्रेवेरिया के गुयेल्फ को दे दिया। सम्राट् के पक्षधरों को कोलोन तथा रेभेना का आर्कविशप वनाया गया। जव पोप ने इसका विरोध किया तो उसे उत्तर मिला कि सामाजिक शक्ति के उपयोग के लिए स्वयं रोम पर सम्राट् का अधिकार होना आवश्यक था। पोप सम्राट् को जाति-वहिष्कृत करने की तैयारी कर ही रहा था कि १ सितम्वर, ११५९ को उसकी मृत्यु हो गई।

अलेक्जेंडर तृतीय (११५९-८१)

एड्रियन चतुर्थ की मृत्यु के वाद तीन दिनों तक विचार-विमर्श करने के पश्चात् कार्डिनलों ने रोलाँ को अलेक्जेंडर तृतीय के नाम से नया पोप चुना। वोलोना विश्वविद्यालय में शिक्षक के रूप में रोलाँ की प्रसिद्धि थी। पोप यूजेनियस तृतीय ने उसे कार्डिनल वनाया था और वाद में वह पोप का चांसलर वन गया था। तीन कार्डिनलों ने रोलाँ को अपना मत नहीं दिया था। उनमें से एक आक्टेवियन को वारवेरोसा ने अपना समर्थन दिया और उसे विक्टर चतुर्थ के नाम से विरोधी-पोप चुनवाया। अलेक्जेंडर तृतीय के विरोधियों ने उसे कई दिनों तक वन्दी वनाए रखा, परन्तु १७ सितम्वर, ११५९ को उसे मुक्त कर दिया गया योरोपीय राज्यों में केवल जर्मनी ने ही विक्टर चतुर्थ का समर्थन किया। पेमिया में जर्मन पादरियों की एक

सभा ने, जिसका सभापतित्व विक्टर चतुर्थ ने किया, १३ जनवरी, ११६० को अलेक्जेंडर तृतीय को अभिशप्त घोषित किया।

इटालियन शहरों से क्षुब्ध बारबेरोसा ने उनपर अमानुषिक अत्याचार किए। सन् ११६२ ई० तक संपूर्ण मध्य इटली पर उसका अधिकार हो गया और पोप को भागकर फ्रांस में आश्रय लेना पड़ा। बारबेरोसा ने फ्रांस तथा इंग्लैंड को भी अपनी ओर मिलाने का निष्फल प्रयास किया। दूसरी ओर, अवसर से लाभ उठाकर पूर्वी सम्राट् मैनुएल कामनेनस ने पोप से पश्चिमी साम्राज्य का मुकुट प्राप्त करना चाहा। परन्तु पोप इसके लिए तैयार नहीं हुआ। पोप ११६३ से ११६५ तक सेन्स में रहा। फ्रांस के राजा के संरक्षण में उसने टूर्स में एक धर्म-सभा बुलाई। इस सभा में जर्मनी को छोड़कर प्रायः सभी ईसाई राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हुए। इस सभा ने विरोधी पोप तथा उनके अनुयायियों को जातिबहिष्कृत कर दिया। अप्रिल, ११६४ में विरोधी पोप की मृत्यु हो जाने पर पोप ने एक बार बारबेरोसा को समझाने का प्रयास किया। परन्तु सम्राट् के समर्थक कार्डिनलों ने क्रेमा के ग्यूडों को पैस्कल तृतीय के नाम से विरोधी-पोप चुन लिया। इसी बीच इटली में वेरोनासंघ की स्थापना हो चुकी थी। इस संघ की सैनिक सफलताओं के कारण अलेक्जेंडर तृतीय २३ नवम्बर, ११६५ को जन-समूह के स्वागत के बीच रोम लौट आया। परन्तु उसके संकटों का अब भी अन्त नहीं हुआ था। जुलाई ११६७ में आठ दिनों की लड़ाई के बाद बारबेरोसा में प्रविष्ट हुआ जहाँ उसने पोप के निवास-स्थान रोम में आग लगा दी। पुनः एक बार पोप को रोम छोड़कर भागना पड़ा। सम्राट् ने विरोधी पोप को २ अगस्त को पोप की गद्दी पर बिठाया और रोमनों को उसके प्रति भक्ति की शपथ लेने को बाध्य किया। लेकिन इसी समय रोम में प्लेग फैल गया और बारबेरोसा के पच्चीस हजार सैनिक इसके शिकार हो गए। डैसेल के रेनाल्ड की भी इस व्याधि से मृत्यु हो गई। फ्रेड्रिक को जल्दी से रोम छोड़कर भागना पड़ा। उसके इस पलायन से उत्साहित होकर लोम्बार्ड संघ के तेरह नगरों ने सम्राट् के विरुद्ध तुरन्त विद्रोह कर दिया। मार्च ११६८ में बारबेरोसा किसान का वेष धारण कर किसी तरह इटली से भाग सका। पीडमौंट और बरगंडी होता हुआ वह जर्मनी पहुँचा। उसी साल १९ मई को लोम्बार्ड-संघ ने पोप को अपना अध्यक्ष चुना और उसके नाम पर अलेक्जेंड्रिया नामक नगर को स्थापित किया। सन् ११६८ में विरोधी पोप पैस्कल तृतीय की मृत्यु के बाद फ्रेड्रिक ने जान मारसन को कैलिस्टस तृतीय के नाम से नया विरोधी पोप चुनवाया। परन्तु इससे उसे विशेष लाभ नहीं हुआ और जर्मनी में भी उसके खिलाफ विरोध बढ़ता ही गया। सन् ११७४ में उसने इटली में सैनिक कार-

वार्ड और पोप से बात-चीत दोनों ही आरम्भ किया। अन्त में लोम्बार्ड-संघ ने ११७६ में उसकी सेना को बुरी तरह लेगनानों की लड़ाई में पराजित किया। उसने पोप को लोम्बार्ड संघ से अलग करने का भरसक प्रयास किया, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। बाध्य होकर उसे १ अगस्त, ११७७ को पोप के साथ वेनिस का समझौता करना पड़ा। इस संधि के अनुसार सम्राट् ने अलेक्जेंडर की कानूनी सत्ता को स्वीकार किया और उन विशपों को उसके अधीन मान लिया जिन्हें उसने पोप से अलग कर रखा था। इसके बदले में पोप ने उन कार्डिनलों को उसकी जगह पर रहने दिया जिन्हें सम्राट् ने विरोधी पोप द्वारा नियुक्त कराया था। जहाँ तक चर्च की सम्पत्ति का सवाल था, जो कुछ सम्राट् ने गैर-कानूनी ढंग से हथिया रखा था, उसे लौटाने का उसने वायदा किया। फ्रेड्रिक सिसली के राजा और लोम्बार्डों से भी समझौता करने को तैयार हो गया। उसने लोम्बार्डों नगरों की नागरिक स्वतंत्रता को भी स्वीकार किया, यद्यपि उसके प्रतिनिधियों के लोम्बार्डों में रहने की भी व्यवस्था की गयी।

इंग्लैंड के राजा हेनरी द्वितीय के साथ भी अलेक्जेंडर तृतीय का गहरा मतभेद था। फलतः कंटरबरी के आर्कविशप संत टामस बेकेट को फ्रांस जाकर पोप का आश्रय लेना पड़ा। सन् ११६६ में टाम फ्रांस से इंग्लैंड लौटा जहाँ उसने राजा को जातिबहिष्कार की धमकी दी। सन् ११६८ में पोप ने टामस को पद से हटा दिया। टामस अकेला ही हेनरी का विरोध करता रहा, परन्तु २९ दिसम्बर, ११७० को चार नाइटों ने मिलकर उसकी हत्या कर दी। हेनरी को इससे भारी दुख हुआ और ११७४ ई० में वह पोप से माफी माँगने रोम गया। साथ-साथ उसने और उसके लड़के ने चर्च के नियमों को मानने का वचन दिया।

जब तक रोमन विद्रोहियों को बारबेरोसा का डर बना हुआ था, उन्होंने अलेक्जेंडर तृतीय का साथ दिया। परन्तु जैसे ही यह खतरा समाप्त हो गया, ११८० से उन्होंने पोप का विरोध करना शुरू किया। उसे रोम का परित्याग करना पड़ा और एक दीर्घकालीन शासन के बाद ३० अगस्त, ११८१ को सिमिटा कास्टेलाना में उसकी मृत्यु हो गई। अपने शासनकाल में उसे शक्तिशाली शत्रुओं से लड़ना पड़ा था। उसे उन शक्तियों का विरोध करना पड़ा था जिनसे चर्च की एकता और धार्मिक आदर्शों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया।

इनोसेंट तृतीय (११९८-१२१६ ई०)

पोप अलेक्जेंडर तृतीय का कार्यक्रम इनोसेंट तृतीय के समय में भी चलता रहा।

यदि ईसा-पूर्व की पाँचवीं शताब्दी पेरिक्लिज के कारण विख्यात है, यदि रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्ष ऑगस्टस के वर्ष थे, तो तेरहवीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश पोप इनोसेंट तृतीय का युग था। उसे "यूरोप के संयुक्त राष्ट्र का राष्ट्रपति" कहा गया है। सन् ११९८ से १२१६ तक समूचा पश्चिमी यूरोप उसके चतुर्दिक् चक्कर काटता जान पड़ता था, क्योंकि उसके पास प्रभाव के साथ-साथ प्रशक्ति भी थी। वह उन घटनाओं का महान नियंता था जिन्होंने पवित्र रोमन साम्राज्य के भाग्य का निर्णय किया। फ्रांस के केपेसियन राजाओं और इंग्लैंड के अंजेविन राजाओं के बीच लम्बे संघर्ष में उसका अदृश्य हाथ था और उनके झगड़े का अंतिम फैसला उसी के समय में हुआ। चतुर्थ धर्म-युद्ध का वह मुख्य सूत्रधार था और इसी धर्म-युद्ध के बीच बैजन्टाइन साम्राज्य की शक्ति का विनाश हुआ। इनोसेंट उस युग में पोप हुआ था जब धर्मद्रोह के विकास के कारण ईसाई-धर्म के लिए संकट उत्पन्न हो गया था। स्वेबिया के फिलिप, ब्रुंसविक के ओटो, फ्रेड्रिक द्वितीय, रिचर्ड, जॉन, फिलिप आगस्टस साइमन द मौटफोर्ट, संत फ्रांसिस और संत डोमिनिक को कभी-न-कभी उसकी शक्ति का सामना करना पड़ा था।

पोप सेलेस्टिन तृतीय की ८ जनवरी, ११९८ को मृत्यु हुई। उसी दिन कार्डिनल लोटारियों द कान्टी द सेग्नि इनोसेंट तृतीय के नाम से पोप चुना गया। सन् ११६० में एक प्रसिद्ध परिवार में उसका जन्म हुआ था और वह पोप क्लिमंट तृतीय का भतीजा था। वह विद्वान् व्यक्ति था। उसने मानव-शास्त्र, धर्मशास्त्र और कानून का पेरिस तथा बोलोना में अध्ययन किया था। पोप सेलेस्टिन तृतीय ने कई बार उसे महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक कार्य सौंपा था। वह पोप की गद्दी पर सैंतीस वर्ष की आयु में बैठा। उस समय तक पोपतंत्र द्वारा राज्य एवं चर्च, दोनों पर नियंत्रण स्थापित करने की योजना पूर्ण न हो सकी थी। वह कुछ वर्षों के लिए उस स्वप्न को साकार करने में सफल हुआ। इस क्षेत्र में उसकी जैसी सफलता न तो पहले किसी पोप को मिली थी और न बाद में किसी अन्य पोप को मिली।

इनोसेंट तृतीय अपने किसी भी पूर्ववर्ती पोप से संत पीटर के उत्तराधिकारियों के अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक था। वह पोप की सत्ता को प्रत्येक दृष्टि से राजकीय सत्ता से श्रेष्ठ मानता था। ग्रिगोरी सप्तम और उसके पहले के ग्यारहवीं शताब्दी के पोपों ने यूरोप के राजाओं पर पोपतंत्र के सामन्ती आधिपत्य के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया था। सौ वर्षों के भीतर उन्होंने दक्षिण इटली, सिसली आरागान, क्रियेम क्रोसिया, प्रोमेन्स, बारसेलोना और पुर्तगाल को रोम के सामन्ती आधिपत्य को स्वीकार करने को बाध्य किया था। ग्रिगोरी सप्तम ने

हंगरी और स्पेन पर अपना अधिकार जमाया था। हेड्रियन चतुर्थ ने इंग्लैंड तथा आयरलैंड पर आधिपत्य की बात की थी। इनोसेंट तृतीय ने ठीक वैसा ही पवित्र रोमन साम्राज्य, इंग्लैंड, पोलैंड, नारवे, स्वीडन, डेनमार्क, बोहेमिया, बुलगारिया, सर्विया, आरमेनिया, यरुसलम, कान्स्टेंटीनोपुल, एथेंस और लेवाडा के साथ किया। पवित्र रोमन साम्राज्य में उसने जर्मन चर्च को राज्य के नियंत्रण से तो मुक्त कराया ही, साथ-साथ जर्मनी की गद्दी के प्रत्येक प्रत्याशी के दावे पर विचार करने के अपने अधिकार पर भी जोर दिया। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि राज्य की गति-विधि पर सामन्य नजर रखने का पोप को पूरा-पूरा अधिकार था। सन् १२०१ में जर्मनी की गद्दी के लिए उसने ओटो चतुर्थ के पक्ष में निर्णय दिया। इसके बदले में ओटो को पोप को कई सुविधाएँ देनी पड़ीं। उसे इटली में पोपतंत्र की स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ा और जर्मन चर्च पर से राज्य का नियंत्रण हटा लेना पड़ा। वर्म्स की धर्मसंधि द्वारा राजा को मिले सभी अधिकारों को भी उसे छोड़ना पड़ा। इनोसेंट तृतीय का कहना था कि "रोमन साम्राज्य के हितों का ध्यान रखना पोप का काम है, क्योंकि साम्राज्य की उत्पत्ति और शक्ति का अन्तिम स्रोत पोपतंत्र ही है", "और, क्योंकि सम्राट् अपने पद पर पोप द्वारा आसीन किया जाता है, जो उसे आशीर्वाद देता है, उसका अभिषेक करता है और उसे साम्राज्य सौंपता है।" इस तरह सन् ८०० में पोप लियो तृतीय द्वारा चार्ल्स के राज्याभिषेक का इनोसेंट पोप-तंत्र के लिए पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहता था। वह एक नैयायिक था, जिसे पेरिस और बोलोना में शिक्षा मिली थी और जो कुछ समय के लिए बोलोना विश्व-विद्यालय में कानून का शिक्षक रह चुका था। अतः वह प्रत्येक प्रश्न पर नैयायिक की दृष्टि से विचार करता था और पोपतंत्र के प्रत्येक दावे और अधिकार को कानूनी जामा पहनाने की चेष्टा करता था। धर्म से अधिक चिंता उसे पोपतंत्र की शक्ति के लिए रहती थी। उसकी महत्वाकांक्षाएँ व्यक्तिगत नहीं थीं। वह समझता था कि वह जो कुछ करता था, ईश्वर की इच्छा से करता था और चर्च के हित में करता था। वह समझता था कि संसार का राज्य एक धर्माधारित राज्य है, जिसमें ईश्वर का प्रतिनिधि सम्राट् न होकर पोप है। वह संसार को ईश्वरीय नगरी मानता था जिसका केन्द्र इटली स्थित रोम था। इसलिए ईश्वर के उपाचार्य, पोप को सभी वाह्य नियंत्रणों से मुक्त रहना चाहिए और पोप के राज्य को सुदृढ़ होना चाहिए। उसका मत था कि सभी पश्चिमी राज्यों को पोप के नियंत्रण में रहना चाहिए, किसी भी राजा अथवा सम्राट् को पोप के नियंत्रण के बाहर न रहकर पूर्ण-रूपेण पोप के अधीन होना चाहिए। उसके अनुसार चर्च की शक्ति सूर्यवत् है और

राज्य की शक्ति चन्द्रवत् है। जब कि राजा अपने राज्य पर शासन करता है, पोप समस्त संसार पर शासन करता है। उसका कहना था कि पादरी-वर्ग की शक्ति का सृजन स्वयं ईश्वर ने किया है, परन्तु राज्य की शक्ति तो मानवीय कुटिलता की देन है। "राजाओं की शक्ति पृथ्वी पर है, पादरियों की आत्मा पर। जिस तरह शरीर से आत्मा श्रेष्ठ है, उसी तरह राजतंत्र से पौरोहित्य श्रेष्ठ है।"

यूरोप के विभिन्न राज्यों के साथ पोप इनोसेंट तृतीय के सम्बन्ध उसके उपर्युक्त सिद्धांतों पर ही आधारित थे। पोपीय राज्य पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित होते ही उसने इटली को जर्मनी के नियंत्रण से मुक्त करने का प्रयास शुरू कर दिया। हेनरी षष्ठ की विधवा कान्सटन्स और उसके लड़के की सहायता से उसने सिसली में साम्राज्य स्थापित करने का जर्मनी का सपना तोड़ दिया। उसने जर्मनी के खिलाफ लोम्बर्ड-लीग को पुनर्जीवित तो कर ही लिया, साथ ही टस्कन नगरों का भी एक संघ तैयार कर लिया। स्वयं जर्मनी के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप करने का मौका भी उसे शीघ्र ही मिल गया। ब्रुंजविक का ओटो, ओटो चतुर्थ के नाम से; जर्मनी का सम्राट् चुना गया। पोप ने भी इस चुनाव को स्वीकार कर लिया था। परन्तु राज्याभिषेक से निश्चित होते ही ओटो पोप के खिलाफ हो गया। उसने काउंटेस मेटिल्डा के राज्य पर कब्जा कर लिया। साथ ही उसने स्पोलेटो और एनकोना के काउटों के इलाकों को भी हथिया लिया। सन् १२१० में इनोसेंट ने ओटो को जातिबहिष्कृत कर दिया और दो वर्ष बाद उससे शह पाकर जर्मन जागीरदारों ने हेनरी षष्ठ के पुत्र फ्रेड्रिक द्वितीय को सम्राट् चुन लिया। ओटो और फ्रेड्रिक के झगड़े का अंत १२१८ में ओटो की मृत्यु के बाद ही हुआ। परन्तु, फ्रेड्रिक द्वितीय भी इनोसेंट के लिए चिंता का कारण बना रहा। यद्यपि फ्रेड्रिक द्वितीय के मन में जर्मनी के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं था, परन्तु वह समझता था कि सिसली को साम्राज्य के साथ जोड़ देने से उसे पोप के प्रभाव से मुक्त होने का मौका मिलेगा। अतः इनोसेंट को दिए गए इस वायदे के बावजूद कि इटली के राज्य से साम्राज्य के शासन को अलग रखा जाएगा, फ्रेड्रिक दोनों को साथ मिलाकर पोप के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था।

यूरोप के अन्य राज्यों के प्रति भी इनोसेंट की नीति पोपतंत्र की श्रेष्ठता के ही सिद्धांत पर आधारित थी। सन् ११९९ में वह फ्रांस के फिलिप ऑगस्टस और इंग्लैंड के रिचर्ड प्रथम के बीच युद्ध-विराम कराने में सफल हुआ। चार वर्ष बाद उसने फिलिप तथा जॉन के बीच झगड़े में हस्तक्षेप किया, यद्यपि कुछ समय बाद उसे

इस झगड़े से हाथ खींच लेना पड़ा। इंग्लैंड के राजा जॉन के विरुद्ध उसे अभूतपूर्व सफलता मिली। सन् १२०६ में उसने कंटरबरी के आर्कबिशप के चुनाव में हस्तक्षेप किया। उसने जॉन तथा उसके विरोधियों द्वारा समर्थित दो परस्पर-विरोधी उम्मीदवारों की जगह पर अपने नुमाइंदे स्टीफन लैंगटन को चुनवा लिया। जॉन बहुत नाराज हुआ। परन्तु इंनोसेंट ने उसके खिलाफ निषेधाज्ञापन तथा जातिबहिष्कार के अस्त्रों का उपयोग कर उसे आत्म-समर्पण के लिए बाध्य कर दिया। धार्मिक अस्त्रों के उपयोग के अतिरिक्त उसने इंग्लैंड पर फ्रांस द्वारा आक्रमण का राजनीतिक भय भी दिखलाया। अतः १२१३ में जॉन को पोप की सभी बातों को मान लेना पड़ा। परन्तु जब १५ जून, १२१५ को अंगरेज सामंतों ने जॉन को मैग्नाकार्टा पर दस्तखत करने को बाध्य किया तो पोप ने इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया। मैग्नाकार्टा द्वारा पोप एवं राजा दोनों की शक्ति का हनन होता था। पोप ने कहा कि इस पर जान का दस्तखत जबरन कराया गया था, अतः यह गैरकानूनी था। स्थिति बड़ी नाजुक हो गई, परन्तु इसी बीच १२१६ में जॉन तथा इनोसेंट, दोनों की मृत्यु हो गई। ले-देकर इस घटना का पोपतंत्र पर बुरा ही प्रभाव पड़ा क्योंकि इससे इंग्लैंड की जनता निरंकुश राजतंत्र के साथ-साथ निरंकुश पोप के भी खिलाफ हो गई।

ईसाई नैतिकता और पोपतंत्र के सामन्ती अधिकारों के प्रश्न को लेकर इनोसेंट तृतीय ने प्रायः सर्वत्र ही सशक्त कदम उठाए। उदाहरणार्थ, जब फ्रांस के राजा फिलिप ऑगस्टस ने अपनी डेन पत्नी को विवाह के तुरत बाद तलाक दे दिया तो पोप ने उसके राज्य पर निषेधाज्ञापन लागू कर दिया। बाध्य होकर फिलिप को अपनी परित्यक्ता पत्नी को फिर से ग्रहण करना पड़ा। फिर भी, पोप एवं फिलिप का झगड़ा राजनीतिक न होकर व्यक्तिगत मात्र था। सन् १२१४ में ओटो चतुर्थ के खिलाफ फिलिप ने पोप का साथ दिया था। इनोसेंट ने कैस्टाइल एवं लियोन के राजाओं की शादी को रद्द कर दिया। उसने नार्वे में निषेधाज्ञापन किया तथा आरगान के राजा पीटर द्वितीय को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उसने बोहेमिया के ड्यूक को राजा की उपाधि को धारण करने दिया, परन्तु साथ-साथ उसे वफादार रहने को भी कहा। यह सब कुछ उसने दो दशकों के भीतर किया और कुछ समय के लिए यूरोप में पोपतंत्र की शक्ति सर्वोच्च रही। उसके समय में चर्च में पोप की आध्यात्मिक सर्वोच्चता निर्विवाद थी। यह सही है कि चर्च

का सम्पूर्ण शासन-तंत्र अभी भी पोप अधीन न था। परन्तु अब पोप को चर्च के पदाधिकारियों के कार्यभार-अर्पण, स्थानांतरण, पदच्युति तथा नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गए थे। चर्च के सर्वोच्च न्यायाधीश और अपार सम्पत्ति के स्वामी होने के कारण उसकी शक्ति ऐसे ही प्रबल थी। साथ-साथ उपयुक्त अधिकारों के मिल जाने से वह आध्यात्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति बन गया था।

यूरोप के विभिन्न राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के साथ साथ इनोसेंट ने यूरोप के आध्यात्मिक विकास की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। उसने धर्म द्रोह का पूर्ण शक्ति के साथ उन्मूलन किया। पोपीय राज्य से नास्तिकता का सर्वथा लोप ही हो गया। परन्तु, दक्षिण फ्रांस में प्रचलित अलविजेनसियन नास्तिकता के खिलाफ उसे कठोर संघर्ष करना पड़ा। शुरू में उसने केवल अपने धार्मिक अस्त्रों का ही उपयोग किया परन्तु बाद में फ्रांस के सभी सामन्तों को नास्तिकों का विनाश करने का आदेश दिया गया। साइमन द मौंटफोर्ट के नेतृत्व में अलविजेनसियनों के खिलाफ शुरू होनेवाला धर्मयुद्ध शीघ्र ही क्रूरता का परिचायक बन गया। पोप ने इस क्रूरता को कम करने की कोशिश की, परन्तु वह असफल रहा, क्योंकि फ्रांस के राजा ने धर्मयुद्ध को राजनीतिक विस्तार का माध्यम बना लिया था।

इनोसेंट तृतीय की एक महत्त्वाकांक्षा पश्चिमी फिलिस्तीन स्थित यरुसलम आदि ईसाइयों की पुण्यभूमि को मुसलमानी नियंत्रण से मुक्त करने की थी। प्रस्तावित धर्मयुद्ध के लिए उसने कुशल वक्ताओं द्वारा यूरोप में प्रचार कराया। इन वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ फ्रांस-निवासी फाउलेक्स द न्यूल्ली था। समुद्र पर वेनेसियनों का नियंत्रण था। वे धर्मयुद्ध से अधिक आर्थिक लाभ में अभिरुचि रखते थे। फिर भी, उनकी सहायता लेना आवश्यक था। इनोसेंट को सबसे बड़ा दुःख इस बात का था कि यूरोप के प्रायः सभी बड़े राजा इस योजना के प्रति उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। फिलिप आगस्टस, ओटो चतुर्थ अथवा किसी भी प्रमुख इटालियन शासक ने धर्मयुद्ध में भाग नहीं लिया। परन्तु सामान्य सामन्तों में अभूतपूर्व जोश था और उनमें से अधिकांश पोप के नेतृत्व में लड़ने को तैयार थे। अपनी इच्छा के विरुद्ध पोप को वेनेसियनों को जारा के ईसाई नगर पर कब्जा करने की अनुमति देनी पड़ी। इस प्रारंभिक अभियान के बाद धर्मयोद्धाओं की गृद्ध-दृष्टि कान्स्टेंटीनोपुल पर टिकी हुई थी और पोप बैजनटाइन-साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ भी न कर सका। अंत

में जब कान्स्टेंटीनोपुल पर धर्म-योद्धाओं का अधिकार हुआ तो फ्लैंडर्स के काउंट बाल्डविन को पूर्वी सम्राट् घोषित किया गया। अपनी स्वीकृति प्रदान करने में इनोसेंट को झिझक हो रही थी; परन्तु, जब बाल्डविन ने लैटिन एवं ग्रीक चर्चों को फिर से आपस में मिलाने का वायदा किया तो धर्मयुद्ध की असफलता को स्वीकार करते हुए उसने बाल्डविन को मान्यता प्रदान कर दी। सन् १२१३ से १२१५ के बीच उसने एक नए धर्मयुद्ध की तैयारी की। इसके लिए उसने यूरोप में चार वर्षों की शान्ति की घोषणा की। वस्तुतः गद्दी पर बैठते ही फ्रेड्रिक द्वितीय ने इस धर्म-युद्ध में भाग लेने का वादा किया था।

मृत्यु के एक वर्ष पूर्व, ११ नवम्बर, १२१५ को इनोसेंट तृतीय ने रोम में चतुर्थ लेटरन धर्मसभा का आह्वान किया। इसमें ४०० बिशपियों के प्रतिनिधियों और ८०० एबॉटों ने भाग लिया। इनके अतिरिक्त ईसाई यूरोप के कई राजा भी इसमें सम्मिलित हुए। यह सभा यूरोप में इनोसेंट की सर्वोच्चता की प्रतीक थी। इसमें इनोसेंट के शासनकाल के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों एवं नीतियों की पुष्टि की गई। इस सभा ने अति स्पष्ट शब्दों में राज्यों से चर्च की स्वतंत्रता की उद्घोषणा की। इस सभा में तत्वातरण के सिद्धान्त की अंतिम रूप से व्याख्या हुई। पोपों की स्वीकारोक्ति के रूप में एक नए प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई। अब यूरोप की नैतिकता पर पोपतंत्र का और कठोर नियंत्रण स्थापित हो गया। नैतिक, आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक बातों से भी अधिक इस सभा ने नास्तिकता, चर्च की शासन-व्यवस्था, धार्मिक कचहरियों की कार्य-विधि, शिक्षा आदि सामयिक प्रश्नों पर विचार किया। द्वन्द्व-युद्धों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और १२१७ में एक नए धर्मयुद्ध को आरंभ करने का भी निर्णय लिया गया। परंतु धर्मयुद्ध संबंधी अपनी अंतिम इच्छा के पूर्ण होने से पहले ही १६ जुलाई १२१६ को पेरुगिया में उसकी मृत्यु हो गई।

इनोसेंट तृतीय युग-पुरुष था। उसके कार्यों का सही मूल्यांकन तभी किया जा सकता है जब हम उस युग की विशेषताओं एवं आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखें। प्रायः वह राजाओं को इस प्रकार सम्बोधित किया करता था मानो वे उसके सामंत हों। परंतु स्मरणीय बात यह है कि यदि ये राजा पोप की अधीनता न स्वीकार करते तो उन्हें जर्मन सम्राट की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती। अतः, माउरेट के शब्दों में, "उस समय ईसाई नैतिकता और वांछित सभ्यता की सफलता के लिए पोप की सर्वोच्चता आवश्यक थी।" वस्तुतः पोप की नैतिक शक्ति इस समय इतनी

प्रबल हो गई थी कि राजागण उसकी अधीनता स्वीकार करने में स्वयं पहल करने लगे थे, क्योंकि इससे उनकी अपनी ही सुरक्षा बढ़ती थी। यह सही है कि इनोसेंट निरंकुश, उद्धत एवं सामंती प्रवृत्ति का था, परंतु साथ ही उसमें दयाभावना एवं दानशीलता की भी कमी न थी। जन्म से वह एक सामंत और कर्म से एक विशप था। अतः एक ही साथ वह राजनीति तथा चर्च-सुधार, दोनों में हाथ डाल सका। राजनीति को तो उसने इसलिए अपनाया था कि धर्म एवं चर्च की प्रतिष्ठा बढ़े। सुधारों में उसकी अभिरुचि इसलिए थी कि पादरियों एवं सामान्य-जनता को मुक्ति का सही मार्ग दरसाया जा सके। इस तरह, अपनी मृत्यु के वर्ष तक इनोसेंट को अपने उद्देश्यों में पूर्ण सफलता मिल गई जान पड़ती थी। ऐसा लगता था कि समूचा यूरोप पोप के अधीन एक धर्माधारित राज्य में परिणत हो गया हो। बाह्य तौर पर उसका पोपत्व-काल पूर्णरूपेण सफल जान पड़ता है। यूरोप के प्रायः प्रत्येक शासक के विरुद्ध वही विजयी हुआ था। समूचे यूरोप पर पोप की सत्ता निर्बाध जान पड़ती थी। वस्तुतः वह एक सम्राट तुल्य पोप था। पोपतंत्र का वह सबसे बड़ा निर्माता था। उसने पोपतंत्र के राजनीतिक अधिकारों को न केवल मुखरित किया, बल्कि उनका काफी दूर तक कार्यान्वयन भी किया। उसके समय में कैथोलिकों के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, रस्म और आचार प्रचलित हुए। कैथोलिक चर्च की धर्म-संहिता यद्यपि उसके समय में शुरू नहीं हुई थी, फिर भी, उसके विचारों का उसमें बहुत दूर तक समावेश हो गया था।

परंतु, पोप इनोसेंट तृतीय की उपलब्धियों का एक अन्य पक्ष भी था। वस्तुतः पोपतंत्र की शक्ति उत्कर्ष के एक शिखर पर पहुँच गई थी जहाँ से उसका पराभव होना अवश्यम्भावी था। उसके उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को पूरी तरह नष्ट कर दिया; परंतु राष्ट्रीयता पर आधारित योरोपीय राज्यों के उदय से यूरोप पर पोपतंत्र की सत्ता भी नष्ट हो गई। धर्माधारित राज्यों की जगह अब राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों की स्थापना हुई। इनोसेंट की मृत्यु के वर्ष तक यह स्पष्ट हो चुका था कि यूरोप एक धर्मतंत्र बनने को तैयार न था। फिर, नास्तिकता को समाप्त करने के लिए जिस क्रूर नीति को अपनाया गया था, उससे यूरोप और विशेषतः फ्रांस का लोकमत पोप के विरुद्ध हो गया था। राजा जॉन पर उसकी सफलता के कारण इंगलैंड की जनता उससे घृणा करने लगी। जर्मनी में प्रायः वैसा ही हुआ। पोपतंत्र की आध्यात्मिक शक्ति का भी ह्रास हुआ क्योंकि इनोसेंट धर्म से अधिक राजनीति में रुचि लेने लगा। सबसे बड़ी बात यह थी कि नारमन परंपरा से युक्त जर्मनी तथा सिसली का स्वामी फ्रेडरिक द्वितीय जैसा विलक्षण व्यक्ति उपस्थित

था। वह पोप की संपूर्ण कृति को किसी भी दिन नष्ट कर सकता था। अतः इनोसेंट की सफलता अनेक अर्थों में सीमित ही थी।

फ्रेड्रिक द्वितीय के शासनकाल में पोपतंत्र और साम्राज्य के संघर्ष का नवीन चरण शुरू हुआ। इनोसेंट तृतीय की मृत्यु के दो दिनों बाद ही पेरुगिया में सेनासियों सामेल्ली होनोरियस तृतीय के नाम से नया पोप चुना गया। पोप चुने जाने के समय ही वह वृद्ध हो चुका था, परंतु वह सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहा। वह इनोसेंट की ही तरह महत्त्वाकांक्षी था। उसे यह समझते देर न लगी कि पोपतंत्र की सुरक्षा के लिए इटली का वाह्य नियंत्रण से मुक्त रहना आवश्यक था। दूसरी ओर फ्रेड्रिक द्वितीय दक्षिण इटली पर अपना प्रभाव इस तरह स्थापित करना चाहता था कि पोप के राज्य को चारों तरफ से घेर कर रखा जा सके। एक तरफ पोप को धोखे में रखने के लिए उसने वाह्य तौर पर चर्च के साथ मैत्री का दिखावा किया और दूसरी ओर, लोम्बार्ड नगरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करता रहा। २२ सितम्बर, १२२० को होनोरियस तृतीय द्वारा सम्राट के रूप में अभिषिक्त किये जाने के बाद उसने संपूर्ण इटली पर दावा करना शुरू किया। परन्तु १२२६ तक लोम्बार्ड-संघ उसके विरुद्ध संगठित होने लगा था और पोप उसे जातिबहिष्कृत करने का विचार कर रहा था। स्थिति को सँभालने के लिए उसने पोप से उसके और लोम्बार्ड संघ के बीच मध्यस्थता करने का आग्रह किया। परंतु इसी बीच वृद्ध होनोरियस की १८ मार्च, १२२७ को मृत्यु हो गई। नम्र और समझौतावादी होनोरियस तृतीय की मृत्यु के बाद, अस्सी वर्ष का वृद्ध किन्तु अत्यन्त कुशल कार्डिनल युगोलिनों ग्रिगोरी नवम के नाम से पोप चुना गया। ग्रिगोरी नवम ने २९ सितम्बर, १२२७ को फ्रेड्रिक द्वितीय को सचमुच धर्मयुद्ध के लिए न जाने के अपराध में जातिबहिष्कृत कर दिया। अगले वर्ष जब फ्रेड्रिक द्वितीय सचमुच धर्मयुद्ध के लिए निकल पड़ा तो उसे इसके लिए भी जातिबहिष्कृत होना पड़ा। मिस्र के सुल्तान और दमिश्क के शासक के बीच मध्यस्थता कर उसने जाफा की संधि द्वारा बिना युद्ध किये ही, ४ फरवरी, १२२९ को यरुसलम, बेथेलहम और नजारथ आदि में दस वर्ष के लिए ईसाईयों द्वारा प्रवेश का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस तरह उसकी कूटनीति ने वह सब उपलब्ध करा दिया जो धर्मयुद्ध द्वारा संभव न हो सका था। धर्मयुद्ध पर निकलने से पहले सम्राट ने रोमन बैरनों को पोप के विरुद्ध भड़काया था। फलतः पोप को रोम छोड़कर पेरुगिया में शरण लेनी पड़ी। परन्तु १२२९ में पोप के समर्थकों ने न केवल सम्राट् की सेना को पोप के राज्य से मार भगाया, बल्कि सिसली पर भी आक्रमण किया। धर्मयुद्ध से लौटने पर सम्राट् ने पोप के साथ २३

जुलाई, १२३० में सन जरमानो की संधि कर ली। परन्तु कुछ समय बाद दोनों के सम्बन्ध पुन: तनावपूर्ण हो गए और सम्राट् ने प्राय: सम्पूर्ण यूरोप को पोप के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। बाध्य होकर पोप ने २० जून, १२३९ में उसे जातिवहिष्कृत किया। अगले वर्ष उसने ईसाई जगत की एक सभा बुलाई। परन्तु सम्राट् ने इटली की सीमा पर पहरेदार बैठाकर सभा में भाग लेने जा रहे अंग्रेज और फ्रांसीसी बिशपों को बंदी बना लिया, यद्यपि कुछ समय बाद उन्हें छोड़ दिया गया। लगभग इसी समय, २९ अगस्त, १२४१ को ग्रिगोरी नवम की मृत्यु हो गई।

ग्रिगोरी नवम की मृत्यु के समय फ्रेड्रिक द्वितीय एक विशाल सेना के साथ रोम की ओर बढ़ रहा था। ऐसा लगता है कि २५ जून, १२४३ को सम्राट् की सहमति से ही इनोसेंट चतुर्थ पोप चुना गया था। परन्तु २ जुलाई को नए पोप ने पोपतंत्र के सभी अधिकारों की रक्षा करने की घोषणा की। उसके शासनकाल की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं—*लिओन्स की सभा, फ्रेड्रिक द्वितीय से संघर्ष और धर्मयुद्ध* के पीछे यही उद्देश्य निहित था। इनोसेंट चतुर्थ के पोप चुने जाने के तत्काल बाद फ्रेड्रिक द्वितीय ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू कर दिया। फलत: १० जून, १२४४ को पोप को एक नाइट का वेष धारण कर रोम से भागना पड़ा। अगले छह: वर्ष तक वह लिओन्स के संत जस्ट नामक मठ मे पड़ा रहा। वहीं उसने जून १२४५ में एक धर्मसभा बुलाई। इस सभा ने फ्रेड्रिक के गद्दी से उतारे जाने की घोषणा की। एक नए धर्मयुद्ध की तैयारी का भी निश्चय किया गया। पोप के इस रुख को देखकर फ्रेड्रिक ने अंतिम दम तक लड़ने का निश्चय किया। उसने यूरोप के राजाओं को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। चर्च की अपार सम्पत्ति की ओर उसका ध्यान खींचते हुए उसने पोप तथा पादरियों द्वारा सादा जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया। फ्रेड्रिक के पास सिसली का धन था, परन्तु पोप को धन की कमी थी। इस कमी को पूर्ण करने के लिए पोप ने विशेष दशांश लगाया। उसकी भी तीव्र आलोचना हुई। उधर फ्रेड्रिक की भी हालत बहुत अच्छी नहीं थी। सन् १२४७ में उसका लड़का एनाज्यो बोलोना-निवासियों द्वारा बंदी बना लिया गया था। अगले वर्ष स्वयं फ्रेड्रिक की पारमा की लड़ाई में करारी हार हुई। अंत में १३ दिसम्बर, १२५० को फियोरेनटिनो में पेचिश से उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूर्व उसने कानराड चतुर्थ को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। परन्तु पोप ने इसे न मानकर हालैंड के काउंट विलियम को विरोधी उम्मीदवार के रूप में खड़ा किया। उसी तरह सिसली की गद्दी पर भी कोई अन्य व्यक्ति न मिलने पर पोप ने फ्रेड्रिक के अवैध पुत्र मेनफ्रिड को बिठाया। परन्तु मेनफ्रिड भी कुछ समय बाद पोप के खिलाफ

अरबों से मिल गया। इन सभी घटनाओं के समय पोप इटली के बाहर ही रहा था। सन् १२५१ में इटली लौटा, परन्तु रोम में न रहकर पेरुगिया अथवा एस्सिसी में रहता रहा। लोग इससे बहुत असंतुष्ट हुए और अंत में १२५३ में उसे रोम लौटना पड़ा। मेनफ्रिड के विरुद्ध युद्ध-संचालन की दृष्टि से वह १२५४ में नेपल्स चला गया। वहीं ६ दिसम्बर, १२५४ को उसकी मृत्यु हो गई। उसी साल कॉनराड चतुर्थ की भी मृत्यु हो गई।

इनोसेंट चतुर्थ और कॉनराड की मृत्यु के बाद भी पोपतंत्र तथा साम्राज्य का झगड़ा तुरन्त समाप्त न होकर अगले कई वर्षों तक चलता रहा। पोप की गद्दी पर अब दो फ्रांसीसी पोप, अरबन चतुर्थ और क्लेमंट चतुर्थ क्रमश: आसीन हुए। उनके समय में ही साम्राज्य की शक्ति अंतिम रूप से समाप्त हो गई। अरबन चतुर्थ २९ अगस्त, १२६१ को पोप बना था। उसने फ्रांस के राजा लुई नवम के भाई, अंजाउ के चार्ल्स को, मेनफ्रिड की जगह पर सिसली का राजा बनने के लिए आमंत्रित किया। चार्ल्स ने इस निमंत्रण को स्वीकार कर अपनी सेना के साथ सिसली में प्रवेश किया। उसने २७ फरवरी, १२६६ को वेनेभेन्टो की लड़ाई में मेनफ्रिड को पराजित कर उसकी हत्या कर दी। इसके बाद होहेनस्टोफेन वंश के एकमात्र उत्तराधिकारी कॉनरेडिन ने इटली के प्रमुख नगरों को चार्ल्स एवं पोप के विरुद्ध भड़काया। वह अपने पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा था। मेनफ्रिड की हत्या से क्षुब्ध इटालियनों ने उसे आमंत्रित किया। रोम में उसका स्वागत हुआ, परन्तु फ्रांसीसी सेना ने साम्राजिक सेना को पराजित कर दिया। कानरेडिन पकड़ा गया और नेपल्स ले जाया गया। वहाँ पोप क्लेमंट चतुर्थ की सहमति से उसकी हत्या कर दी गई। इस तरह साम्राज्य एवं पोपतंत्र के संघर्ष में पोपतंत्र की विजय हुई और होहेनस्टोफेन वंश का १२६८ में अंत हो गया।

पदप्रतिष्ठापन संघर्ष के परिणाम

दीर्घकालीन पदप्रतिष्ठापन संघर्ष का पोपतंत्र एवं साम्राज्य दोनों पर ही प्रभाव पड़ा। इटली साम्राज्य से अलग हो गया। नारमन सिसली की उन्नत सभ्यता फ्रांसीसी अत्याचार एवं अंजाउ के चार्ल्स की बर्बरता से कारण नष्ट हो गई। जहाँ तक जर्मनी का सवाल था, हेनरी चतुर्थ तथा पञ्चम के समय में पोपतंत्र से लम्बे संघर्ष के कारण जर्मन राजतंत्र की प्रतिष्ठा एवं शक्ति को अपार क्षति पहुँची। जर्मनों की वफादारी सम्राट् एवं पोप के बीच विभक्त हो गई। पोपों द्वारा भड़काये

जाने के कारण जर्मन सामंत बराबर विद्रोह करते रहे। इससे उनका और सम्राट् का, दोनों का नुकसान हुआ। जर्मनी में राज्य एवं चर्च की परम्परागत मित्रता का अंत हो गया और आवश्यकता पड़ने पर जर्मन राजाओं को अब अपने सामन्तों का मुखापेक्षी होना पड़ता था।

जर्मनी की राजनीतिक एकता अब एक लम्बी अवधि के लिए समाप्त हो गई। जर्मन राजाओं के चुनाव में अब सामन्तों का हाथ प्रमुख हो गया। उनकी कोशिश रहने लगी कि जर्मनी की गद्दी पर कोई शक्तिशाली राजा न बैठने पाए। प्रत्येक चुनाव का उपयोग वे व्यक्तिगत लाभ के लिए करने लगे। शीघ्र ही हालैंड तथा स्वीजरलैंड जर्मनी से अलग हो गए। स्वयं जर्मनी का एकीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक संभव न हो सका।

इस संघर्ष के फलस्वरूप पोपतंत्र की शक्ति और प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई। यदि पूर्णरूपेण नहीं तो आंशिक ही रूप में पोपतंत्र अपनी सुधार-योजनाओं को कार्यान्वित करने में सफल हुआ। पद-विक्रय निषिद्ध कर दिया गया, पादरियों का ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक हो गया और गैर-पादरियों द्वारा पदप्रतिष्ठापन समाप्त कर दिया गया। यद्यपि चर्च को राज्य के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त करना संभव न था, फिर भी चर्च के भीतर पोपतंत्र की सर्वोच्चता अब निर्विवाद थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि पोपतंत्र ने राजाओं के पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माने जाने का स्वप्न पूरा नहीं होने दिया, साथ ही, पोपतंत्र ने आध्यात्मिक सर्वोच्चता के अतिरिक्त अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता को भी किसी हद तक स्थापित कर लिया।

परंतु, पोपतंत्र की विजय सर्वथा पूर्ण नहीं थी। इस विजय के लिए उसे भारी कीमत चुकानी पड़ी थी। आर्थिक कमी को दूर करने के लिए पोपों को अभूतपूर्व हथकंडे अपनाने पड़े। इसकी यूरोप में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और पोपतंत्र के समर्थक फ्रांस के राजा लुई को भी पोप को चेतावनी देनी पड़ी थी। पोपतंत्र के प्रति स्नेह और श्रद्धा का स्थान अब क्रोध और अविश्वास ने ले लिया। यूरोप के प्रायः प्रत्येक राजा ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपने आंतरिक मामलों में पोप द्वारा हस्तक्षेप के खिलाफ था और उसके इस निर्णय का उसकी प्रजा ने साधारणतः समर्थन किया। यह यूरोप में राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों के उदय के कारण संभव हुआ था। क्लेमेंट पंचम के समय में पोपतंत्र के इतिहास में उस शर्मनाक अध्याय का आरंभ हुआ जिसमें पोप फ्रांस के राजाओं के इशारे पर नाचते रहे।

❀

अध्याय ११

योरोपीय राज्यों का विकास

मध्य-युग के उत्तरार्द्ध में यूरोप में एक ओर कुछ राज्यों में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर कुछ राज्यों का विघटन होता भी दीख पड़ता है। परंतु अधिकांश राज्यों में सामंतों, जमींदारियों और अर्द्ध-स्वतंत्र नगरों की जगह राष्ट्रीयता पर आधारित शक्तिशाली राजतंत्रीय राज्यों की ही स्थापना हो रही थी। यह सामंतवाद के पतन, नगरों की स्वतंत्रता में कमी और राजाओं की शक्ति में वृद्धि के ही कारण संभव हो सका था। पारस्परिक संघर्ष के कारण साम्राज्य तथा पोपतंत्र, दोनों का यूरोप पर प्रभाव घट गया था। इससे राष्ट्रीयता पर आधारित पूर्ण स्वतंत्र राज्यों के विकास में सहायता मिली। ऐसे राज्यों में इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन, डेनमार्क तथा स्वीडन प्रमुख थे। दूसरी ओर इटली तथा जर्मनी में विघटनकारी शक्तियाँ प्रबल थीं। अतः उनकी राष्ट्रीय एकता देर से स्थापित हो सकी।

इंग्लैंड :

नवीं शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड में राजनीतिक एकता स्थापित हो चुकी थी। एगबर्ट (८०२-८३९) और अलफ्रिड महान (८७१-९०१) ने इस दिशा में विशेष योगदान किया था। शांतिप्रिय एडगर (९५९-९७५) के समय में संपूर्ण राज्य में शांति तो बनी ही रही, साथ-साथ देश राजाओं द्वारा समृद्ध भी हुआ। जब नारमंडी के विलियम ने गोडविन के पुत्र हैरोल्ड को सेनलेक अथवा हेस्टिंग्स (१०६६) की लड़ाई में पराजित किया तो इंग्लैंड के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ। वहाँ का राजतंत्र विजेता विलियम (१०६६-१०८७) की प्रतिभा के कारण अत्यंत शक्तिशाली हो गया। पहले के **विटनागेमोट** ने अब **मैगनम कौंसिलीयम** का रूप ले लिया। राजाओं द्वारा सामंतवाद-विरोधी कदम उठाए जाने से सामंतों पर काबू पा लिया गया। राजकीय कर अब नियमित रूप से वसूले जाने लगे। राजप्रासादों के समक्ष सामंती गढ़ों की शक्ति क्षीण पड़ गई। विजेता विलियम और उसके उत्तराधिकारियों के अधूरे कार्य को प्लैंटेजेनेट वंश के संस्थापक हेनरी द्वितीय (११५४-११८९) ने पूरा किया। प्लैंटेजेनेट राजाओं का शासन-काल (११५४-

१४८५) इंग्लैंड के इतिहास में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। परंतु सबसे बड़ी बात यह हुई कि इन्हीं राजाओं के समय में आधुनिक ब्रिटिश संविधान की प्रारंभिक रूप-रेखा तैयार हुई। इसी युग में उन कानूनों एवं अधिकार-पत्रों का जन्म हुआ जिन्हें आज इंग्लैंड में नागरिक स्वतंत्रता का प्रमुख आधार माना जाता है। पुनः इस युग की लड़ाइयों के भी व्यापक प्रभाव पड़े। इस युग की प्रमुख घटनाएँ थीं—टामस बेकेट की शहादत (११७२), फ्रांस स्थित ब्रिटिश प्रदेशों का निकल जाना (१२०२-१२०४), राजा जॉन से मैगना कार्टा पर दस्तखत कराया जाना (१२१५), हाउस ऑफ कॉमन्स का आरंभ (१२६५), वेल्स की विजय (१२७२-१२८२), स्कॉटलैंड से युद्ध (१२९६-१३२८), फ्रांस के साथ सौ-वर्षीय युद्ध (१३३८-१४५३) और गुलाबों की लड़ाई (१४५५-१४८५)।

हेनरी द्वितीय के पुत्र रिचर्ड प्रथम के शासन काल (११८९-११९९) का इंग्लैंड के इतिहास पर परोक्ष प्रभाव ही पड़ा। वह धर्मयुद्ध में भाग लेने के कारण लम्बी अवधि तक इंग्लैंड से बाहर रहा था। उसकी अनुपस्थिति में सामंती शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ इंग्लैंड में स्वतंत्रता की भावना भी बढ़ी थी। फलतः १२१५ में जॉन को मैगना कार्टा पर हस्ताक्षर करना पड़ा। हेनरी तृतीय के शासनकाल (१२१६-१२७२) में हाउस ऑफ कॉमन्स में आम जनता के प्रतिनिधियों का प्रवेश हो सका (१२६५), यद्यपि इसका श्रेय राजा को नहीं बल्कि अर्ल साइमन को था। हेनरी तृतीय के पुत्र एडवर्ड प्रथम (१२७२-१३०७) के समय में मॉडल पार्लियामेंट (१२९५) के रूप में आम जनता के प्रतिनिधित्व को कानूनी मान्यता मिल गई। स्कॉटलैंड और वेल्स की विजय से राज्य का भी विस्तार हुआ। इस तरह ब्रिटिश राजतंत्र की शक्ति में जो वृद्धि हुई वह फ्रांस के साथ सौ-वर्षीय युद्ध के बावजूद कम नहीं हुई, यद्यपि फ्रांस स्थित प्रदेश इंग्लैंड के हाथ से अवश्य निकल गए। एडवर्ड तृतीय (१३२७-१३७७) के विभिन्न वंशधरों में गुलाबों की लड़ाई के बाद भी ब्रिटिश राजतंत्र की शक्ति का पूरा ह्रास नहीं हुआ। वस्तुतः इस युग में राजकीय शक्ति में जो वृद्धि हुई वही आगे चलकर ट्यूडर-राजाओं की शक्ति का प्रमुख आधार बनी। यह सही है कि बड़े बैरनों की शक्ति के कमजोर पड़ जाने से ट्यूडर राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका मिल सका था। परन्तु यह भी सही है कि उस समय तक अंगरेज जाति ने भी शक्तिशाली राजतंत्र के महत्त्व को अच्छी तरह समझ लिया था। इस कारण भी ट्यूडर राजाओं को कुछ कम सुविधा नहीं हुई।

फ्रांस :

फ्रांस में शक्तिशाली राजतंत्र का विकास और जर्मनी में साम्राजिक शक्ति

का ह्रास प्रायः समकालीन घटनाएँ थीं। सन् ९८७ से १३२८ ई० तक फ्रांस पर कैपेसियन राजाओं का शासन रहा। ये कैपेसियन पेरिस के काउंट ह्यू कैपेट के वंशज थे। ह्यू कैपेट ९८७ ई० में राजा चुना गया था। शुरू से ही प्रायः प्रत्येक कैपेसियन राजा अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजा चुनवा लेता था और उसे अभिषिक्त करा लेता था। इस प्रथा को प्रायः दो सौ वर्षों तक कायम रख-कर फ्रांसीसी राजाओं ने "गद्दी पर ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार" के सिद्धांत को तो स्थायी बना ही दिया, साथ ही फ्रांसीसी सामंतों का अपने मनोनुकूल राजा चुनने का अधिकार भी बहुत सीमित हो गया। इस तरह प्रायः तीन सौ वर्षों की अवधि में सत्रह ज्येष्ठ पुत्रों के ही गद्दी पर आसीन होने और प्रत्येक के दीर्घ काल तक शासन करने से कैपेसियन घराने की शक्ति में निरंतर वृद्धि ही होती गई।

फ्रांसीसी सामंतों और उत्तरकालीन कैरोलिगियनों के बीच प्रायः एक सौ वर्षों के लम्बे संघर्ष के बाद ह्यू कैपेट ९८७ ई० में गद्दी पर बैठा। सन् ९८७ का विशेष महत्त्व इसलिए भी था कि उस साल से कैपेसियन राजाओं के लगभग तीन सौ वर्षों के अविच्छिन्न शासन का आरंभ हुआ। यद्यपि ह्यू कैपेट के पूर्व भी तीन अन्य कैपे-सियन शासक हुए थे, परन्तु उनका शासन-काल किसी भी दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय न था। नवीं और दसवीं शताब्दियाँ कैरोलिंगयन साम्राज्य का पराभव काल थीं। इसी युग में सामंतवाद का भी उदय हुआ। इस तरह ८८८ ई० में प्रथम कैपेसियन राजा ओडो का चुनाव वस्तुतः एक सामंती अधिपति की विजय थी। सन् ८९८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद चार्ल्स द सिंपल ने कैरोलिंगियन वंश की पुनर्स्थापना की। नाम मात्र के कैरोलिंगियन शासक ९८७ ई० तक बने रहे। उस वर्ष लुई पंचम की मृत्यु के बाद फ्रांसीसी पादरी एवं सामंत वर्गों ने लुई के चाचा और निचले लोरेने के ड्यूक चार्ल्स को गद्दी पर न बिठाने का निर्णय किया। उन्होंने अब ह्यू कैपेट को राजा चुना। रिह्म्स के आर्कबिशप ने उसका राज्याभिषेक किया।

सन् ९८७ ई० में फ्रांस के राजा के तीन रूप थे—सर्वप्रथम् वह फ्रांस नामक एक ऐसे प्रदेश का शासक था जिसकी सीमा अभी भी अनिश्चित थी। फिर, वह अपने क्षेत्र का सामंती अधिपति था। साथ-ही-साथ, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में ही सही, फ्रांस के अन्य सामंत उसे अपना अधिपति मानते थे। उसकी राजा की उपाधि का, धन अथवा शक्ति की दृष्टि से, कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इसका महत्त्व केवल इतना ही था कि राजा नाम के साथ कैरोलिंगियन शासकों की राजकीय परम्परा जुड़ी हुई थी। इस नैतिक प्रतिष्ठा के अतिरिक्त कैरोलिगियन शासकों ने कैपेसियनों

के लिए और कुछ नहीं छोड़ा था। राजकीय सम्पदा थोड़ी-सी भूमि और वहां के कुछ राजभक्त निवासियों तक ही सीमित थी। सैद्धान्तिक रूप में राजा अब भी राज्य का प्रमुख सेनापति, पुलिस का प्रमुख अधिकारी और न्याय का स्रोत था। परन्तु, वस्तुतः सामंतवाद के कारण ये सभी अधिकार सामंतों के हाथ में चले गए थे। सामंत अपने-अपने क्षेत्रों में इन अधिकारों का उपयोग करने लगे थे।

कैपेसियन राजाओं को चर्च से बहुत सहायता मिली। यह सहायता केवल नैतिक न होकर वास्तविक भी थी। चर्च के समर्थक तथा रक्षक के रूप में कैपेसियन राजाओं की चर्च की सम्पत्ति तक पहुँच थी। फिर भी उनकी आमदनी का प्रमुख स्रोत राजकीय भू-सम्पदा ही थी जो पेरिस के काउंट के रूप में उनके पास पहले से ही थी। परन्तु यह भू-सम्पदा बहुत मामूली थी। वस्तुतः ह्यू कैपेट के राजा चुने जाने का एक कारण यह भी रहा होगा कि अल्प-भूमि का स्वामी होने के कारण सामंतों की दृष्टि में वह काफी कमजोर जान पड़ता होगा। इस तरह, अपने शासन के आरम्भ में कैपेसियन राजा फ्रांस के अन्य बड़े सामंतों से किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं थे। परन्तु राजा होने के नाते वे अन्य सामंतों के अधिपति थे। इस तरह सामंती नियमों द्वारा प्रदत्त सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों के भागी तो वे थे ही, फिर भी, कम भूमि के स्वामी होने के कारण बहुत दिनों तक वे अपने अधीनस्थ सामंतों से भी कमजोर जान पड़ते थे। उनके पक्ष में केवल एक ही बात थी कि भविष्य में वे अपने सैद्धांतिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप दे सकते थे।

प्रारंभिक कैपेसियन शासक न तो बहुत कुशल ही थे और न शक्तिशाली ही। उनका उद्देश्य था किसी तरह अपने आप को गद्दी पर बनाए रखना। सामंतों का कोई भी दल उन्हें अपदस्थ कर सकता था। अतः बाहर हाथ-पैर फैलाने से पहले, राज्य के भीतर अपने आपको मजबूत बनाना उनके लिए आवश्यक था। सन् ११८० में फिलिप ऑगस्टस के गद्दी पर बैठने तक कैपेसियनों का इतिहास विशेष उल्लेखनीय नहीं था। उस समय तक उनका अधिकांश समय उनकी स्त्रियों, सामंतों तथा राजकीय पदाधिकारियों के षड्यंत्रों से बचने में ही बीता। अतः ११ वीं तथा १२ वीं शताब्दियों में यूरोप में होनेवाली युगान्तरकारी घटनाओं में उनका कोई हाथ नहीं रहा। प्रथम छह कैपेसियन राजाओं ने १९३ वर्षों तक शासन किया, यही, इस वंश का सौभाग्य था। उनके समय में गद्दी पर अधिकार वंशानुगत हो गया, यही उनकी बड़ी उपलब्धि थी। उनकी इससे बड़ी उपलब्धि थी अधीनस्थ सामंतों का पूर्ण दमन। यह काम विशेषतः मोटा राजा लुई षष्ठ के समय में पूरा हुआ। उसने आततायी

मार्ले के टामस को परास्त कर उसकी हत्या कर दी। इसी तरह उसने पुइसेट के ह्यू तथा क्रेसी के ह्यू का भी दमन किया। इससे किसानों तथा पादरियों को बहुत राहत मिली क्योंकि ये लोग ही इनके द्वारा उत्पीड़ित थे। अब राज्य के विभिन्न भागों में राजकीय अधिकारों पर बल दिया जा सकता था। वस्तुतः नारवाँन तथा बरगंडी सदृश दूरस्थ स्थानों के सामंतों ने भी लुई सप्तम की अधीनता स्वीकार कर ली।

राजकीय सत्ता की स्थापना के साथ-साथ केन्द्रीय तथास्थानीय प्रशासन में भी कुछ सुधार लाए गए। सामंतवाद के कारण सभी सरकारी पद वंशानुगत होते जा रहे थे और लुई षष्ठ के समय तक स्थिति सचमुच गंभीर हो गई थी। उसने और लुई सप्तम ने सामंतों की जगह सरकारी पदों पर सामान्य किन्तु योग्य लोगों को नियुक्त करना शुरू किया। ऐसे लोग अब राजकीय प्रदेश, पादरियों और नए शहरों से भी लिये जाने लगे। इन लोगों में सुगेर का नाम विशेष उल्लेखनीय है : फिर भी, प्रशासन, राजस्व तथा न्याय के क्षेत्र में प्रारम्भिक कैपेसियनों द्वारा किए गए सुधार समकालीन ब्रिटिश राजाओं द्वारा किए गए सुधारों की तुलना में नगण्य थे। कैपेसियन राजाओं के एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी इंग्लैड के नोरमन राजा थे। एंजेभिन शक्ति का उदय, एलिनर द्वारा लुई षष्ठ का परित्याग और अंजाउ के हेनरी से उसका विवाह, अंजाउ के हेनरी द्वारा इंग्लैंड-विजय ओह हेनरी द्वितीय के नाम से उसका इंग्लैण्ड का राजा होना कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनके कारण कैपेसियन राजा लुई सप्तम की स्थिति बहुत कमजोर पड़ गई। हेनरी द्वितीय दो-तिहाई फ्रांस का स्वामी था। लुई सप्तम शेष एक-तिहाई फ्रांस के केवल आधे भाग का स्वामी था। परन्तु एंजेभिन राजा अपेक्षाता: कमजोर कैपेसियन राजाओं द्वारा पराजित हुए। वस्तुतः वे फ्रांस स्थित अपने प्रदेशों की कैपेसियनों से रक्षा न कर सके। सन् ११५४ के बाद प्रायः तीन सौ वर्षों तक कैपेसियन राजा फ्रांस स्थित एंजेभिन साम्राज्य को नष्ट करने के लिए युद्ध करते रहे। प्रायः एक-एक सौ वर्ष तक चलने वाली दो लम्बी लड़ाइयों के बाद वे अपने उद्देश्य में सफल भी हो गए। इन तीन शताब्दियों में फ्रांसीसी साम्राज्य का एकीकरण हो गया और ठीक वैसा ही इंग्लैंड में भी हुआ।

जिस तरह राजमहल के कैरोलिंगियन मेयरों ने धीरे-धीरे मेरोलिंगियन राजाओं को अपदस्थ किया था, ठीक उसी तरह नवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में कैरोलिंगियन राजाओं का स्थान कैपेसियनों ने ले लिया। कैपेसियन राजवंश की

रॉबर्ट द स्ट्रॉंग ने की थी। उसके उत्तराधिकारी क्रमशः उसके लड़के दोनों ओडो तथा राबर्ट-राबर्ट थे । राबर्ट का उत्तराधिकारी ह्यू महान (९२३-९५६) इस वंश का प्रथम कुशल प्रशासक एवं कूटनीतिज्ञ था। सन् ९५६ में मृत्यु होने तक उसका राजवंश सुदृढ़ हो चुका था। उसका उत्तराधिकारी ह्यू कैपेट था जिसके नाम पर यह वंश कैपेसियन के नाम से विख्यात हुआ। ह्यू कैपेट ने रेम्स के आर्कविशप एडेलवेरो तथा सम्राट ओटो तृतीय से मित्रता कर कैरोलिंगियन लोथार और उसके पुत्र लुई पंचम को पूरी तरह परास्त किया। सन् ९८७ में लुई पंचम की मृत्यु के बाद कैरोलिंगियन वंश का कोई सीधा उत्तराधिकारी न रह गया। अतः आर्कबिशप एडेलबेरी की सहमति से ह्यू कैपेट का फ्रांस के राजा के रूप में अभिषेक हुआ। नारमनों के ड्यूक तथा अंजाउ के काउंट ने उसका समर्थन किया। सम्राट् ओटो तृतीय ने उसे इस शर्त पर मान्यता दे दी कि वह लोथेरिंगिया पर दावा नहीं करेगा। ह्यू कैपेट के राज्याभिषेक को प्रायः "राजतंत्र के सिद्धांत पर सामन्तवाद की विजय" कहा गया है। मौंटेस्कू के शब्दों में, "सबसे बड़ी जागीर के साथ राजा की पदवी को जोड़ दिया गया।" परन्तु यह मत युक्तिपूर्ण नहीं है। प्रारंभिक कैपेसियन राजाओं को भी वही व्यापक मान्यता मिली हुई थी और उनमें भी सार्वभौमिकता के वे सभी तत्त्व निहित थे जो कैरोलिंगियन राजाओं के समय में थे। कैपेसियन राजवंश अपने को कैरोलिंगियन वंश का उत्तराधिकारी कह सकता था, क्योंकि उस वंश की समाप्ति पर ही ह्यू कैपेट का राज्याभिषेक हुआ था। फिर, सार्वभौमिकता तथा प्रशासन सम्बन्धी कैपेसियनों के आदर्श कैरोलिंगियनों की तरह ही थे।

यद्यपि कैपेसियन शासन को भी कैरोलिंगियन शासन का ही अतिरिक्त भाग कहा जा सकता है, फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि ह्यू कैपेट के राज्याभिषेक से फ्रांस के इतिहास में एक सर्वथा नवीन युग का आरंभ हुआ। यह सही है कि ह्यू कैपेट के राज्यारोहण को ट्यूटनों के ऊपर सेल्टों की विजय नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह भी सही है कि इससे फ्रांसीसी राष्ट्रीयता के विकास में निःसंदेह सहायता मिली। भरडून की संधि के कारण जर्मन जातियाँ गॉल जाति पृथक् हो गई थीं। ह्यू कैपेट के राज्याभिषेक से पृथक्करण की यह प्रक्रिया प्रायः पूरी हो गई। अब से आगे फ्रांस के लिए फ्रांसीसी राजा ही मान्य हो सकता था। दूसरी बात यह थी कि कैरोलिंगियन शासकों का आदर्श साम्राजिक था, परन्तु कैपेसियनों की महात्वाकांक्षा फ्रांस तक ही सीमित थी। इससे फ्रांस में राजतंत्र के विकास में सहायता मिली। ह्यू कैपेट तथा उसके उत्तराधिकारियों का भरडून की संधि द्वारा निर्धारित पश्चिमी फ्रैंक राज्य की सीमा से बाहर फैलाने का कोई इरादा नहीं था। आधुनिक यूरोप का

इतिहास विभिन्न राष्ट्रों के विकास का इतिहास है। फ्रांसीसी राष्ट्र के विकास का यह इतिहास कैपेसियनों से ही शुरू होता है।

प्रारम्भिक कैपेसियनों का शासनकाल फ्रांसीसी चर्च की सफलता एवं समृद्धि का काल था। वस्तुतः एडलबेरो और गेरवर्ट जैसे लोगों की सहायता से ह्यू कैपेट को गद्दी मिली थी। सामंतवाद के खिलाफ चर्च ने सुशासन तथा राजभक्ति पर जोर दिया। इससे फ्रांस में चर्च तथा राज्य के बीच उस गठबन्धन का आरम्भ हुआ जो किसी-न-किसी रूप में बहुत दिनों तक चलता रहा। फिर, यह सही है कि प्रारम्भिक कैपेसियन राजाओं की शक्ति मामूली थी। फिर भी, ये प्रारम्भिक कैपेसियन राजा उतने कमजोर नहीं थे जितना कि उन्हें साधारणतः समझा जाता है। वस्तुतः ह्यू कैपेट का प्रभाव समूचे फ्रांस पर फैला हुआ था। मेरोभिंगियन एवं कैरोलिंगियन शासकों के आदर्श उसे अनुप्राणित करते रहे। सामंतों की शक्ति पर चर्च के सहयोग से वह नियंत्रण रख सका। प्रारम्भिक कैपेसियन राजा न तो अत्यधिक शक्तिशाली ही थे और न बुद्धिमान ही, परन्तु वे अपनी दुर्बलता पर विजय पाना जानते थे। यही उनकी बड़ी विपशेता थी। फिलिप ऑगस्टस से पहले उनमें कोई भी राजा बहुत प्रतापी नहीं हुआ, परन्तु प्रत्येक कैपेसियन राजा ने फ्रांसीसी राजतंत्र को मजबूत बनाने में अपना योगदान किया। नॉरमंडी, बरगंडी, आक्विटेन आदि के ड्यूक प्रारम्भिक राजाओं से अधिक शक्तिशाली थे। परन्तु कैपेसियनों ने इन ड्यूकों को अपने खिलाफ संगठित होने का मौका ही नहीं दिया। धीरे-धीरे वे अपने राज्य का विस्तार करते रहे और फ्रांसीसी राजतन्त्र को सुदृढ़ बनाते रहे। उत्तराधिकार की लड़ाइयों के अभाव में कैपेसियन राजवंश बराबर दृढ़तर ही होता गया। इस तरह कई प्रकार से उन्होंने फ्रांसीसी जनता तथा राजतन्त्र की महानता का मार्ग प्रशस्त किया। कुछ तो उन्होंने जान बूझकर किया और कुछ उनके अनजाने ही हो गया।

उत्तरकालीन कैपेसियन राजा :

कैपेसियन समृद्धि का वास्तविक आरम्भ तब हुआ जब लकवाग्रस्त लुई सप्तम की जगह फिलिप ऑगस्टस (११८०-१२२३) फ्रांस का राजा हुआ। अनाकर्षक व्यक्तित्व और शारीरिक अक्षमता के बावजूद वह अपने उद्देश्यों के प्रति सदा जागरूक रहा। वह धीर, दूरदर्शी और व्यावहारिक था। अपने चौवालिस वर्षों के शासनकाल में उसने अंजेविनों से उनके फ्रांसिसियन प्रदेशों का लगभग आधा भाग छीन लिया। वस्तुतः वह फ्रांस तथा उसके राजतन्त्र का वास्तविक संस्थापक था। उसके विरोधी उसका सामना करने में असमर्थ रहे। अपने राज्यारोहण के आरम्भ

में उसे फ्लैंडर्स और चैम्पेग्ने के शासकों के विरोध का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड के राजा हेनरी द्वितीय ने इन विरोधियों के खिलाफ उसकी सहायता की। परन्तु बाद में फिलिप ने हेनरी द्वितीय के पुत्रों को उसके खिलाफ भड़काया और स्वयं नोरमंडी, मेन तथा अंजाउ पर कब्जा कर लिया। जनमत के दबाव के कारण उसने सलादीन के खिलाफ धर्मयुद्ध में इंग्लैंड के रिचर्ड का साथ दिया, परन्तु फ्रांस लौटते ही उसने रिचर्ड के विरुद्ध जॉन से समझौता कर लिया और अंजाउ तथा तुरेन में कुछ स्थानों पर कब्जा कर लिया। फिलस्तीन से लौटते हुए जब रिचर्ड बन्दी बना लिया गया तो जॉन के साथ-साथ फिलिप को भी खुशी हुई। इंग्लैंड की गद्दी पर भी कब्जा करने के उद्देश्य से उसने अपने लड़के का विवाह डेनमार्क की राजकुमारी से कराया। रिचर्ड की मुक्ति के बाद उसने फ्रांस स्थित ब्रिटिश प्रदेशों पर कब्जा बनाए रखने के लिए व्यवस्था की। रिचर्ड के साथ युद्ध में वह लगभग पराजित हो गया, परन्तु पोप की मध्यस्थता के कारण दोनों पक्षों में पाँच वर्षों के लिए युद्ध-विराम हुआ। परन्तु इसी बीच रिचर्ड की मृत्यु हो गयी।

जॉन के समय में भी फ्रांस तथा इंग्लैंड के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। जॉन का भतीजा आर्थर, फिलिप से मिल गया और फिलिप की कन्या का उससे विवाह होना तय पाया। परन्तु, पोप इनोसेंट तृतीय से मतभेद हो जाने के कारण फिलिप को ब्रितानी तथा अंजाउ पर जॉन का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। जॉन ने फ्रांस स्थित अपनी जागीरों के लिए फ्रांस के राजा के प्रति निष्ठा प्रकट करना तथा सामंती-कर देना स्वीकार किया। इसका फिलिप ने पूरा फायदा उठाया। जॉन ने अपने प्रतिद्वन्दी भतीजे, ब्रितानी के आर्थर की हत्या करा दी। इसका फायदा फिलिप को हुआ। उसने फ्रांस स्थित जॉन की जागीर को जब्त कर लिया। आर्थर की हत्या की इंग्लैंड में इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि जॉन खोए हुए इलाकों को वापस लेने के लिए कुछ भी न कर सका। सन् १२०४ तक नॉरमंडी सहित फ्रांस स्थित प्रायः सभी अंजेमिन प्रदेश कैपेसियन राज्य में शामिल कर लिए गए। जॉन की मृत्यु के बाद इन खोए हुए प्रदेशों को वापस लेने के सभी प्रयास व्यर्थ गए। केवल अक्विटेन अंगरेजों के कब्जे में रह गया। अक्विटेन को लेकर अभी सौ वर्षों की लड़ाई होनी बाकी ही थी।

फ्रांस स्थित अंजेमिन साम्राज्य के पतन का फ्रांस तथा इंग्लैंड के भावी इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। कैपेसियन राज्य का आकार प्रायः दूना हो गया। इस आकस्मिक विस्तार के कारण कैपेसियन राजाओं का पूरे फ्रांस पर अपना अधिकार

जताना आसान हो गया। दूसरी ओर, योरोपीय महाद्वीप से अलग-अलग पड़ जाने के कारण इंग्लैंड का एक राष्ट्र के रूप में विकास सम्भव हुआ। फिर भी अभी तक जॉन तथा फिलिप के संघर्ष का अंतिम रूप से अंत नहीं हुआ था। वेल्फ-अंजेमिन तथा होहेनस्टौफेन-कैपेसियन दलों का विरोध अब भी बना हुआ था। इन दोनों परस्पर विरोधी दलों का निर्णायक युद्ध सन् १२१४ में हुआ। उस वर्ष पेरिस की ओर बढ़नेवाली अंगरेजों तथा जर्मनों की सम्मिलित सेना को फिलिप ने बाउविंस की लड़ाई में बुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध के फलस्वरूप फ्रांस स्थित अंजेमिन प्रदेशों पर फिलिप का स्थायी नियंत्रण तो हो ही गया, फ्रांस के आंतरिक मामलों में जर्मन हस्तक्षेप की संभावना भी कम हो गई। साथ-साथ, फिलिप के विद्रोही तथा देशद्रोही अधीनस्थ सामंत भी शांत हो गए। अब फ्रांस में कैपेसियनों की सर्वोच्चता में तो कोई संदेह नहीं ही रहा, भविष्य में यूरोप में, फ्रांस के विस्तार का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।

फिलिप ऑगस्टस ने कैपेसियन वंश को जितना सुदृढ़ बनाया, उतना उससे पहले कभी सम्भव न हो सका था। उसके उत्तराधिकारी लुई अष्टम (१२२३-१२२६) के तीन वर्षों के शासनकाल में अलविजेंसियन विधर्मियों का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा। लुई ने इन नास्तिकों का विनाश कर उनकी सम्पदा पर कब्जा कर लिया। उसने सभी क्षेत्रों में अपने पिता की नीतियों का अनुसरण किया, परन्तु साथ ही अपने प्रत्येक लड़के को राज्य का एक भाग प्रशासन तथा आमदनी सहित सौंप दिया। इसका राज्य की शक्ति पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। लुई अष्टम के बाद लुई नवाँ (१२२६-१२७०) राजा बना। 'संत लुई' गद्दी पर बैठते समय निरा बालक था। अतः प्रथम दस वर्षों तक उसकी माता शासन का कार्य चलाती रही। वह निरंकुश तथा क्रोधी होते हुए भी अत्यन्त कुशल थी। उसकी तानाशाही से बड़े सामंत उसके खिलाफ हो गए, फिर भी उसने राज्य की शक्ति में वृद्धि ही की। उसकी देख-रेख लुई नवाँ तत्कालीन ईसाई-जगत का सर्वश्रेष्ठ राज बन बैठा। "वह एक धर्मात्मा नाइट, बहादुर धर्म-योद्धा, दृढ़ स्पष्टवादी तथा उत्तम राजा था जिसकी शांति में रुचि थी।" वह चर्च के प्रति श्रद्धावान था, परन्तु चर्च पर अपने अधिकारियों को छोड़ने को भी तैयार नहीं था। वह धर्मयुद्ध पर निकला परन्तु वहाँ से लौटकर उसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक धार्मिक तथा सांसारिक सुखों के प्रति उदासीनता की हो गई। अपनी पोशाक तथा आदतों में वह अब राजा से अधिक संन्यासी लगता था। परन्तु उस युग के अधिकांश लोगों की तरह उसका भी धार्मिक दृष्टिकोण प्रायः संकीर्ण ही था।

संत लुई ने बल-प्रयोग द्वारा राज्य की सीमा को बढ़ाना अस्वीकार कर दिया, यद्यपि ऐसे कई अवसर आए। बल्कि उसने इंग्लैंड से छीने गए इलाकों को भी लौटा दिया जिनके विषय में उसकी धारणा थी कि उन्हें गलत ढंग से हथिया लिया गया था। साम्राज्य तथा पोपतन्त्र के संघर्ष से उसे क्लेश होता रहा और उसने दोनों पक्षों में समझौता कराने की कोशिश भी की। उसकी पवित्रता, ईमानदारी तथा न्याय-प्रियता से प्रभावित होकर यूरोप के अन्य देश अपने झगड़ों में उसे मध्यस्थ बनाते थे। चर्च ने तो उसके चरित्र की उच्चता के कारण उसे 'संत' की संज्ञा दे दी थी। उसकी वैदेशिक नीति शांति के सिद्धान्त पर आधारित थी। वह सही अर्थ में युद्ध-विरोधी था। शांति में अपरिमित रुचि होने के कारण ही उसने १२५९ ई० में इंग्लैंड के साथ पेरिस का समझौता किया। सन् १२७० में उसकी मृत्यु के बाद फिलिप तृतीय (१२७०-१२८५) गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल की एक विशेष बात यह थी कि राज-दरबार राजा के कुछ खास कृपापात्रों से भर गया। परन्तु ये कृपापात्र आम जनता से लिए गए थे और साधारणतः कुशल, महत्त्वाकांक्षी तथा रोमन विधि के जानकार थे। फिलिप तृतीय ने स्पेन से युद्ध कर नाभारा का इलाका प्राप्त किया। दक्षिण की ओर भी फ्रांस का विस्तार हुआ। विद्रोही सामंतों का दमन किया गया। बहुत-से लोग एक ओर व्यापार तथा अन्य कार्यों में लाभ कर धन कमाते थे और दूसरी ओर पादरी होने का स्वांग भरकर करों से बच जाते थे। फिलिप ने ऐसे लोगों को भी कर देने के लिए बाध्य किया। उसके उत्तराधिकारी फिलिप चतुर्थ (१२८५-१३१४)के समय में फ्रांस यूरोप का प्रमुख राज्य बन गया। इसका श्रेय स्वयं राजा से भी अधिक उसके सलाहकारों को था। यह कहना कठिन है कि राजा का इन सलाहकारों पर अधिक प्रभाव था कि उसका राजा पर। संभवतः फिलिप इस क्षेत्र में जस्टिनियन का अनुकरण करना चाहता था। राज्य की निरंतर बढ़नेवाली आवश्य-कताओं के कारण फिलिप ने सामंती करों को बहुत नियमित रूप से वसूलना शुरू किया। सैनिक सेवा से मुक्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के अनुपात में धन देकर ही प्राप्त की जा सकती थी। गेहूँ, नमक तथा शराब आदि आवश्यक वस्तुओं पर कर लगा दिया गया। वस्तुतः करों के भारी बोझ के कारण प्रजा उसके प्रति उदासीन हो गई। यहूदियों तथा इटालियन महाजनों को देशनिकाला देकर उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। इसी तरह पोप क्लेमेंट पंचम पर दबाव डालकर उसने नाइट टेम्पलर समुदाय को अपने नियंत्रण में ले लिया। बाद मे किसी-न-किसी बहाने इस वर्ग को इसकी विशाल सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया। राजतंत्र की इस बढ़ती हुई शक्ति की सामंतों में सहज प्रतिक्रिया हुई। बरगंडी, चम्पाग्ने और भरमेनदाइस

आदि क सामंतों ने संत लुई के समय के अपने विशेषाधिकारों को फिर मांगना शुरू किया। फिलिप चतुर्थ तो अपने शासनकाल में इन मांगों की उपेक्षा करता रहा, परन्तु उसके उत्तराधिकारी लुई दशम ने १३१४ से १३१६ के बीच इनमें से अधिकांश मांगों को राजकीय अधिकार-पत्रों द्वारा स्वीकार कर लिया। सन् १३१६ में लुई दशम की मृत्यु हो गई। कैपेसियनों के तीन सौ वर्षों के इतिहास में पहली बार कोई राजा पुत्रहीन मर गया। अतः लुई के भाई फिलिप को गद्दी पर बिठाया गया। अगले ही वर्ष उसकी भी मृत्यु हो गई। अब उसका भाई चार्ल्स चतुर्थ गद्दी पर बैठा। सन् १३२८ में चार्ल्स भी बिना कोई पुत्र छोड़े ही मर गया। इस तरह कैपेसियन वंश का अंत हो गया और भेलवाइस राजवंश की स्थापना हुई।

उत्तरकालीन कैपेसियन राजाओं की शक्ति में विस्तार के साथ-साथ धीरे-धीरे राजकीय संस्थानों का भी विकास हुआ। इस विकास का स्वरूप सांविधानिक था। फ्रांसीसी संविधान का प्रारम्भिक स्वरूप सामंतवादी था। राजा की शक्ति सामंतों की शक्ति द्वारा सीमित थी, परन्तु फिलिप ऑगस्टस के समय से राजा के सामंती अधिकारों की जगह राजकीय अधिकारों पर जोर दिया जाने लगा। अब राजाओं का आदर्श शार्लमन था न कि सामंतों के मुखापेक्षी उसके बाद के राजा। फिलिप ऑगस्ट ने बड़े सामंतों के विरुद्ध छोटे सामंतों एवं चर्च का सहयोग प्राप्त किया। उसे शहरों के नवीन धनी वर्ग से भी सहायता मिली। उसके पौत्र लुई नवाँ के समय तक फ्रांसीसी राजतंत्र का सामंती आधार प्रायः नष्ट हो गया। फिलिप ऑगस्टस के सामंत-विरोधी कार्यों की तुलना इंग्लैण्ड के विलियम द कंकरर के कार्यों से की जा सकती है। उसने राजा के सामंती अधिकारों की व्यापक जाँच कराई और उन्हें लिखित रूप दिया।

सामंतों की स्वतंत्रता और सामंती अराजकता को समाप्त करने के लिए स्थानीय शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया। प्रमुख स्थानीय पदाधिकारी को प्रिमोट कहते थे। प्रिमोटों की तुलना शार्लमन के मिसी डेमिनसी से की जा सकती है। फिलिप ऑगस्टस ने बेलिज और सेनेसाल्स नामक दो नवीन अधिकारी वर्गों की सृष्टि की। इंगलैंड के शेरीफ की तरह बेलिज राजकीय भूमि से कर वसूलने के अतिरिक्त स्थानीय न्यायाधीशों का भी काम करते थे। उन्हें राज्य की ओर से वेतन मिलता था। फिलिप द्वारा विजित दक्षिण फ्रांस के बड़े जिलों में बेलिज को सेनेसाल्स का नया नाम दिया गया था। बेलिज तथा सेनेसाल्स के ऊपर इंक्वीजीटर्स नामक पदाधिकारी थे।

सामंतों से राजा को काफी संख्या में सैनिक मिल जाते थे। राजाज्ञा द्वारा फिलिप ऑगस्टस ने सभी स्वतंत्र नागरिकों से सैनिक सेवा प्राप्त करने का प्रयास किया। राजा की शक्ति में वृद्धि के लिए नवोदित नगर काफी हद तक जिम्मेदार थे। नगरों ने सामंतों के विरुद्ध राजा का पक्ष लिया। राजाज्ञा द्वारा कई प्रकार की छूट मिलने के एवज में नगरों ने धन तथा सैनिकों से राजा की सहायता की। फिलिप ऑगस्टस के समय में पेरिस की समृद्धि में अभिवृद्धि हुई। राज्य के प्रायः सभी प्रमुख प्रशासनिक विभाग वहीं स्थित थे। नागरिक सुविधाओं में वृद्धि तथा पेरिस विश्वविद्यालय की वजह से पेरिस राज्य का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक केन्द्र वन चुका था। धर्मयुद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व फिलिप ने पेरिस के ही छह संभ्रांत जनों के हाथ में शासन-सूत्र सौंपा था। उसके समय में राजतंत्र की स्थिति इतनी मजबूत हो चुकी थी कि उसने अपने पुत्र का राजा के रूप में निर्वाचन कराना आवश्यक नहीं समझा। यह निश्चित था कि उसके वेटे को गद्दी सहज ही प्राप्त हो जायगी।

संत लुई का शासनकाल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। उस समय तक राज्य में प्राय: अपसी लोगों को अपनी मुद्रा चलाने का अधिकार प्राप्त था। लुई ने समूचे राज्य के लिए एकमात्र राजकीय मुद्रा का प्रचलन किया। खोटे सिक्कों का निर्माण बिल्कुल बंद कर दिया गया। बेलिज के वीच भ्रष्टाचार को रोकने के लिए घूसखोरी को दंडनीय घोषित किया गया। राजदरबार में अनेक प्रकार के लोग थे। इनमें से सर्वश्रेष्ठ लोगों को तीन भागों में बाँटा गया था। इन्हें क्रमशः कांउसिल प्रॉपर; ऑफिसर्स आफ द ट्रेजरी और पार्लमेंट द पेरिस कहा जाता था। कांउसिल प्रॉपर का काम कार्यपालिका का था। ट्रेजरी ऑफिसर्स के जिम्मे आमद-खर्च का कार्य था। पार्लमेंट राज्य की सर्वोच्च न्यायपालिका थी। इसकी स्थापना से राज्य की न्याय-व्यवस्था सरल हो गई और मुकदमों का फैसला भी शीघ्र होने लगा। रोमन न्याय-विधि के पठन-पाठन का परिणाम हुआ कि राजा को ही न्याय का सर्वोच्च स्रोत माना जाने लगा। अब नीचे की कचहरियों में फैसले से असंतुष्ट व्यक्ति राजा के पास फरियाद कर सकता था। लुई नवाँ सामंतों की सहमति के बिना ही समूचे राज्य के लिए राजाज्ञा निकालने लगा। जनहित को ध्यान में रखकर कुछ समय बाद वह स्वयं अपने नाम में कानून बनाने लगा। निजी युद्धों तथा शस्त्र-धारण के विरुद्ध उसकी आज्ञाओं की राज्य में तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

फिलिप चतुर्थ के समय में कुछ नवीन प्रशासनिक पदों की सृष्टि हुई।

नौकरशाही की शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में शासकीय कुशलता को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा । अब क्यूरिया रेजिस तथा राजकीय-परिषद का ग्रेट कांउसिल तथा सेकरेट कांउसिल के नाम से अलग-अलग विकास होने लगा । पहली सभा को अब यदा-कदा ही बुलाया जाता था, परंतु दूसरी सभा की बैठकें अब नियमित रूप से होने लगीं । कुछ इसी प्रकार की विशिष्टता अब **पार्लेंट द पेरिस** में भी देखी जा सकती थी । अब पादरियों के लिए इसमें कोई स्थान न रहा । जहाँ तक स्थानीय शासन का प्रश्न था, इसमें कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ । इसका उद्देश्य केवल किसी तरह से राजा के लिए धन जमा करना था । फिलिप चतुर्थ के ही समय में १३०२ में स्टेट्सजेनरल की प्रथम बैठक हुई । इसमें प्रायः सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व था । इस तरह इसका स्वरूप राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा का था । फ्रांसीसी क्रांति से पूर्व फ्रांस में ब्रिटिश पार्लियामेंट की समकक्ष संस्था केवल इसे ही माना जा सकता था । फिलिप ने अपने शासनकाल में तीन बार इसका आह्वान किया । इसमें बड़े सामंतों को भी स्थान मिला । फिलिप को पोप के विरुद्ध अपने संघर्ष में पूरे राष्ट्र के सहयोग की आवश्यकता थी । अतः उसने स्टेट्स-जेनरल को राष्ट्र का यथासंभव प्रतिनिधि रूप देने का प्रयास किया । यही कारण था कि इसमें नगरों के संभ्रांत वर्गों के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया गया ।

स्पेन :

आठवीं शताब्दी में जब मुसलमानों ने स्पेन पर आक्रमण किया, उन ईसाई राजाओं ने, जिन्हें मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार न था, ओस्टियस और कंटेब्रिया की पहाड़ियों में आश्रय लिया । इन बहादुर योद्धाओं ने न केवल इन पहाड़ी प्रदेशों को मुसलमानों से मुक्त रखा, बल्कि धीरे-धीरे आक्रमणकारियों को पीछे धकेल कर कुछ इलाकों और नगरों को भी मुक्त करा लिया । स्पेन को मुस्लिम आक्रमणकारियों से मुक्त कराने का काम चार्ल्स महान के समय में और आगे बढ़ा । उसने उत्तर-पूर्वी स्पेन में एब्रो तक के इलाके को मुसलमानों से छीन लिया और इस विजित प्रदेश को स्पेनिश मार्क का नाम दिया । स्वतंत्र तथा नव-विजित प्रदेशों में कई छोटे-मोटे ईसाई राज्यों की स्थापना हुई । इन राज्यों में कैस्टाइल और आरागोन के राज्य सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए । स्पेन के बाद के इतिहास में इन दोनों राज्यों का विशेष महत्त्व था । प्रारंभ में कैस्टाइल मुसलमानों से रक्षा के निमित्त किलों की एक पंक्ति मात्र था । इसी कारण से इसका ऐसा नाम भी पड़ा था ।

उपर्युक्त ईसाई राज्यों के राजागण कई शताब्दियों तक अपने मुसलमान

पड़ोसियों से लड़ते रहे। परन्तु वे प्रायः आपस में भी लड़ते थे और मिल-जुल कर मुसलमानों से अपने विजित प्रदेशों को मुक्त कराने में असमर्थ थे। काफी समय बाद जब १४६९ ई० में आरगाँन के शासक फर्डिनेंड का कैस्टाइल की राजकुमारी इजाबेल से विवाह हुआ तब इन दोनों राज्यों के आपस में विलयन का मार्ग प्रशस्त हो गया। वस्तुतः दस वर्ष बाद इन दोनों राज्यों ने आपस में मिलकर एक काफी बड़े राज्य का रूप ले लिया। इस विलयन से उनके पारस्परिक झगड़ों का अंत तो हुआ ही, वे अब स्पेन से मुसलमानों को निकाल बाहर करने का संयुक्त एवं सशक्त प्रयास भी कर सकते थे। ईसाई शासकों के निरंतर दबाव के कारण इस समय तक स्पेन स्थित मुसलमानी राज्य देश के दक्षिणी भाग तक ही सीमित रह गया था। परंतु इस सीमित क्षेत्र में भी मुसलमानों ने अपना एक शक्तिशाली, संगठित और उन्नत राज्य कायम कर लिया था। यह ग्रैनेडा के राज्य के नाम से विख्यात था। ग्रैनेडा का उर्वर प्रदेश मुसलमानों के परिश्रम के फलस्वरूप स्पेन का सर्वाधिक समृद्ध राज्य बन गया था। राजधानी को छोड़कर राज्य में सत्तर प्राचीरमय नगर थे। समृद्ध ग्रैनेडा नगर की आबादी प्रायः ढ़ाई लाख थी। फर्डिनेंण्ड और इजाबेल ने अपने राज्यों के आंतरिक मामलों को सुलझाने के तुरन्त बाद ग्रेनाडा विजय की ओर ध्यान दिया। मुसलमानों ने भी प्राणों की बाजी लगाकर अपने छोटे राज्य की रक्षा की। लड़ाई प्रायः दश वर्षों तक चलती रही। एक-एक कर मुस्लिम नगरों पर ईसाइयों का कब्जा होता गया। अन्त में १४९२ ई० में राजधानी ग्रैनेडा पर भी ईसाइयों का अधिकार हो गया। मुसलमानों को इस प्रदेश में रहने तो दिया गया, परन्तु उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। ग्रैनेडा का पतन पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इससे प्रायः आठ सौ वर्ष प्राचीन मुस्लिम शासन का स्पेन में अन्त हो गया। साथ-साथ पूर्वी यूरोप में और विशेषतः कुस्तुन्तुनियाँ में मुस्लिम शक्ति के विस्तार की पृष्ठभूमि तैयार हुई। दूसरी ओर, स्पेन की शक्ति में अब उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और यूरोप की राजनीति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। राजशक्ति मजबूत होती गई और सामंतों के विशेषाधिकारों का धीरे-धीरे अन्त हो गया। स्पेनिश-नगरों ने होली ब्रदरहुड के नाम से अपना संघ कायम किया था। इस संघ ने भी राजाओं से मिलकर सामंतों की शक्ति को घटाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सामंतों ने गैरकानूनी ढंग से जिस भूमि को हथिया लिया था, वह उनसे छीन ली गई। गैर-सामंतों को भी महत्त्वपूर्ण पद एवं उपाधि देकर सामंती परिवारों की प्रतिष्ठा एवं शक्ति को कम कर दिया गया। इन सभी बातों से राजतन्त्र की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। ईसाई जाँच न्यायालय की स्थापना

कर विधर्मिता पर नियंत्रण पाने की कोशिश की गई। इससे सबसे अधिक नुकसान यहूदियों का हुआ। सन् १४९२ ई० में प्रायः तीन लाख यहूदियों को स्पेन से निकाल बाहर किया गया। उसी वर्ष कोलम्बस को उसके प्रथम अभियान पर भेजा गया। फलस्वरूप नई दुनिया का पता लग सका। सन् १५०४ ई० में रानी इसाबेल और १५१६ ई० में फर्डिनेंड की मृत्यु हुई। अब सम्राट् चार्ल्स पंचम गद्दी पर बैठा। उसी के शासनकाल से स्पेन के आधुनिक इतिहास का आरम्भ हुआ।

जर्मनी :

सन् १२५४ से १२७३ ई० तक का समय मध्यकालीन जर्मनी के इतिहास में दो राजत्व का मध्यवर्ती काल कहा गया है। होहेनस्टौफेन वंश के पराभव के बाद राजा को बनने का अधिकार केवल सात प्रमुख सामंतों के हाथ में सीमित रह गया। इनसे चार गैर-धार्मिक सामंत तथा तीन धार्मिक सामंत थे। इन्हीं सात चुनावकर्त्ताओं का जर्मनी पर वास्तविक नियन्त्रण था। ये लोग राज-पद की खुलेआम बिक्री करने लगे। सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। बड़े सामंत अपने क्षेत्रों के तानाशाह बन गये। छोटे सामंत खुलेआम लूट-पाट करने लगे। राजशक्ति के ह्रास और व्याप्त अराजकता के फलस्वरूप समृद्ध नगरवासी भी अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने अपने संघ बनाये। इस तरह हेंसियाटीक लीग की शक्ति एवं प्रभाव में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। लगभग उसी समय जब कि हेंसियासिक लीग की स्थापना हुई, प्रसिद्ध रेनिश की भी स्थापना हुई। धीरे-धीरे इस लीग में सत्तर से भी अधिक नगर शामिल हो गये। नगरों की दो श्रेणियाँ थीं। पहला वर्ग उन नगरों का था जो किसी सामंत अथवा राजा पर निर्भर थे। ये सामंत अथवा राजा स्वयं सम्राट् पर निर्भर थे। दूसरे प्रकार के नगर वे थे जो सीधे सम्राट् के ही अधीन थे। इनमें सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में एक पदाधिकारी रहता था। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में धीरे-धीरे सम्राट् के प्रतिनिधि को वापस बुला लिया गया और ये साम्राजिक नगर प्राय; स्वतन्त्र हो गये। यद्यपि सैद्धांतिक रूप में ये अब भी सम्राट् के अधीन थे, परन्तु वस्तुतः इटली के नगर-राज्यों की तरह इनका स्वरूप छोटे-छोटे प्रजातन्त्र राज्यों का हो गया। प्रायः एक-डेढ़ सौ वर्ष बाद इन्हें जर्मन डायट अथवा राष्ट्रीय संसद में प्रतिनिधित्व भी प्राप्त हो गया। राष्ट्रीय संसद में इनके प्रतिनिधियों को एक साथ थर्ड कॉलेज कहा जाने लगा।

स्वीस संघ :

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में जर्मन के इतिहास की प्रमुख घटनाएँ

थीं—हैप्सवर्ग अथवा ऑस्ट्रीयन राजाओं के साथ स्वीस लोगों का संघर्ष, हुस्साईट धार्मिक आंदोलन तथा हैप्सवर्ग घराने की उत्तरोत्तर बढ़ती शक्ति। मध्यकालीन जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत वह क्षेत्र भी पड़ता था जिसे आज स्वीजरलैंड कहते हैं। स्वतन्त्र साम्राजिक नगरों की तरह यहाँ के स्वतन्त्रताप्रिय निवासी भी जर्मन सम्राट् की अधीनता केवल नाम मात्र को स्वीकार करते थे। परन्तु विभिन्न सामंतों की निरंतर बढ़ती माँगों से ये लोग हमेशा असन्तुष्ट रहते थे। इन सामंतों में हैप्सवर्ग के काउंट प्रमुख थे। हैप्सवर्गों के विरुद्ध १२९१ ई० में यूरी, स्वीज तथा उंटरवाल्डेन के कैंटनों ने आपस में मिलकर एक संघ की स्थापना की जिसे ऐवरलास्टिंग कौम्पैक्ट कहते थे। स्वीस-संघ की यहीं से शुरुआत हुई। इस संघ और हैप्हवर्ग घराने के बीच दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। इस संघर्ष की कथा अत्यन्त रोचक है। देशभक्ति विलियम टेल तथा आततायी गेस्सलर का चरित्र तो किसी महाकाव्य के नायक की तरह था। बहादुर स्वीस लोगों ने १३१५ ई० में मौरगार्टेन की लड़ाई में ऑस्ट्रिया के शासक लियोपोल्ड को पराजित किया। अब लूसर्न, जूरिच और वर्न के कैंटन भी स्वीस-संघ में शामिल हो गये। सत्तर वर्ष बाद १३८६ ई० में लियोपोल्ड का एक वंशज स्वीस लोगों द्वारा सेम्पक की प्रसिद्ध लड़ाई में पराजित हुआ। मध्ययुग के अन्तिम वर्षों में सन् १४९९ में हैप्सवर्ग सम्राट मैक्समिलन स्वीस-संघ द्वारा पराजित हुआ। अब स्वीस-संघ पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो गया और यूरोप के स्वतन्त्र राज्यों में इसकी परिगणना होने लगी। १६४८ ई० में वेस्टफेलिया की संधि द्वारा इसकी पृथक् सत्ता को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। हैप्सवर्गों के विरुद्ध लम्बे संघर्ष के फलस्वरूप स्वीस जाति एक वीर एवं युद्धप्रिय जाति में परिणत हो गयी। आगे चलकर जब स्वीजरलैंड में युद्धों की आवश्यकता नहीं रह गयी तब स्वीस जाति के लोग भाड़े के सैनिकों के रूप में यूरोप के विभिन्न शासकों द्वारा नियुक्त किये जाने लगे। यह इतिहास की एक विडंबना है कि स्वतन्त्रताप्रिय स्वीस जाति के लोग योरोपीय तानाशाहों के सैनिक समर्थक बन गये।

रूस :

नवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध स्कैंडिनेवियन सरदार रूरिक ने कीभ और नोभगोराड पर कब्जा कर लिया। विजय तथा आपस में हमेशा लड़ने-भिड़ने वाली स्लाव जाति के झगड़ों का लाभ उठाकर रूरिक ने ८६२ ई० में रूस के प्रथम राजवंश की स्थापना की। उसके तथा उसके वंशधरों द्वारा स्थापित यह राज्य आगे चलकर जारों के विशाल साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। स्कैंडिनेवियन रोस जाति

के नाम पर इन नवीन देश का नाम रूस हुआ। धीरे-धीरे नॉर्स आक्रमणकारी पूर्णरूपेण स्लाव संस्कृति में रंग गये। उनकी भाषा, बोली, अचार-विचार तथा रुचि, सब कुछ विजित स्लावों द्वारा प्रभावित हुई। रूरिक के उत्तराधिकारियों ने धीरे-धीरे आसपास के स्लाव कबीलों को अपने अधीन कर लिया। इस तरह उत्तर पश्चिम की सभी स्लाव जातियां इस नवीन राज्य में शामिल हो गईं।

परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक रूसी राज्य की एकता प्रायः पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। राज्य में परस्पर विरोधी, ईर्ष्याग्रस्त और युद्धक सरकारों की प्रधानता थी जिनमें कीभ का शासक नाममात्र का प्रधान अधिपति था। इस तरह तेरहवीं शताब्दी में रूस पर मंगोल आक्रमणों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। जिस समय पश्चिम एशिया में सेलजक तुर्कों की शक्ति का ह्रास हो रहा था, मध्य-पूर्वी एशिया के मंगोल एक नवीन साम्राज्य की स्थापना कर रहे थे। उनके प्रथम प्रसिद्ध सरदार तेमुचीन ने चंगेज खां का विरुद्ध धारण किया था। चंगेज ने अपनी शक्ति द्वारा एशिया के बहुत बड़े भाग को आक्रांत किया। चीन की बड़ी दीवार को पारकर उसने उत्तरी चीन को जीत लिया। तदुपरांत पश्चिम की ओर उसने तुर्किस्तान एवं पर्सिया पर कब्जा किया। नगरों, बस्तियों को नष्ट करता हुआ वह रूस में नीपर तक जा पहूँचा। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी ओकताई ने रूस, पोलैंड तथा हंगरी के अधिकांश भाग को लूटा। मास्को, कीभ तथा पेस्थ के नगर प्रायः नष्ट कर दिये गये। सन् १२३८-१२४१ तक यूरोप का लगभग आधा भाग मगोलों द्वारा ध्वस्त किया गया। शेष यूरोप के शासकों ने भी इन आक्रमणकारियों को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। ओकताई के एक उत्तराधिकारी कुबलाई खाँ (१२५९-१२९४) ने प्रायः पूरे .रूस पर कब्जा कर लिया। इस तरह प्रायः ढाई सौ वर्षों तक रूसी शासकों पर मंगोलों का आधिपत्य बना रहा। रूस के इतिहास का यह अंधकारपूर्ण युग था। इससे कई शताब्दियों तक स्लाव जाति का राजनीतिक एकीकरण रुका रहा।

परन्तु तातार आधिपत्य के इस युग में भी रूस में मास्कोभा राज्य की प्रधानता बनी रही। सन् १४७० में मास्को के शासक ने नोमगोराड पर कब्जा कर लिया। इस शक्तिशाली राज्य ने तातारों को मार भगाया। इमान महान (१४६२-१५०५) ने रूस को तातारों से मुक्त किया। इमान ने ही सर्वप्रथम सम्पूर्ण रूस के जार का विरुद्ध धारण किया। उसने रूस के कानूनों में सुधार किये और वहाँ के निवासियों को पश्चिमी यूरोप के अधिक सुसंस्कृति लोगों की सभ्यता एवं संस्कृति से अवगत

कराने का प्रयास किया। अंतिम बैजन्टाइन सम्राट की एक भतीजी से विवाह होने के कारण वह ग्रीक सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क में आया। पंद्रहवीं शताब्दी में ओटोमन शक्ति के विस्तार के कारण स्वदेश से भागे हुए अनेक ग्रीक विद्वानों ने मास्को में शरण लेकर उसके बौद्धिक जीवन को उन्नत बनाया। इस तरह मध्ययुग के अन्त होने तक रूस सचमुच एक महान देश बन चुका था, यद्यपि चारों ओर से शत्रुओं से घिरे होने के कारण यूरोप की राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव डालना उसके लिए संभव न था। तातारों ने उसके लिए कैस्पियन सागर तक पहुँचने का मार्ग बन्द कर रखा था। स्वीडनी तथा अन्य लोगों ने उसे बाल्टिक सागर तक नहीं पहुँचने दिया था। जर्मनी की ओर उसके विस्तार को लिथुआनियन और पोल लोगों ने रोक रखा था। फिर भी, रूस की भावी महानता के सभी लक्षण उसी समय दृष्टिगत होने लगे थे।

उपर्युक्त सभी देशों के ठीक विरुद्ध (केवल जर्मनी को छोड़कर) इटली में मध्य युग का अंत विघटनकारी प्रवृत्तियों के साथ हुआ। वहां किसी राष्ट्रीय अथवा स्थायी सरकार की स्थापना न हो सकी। इसके कई कारण थे। परन्तु प्रमुख कारण था पोपों एवं सम्राटों का संघर्ष जिसने इटली के लोगों को दो परस्पर विरोधी दलों में बाँट दिया था। इन विरोधी दलों को गुएल्फ तथा गिबेलाइन कहा जाता था। फिर भी, कुछ देशभक्त इटली के नगरों एवं विभिन्न राज्यों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास करते ही रहे थे। सन् ११४३ में महान एबेलार्ड के शिष्य ब्रेसिया के आरनल्ड ने रोम में एक क्रान्ति का नेतृत्व किया था। वह पादरियों से उनकी सम्पत्ति और राजनीतिक शक्ति छीन लेना चाहता था। पोप के राजनीतिक नियंत्रण से रोम को मुक्त कर वह उसे साम्राज्य का केन्द्र बनाना चाहता था। परन्तु यह आन्दोलन असफल रहा। आरनल्ड की हत्या कर उसकी लाश को जला दिया गया जिसमें कि लोग इसे उसकी स्मृति के चिह्न के रूप में न रख सकें। दो सौ वर्ष बाद एक अन्य आन्दोलन का नेतृत्व निकोला डी रिन्जी ने किया। चौदहवीं सदी के अधिकांश भाग में पोप का निवास अभिगनोन में था। अतः अपने प्राकृत रक्षक की अनुपस्थिति में रोम में अराजकता फैली हुई थी। प्रमुख सामंत रोम के आस-पास के इलाकों को तबाह कर रहे थे और स्वयं रोम की सड़कों पर भी इनके पारस्परिक झगड़ों के कारण हमेशा अशांति बनी रहती थी। राजधानी के विभिन्न भागों में सहस्त्र सैनिकों द्वारा रक्षित प्रमुख सामंतों के निवासस्थान थे। प्राचीन स्मारकों का उपयोग गढ़ों के रूप में किया जा रहा था। अतः इन स्मारकों को बर्बर

आक्रमणकारियों से भी अधिक क्षति इन मध्ययुगीन सामंतों की पारस्परिक लड़ाइयों से हुई। सौभाग्यवश रोमवासियों को इस अराजकता से मुक्त करने का भार निकोला डी रिन्जी ने उठाया। उसका जन्म एक निम्नवर्गीय सामान्य परिवार में हुआ था। प्राचीन रोम की महानता का वह पुजारी था। उसने रोम को तत्कालीन अराजकता से मुक्त करने का निश्चय किया। वह यूरोप में रोम की प्राचीन प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करना चाहता था। वह कुशल वक्ता था। उसने जनता को सामंतों के कुशासन के विरुद्ध भड़काया। जनता की सहायता से उसने एक नई सरकार की स्थापना की और स्वयं ट्रिब्यून का पद ग्रहण किया। ट्रिब्यून की हैसियत से उसके अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। उसने सामंतों को नई सरकार की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। साथ-साथ रोम और उसके आस-पास के इलाके में अमन-चैन की स्थापना की गई। ऐसा लगता था कि रोमन प्रजातन्त्रकाल के श्रेष्ठतम युग की पुनस्थापना हो गई हो। रोमनों के उत्साह की कोई सीमा नहीं थी। इस आन्दोलन की असाधारण सफलता ने सम्पूर्ण इटली का ध्यान आकर्षित किया। इटली के बाहर भी इसका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा ही। अपनी प्रारम्भिक सफलता से उत्साहित होकर रिन्जी ने इटली के सभी राज्यों को मिलाकर एक प्रजातन्त्र की स्थापना करने का विचार किया। उसने विभिन्न राज्यों के शासकों के पास अपने दूत भेजे। इन दूतों ने इटली की एकता और स्वतंत्रता पर बल दिया। रिन्जी की तरह कुछ अन्य देशभक्त भी थे जो इटली की एकता का स्वप्न देखा करते थे। इनमें एक कवि पेत्रांक भी शामिल था। परन्तु इटली के एकीकरण का समय अभी तक नहीं आया था। परस्पर-विरोधी दलों एवं वर्गों का स्वार्थ तो था ही, साथ-साथ उचित नेतृत्व का भी अभाव था। रिन्जी अपनी आकस्मिक एवं अप्रत्याशित सफलता से घमंडी हो गया। उसने अपना राज्याभिषेक कराया और 'रोम का उद्धारक, इटली का संरक्षक, मानवता, स्वतन्त्रा, शांति तथा न्याय का मित्र" आदि विरुद्ध धारण किया। उसकी गलतियों के दुष्परिणाम शीघ्र ही दिखाई पड़ने लगे। जनता ने उसके प्रति अपना समर्थन वापस ले लिया। पोप ने उसे विद्रोही और धर्मविरोधी कहकर जाति-बहिष्कृत कर दिया। सामंतों ने भी विद्रोह किया। अपना पद त्याग कर रिन्जी को भागना पड़ा। छह वर्षों तक रोम से बाहर रहने के बाद उसने पोप से माफी माँग ली। पोप ने उसे सिनेटर की उपाधि देकर वापस भेज दिया, परन्तु कुछ ही मास शासन करने के बाद १३५४ ई० में विद्रोही जनता द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। इस तरह रिन्जी तथा पेत्रांक के स्वप्न अधूरे रह गये। कई शताब्दियों तक इटली का इतिहास विघटन, विदेशी शासन तथा व्यापक युद्धों का इतिहास रहा।

तब कहीं जाकर रोम को केन्द्र बनाकर एक स्वतन्त्र, सुव्यवस्थित एवं एकीकृत इटली की स्थापना हो सकी।

उत्तर राज्य :

नवीं और दसवीं शताब्दी में स्कैंडिनेवियन जातियों के दक्षिण की ओर फैल जाने के कारण बहुत दिनों तक डेनमार्क, नारवे और स्वीडन का यूरोप के मध्य-कालीन इतिहास में विशेष महत्त्व नहीं था। उनके शासकों और सामंतों में निरंतर चलते रहने वाले संघर्ष के कारण भी उनमें बराबर आंतरिक अराजकता बनी रही जर्मन व्यापारियों की उपस्थिति के कारण डेनमार्क और स्वीडन में मध्य वर्ग का विकास बहुत बाद में हुआ। नारवे में तो यह और भी बाद में हुआ। जर्मनी से सामंत-वाद का प्रसार डेनमार्क में और वहाँ से नारवे और स्वीडन में हुआ। स्कैंडिनेविया के अधिकांश राजागण जर्मन शासकों में चुने जाते रहे। जर्मन होल्सटीन के शासकों ने डेन श्लेसविग पर कब्जा कर लिया। स्कैंडिनेविया में सामंतों की बढ़ती शक्ति के कारण वहाँ के राजा कमजोर पड़ गये। सामंती प्रभाव के कारण डेन कृषक वर्ग की स्वतन्त्रता और समृद्धि का भी हनन हुआ।

स्कैंडिनेवियन सामंतों में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। इससे लाभ उठाकर १३५९ ई० में रानी मारग्रेट ने डेनमार्क, नारवे और स्वीडन मिलाकर कालमार संघ की स्थापना की। यह संघ प्रायः सौ वर्षों तक बना रहा। संघ में प्रधानता डेनमार्क की ही थी। नारवे डेनमार्क का पराधीन राज्य बनकर रह गया। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक स्वीडन की भी प्रायः यही स्थिति रही। फिर भी, कालमार संघ की स्थापना का एक स्पष्ट लाभ तो अवश्य हुआ कि स्कैंडिनेवियन चर्च इंगलिश और जर्मन चर्च के नियन्त्रण से मुक्त हो गया। डेनमार्क जर्मन साम्राज्य से अलग हो गया। स्वीडन एवं डेनमार्क में पृथक विश्वविद्यालयों की स्थापना से राष्ट्रीय संस्कृति की आधारशिला पड़ी। उत्तर-मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में इन उत्तरी राज्यों का कोई विशेष उल्लेखनीय महत्त्व नहीं था। परन्तु आगे चलकर स्वीडन की राजशक्ति का तीव्र गति से विकास हुआ। योरोपीय मामलों में इस देश का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया।

स्लाव जाति के जो लोग छठी एवं सातवीं शताब्दी में बाल्कन प्रदेश में बस गये थे, उनमें बुलगार लोगों ने अपनी स्पष्ट स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना कर ली थी। आगे जब ओटोमन तुर्क यूरोप में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे थे, रूमानियनों ने

मोलडेविया तथा वलासिया में अपने को शक्तिशाली राज्यों के रूप में संगठित कर लिया था। बारहवीं शताब्दी के अंत में बुलगारों ने एसेनिद राजवंश के अधीन एक दूसरे बुलगार राज्य की स्थापना कर ली थी। स्टीफन नेमानिया ने बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्यकालीन सर्वियन राज्य की स्थापना की। इस सर्व राज्य की स्थापना से बाल्कन प्रदेश में शक्ति-संतुलन में अंतर पड़ गया। नेमानिया राजवंश १३७१ ई० तक कायम रहा। यहीं से स्वतन्त्र सर्व राज्य की शुरूआत होती है। स्टीफन के पुत्र ने सम्पूर्ण सर्विया का राजत्व ग्रहण किया। चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्टीफन दुशन ने सर्विया राज्य का सर्वाधिक विस्तार किया। उसने अलबानिया के अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया। थेसाली और एपिरस पर भी उसका अधिकार हो गया। मेसिडोनिया-विजय का कार्य भी उसी के समय में शुरू हुआ। बाल्कन प्रदेश में डेन्यूब से एइजियन तक का प्रदेश सर्वों के कब्जे में आ गया। दुशन कान्स्टेण्टीनोपुल पर कब्जा कर बैजन्टाइन साम्राज्य का भी अंत करना चाहता था। परन्तु उसकी मृत्यु से पहले ही तुर्क यूरोप में प्रवेश कर चुके थे और सर्वों से उनके युद्ध के पहले ही दुशन के साम्राज्य और नेमानिया राजवंश का अंत हो चुका था।

अध्याय १२

धर्मयुद्ध (क्रुसेड्स)

धर्मयुद्ध की परिभाषा :—

ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक से तेरहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोप के योद्धाओं और सामान्य जन द्वारा फिलस्तीन स्थित ईसाई धार्मिक स्थानों को मुसलमानों के नियंत्रण से मुक्त करने तथा पूर्व में लैटिन राज्य को बनाए रखने के लिए जो सैनिक अभियान किए गए, उन्हें धर्मयुद्ध की संज्ञा दी गई है । ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मयुद्ध पूर्व और पश्चिम के बीच चलने वाले लम्बे संघर्ष की एक कड़ी मात्र थे। इस संघर्ष का आरम्भ यूनानियों और परसियनों के युद्ध से हुआ था। पूर्व-मध्यकाल में इस संघर्ष ने कैरोलिंगियनों तथा मूरो के बीच युद्ध का रूप ग्रहण किया जिसमें ७३२ ई० में टूर्स की लड़ाई में मूरों की पराजय हुई। १९ वीं और २० वीं शताब्दी में ओटोमन-यूरोपियन संघर्ष को भी इसी परिप्रेक्ष में देखा जा सकता है। पूर्व और पश्चिम के इस युगयुगीन संघर्ष का संभवत: आज भी अंत नहीं हुआ है। धार्मिक दृष्टि से धर्मयुद्ध दो विश्व धर्मों—ईसाइयत और इस्लाम के लम्बे संघर्ष की अंतिम परिणति थे। परन्तु, क्रुसेड्स' शब्द का मध्य-युग में कहीं भी उपयोग नहीं हुआ है। यह तो आधुनिक शब्द है। उस समय लोग 'जेरूसलम का मार्ग,' 'समुद्रयात्रा।' 'यात्रा तथा तीर्थाटन' आदी शब्दों का उपयोगकरते थे। तीर्थाटन शब्द ही अधिक प्रचलित था। वस्तुत: धर्मयुद्धों की गाथा का आरम्भ पोप अरबन द्वितीय की नॉट्रडेम की यात्रा से ही शुरू हुआ था।

धर्मयुद्ध से सम्बद्ध आठ अभियान विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम चार प्रमुख धर्मयुद्ध थे। शेष चार सामान्य महत्त्व के थे । परन्तु इन आठ के अतिरिक्त भी अनेक मामूली अभियान हुए। जिनका विशेष महत्त्व नहीं था। ऐसे अभियानों में स्पेन में मूरों के विरुद्ध लड़ाइयों, फ्रांस में एलबिजेन्सेस के विरुद्ध धर्मयुद्ध और बाल्टिक तट के विधर्मी स्लावों के विरुद्ध संघर्ष का उल्लेख किया जा सकता है। मुसलमानों के विरुद्ध होने वाले धर्मयुद्ध कालान्तर में यूरोप में ही लौट आए और पोप लोग इनका उपयोग अपने विरोधियों के उत्पीड़न के लिए करने लगे। स्वभावत: जब यूरोप में जनमत पोपतंत्र के खिलाफ होने लगा तब पोपों द्वारा प्रेरित धर्मयुद्धों का स्वत: अंत हो गया।

धर्मयुद्ध के कारण :—

धर्मयुद्ध का प्रथम और संभवतः प्रमुख कारण राजनीतिक औचित्य तथा धार्मिक संवेदनशीलता का विचित्र संयोग ही था। सन् १०२५ ई० में बेसिल द्वितीय की मृत्यु बैजन्टाइन साम्राज्य के इतिहास की एक दुःखद घटना थी। उसकी मृत्यु के बाद सत्तावन वर्षों तक बैजन्टाइन साम्राज्य कमजोर शासन, गृह-युद्ध और सैनिक पराभव से ग्रस्त रहा। परिणामस्वरूप, नारमनों ने दक्षिण इटली का साम्राज्य से छीन लिया। इससे बड़ी बात यह हुई कि सेलजुक तुर्कों ने बैजन्टाइन सेना को पराजित किया। सेलजुक तुर्क एक दल से बढ़कर एक कबीला और कबीला से बढ़कर एक राष्ट्र के रूप में परिणत हुए थे। तुगरिल बेग के उत्तराधिकारी ने सीरिया और जेरुसलम पर अधिकार कर लिया था और अगस्त १०७१ ई० में आरमेनिया स्थित मेंजीकर्ट की लड़ाई में उसने बैजन्टाइन सेना के प्रमुख भाग को पराजित कर सम्राट रोमनुस डायोजेनेस को बंदी बना लिया। इस पराजय ने बैजन्टाइन साम्राज्य की कमर तो तोड़ ही दी, साथ ही, पश्चिमी फिलिस्तीन जाने वाले योरोपीय ईसाई तीर्थयात्रियों के उत्पीड़न के युग का भी आरम्भ हुआ। परन्तु १०९८ ई० तक सेलजुक साम्राज्य का अन्त हो गया और जिस तरह १०३४ ई० के बाद कारडोवा के खिलाफत के पराभव के बाद स्पेनी धर्मयुद्धों का आरम्भ हुआ था, उसी तरह सेलजुक शक्ति की समाप्ति के बाद पश्चिमी फिलिस्तीन पर ईसाई धर्मयोद्धाओं के आक्रमण होने लगे। बैजन्टाइन सम्राट एलेक्सियस कोमेनुस अकेला मुसलमानों से लोहा लेने में असमर्थ था। अतः उसने पहले योरोपीय सामंतों और राजाओं से और बाद में १०९५ में पोप अरबन द्वितीय से सहायता की याचना की। अब इस्लाम के विरुद्ध पश्चिम की जगह पूर्व की ओर ईसाई धर्मयुद्धों का रुख बदल गया। ग्रिगोरी सप्तम की तरह अरबन द्वितीय भी भिक्षु और राजनीतिज्ञ, दोनो साथ-साथ था। राजाओं और सामंतों पर हुक्म चलाने का यह सुअवसर वह अपने हाथ से निकलने देना नहीं चाहता था। साथ-साथ, वह यह भी समझता था कि पूर्व में उसकी सफलता से पश्चिम में पदप्रतिष्ठापन के संघर्ष में भी उसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त हो सकता था।

उपर्युक्त राजनीतिक उद्देश्यों के साथ फिलिस्तीन के प्रति ईसाइयों की धार्मिक भावना भी जुड़ी हुई थी। रोमन साम्राज्य के उस भाग में जिस दिन ईसाई मत का प्रचार हुआ उसी दिन से पश्चिमी यूरोप के ईसाई तीर्थ-यात्री पवित्र स्थानों के दर्शनार्थ आने लगे। शुरू में थोड़े-से ही लोग आ पाते थे, परन्तु धीरे-धीरे तीर्थ-यात्रियों की संख्या बढ़ने लगी और ग्यारहवीं शताब्दी मे तो लोग हजार-हजार की

संख्या में आने लगे। प्रारम्भ में तो मुसलमानों ने इसे प्रोत्साहित ही किया, क्योंकि तीर्थयात्री उन्हें धन और पैसे देते थे। इसके बदले में वे जोर्डन नदी में डुबकी लगा लेना, एक ताल-पत्र प्राप्त कर लेना अथवा किसी देव-स्थान का दर्शन कर लेना ही अपना अहोभाग्य समझते थे। स्पष्ट है कि इन पर मुसलमानों का एक पैसा भी खर्च नहीं होता था और बदले में बहुत कुछ मिल ही जाता था। परन्तु सेल्जुक शक्ति के उत्थान के साथ ही स्थिति एकदम बदल गई। अब तीर्थयात्रियों का कदम-कदम पर अपमान और उत्पीड़न होता था। फिलिस्तीन जाते हुए तीर्थयात्रियों में से अनेक के पकड़े जाने, बंदी बना लिए जाने तथा कष्ट दिए जाने की कई कहानियाँ सर्वविदित हैं, परन्तु सर्वाधिक प्रसिद्ध कथा वेमवर्ग के बिशप गुंथर की तीर्थयात्रा का है। गुंथर और उसके साथ जानेवाले तीर्थ-यात्री जब प्रायः जेरुसलम पहुँच चुके थे, उनपर लगातार तीन दिनों तक मुसलमान लुटेरों के हमले होते रहे। अतः अब फिलिस्तीन से लौटने वाले तीर्थयात्री पुण्यभूमि के आश्चर्यों के साथ-साथ अपनी चिंताओं और कष्टों का भी उल्लेख करते थे। शार्लमन और खलीफा हारुण-अल-रशीद के बीच हुए समझौतों का साफ-साफ उल्लंघन हो रहा था। सन् १००९ में कैरो के खलीफा हकीम की आज्ञा से ईसा की पवित्र समाधि को ध्वस्त कर दिया गया था और ईसाइयों एवं यहूदियों को सर्वत्र कत्ल किया जा रहा था। यरुसलम के ईसाई प्रायः बंदी जीवन व्यतीत कर रहे थे उनपर कई प्रकार के कर लगे हुए थे। चुंगी और बेगार उन्हें अलग से देनी पड़ती थी। वे अपने धार्मिक उत्सव नहीं मना सकते थे। घरों के भीतर भी उन्हें शांति नहीं मिलती थी क्योंकि खिड़कियों से उनपर कूड़ा-कचड़ा, गोबर, कीचड़ और सब प्रकार की गंदगी उछाली जाती थी। मुसलमानों के खिलाफ कुछ भी बोलने से ईसाईयों को वंदी बना लिया जाता था और उनके हाथ-पैर काट लिए जाते थे। कभी-कभी उन्हें कत्ल करके खलीफा द्वारा उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। प्रायः ईसाई लड़कियों और युवकों को जबरन मुसलमान बना लिया जाता था। फिलिस्तीन निवासी ईसाइयों पर होने वाले अत्याचारों, ईसाई गिरजाघरों के नष्ट किए जाने अथवा अपवित्र किए जाने के समाचार जब यूरोप पहुँचने लगे तो वहाँ लोगों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। वहाँ के ईसाई यरुसलम की नियति के प्रति ठीक उसी तरह उदासीन नहीं रह सकते थे जैसे मुसलमानों के लिए मक्का के भाग्य के प्रति उदासीन रहना संभव नहीं था। यदि अबतक पुण्यभूमि की यात्रा करना सत्कार्य था तो अब उसे मुसलमानों से मुक्त कराना अधिक पुण्य का कार्य समझा जाने लगा। इस तरह के विश्वास ने अब तीर्थयात्रियों को धर्मयोद्धाओं में बदल दिया। इस तरह प्रारंभिक धर्मयुद्ध तीर्थयात्रा

तथा धर्म-युद्ध के मिले-जुले रूप थे। धार्मिक भावावेश के अतिरिक्त धर्मयोद्धाओं को स्वदेश में कई प्रकार की कानूनी, आर्थिक और सामाजिक सुविधाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती थीं। जो राजा तथा सामंत इनमें भाग लेते थे उन्हें प्रसिद्धि तथा समृद्धि दोनों की प्राप्ति की संभावना रहती थी। दूसरे शब्दों में, धर्मयुद्ध यूरोप के आर्थिक एवं राजनीतिक विस्तार की एक कड़ी थे और उन्हें पश्चिमी साम्राज्यवाद के इतिहास का मध्यकालीन अध्याय कहा जा सकता है।

धर्मयुद्धों का दूसरा कारण चर्च में युद्धक प्रवृत्ति का विकास था। सेलजुक तुर्कों द्वारा किए गए अत्याचारों, तीर्थयात्रियों के अपमान और उत्पीड़न के बावजूद ईसाई तीर्थयात्री धर्म-योद्धाओं में शायद परिवर्तित नहीं होते यदि कुछ शताब्दियों से स्वयं चर्च में अभूतपूर्व परिवर्तन न आ गया होता। ग्यारहवीं शताब्दी तक चर्च का दृष्टिकोण पूर्णरूपेण सामरिक हो गया था। ईसाई मत के संस्थापक ने तलवार को म्यान में रखने की सलाह दी थी, परन्तु अब पोप ईसाई मत की रक्षा के लिए शस्त्र-ग्रहण करने का उपदेश दे रहे थे। चर्च के दृष्टिकोण में यह असाधारण परिवर्तन इसलिए हुआ था कि बर्बर जातीयों के ईसाई मत में शामिल कर लेने से उनकी सामरिकता भी ईसाई मतावलम्बियों में प्रविष्ट हो गई। धर्मपरिवर्तन पर ईसाई समुदाय में शामिल होने वाले ये नये लोग अपनी युद्धक प्रवृत्ति भी अपने साथ लेते आए। पुनः, नये धर्म में अपनी पूर्ण आस्था का प्रदर्शन ये लोग युद्ध की अग्नि-परीक्षा में सफल होकर करना चाहते थे। साथ ही साथ, सामंती नाइट का शूरधर्म अब चर्च के शूरधर्म में परिवर्तित हो चुका था। गत तीन सौ वर्षों से इस्लाम के साथ विरोधी सम्पर्क के कारण भी चर्च में युद्धक प्रवृत्ति का प्रवेश हो गया था। चर्च के प्रधान के रूप में, इस्लाम से होने वाले हमलों से चर्च को बचाना पोप का धार्मिक कर्तव्य था। वस्तुतः ईसाइयत के विरुद्ध इस्लाम की प्रत्येक सफलता के अनुपात में ही पोपतंत्र प्रभाव एवं शक्ति में कमी की संभावना थी। इस्लाम के विरुद्ध मामूली सफलता से ही पोपतंत्र के प्रति लोगों की आस्था बनाए रखना संभव नहीं था। इसलिए भी ईसाइयों के पवित्र स्थानों को मुसलमानों से मुक्त कराना पोपतंत्र के लिए आवश्यक था। धर्मयुद्धों में पोपतंत्र का सीधा राजनीतिक स्वार्थ तो निहित था ही, विश्वव्यापी चर्च की कल्पना को साकार करने के लिए भी इस्लाम से लोहा लेना पोपों के लिए जरूरी था। नवीं और दसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वयं रोम के लिए मुस्लिम आक्रमणकारियों से खतरा था अतः ग्रिगोरी चतुर्थ (८२७-८४४), लियो चतुर्थ (८४७-८५५), जॉन आठवाँ (८७२-८८२) और जॉन दसवाँ (९१४-९२८) ने मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध में सक्रिय भाग लिया था। बेनेडिक्ट आठवाँ (१०१२-१०२४) ने १०१५-१०१६

में सार्डिनिया के मुस्लिम विजेताओं के विरुद्ध अभियानों को पूरी-पूरी सहायता दी थी। ग्रिगोरी सप्तम (१०७३-१०८५) ने बैजन्टाइन साम्राज्य का पक्ष लेकर भविष्य में इसी उद्देश्य से प्रेरित महान अभियानों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। सन १०८७ में महदिया के विरुद्ध सैनिक अभियान को विक्टर तृतीय का आशीर्वाद प्राप्त था। धार्मिक मामलों में ग्रिगोरी सप्तम के समय से ही पोप अपने को सर्वश्रेष्ट मानते थे। स्वभावना इस्लाम के विरुद्ध किसी भी सम्मिलित प्रयास का नेतृत्व पोप के हाथ में निहित था। पोप ईसाई जगत की एकता का प्रतीक था, अतः उसके द्वारा किए गए प्रयास को सर्वाधिक समर्थन प्राप्त होने की संभावना अधिक थी। धर्म-योद्धाओं के यूरोप से बाहर रहते हुए स्वदेश में "ईश्वरीय शांति" को बनाए रखने का कार्य पोप ही सबसे अच्छी तरह कर सकता था अतः धर्मयुद्धों को चलाते रहने में पोप की सत्ता का निःसंदेह बहुत बड़ा प्रभाव था ग्यारहवीं शताब्दी में ही चर्च द्वारा प्रतिपादित "ईश्वरीय शांति" के सिद्धान्त का भी धर्मयुद्धों से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध था। सामंतों के परस्पर झगड़ों से यूरोप में सदैव अशांति बनी रहती थी। हफ्ते में चार दिन और फलतः साल में छह महीने "ईश्वरीय शांति" बनाए रखने के चर्च के आदेश से भी जब शांति-स्थापना में विशेष सहायता नहीं मिली तो चर्च ने सामंती युद्धप्रियता का इस्लाम के विरुद्ध धर्मयुद्धों के रूप में उपयोग करने का प्रयास किया।

उपर्युक्त कारणों के साथ-साथ नारमन जाति की चपलता तथा धर्मयुद्धों के प्रति निष्ठा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। ग्यारहवीं शताब्दी में नारमन नाइट स्पेन, अफ्रीका और अन्य मुस्लिम प्रदेशों पर लगातार हमले कर रहे थे। सम्पूर्ण पश्चिमी ईसाई जगत पर उनकी चंचलता और युद्धक प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा। इस तरह उन्होंने धर्मयुद्धों के लिए मार्ग प्रशस्त करने में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया।

धर्मयुद्ध के पीछे एक सामंती कारण भी निहित था। सामंती शब्दावली में 'फिफ' का अर्थ था वह भूमि जिसपर व्यक्ति रहता हो, जिससे भरण-पोषण होता हो और जिसमें कुछ विशिष्ट अधिकार हों। प्रत्येक ईसाई फिलिस्तीन को सम्पूर्ण ईसाई जगत का सम्मिलित 'फिफ' समझता था। यही कारण था कि साम्राज्य की स्थापना के तत्काल बाद से ही शार्लमन फिलिस्तीन में रुचि लेने लगा था। कोई भी ईसाई फिलिस्तीन की पुण्यभूमि के ईसाइयों के हाथ से हमेशा के लिए निकल जाने की बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था। यही कारण था कि मुसलमानों के व्यवहार के कारण जब ईसाई तीर्थयात्रियों को फिलिस्तीन जाना कठिन हो गया तब पोप ने

सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता के रूप में सम्पूर्ण ईसाई जगत से क्रिश्चियन के 'किफ' को फिर से जीतने का आह्वान किया। यही वह प्रेरणा स्रोत था जिससे प्रथम धर्मयुद्ध का जन्म हुआ और सम्पूर्ण सामंती जगत क्रियाशील हो उठा। पोप और गोडफ्री जैसे व्यक्तियों के दिमाग में एक बात स्पष्ट थी—जेरुसलम को एक बार पुनः ईसाई अवश्य बनाया जाना चाहिए। तेरहवीं शताब्दी तक धर्मयुद्धों का स्वरूप एक योरोपीय संस्थाव का हो गया। मध्यकालीन सभ्यता के अनेक पक्षों की तरह उनका स्वरूप भी लगभग न्यायिक हो गया। कई धर्मयोद्धाओं को धर्मयुद्ध में शामिल होने से पूर्व कानूनी अनुमति लेनी पड़ती थी। प्रायः नागरिक और चर्च अधिकारी उनकी व्यक्तिगत और सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता के प्रमाण-पत्र देते थे। परन्तु, यह सब बहुत बाद में होने लगा।

धर्मयुद्ध के कुछ मामूली कारण भी थे जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता। बहुत से लोग धर्मयुद्धों में केवल स्थान-परिवर्तन, जिज्ञासा और साहसिकता की दृष्टि से शामिल हुए। कुछ इटालवी नगर राजनीतिक और व्यावसायिक स्वार्थों के कारण शामिल हुए। राजागण, नाइट और शासक वर्ग के लोग पूर्व में मुसलमानों से सम्पत्ति और जागीर छीनने के उद्देश्य से धर्मयुद्धों में सम्मिलित हुए। कम्मिये यूरोप में अपनी दुखदायी जिंदगी से छुट्टी पाने के लिए धर्मयुद्धों में शरीक हुए। कर्ज में डूबे व्यक्ति तथा अन्य प्रकार के अभियुक्त कानून तथा न्याय के शिकंजे से मुक्त होने के लिए भी धर्मयोद्धा बने।

धर्मयुद्ध का अंतिम कारण यह था कि इसके लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। हंगरी निवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित किए जाने के फलस्वरूप पूर्व की ओर पहुँचने का थल-मार्ग खुल गया। इसी बीच इटालवी नगरों की सामुद्रिक शक्ति में विकास और सिसली से मुसलमानों के निष्कासन के फलस्वरूप पूर्व की ओर जाने का वह सामुद्रिक-मार्ग जो तबतक पूरी तरह मुसलमानों के नियंत्रण में था, धर्म-योद्धाओं के लिए खुल गया। सेलजुक साम्राज्य का विघटन, अरबों और तुर्कों का पारस्परिक-द्वेष और पोपतंत्र की शक्ति में वृद्धि कुछ घटनाएँ थीं जिनके चलते धर्मयुद्ध के निमित्त परिस्थितियाँ अनुकूल हो गई थीं। पीटर द हरमिट के उपदेशों और पियासेंजा तथा क्लेरमोंट की धर्मसभाओं का भी धर्मयुद्धों पर सीधा प्रभाव पड़ा। जनश्रुति के अनुसार पीटर द हरमिट फ्रांस का निवासी था। उसने जेरुसलम की यात्रा की। जेरुसलम के धर्माध्यक्ष ने यूरोप के ईसाइयों के नाम उसे पत्र दिए। पत्र सहित वह रोम पहुँचा जहाँ उसने पोप अरबन द्वितीय से धर्मयुद्ध की तैयारी करने की अनुमति चाही। अब वह गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमकर लोगों को प्रथम धर्मयुद्ध

में शामिल होने के लिए प्रेरित करने लगा। लोग उसकी सरलता एवं निष्ठा से अत्यंत प्रभावित हुए। यरुसलम की उसकी यात्रा की कथा सत्य हो या न हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके उपदेशों का जनमत पर गहरा प्रभावा पड़ा। उससे भी अधिक प्रभाव ईसाई जनमत पर पोप अरवन द्वितीय के प्रयासों का पड़ा। एक ओर यूरोप में धार्मिक भावावेश धीरे-धीरे उकान पर आ रहा था तो दूसरी ओर पूर्व में तुर्क निरंतर कुस्तुनतुनियाँ की ओर बढ़ते जा रहे थे सम्राट एलेक्सियस कोमनस ने पोप से तत्काल सहायता की याचना की। पोप ने १०९५ की वसन्त ऋतु में इस पर विचार करने के लिए इटली स्थित पियासेंजा में एक धर्मसभा बुलाई। इसमें अत्यंत उत्साह के साथ अनेक लोग शामिल हुए परन्तु प्रतिनिधियों में इतना अपसी मतभेद था कि पूर्वी चर्च की रक्षा अथवा जेरुसलम के लिए कोई ठोस निर्णय कर पाना इस सभा के लिए कठिन हो गया। उसी साल, कुछ समय वाद, पोप ने फ्रांस स्थित क्लेरमौंट में दूहरी धर्म सभा का आह्वान किया। इस सभा में चौदह आर्कविशप, सवा दो सौ बिशप, चार सौ भिक्षु और अन्य अनगिनत लोग शामिल हुए। कुछ सामान्य बातों पर विचार करने के वाद २७ नवम्बर १०९५ के दिन पोप ने सभा के सयक्ष मुख्य प्रश्न को रखा। वह एक कुशल वक्ता था। अतः उसकी वाग्मिता, व्यक्तित्व प्रश्न की अहमीयत और परिस्थिति का उसके श्रोताओं पर सीधा प्रभाव पड़ा। उसने पूर्वी ईसाई जगत की दुर्दशा, फिलिस्तीन स्थित पुण्यतीर्थों की तुर्कों द्वारा उपेक्षा का वर्णन तो किया ही, साथ ही, तुर्कों के कारण स्वयं यूरोप के लिए आसन्न राजनीतिक संकट की ओर भी इंगित किया। "ईसा अपनी रक्षा के लिए आपका आह्वान कर रहे हैं" आदि शब्दों का जनता पर बिजली का सा प्रभाव पड़ा। वे एक स्वर से चिल्ला उठे "यह ईश्वर की इच्छा है। यह ईश्वर की इच्धा हैं। हजारों ने अपने कपड़ों पर क्रॉस का पवित्र चिह्न इस बात के प्रमाणस्वरूप लगा लिया कि वे ईसा की समाधि को मुक्त करने के लिए धर्मयुद्धमें शामिल होने को वचनबद्ध थे। अगले दिन २८ नवम्बर को बिशपों ने प्रस्तावित अभियान की रूपरेखा तैयार की। यह निश्चय हुआ कि धर्मयुद्धों में शामिल होनेवाले लोग रंगीन कपड़े का क्रॉस अपने कोट पर लगाएंगे और इसी से उन्हें क्रसेसिगनेटी अर्थात कुसेडर्स कहा जाएगा। जबतक नाइट धर्मयुद्ध में व्यस्त रहेंगे विशप उनकी सम्पत्ति की रक्षा करेंगे। यदि जेरुसलम तक पहुँचजायेंगे या इस प्रयाम में मारे जाएंगे तो उनके सभी अपराध माफ कर दिए जाएंगें। यदि वेधर्मयुद्ध से मुँह मोड़ लेते हैं तो उन्हें जातिबहिष्कृत माना जाएगा। धर्मयुद्धओं को कांस्टेण्टीनोपुल में जमा होकर १५ अगस्त, १०९६ को अभियान पर निकल जाना था।

प्रथम धर्मयुद्ध (१०९६-१०९९ ई०)

प्रथम धर्मयुद्ध जो प्रायः तीन वर्षों तक चला नियोजन तथा कार्यान्वियन की दृष्टि से भूलों से भरा था। इसके पहले कि धर्मयोद्धाओं की नियमित सेना प्रस्थान करती, पीटर द हरमिट के आकुल अनुयायियों ने उसके नेतृत्व में तत्काल प्रयाण करने का निश्चय किया। एक साधारण एवं निर्धन नाइट वाल्टर और अपने नेतृत्व में प्रायः अस्सी हजार अनुयायियों के साथ पीटर जर्मनी-हंगरी मार्ग से कान्स्टेण्टीनोपुल के लिए चल पड़ा। इस दल में शासक, सामंत, बिशप, पुजारी, भिक्षु, दरवेश, साधु, पापी, अमीर, गरीब, स्त्री, बच्चे सभी शामिल थे। वस्तुतः जैसा कि मिकोड ने लिखा है, यूरोप निर्वासन की भूमि जान पड़ता था जिसे त्यागने को सभी आतुर थे। इन "जन-धर्मयोद्धाओं" में अवांछित तत्त्व भी थे जो केवल लूट-पाट के लिए निकले थे, परन्तु, कुछ सीधे-सादे किसान भी थे जो पीटर से प्रभावित होकर विनाश की ओर बढ़ रहे थे। यूरोप में अच्छी फसल के अभाव तथा क्रूर जमींदारों से बचने के लिए ये यरुसलम की ओर चल पड़े थे। यरुसलम स्वर्ग में था या पृथ्वी पर अधिकांश नहीं जानते थे, पर वे सभी समझते थे कि वह नगर उनके गाँव से अवश्य अधिक आकर्षक और सुखप्रद होगा। दो पहिये वाली गाड़ियों में इन्होंने अपने बैलों को घोड़ों की तरह नाल ठोंककर जोत लिया था और उन पर अपने मामूली सामान और स्त्री-बच्चों को लादकर ये चल पड़े थे। मार्ग में मिलनेवाले प्रत्येक किले अथवा नगर को बच्चे यरुसलम ही समझ बैठते थे।

ऐलेक्सियस सुलझा हुआ राजनीतिज्ञ था। इन गरीब तथा भुखमरे किसानों को देखकर वह द्रवित अवश्य हुआ परन्तु उसने उन्हें यह नेक सलाह भी दी कि जबतक ईसाई योद्धाओं का मुख्य दल नहीं आ जाता तबतक उन्हें आगे नहीं बढ़ना चाहिए क्योंकि उनमें तुर्कों से लड़ने की क्षमता नहीं थी। परन्तु दल के उग्र व्यक्तियों पर पीटर नियंत्रण नहीं रख सका और उन्होंने कान्स्टेंटीनोपुल के महलों को जलाकर नगर में लूटपाट करना शुरू किया। ऐलेक्सियस इसे सहन न कर सका क्योंकि अपनी प्रजा की रक्षा करना उसका पहला कर्तव्य था। अतः उसने धर्म-योद्धाओं को आगे बढ़ जाने दिया। परिणाम निश्चित था। यह दल अधिक से अधिक गैर जिम्मेदार और अनियंत्रित व्यक्तियों से भरा था। अतः अनुशासित तुर्क सैनिकों ने इन्हें गाजर-मूली की तरह काट डाला। पीटर सहित बहुत थोड़े से लोग अपनी करुण कथा कहने के लिए कान्स्टेंटीनोपुल लौट सके।

इसी बीच यूरोप में तीन लाख धर्मयोद्धाओं का दल फिलिस्तीन की ओर प्रस्थान करने को तैयार हो गया था। यह दल रेमंड, रॉबर्ट, गौडफ्री, बाल्डविन

और टैनक्रेड जैसे जर्मन और फ्रांसीसी राजाओं के प्रयास से एकत्रित किया जा सका था। यह सेना तीन भागों में विभक्त होकर तीन मार्गों से कान्स्टेंटीनोपुल की ओर चल पड़ी। इसकी सूचना पाकर एलेक्सियस आतंकित हो उठा। उसने पोप से कुछ ही सैनिक माँगे थे जिनका खर्च वह स्वयं उठाता। परन्तु उसकी पुत्री अन्ना के शब्दों में "उसने यह अफवाह सुनी कि अनगिनत फ्रैंक सेना आगे बढ़ रही थी।" जो वस्तुतः घटित हुआ वह अफवाह से कहीं अधिक भयानक था क्योंकि सम्पूर्ण यूरोप और एड्रियाटिक तथा जिब्राल्टर की खाड़ी के बीच रहने वाले बर्बर लोग अपने परिवार के साथ यूरोप को पारकर एशिया की ओर बढ़ रहे थे। एलेक्सियस इस बात से भी अधिक चिंतित हुआ कि धर्म-योद्धाओं के नेताओं में एक उसका पुराना शत्रु दक्षिण इटली का बोहिमोंड भी शामिल था। बोहेमोंड भी उसके प्रति-सम्राट की भावना से अनभिज्ञ नहीं था और उसने बैन्टाइन साम्राज्य की सीमा के अन्दर अपने सैनिकों को लूट पाट न करने की आज्ञा दे रखी थी। वह कान्स्टेंटीस नोपुल में भी अपनी सेना को पीछे छोड़कर अकेला ही प्रविष्ट हुआ। ऐलेक्सिय ने उसका स्वागत किया परन्तु सुरक्षा की दृष्टि से उसे नगर के बाहर ही ठहराया। जब बोहेमोंड सम्राट के महल में गया तब वहाँ सम्राट की बेटी अन्ना भी उपस्थित थी। वह उसके अभिव्यक्तित्व से प्रभावित और साथ-साथ आतंकित भी हुई। तब तक विभिन्न नाइटों के सैनिक भी कान्स्टेंटी पहुँच चुके थे। ऐलेक्सियस ने उन्हें उसके प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेने को कहा। इसका मतलब था कि वे तुर्कों से जो भी भूमि छीनते उसका अधिपति ऐलेक्सियस होता। रेमोंड को छोड़कर अन्य लोगों ने इसे मान लिया, परन्तु जिन लोगों ने राजनिष्ठा की शपथ ली उन्होंने भी यह ऊपरी मन से ही किया था। अब धर्मयोद्धा कान्स्टेंटीनोपुल से उत्तरी सीरिया स्थित गौरवपूर्ण नगर एन्टिऑक की ओर बढ़े। सन् १०९७ में निकाइया पर उनका कब्जा हो गया। डोरिलेयुम के युद्ध में भी उन्होंने तुर्कों को पराजित किया। एन्टिऑक पर उस समय तुर्कों का अधिकार था। बोहेमोंड इस नगर और आस-पास के इलाके को हथियाना चाहता था। यहीं से धर्मयोद्धाओं के कुछ प्रमुख नेताओं की नीयत पर संदेह होने लगता है। एन्टिऑक पहुँचने से पूर्व ही बाल्डविन मुख्य दल से अलग हो गया और एडेसा का अधिपति बन बैठा। यह वहाँ तबतक पड़ा रहा जबतक कि वह ११०० ई० में अपने भाई गॉडफ्री की जगह पर जेरुसलम का शासक न बन गया। मुख्य सेना मार्ग की खराबी और तुर्कों के कठिन विरोध के बावजूद एन्टिऑक की ओर बढ़ती गई। सामान ढोनेवाले अनेक घोड़े मर गए और कुत्तों तथा भेड़ों तक सामान ढोने का काम लेना पड़ा। सन् १०९८ में एन्टि-

ऑक पहुँचने पर वोहेमोंड ने नगर को जीतने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। वह धर्मयुद्ध की भावना से अथवा अपने लिए एन्टिऑक पर कब्जा करने की भावना से कहाँ तक प्रेरित था, अब कहना कठिन है। जो भी हो, नगर पर उसका अधिकार हो गया। परन्तु यह सफलता उसकी वहादुरी से भी अधिक नगरवासियों की गद्दारी के कारण मिली थी। कुछ समय बाद जब तुर्कों की एक बड़ी सेना ने नगर का घेरा डाला तो इन्हें मार भगाया गया। इसी समय "वार्थलोम्यू का भाला" वाली प्रसिद्ध घटना घटी। तुर्कों द्वारा घेरे जाने से धर्मयोद्धा निराश हो गई थी। तभी एक चर्च की वेदी से वार्थलोम्यू ने एक भाला खोज निकाला। इससे धर्मयोद्धाओं में अपूर्व जोश आ गया और वे तुर्कों को मार भगाने में सफल हुए। बाद में वार्थलोम्यू पर झूठ का अभियोग लगाया गया और अपनी अग्नि-परीक्षा देता हुआ वह जल मरा। वोहेमोंड एन्टिऑफ में ही जम गया और केवल रेमंड ही अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा।

इस बीच यरुसलम तुर्कों के हाथ से निकल कर मिस्र के फातमी खलीफा के हाथ में चला गया था। ईसाई धर्मयोद्धा इस पवित्र नगर के पास जून में पहुँचे। मुसलमानों ने नगर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध किया था और धर्मयोद्धाओं का पहला आक्रमण विफल कर दिया गया। परन्तु असाधारण उत्साह के साथ पुनः हमला किया गया और १५ जुलाई, १०९९ के दिन नगर धर्मयोद्धाओं का अधिकार हो गया। ईसाइयों ने मुसलमानों की बेरहमी से हत्या की और नगर को लूटा-खसोटा। गरीब-से-गरीब धर्मयोद्धा ने जब अचानक अपने को विपुल धन का स्वामी बना लिया। धर्मयोधाओं ने लोरेन के गॉडफ्री को अपना शासक चुना और इस तरह यरुसलम के लैटिन राज्य की स्थापना हुई। गॉडफ्री यरुसलम जैसे पवित्र नगर में राजा की उपाधि धारण करना नहीं चाहता था। अतः वह अपने को केवल पवित्र समाधि का संरक्षक ही कहता रहा। परन्तु उसके बाद ११०० ई० में जब उसका भाई वाल्डविन यरुसलम का शासक बना तो उसने राजा का विरुद्ध धारण किया। इस तरह कुछ समय के लिए फिलिस्तीन सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से यूरोप का अतिरिक्त भाग बन गया।

इसी बीच मुसलमानों की एक विशाल सेना यरुसलम पर पुनः कब्जा करने के लिए आगे बढ़ रही थी। फिलिस्तीन का कुछ भाग उन दिनों तुर्की अमीरों के कब्जे में था। शेष पर मिस्र के खलीफा का अधिकार था। यरुसलम और एसकेलन एक ही मिस्री हाकिम के अधीन थे। मिस्री सेना के बीस हजार सैनिक यरुसलम

की ओर बढ़ रहे थे। परन्तु, गॉफ्री ने दस हजार धर्मयोद्धाओं के साथ उनपर आक्रमण कर १२ अगस्त, १०९९ ई० में एसकेलन की लड़ाई में उन्हें पराजित कर दिया। एसकेलन की लड़ाई प्रथम धर्मयुद्ध की अंतिम सफलता थी। अधिकांश धर्मयोद्धा यरुसलम को मुक्त कराने के अपने वचन के पूरा हो जाने के कारण अब समुद्र अथवा थल मार्ग से यूरोप लौट गए। उनके यूरोप लौटने परवहाँ नये उत्साह का संचार हुआ और अप्रशिक्षित, कुशल नेतृत्व विहीन तथा मामूली हथियारों से लैस धर्मयोद्धाओं के तीन नये दल कान्स्टेंटीनोपुल होते हुए एशिया माइनर को पार कर गए। प्रत्येक दल को तुर्कों ने पूरी तरह नष्ट कर दिया और बहुत थोड़े से लोग यूरोप लौट सके। यूरोप को प्रायः दश लाख सैनिकों से हाथ धोना पड़ा और इस तरह प्रथम धर्मयुद्ध का अंत हो गया।

द्वितीय धर्मयुद्ध (११४७-११४९ ई०)

दूसरा धर्मयुद्ध ४७ वर्ष बाद शुरू हुआ और दो वर्षों तक चलता रहा। यद्यपि गॉडफ्री और उसके उत्तराधिकारी मुसलमानों से नये प्रदेश छीनते रहे, परन्तु प्रथम धर्मयुद्ध के अधिकांश योद्धाओं के यूरोप लौट जाने से यरुसलम के लैटिन राज्य की स्थिति कमजोर पड़ गई थी। इसी कठिनाई के समय में हॉसपिटलर्स और टेम्पलर्स नामक दो धार्मिक सैनिक समुदायों की स्थापना हुई। ये दोनों समुदाय पवित्र भूमि फिलिस्तीन की सुरक्षा के प्रति विशेष जागरुक थे। दोनों बीमार तथा घायल धर्मयोद्धाओं की देख-भाल, ईसाई तीर्थयात्रियों का स्वागत-मनोरंजन; पवित्र स्थानों की रक्षा और ईसाई मत के प्रकार के निमित्त सचेष्ट रहते थे। यरुसलम राज्य के बैरनों की ही तरह उनके किले भी सीरिया तथा फिलिस्तीन में सर्वत्र बिखरे हुए थे। उनकी सहायता के बिना फिलिस्तीन में बसे ईसाइयों के लिए वहाँ टिके रहना कठिन था।

सन् ११३० ई० में बाल्डविन द्वितीय की मृत्यु तक यरुसलम का ईसाई राज्य नाइटों तथा बैरनों के पारस्परिक मतभेदों के कारण बहुत कमजोर पड़ गया। इससे मुसलमानों को लाभ हुआ और २५ दिसम्बर ११४४ ई० में उन्होंने एडेसा नगर पर पर कब्जा कर लिया। नगर के सभी निवासियों को कत्ल कर दिया गया या गुलाम बनाकर बेंच दिया गया। एडेसा के पतन के न केवल फिलिस्तीन के ईसाइयों में भय एवं निराशा व्याप्त हो गई बल्कि यूरोपवासियों को भी यरुसलम राज्य के अस्तित्व के विषय में चिंता होने लगी। ऐसा लगता था कि फिलिस्तीन के पावन स्थल पुनः मुसलमानों के कब्जे में चले जाएंगे। पीटर द हरमिट की तरह इस बार

संत बरनार्ड ने यूरोपवासियों को ईसाई धर्म के जन्मस्थान की रक्षा के लिए उत्साहित किया। इस बार के धर्मयुद्ध में न केवल बैरनों, नाइटों तथा सामान्य जन ने भाग लिया, बल्कि यूरोप के कुछ प्रमुख राजा भी इसमें शामिल हुए। फ्रांस के राजा लुई सप्तम ने तेरह सौ विद्रोहियों को एक गिरजाघर में जिंदा जला डाला था। इस कृत्य का प्रायश्चित्त करने के लिए वह दूसरे धर्मयुद्ध में शामिल हुआ। जर्मन सम्राट् कानराड तृतीय भी अपने राज्य में आंतरिक गड़बड़ के बावजूद ईसा की समाधि की रक्षा करने निकल पड़ा। परन्तु एशिया माइनर पार करते हुए मार्ग की कठिनाईयों के कारण अधिकांश जर्मन तथा फ्रांसीसी सेना नष्ट हो गई। दोनों सेनाओं के कुछ ही बचे-खुचे लोग फिलिस्तीन पहुँच सके। धर्मयोद्धाओं ने अब दश्मिक का घेरा डाला, परन्तु धर्मयोद्धाओं और फिलिस्तीनी ईसाइयों के पारस्परिक झगड़ों के कारण यह प्रयास भी विफल हो गया। अधिकांश धर्मयोद्धा यूरोप लौट गए और द्वितीय धर्म-युद्ध का अंत हो गया। पश्चिमी यूरोप के लिए द्वितीय धर्मयुद्ध की असफलता अत्यंत शर्म की बात थी। सीरियन फ्रैंकों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। मुस्लिम शक्ति के प्रसार को रोकने में इससे तो कोई सहायता नहीं ही मिली, दश्मिक पर नूरुद्दीन के अधिकार की संभावना भी इससे बढ़ गई। स्वयं ईसाइयों में इससे वैमनस्य बढ़ा जिसके घातक परिणाम आगे चलकर देखने को मिले।

तीसरा धर्मयुद्ध (११८९-११९९)

दूसरे धर्मयुद्ध की असफलता से भी अधिक अपमानजनक घटना ११८७ ई० में घटी जब मिस्र के सुल्तान सलाद्दीन ने यरुसलम पर कब्जा कर लिया। इस समाचार से समूचे ईसाई जगत में तहलका मच गया। यरुसलम स्थित छोटी-सी ईसाई सेना पूरी तरह पराजित हुई थी और ईसाइयों के भव्य किले एक-एक कर सलाद्दीन के कब्जे में चले गए। यरुसलम के ईसाइयों ने भाग कर प्राचीर युक्त टायर नगर में आश्रय लिया। वहाँ वे अव्यवस्था और निराशा की स्थिति में तबतक बने रहे जबतक कि इटली निवासी कॉनराड नामक साहसी व्यक्ति उनका नेतृत्व करने को न पहुँचा। उधर यूरोप में बदले की भावना दिन-प्रतिदिन तीव्र होती गयी और एक नवीन धर्म-युद्ध का आह्वान किया गया। इस तरह तृतीय धर्मयुद्ध की शुरुआत हुई। इसका नेतृत्व यूरोप के तीन महान् शासकों जर्मनी के फ्रेडरिक बारबेरोसा, फ्रांस के फिलिप ऑगस्टस और इंग्लैंड के रिचर्ड प्रथम ने किया। फ्रेडरिक प्रायः ७० वर्ष का वृद्ध व्यक्ति था। परन्तु वह एक बहादुर सेनानायक और कुशल प्रशासक रह चुका था और लोग उसकी इज्जत करते थे। उसकी सेना ने लगभग उसी मार्ग का अनुसरण किया जिससे प्रथम धर्मयुद्ध के योद्धा आगे बढ़े थे। रसद की कमी, पानी के

अभाव और मुसलमानों के लगातार हमलों के बावजूद जर्मन सैनिकों का हौसला बुलंद था। फ्रेडरिक के सैनिक अनुशासित थे। धर्मयुद्ध के प्रति सम्राट की निष्ठा में उनका विश्वास था। सलाहीन को जर्मन सेना के सतत आगे बढ़ते जाने से घोर चिंता हुई। परन्तु भाग्य ने उसका साथ दिया। जब फ्रेड्रिक की सेना एशिया माइनर में सेलेफ नदी को पार कर रही थी, नदी में डूब कर सम्राट की मृत्यु हो गई। निराश जर्मन सेना बड़ी कठिनाई से स्वदेश लौट सकी। फ्रेड्रिक की लाश को एन्टिओक में दफना दिया गया और इस तरह जर्मन सेना ने तृतीय धर्मयुद्ध में कोई विशेष भाग नहीं लिया।

तृतीय धर्मयुद्ध के शेष दो नेता अपेक्षातः कम उम्र के लोग थे और उनमें गहरी प्रतिद्वंद्विता थी। इंग्लैंड का शासक रिचर्ड प्रथम अभी हाल ही में अपने पिता के विशाल राज्य का उत्तराधिकारी बना था। उसके राज्य का बहुत बड़ा हिस्सा फ्रांस में पड़ता था। इससे भी दोनों में वैमनस्य होना स्वाभाविक था। साथ-ही-साथ, दोनों के व्यक्तित्व में भी अन्तर था। रिचर्ड शान-शौकत में विश्वास करता था। वह जन्मजात नेता था और चाहता था कि लोग उसके प्रति आकर्षित हों। दूसरी ओर फिलीप शान-शौकत के प्रदर्शन से घृणा करता था और धर्मयुद्ध में केवल इसीलिए शरीक हो गया था कि लोग उसे घटिया न समझने लगें और अंग्रेज राजा को फ्रांस से निकलने की उसकी योजना में विश्वास न खो दें। रिचर्ड झगड़ालू प्रकृति का भी था। साइप्रस पहुँचने पर उसने नेभारा की राजकुमारी बेरंग्रिया से विवाह कर लिया जबकि फिलिप की बहन एलिस से उसका विवाह पहले से तय था। स्वभावतः अपने तथा अपनी बहन के इस अपमान से फिलिप नाराज हुआ। साइप्रस पर रिचर्ड के अकारण आक्रमण और फिर वहीं धूमधाम से बेरंग्रिया से उसके विवाह से यह स्पष्ट था कि फिलिस्तीन पहुँचने की उसे कोई जल्दी नहीं थी, जबकि फिलिप वहाँ कब का पहुँच चुका था।

फिलिप की सेना आकर के बंदरगाह के बाहर खेमा डाले पड़ी थी। आकर नगर में मुसलमानों की छावनी थी। फिलिप की सेना के इर्द-गिर्द सलाहीन की विशाल सेना थी। आकर के आस-पास के ईसाई रिचर्ड के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे और उसे शीघ्र पहुँचने का संवाद भेजा था। अतः ८ जून, ११९१ को रिचर्ड आकर पहुँचा। ईसाई सेना के थके-माँदे सैनिकों ने नगाड़े बजाकर उसका स्वागत किया। आकर पर भारी आक्रमण किया गया और १२ जुलाई को वहाँ के मुसलमानों ने आत्मसमर्पण कर दिया। रिचर्ड ने छावनी के सैनिकों और उनके परिवारों को बंदी बना लिया। सलाहीन को छावनी के आत्मसमर्पण से घोर

निराशा हुई, किन्तु अपने बहादुर सैनिकों की मुक्ति के लिए वह रिचर्ड को एक भारी रकम देने को तैयार हो गया। इसी बीच फिलिप फ्रांस की स्थिति, अपने गिरते हुए स्वास्थ्य और रिचर्ड से तनावपूर्ण सम्बन्धों के कारण स्वदेश लौटने को बेचैन था। जर्मयोद्धाओं और उनके नये नेता ड्यूक लियोपोल्ड के प्रति भी रिचर्ड का आचरण तिरस्कारपूर्ण था। इसका बदला लियोपोल्ड ने आगे चलकर लिया। फिलिप के फ्रांस लौट जाने के बाद रिचर्ड अविलम्ब यरुसलम की ओर बढ़ना चाहता था। उसने निर्दयतापूर्वक आकर की छावनी के बचे हुए २७ हजार सैनिकों की हत्या करा दी। यह उसके चरित्र का बहुत बड़ा धब्बा साबित हुआ। यरुसलम की ओर प्रमाण कठिन सिद्ध हुआ, परन्तु रिचर्ड किसी तरह आरसुफ पहुँच गया। आरसुफ की लड़ाई में तुर्क सेना पराजित हुई और यरुसलम पहुँचने का मार्ग खुल गया। परन्तु फिलिस्तीनी ईसाईयों के सवाल पर रिचर्ड ने यरुसलम पर हमला करने का निश्चय त्याग दिया। उनका कहना था कि धर्मयोद्धाओं के लौट जाने पर नगर पर अधिकार बनाये रखना कठिन होता। अतः जाफा विजय के बाद रिचर्ड ने सलाहीन से संधि कर ली। समुद्र तट के नगर ईसाइयों के कब्जे में छोड़ दिए गये और ईसाई धर्मयात्रियों को निर्विघ्न यरुसलम जाने की सुविधा दी गयी। रिचर्ड को भारी सफलता मिली थी, परन्तु वह यह भी जानता था कि अंतिम सफलता सलाहीन को ही मिली थी क्योंकि पवित्र नगर यरुसलम अभी भी मुसलमान के ही कब्जे में था। वह अब जल्द से जल्द स्वदेश लौटना चाहता था और अपनी सेना से आगे ही लौट पड़ा। दुर्भाग्यवश उसका जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया और आस्ट्रिया के उसी ड्यूक लियोपोल्ड के हाथ में पड़ गया जिसके ध्वज को उसने आकर में उखाड़ फेंका था। लियोपोल्ड ने उसे जर्मन सम्राट के सुपुर्द कर कर दिया जिसने उसे एक वर्ष तक बंदी बनाये रखा। अपनी अंतिम असफलता के बावजूद वह अपने निराले, उद्धत तथा साहसी व्यक्तित्व के कारण बारहवीं शताब्दी का अत्यंत आकर्षक व्यक्ति माना गया है। "वह एक खराब बेटा, खराब पति तथा राजा था, परन्तु एक बहादुर तथा प्रशंसनीय सैनिक भी था।" हेनरी छठे ने उसे छोड़ने के एवज में भारी रकम माँगी थी। अंगरेजों ने उसे छुड़ाने के लिए गिरजाघरों के सोना तक को बेंच डाला। अंत में जब रिचर्ड इंगलैंड पहुँचा तो वहां उसका अभूतपूर्व स्वागत किया गया।

चतुर्थ धर्मयुद्ध (१२०२–१२०४)

दस वर्ष बाद चतुर्थ धर्मयुद्ध शुरू हुआ जो दो वर्ष तक चला। इसमें भाग लेनेवाले अधिकांश लोग दुःसाहसी व्यक्ति थे। समुद्र के रास्ते से मिस्र पर हमला करने

का निश्चय किया गया था। वेनेसियनों से एक समझौता हुआ जिसके अनुसार एक भारी रकम के बदले में वेनेसियनों ने जहाज और रसद देने का वचन दिया था। परन्तु दुर्भाग्यवश धर्मयोद्धा वह भारी रकम जमा नहीं कर सके और अपने जेवर बेचकर भी पूरी रकम नहीं दे सके। अब वेनेसियनों ने धन के बदले में डालमसिया स्थित जारा नगर के बागियों को दबाने में सैनिक सहायता की मांग की। धर्मयोद्धाओं इसके लिए तैयार हो गये, परन्तु पोप उनके इस भटकाव से बहुत नाराज हुआ। फिर भी धर्मयोद्धाओं ने अपना वचन पूरा किया और कुछ लूट का सामान भी प्राप्त किया। इसी बीच कन्स्टैंटीनोपुल में एक ऐसी घटना घटी जिसके फलस्वरूप धर्मयोद्धाओं का ध्यान मिस्र की जगह उस नगर की ओर खिंच गया। वहाँ एक विद्रोही ने गद्दी पर अधिकार कर लिया था। निष्कासित सम्राट के एक पुत्र अलेक्सियस एन्जेलस ने फ्रैंक योद्धाओं से सहायता की याचना की। कई उद्देश्यों से प्रेरित होकर उन्होंने आग्रह को स्वीकार कर लिया। वेनेसियनों ने भी व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखकर धर्म योद्धाओं का साथ दिया। तीन सौ जहाजों में लदाकर धर्मयोद्धा निकल पड़े। कान्स्टैंटीनोपुल पर उनका सहज ही अधिकार हो गया और निर्वासित अलेक्सियस की हत्या हो गयी। धर्मयोद्धाओं ने जो तबतक अपने मूल लक्ष्य को प्रायः भूल चुके थे, कान्स्टेंटीनोपुल पर कब्जा कर वहाँ एक लैटिन राज्य की स्थापना का निश्चय किया। सन् १२०४ में उन्होने दूसरी बार उस नगर पर अधिकार कर फ्लैंडर्स के बाल्डविन को पूर्वी सम्राट के रूप में गद्दी पर बिठाया। साम्राज्य के शेष भाग का बहुत बड़ा हिस्सा विभिन्न फ्रैंक नाइटों के कब्जे में जागीर के रूप में छोड़ दिया गया। विघटित बैजन्टाइन साम्राज्य की जगह जिन सामंती राज्यों की स्थापना हुई उनमें एथेंस का राजकुमण्डल भी शामिल था। सैकड़ों पश्चिमी नाइटों ने संस्कृति के उस प्राचीन केन्द्र में एकत्रित होकर चमत्कारपूर्ण सामंती शासन की स्थापना की जिसकी ओर यूरोप का ध्यान बरबस गया।

कन्स्टैंटीनोपुल में नवस्थापित लैटिन साम्राज्य बहुत दिनों तक कायम न रह सका। सत्तावन वर्ष बाद सन् १२६१ में ग्रीकों ने पुनः इसपर कब्जा कर लिया। उनका कब्जा सन् १४५३ ई० तक बना रहा जब तुर्कों ने कन्स्टैंटीनोपुल पर अधिकार जमा लिया।

साधारण धर्मयुद्ध

उपर्युक्त चार प्रमुख धर्मयुद्धों के अतिरिक्त पांचवां, छठा, सातवां और आठवां धर्मयुद्धों को सामान्य धर्मयुद्धों की संज्ञा दी गयी है। परन्तु इसका वर्णन

करने से पूर्व बच्चों के धर्मयुद्ध का उल्लेख करना आवश्यक है। यह धर्मयुद्ध १२१२ ई० में हुआ। इसके पीछे मुख्य प्रेरणा एक फ्रांसीसी कृषक स्टेफेन था। उसका विश्वास था कि ईसा ने अपनी समाधि को मुक्त करने का आदेश उसे दिया था। उसकी बातों से बच्चे बड़े उत्साहित हुए और घर के भीतर बंद करके भी उन्हें रोकना कठिन हो गया। "बच्चों के धर्मयुद्ध" में प्रायः बारह वर्ष से भी कम उम्र के लड़कों-लड़कियों ने भाग लिया। बीस से चालीस हजार के लगभग जर्मन बच्चे सबसे पहले निकले। उन्होंने आल्प्स पर्वत को पार किया और इटली के समुद्रतट पर यह उम्मीद लिये पहुचे कि समुद्र होकर एक चमत्कारी सड़क निकल आएगी जिसपर चलकर वे फिलिस्तीन पहुँच जायेंगे। मार्ग की कठिनाइयों से अनेक की मृत्यु हो गई और जो रोम पहुँचे उन्हें पोप ने यह समझा-बुझा कर लौटा दिया कि युवा होने पर वे अपने वचन को पूरा करेंगे।

प्रायः तीस हजार फ्रेंच बच्चे जिन्हें यरुसलम की दूरी का कोई अंदाज नहीं था मार्शलीज में एकत्रित हुए, परन्तु वहां समुद्र को लहराते देखकर उन्हें निराशा हुई। उनमें अधिकांश अपने घरों को लौट गये, परन्तु प्रायः पाच-सात हजार नगर के दो व्यापारियों के जहाजों में इस आश्वासन में बैठ गये कि उन्हें निःशुल्क फिलिस्तीन पहुंचा दिया जायगा। परन्तु उनके साथ धोखा हुआ और उन्हें अलेक्जेंड्रिया तथा अन्य मुस्लिम दास-बाजारों में गुलामों के रूप में बेंच दिया गया। उनमें से कुछ दो जहाजों के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने से समुद्र में डूब गये।

पांचवें, छठे, सातवें और आठवें धर्मयुद्धों को "सामान्य धर्मयुद्धों" की संज्ञा दी गई है। पांचवें धर्मयुद्ध (१२१६-१२२०) का नेतृत्व हंगरी और साइप्रस के राजाओं ने किया। इसमें भाग लेनेवाले मिस्र में नष्ट हो गए और इसका कोई विशिष्ट परिणाम नहीं निकला। छठे धर्म-युद्ध का नेता जर्मन सम्राट फ्रेडरिक द्वतीय था। वह मुसलमानों से यरुसलम तथा अन्य कई नगरों को वापस लेने में सफल हुआ। फ्रांस के लुई नवम ने सातवें धर्मयुद्ध (१२४८-१२५४) का नेतृत्व किया। यह धर्मयुद्ध भी बुरी तरह असफल रहा। आठवें और अंतिम धर्मयुद्धद्ध (१२७०-१२७२) का आयोजन फ्रांस के लुई नवम और इंग्लैंड के राजकुमार एडवर्ड ने किया जो आगे चलकर एडवर्ड प्रथम के नाम से राजा बना। लुई ने उत्तरी अफ्रिका में ट्युनिस के मुसलमानों पर हमला किया। वहाँ प्लेग से उसकी मृत्यु हो गई। परन्तु एडवर्ड को कुछ सफलता मिली और वह मिस्र के सुलतान से १२७२ ई० में ईसाइयों के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने में सफल हुआ।

उपर्युक्त अंतिम धर्मयुद्ध सैनिक संगठन, नेतृत्व और उत्साह की दृष्टि से बहुत मामूली थे। धर्मयोद्धाओं का जोश समाप्त हो चुका था और अंत में ईसाइयों

के कब्जे में अंतिम नगर आकर पर मिस्री मामलुकों ने कब्जा कर लिया और इस तरह १२९१ ई० में यरुसलम के लैटिन राज्य का अंत हो गया। धर्मयुद्धों क युग में जिन धार्मिक-सैनिकसमुदायों का फिलिस्तीन में जन्म हुआ था, उनके सदस्य भी अब यूरोप को लौट गए। उन्होंने नये स्थानों में अपने केन्द्र इस उम्मीद में स्थापित किए कि शायद भविष्य में कभी विधर्मियों से लोहा लेने का मौका उन्हें मिले।

हॉसपिटलर्स

पहले साइप्रस गए और फिर वहाँ से अगले दो सौ वर्षों तक वे पश्चिम की ओर इस्लाम के विस्तार का विरोध करते रहे। सन् १५३० ई० में तुर्कों ने उन्हें भगाकर माल्टा में शरण लेने को विवश किया। माल्टा के नाइटों के नाम से उन्होंने मुसलमनों का सदियों तक विरोध किया और वहाँ वे फ्रांस की क्रांति तक बने रहे। जर्मन नाइटों ने उत्तरी-पूर्वी यूरोप को अपना नया कार्यक्षेत्र बनाया। इन सम्प्रदाय का जोर धर्म-सुधार आंदोलन के आरम्भ तक बना रहा। टेम्पलर नाइटों ने फ्रांस को अपना प्रमुख कार्य-क्षेत्र बनाया। परन्तु १३०७ ई० में फिलिप व फेयर ने विधर्मिता, मुसलमानों से गठबंधन और क्राँस के अपमान के झूठे आरोप लगाकर उनके नेताओं की हत्या करा दी और इनकी चल सम्पत्ति को हथिया लिया। इनकी भू-सम्पत्ति को आगे चलकर हॉसपिटलर्स में बांट दिया गया।

योरोपीय धर्मयुद्ध

अपने लंबे तथा कठिन प्रयासों के बावजूद योरोपीय ईसाई समुदाय पूर्व में इस्लाम के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय स्थायी सफलता नहीं प्राप्त कर सका। परन्तु दक्षिण-पश्चिमी ताथ उत्तरी-पूर्वी यूरोप में धर्मयोद्धाओं को मुसलमानों से उन प्रदेशों को को छीनने में सफलता मिली जो आगे चलकर पुर्तगाल, स्पेन तथा प्रशा के राज्यों रूप में विकसित हुए। पूर्व में मुसलमानों के खिलाफ धर्मयुद्धों के आरम्भ होने से कुछ पहले ही बरगंडी का हेनरी अपने नाइटों के दल के साथ आइबेरियन प्रायद्वीप के ईसायों की सहायता करने पहुँच चुका था। इसके फलस्वरूप उस सामंती राज्य की स्थापना हुई जिससे आगे चलकर पुर्तगाल राज्य का विकास हुआ। द्वितीय धर्म धर्मयुद्ध के समय समुद्र मार्ग से फिलिस्तीन जाते हुए जातेहुए कुछ जर्मन और अंग्रेज धर्मयोद्धा यहाँ रुके। उन्होंने स्थानीय ईसाइयों को मुसलमानों से ११४७ ई० में लिसबन नगर को छीनने में सहायता दी। वह नगर पुर्तगाल की बन राजधानी। इस तरह, परोक्ष रूप में ही सही, पुर्तगाल का जन्म धर्मयुद्धक प्रवृत्ति के कारण हुआ माना जा सकता है।

इसी तरह स्पेन प्रायद्वीप से धीरे-धीरे मूरों को निकाल बाहर किया गया। केवल दक्षिण भाग के छोटे से इलाके पर मध्य-युग के अंत तक उनका कब्जा बना रहा। मूरों द्वारा खाली किए गए इलाकों में छोटे-छोटे ईसाई राज्यों की स्थापना हुई जो कुछ समय बाद एक साथ मिलकर स्पेन राज्य के रूप में परिवर्तित हो गए। विस्तुला से पूर्व की ओर बाल्टिक तट पर बसे स्लाव लोगों के विरुद्ध जर्मन नाइटों ने १२२६ से १२८३ ई० के बीच धर्मयुद्ध किए। इन लोगों ने बहुत दिनों तक ईसाई मत को स्वीकार नहीं किया था। इनके बीच पहुँचने वाले ईसाई धर्म-प्रचारकों की प्रायः हत्या कर दी जाती थी। अतः अंत में उनके विरुद्ध करने का निश्चय किया गया। सन् १२२६ में कुछ जर्मन नाइटों ने इन पर हमला किया। तेरहवीं शताब्दी के प्रायः अंत तक यह धर्मयुद्ध चलता रहा। स्लावों से मुक्त की गई भूमि पर कोनिग्सबर्ग तथा मेरीनबर्ग जैसे नगरों की स्थापना हुई! स्लाव आबादी को या तो नष्ट कर दिया गया या अधिकार में ले लिया गया। धीरे-धीरे पूरे इलाके में जर्मन जाति के लोग फैल गए। बाद में यह सारा इलाका प्रशा राज्य का अंग बन गया।

धर्मयुद्ध मुस्लिम विधर्मियों के साथ-साथ यूरोप में ही ईसाई धर्मद्रोहियों के विरुद्ध भी हुआ। उदाहरणार्थ, १२०९ से १२२९ के बीच अलबिजेनसियनों के विरुद्ध हुए धर्मयुद्ध का नाम लिया जा सकता है। दक्षिणी फ्रांस के एलबी क्षेत्र में ईसाइयों का एक संप्रदाय रहता था जिसे अलबिजेनसियन कहा जाता था। ये लोग मूल ईसाई धर्म से इतने विमुख हो गए थे कि पोप इनोसेंट तृतीय ने इन्हें मुसलमानों से भी अधिक दुरात्मा कहा था। पोप इन्हें सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयास किया, परन्तु असफल होने पर उसने फ्रांस के राजा फिलिप द्वितीय को उन्हें और उनके संरक्षक तुलों के काउन्ट रेमंड छठे को दंड देने का आदेश दिया। स्वयं फिलिप इस धर्मयुद्ध से अलग रहा, परन्तु उसके अनेक सामंतों ने सहर्ष इसमें भाग लिया। सन् १२०९ से १२१३ ई० के बीच साइमन डी मौंटफोर्ट ने इनका दमन किया। अलबिजेनसियन प्रदेश का अधिकांश भाग उजाड़ डाला गया। नागरिकों की हत्या कर उसके निवास स्थानों को जला दिया गया केवल एक नगर बेजियर्स में ही तीस हजार लोगों की हत्या की गई। सन् १२२९ में फ्रांसीसी राजा लुई नवम ने इस प्रदेश को पुनः लूटा-खसोटा और रेमंड सप्तम से उसके अधिकांश इलाके छीन लिये। इस तरह अलबिजेसियन विधर्मिता का अंत हो गया।

धर्मयुद्धों का प्रभाव

यूरोप के बाहर और स्वयं यूरोप में भी धर्मयुद्धों की समाप्ति का एक कारण था योरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास। ज्ञान की वृद्धि के फलस्वरूप चौदहवीं

शताब्दी के आरम्भ तक लोगों में धर्मयुद्धों के प्रति वह आकर्षण नहीं रह गया जो ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दियों में था। धर्मयुद्धों के पीछे मूल प्रेरणा-स्रोत धार्मिक भावावेश ही था। अतः धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुणता के विकास के कारण धर्मांधता पर आधारित धर्मयुद्धों का समाप्त हो जाना स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह थी कि ईसाई मत में दीक्षित बर्बर जातियों की युद्धप्रियता धीरे-धीरे औद्योगिक एवं व्यावसायिक मनोवृत्ति के विकास के कारण गौण पड़ गई। फिलिस्तीन की पुण्यभूमि को मुक्त करने का आदर्श अब उत्साही एवं आत्मविश्वासी व्यक्तियों को उतना आकर्षित नहीं करता था जितना वाणिज्य एवं व्यापार। अतः स्वप्नदर्शी नाइट अब व्यावहारिक एवं यथार्थवादी व्यवसायी में बदल गया।

ईसाई यूरोप के धार्मिक, व्यावसायिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं राजनीतिक जीवन पर धर्मयुद्धों का गहरा प्रभाव पड़ा। उनका एशिया पर भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा। अतः मानव सभ्यता के इतिहास में धर्मयुद्धों का विशिष्ट स्थान था। संक्षेप में ईसाइयत एवं इस्लाम के इस मध्यकालीन सम्पर्क का यूरोप तथा एशिया के जीवन के विभिन्न पक्षों पर बहुमुखी प्रभाव पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी के यूरोप बहुत भिन्न था। इस असाधारण परिवर्त्तन के लिए धर्मयुद्धों को ही सबसे अधिक जिम्मेदार माना गया है। फ्रांसीसी राजतंत्र का उदय, यूरोप में नागरी सभ्यता का विकास, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की अभूतपूर्व वृद्धि, विश्वविद्यालयों का विकास, सामंतवाद का पतन, एशिया का उद्घाटित होना, यूरोप का पुनर्जागरण पूर्णरूपेण धर्मयुद्धों की देन न भी हों, तो भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा मध्ययुग की समाप्ति तथा आधुनिक युग के आगमन का मार्ग, सीमित रूप में ही सही प्रशस्त अवश्य हुआ। उन्हें धार्मिकता द्वारा प्रच्छन्न लूट-पाट मात्र कहना तो सर्वथा गलत होगा ही।

जहाँ तक पोपतंत्र का प्रश्न है, धर्मयुद्धों का प्रभाव संश्लिष्ट ही था। धर्मयुद्धों की शुरूआत पोपतंत्र ने की थी और दो सौ वर्षों तक पोपतंत्र की मुख्य अभिरुचि इनमें थी। अतः पोपतंत्र पर इनका गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। निस्संदेह पोपतंत्र की शक्ति में वृद्धि हुई। ईसाई जगत की सेना तथा आर्थिक सहायता से इसकी सम्पदा बढ़ी। पोप प्रायः दो सौ वर्षों तक यूरोप का मार्गप्रदर्शक और नेता बना रहा। बारहवीं शताब्दी के यूरोप का धार्मिक उत्साह पोपतंत्र और साम्राज्य के संघर्ष में पोपतंत्र के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। धर्मयुद्ध पोपतंत्र की साम्राज्य के ऊपर आध्यात्मिक श्रेष्ठता के मूर्तरूप थे। उनका संगठन

पोप द्वारा हुआ तो और पोप के प्रतिनिधि उनका निर्देशन करते थे। अतः किसी हद तक उनमें भाग लेने वाले पोप की प्रजा समझे जाने लगे। उनकी अनुपस्थिति में उनकी सम्पदा पर पोपतंत्र का नियन्त्रण रहता था। फ्रांस, इंग्लैंड, हंगरी और नेपल्स के राजाओं के अतिरिक्त स्वयं जर्मन सम्राट भी धर्मयुद्धों में भाग लेते समय पोप के आदेशपाल समझे जाते थे। जनमत के नैतिक दबाव का लाभ उठाकर पोप हेनरी द्वितीय, फिलिप ऑगस्टस और फ्रेडरिक द्वितीय जैसे शक्तिशाली शासकों को भी उनकी इच्छा के विरुद्ध धर्मयुद्ध में शामिल होने के लिए बाध्य कर सकता था। अरबन द्वितीय की तुलना में इनोसेंट तृतीय की असाधारण शक्ति को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है।

धर्मयुद्धों के फलस्वरूप पोपतंत्र और मठों की भौतिक सम्पदा में भी असाधारण वृद्धि हुई। मठों ने धर्मयोद्धाओं की सम्पदा को खरीदकर अथवा उनसे उपहार प्राप्त कर अपना धन बढ़ाया। इससे उनकी और पोपतंत्र की शक्ति में वृद्धि हुई। धर्मयुद्धों के युग में दण्ड-मुक्ति तथा दशांश-कर का उपयोग पोपतंत्र ने आर्थिक लाभ के लिए किया। ग्रिगोरी सप्तम ने दण्ड-मुक्ति का उपयोग कभी-कभी ही किया था, परन्तु अरबन द्वितीय ने इसे सम्पूर्ण ईसाई जगत पर लागू किया पोपतंत्र को दण्ड-मुक्ति से भी अधिक लाभ दशांश-कर से हुआ। धर्मयुद्धों से पहले पोपतंत्रीय करों की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। द्वितीय धर्मयुद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम ११४६ ई० में फ्रांस के लुई सप्तम ने राज्य के पादरियों पर दशांश-कर लगाया। सन् ११८८ ई० में "सलाद्दीन दशांश कर" के नाम से रिचर्ड प्रथम और फिलिप ऑगस्टस ने भी वैसी ही वसूली की। परन्तु पोप के लिए चर्च की सम्पदा से राजाओं द्वारा कर वसूली को सहन करना कठिन था। अतः ११९६ ई० में टूर्स की धर्मसभा में विशपों द्वारा राजाओं को दशांश-कर देना निषिद्ध कर दिया गया। दूसरी ओर, पोप इनोसेंट तृतीय ने दशांश-करको आमदनी के निश्चित स्रोत के रूप में उपयोग करना शुरू किया।

पश्चिमी चर्च पर धर्मयुद्धों का एक अन्य परोक्ष प्रभाव भी पड़ा। आकर के पतन से पूर्व ही यूरोप का सहृदय धार्मिक समुदाय शक्ति के बजाय सहमति द्वारा विधर्मियों को सही मार्ग पर लाने का पक्षपाती हो गया था। ऐसे लोग रक्तरंजित धर्मयुद्धों की जगह शांतिपूर्ण धर्मप्रचार के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। असिसी के संत फ्रांसिस और संत डोमिनिक के अनुयायी तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुसलमानों को इसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रयास करते रहे। संत लुई की प्रेरणा से फ्रांसिस्कन विलियम ने मध्य एशिया के मंगोलों को इस उम्मीद मे ईसाई बनाने का

प्रयास किया कि ईसाई मंगोल तुर्कों से फिलिस्तीन को मुक्त कराने में सहायक हो सकते थे। उसी के कहने पर पोप इनोसेंट चतुर्थ ने १२५३ ई० में प्रथम धर्म-प्रचारक दल की स्थापना की। इसके सदस्य मुख्यतः फ्रांसिसकन डोमिनिकन थे। परन्तु इस शांतिपूर्ण धर्म प्रचार की नीति का सबसे बड़ा कार्यकर्त्ता रेमंड लुल था जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन इस कार्य में लगा दिया। वस्तुतः इसी पावन कार्य में उसने अपने प्राणों की आहुति भी दे दी। इस तरह, जिस धर्म-प्रचार कार्य का आरम्भ हुआ। वह लगभग सम्पूर्ण मध्य युद्ध में चलता रहा। एशिया में धर्म-प्रचारकों को उल्लेखनीय सफलता मिली। गिरजाघरों की स्थापना आरमेनिया, पर्सिया और किपचक के अतिरिक्त सुदूर चीन तथा प्रशांत सागर तट पर भी हुई। सन् १३३० ई० तक ईसाई धर्म-प्रचारक भारत और तिब्बत तक पहुँच चुके थे।

पोपतंत्र को धर्मयुद्धों से जितना लाभ हुआ उससे कहीं अधिक नुकसान भी हुआ। अंत में धर्मयुद्ध मठों के लिए भी घातक सिद्ध हुए। तेरहवीं शताब्दी के अंत तक पोपतंत्र के प्रति लोगों की श्रद्धा बहुत कम हो गई। इसका कारण यह नहीं था कि अंत में धर्मयुद्ध असफल रहे और धीरे-धीरे सम्पूर्ण फिलिस्तीन पर मुसलमानों का अधिकार हो गया, बल्कि मूल कारण था कि पोपतंत्र धर्मयुद्धों का यूरोप में ही ईसाई राजाओं के विरुद्ध दुष्प्रयोग करने लगा। इसके सामान्य जन में पोपतंत्र के प्रति सहज वितृष्णा की भावना जाग्रत हुई। कन्स्टेंटीनोपुल के दूसरी बार लूटे-पाटे जाने से धर्मयोद्धाओं के तौर-तरीकों के विषय में भी लोग संदेह करने लगे। पोपतंत्र की शक्ति में असाधारण वृद्धि से यूरोप का शासक वर्ग भी चिंतित हो उठा और पोपतंत्र एवं साम्राज्य का संघर्ष, जो पहले ही शुरू हो चुका था, अब तेज हो उठा। यह संघर्ष अंत में पोपतंत्र के लिए घातक सिद्ध हुआ। दशांश-कर जब पोप दुष्प्रयोग करने लगे तो स्वयं पादरियों ने इसका विरोध करना शुरू किया। दंड-मुक्ति को नियमित आय का साधन बना लिया गया था। सन् ११८४ ई० में उनलोगों को, जो स्वयं धर्मयुद्धों में शामिल नहीं हो सकते थे, चंदा देकर आंशिक दंड-मुक्ति प्राप्त करने को कहा। सन् १२१५ में तो यहाँ तक घोषणा कर दी गई कि धर्मयुद्ध के निमित्त जो लोग अपनी सम्पदा के अनुपात में चंदा देंगे, उन्हें पूर्ण दण्ड-मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। इसके बाद तो दंड-मुक्ति का निरंतर दुष्प्रयोग बढ़ता ही गया। घूम-घूमकर पोप के प्रतिनिधि स्वर्ग का तथाकथित प्रवेश-पत्र श्रद्धालु जनता में बेचते रहे। इस प्रकार के मुक्तिदाता जगह-जगह देखे जाने लगे। दंड-मुक्ति के इस दुष्प्रयोग का आगे चलकर विक्लिफ और हस ने विरोध किया और लूथर को तो इसके विरुद्ध खुलेआम अभियान ही चलाना पड़ा। इसी तरह मठों की सम्पदा में असाधारण

वृद्धि के कारण मठीय जीवन में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। इससे मठीय व्यवस्था के ह्रास और पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

राजनीतिक दृष्टि से धर्मयुद्धों का प्रमुख प्रभाव यह पड़ा कि इनके चलते यूरोप में ओर शक्तिशाली राजतंत्र का विकास हुआ तो दूसरी ओर सामंतों की शक्ति कम हुई। यह विशेषत: फ्रांस में हुआ क्योंकि फ्रांस धर्मयुद्ध आंदोलन का प्रमुख केन्द्र था। अनेक सामंतों ने अपनी सम्पदा बेचकर धर्मयुद्धों के लिए धन जमा किया और इस सम्पदा को खरीदकर राजा-गण समृद्ध हुए। धर्मयुद्धों में भाग लेने वाले बहुत से सामंत लौटकर आए ही नहीं और उनकी जागीर, उत्तराधिकारियों के अभाव में, सामंती अधिपति के रूप में राजाओं द्वारा जब्त कर ली गई। इस तरह, संख्या और प्रभाव की दृष्टि से, सामंत कमजोर पड़ गए और उसी अनुपात में राजाओं की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई। धर्मयुद्धों में भाग लेने वाले यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में पारस्परिक द्वेष और मतभेद भी सामने उभर कर आए। इस तरह, विभिन्न देशों की सैनिक टुकड़ियों की पारस्परिक प्रतिद्वंन्द्विता और राष्ट्रीय चेतना के कारण यूरोप के राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। यह बात विशेषत: फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी के संदर्भ में कही जा सकती है। अब फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन और अंग्रेज अपने को एक दूसरे से कहीं अधिक भिन्न समझने लगे। धर्मयुद्धों के फलस्वरूप, राष्ट्रीय एकता तथा अन्य देशों से अलगाव की भावना अब पहले से अधिक प्रबल हो गई। इसका प्रमाण डियूल के ओडो द्वारा लिखे गए द्वितीय धर्मयुद्ध के वर्णन में मिलता है। उसे यूनानियों और जर्मनों से भारी चिढ़ थी। दूसरा उदाहरण ट्यूटोनिक सम्प्रदाय का है जिसका नाम और स्वरूप पहले के अंतर्राष्ट्रीय हॉस्पिटल अथवा टेम्पलर सम्प्रदायों से भिन्न तथा जर्मन राष्ट्रीयता पर आधारित था। फिर स्वयं यूरोप के भीतर धर्मयुद्धों से भविष्य के पुर्तगाल, स्पेन, तथा प्रशा जैसे राज्यों की नींव पड़ी। इस तरह, धर्मयुद्धों द्वारा आधुनिक यूरोप के राजनीतिक मानचित्र की रूपरेखा तैयार हुई। किसी हद तक यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक बालकन प्रदेश के ईसाई राज्य भी धर्मयुद्धों की ही देन हैं।

धर्मयुद्धों के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव निस्संदेह सामाजिक तथा आर्थिक थे। यद्यपि धर्मयुद्धों के न होने पर भी यूरोप के नगरों तथा गाँवों के सामान्य जन सामंती दासता से मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते ही, परन्तु धर्मयुद्धों के फलस्वरूप यह प्रक्रिया तेज हो गई। कम्मियों को दासता की जंजीर तोड़ने का मौका मिला और उद्योग तथा व्यापार की उन्नति से अन्य पददलित लोगों को भी त्राण मिला। योरोपीय महिला समुदाय की अवस्था भी पहले से उन्नत हुई। धर्मयुद्ध में भाग लेने

वाले पुरुषों की अनुपस्थिति में स्त्रियाँ घरबार सँभालती थीं। इससे उनका सामाजिक तथा आर्थिक महत्त्व बढ़ा। अनेक महत्त्वपूर्ण सामंत धर्मयुद्धों में या तो मारे गए या अपना सब कुछ गँवाकर निर्धन हो गए। इससे एक ओर राजाओं की शक्ति में वृद्धि हुई तो दूसरी ओर सामान्य लोग सामंती उत्पीड़न से मुक्त हुए।

यूरोप दैनिक जीवन के अनेक पक्ष भी धर्मयुद्धों के फलस्वरूप प्रभावित हुए। यूरोपीय खान-पान, श्रृंगार-प्रसाधन, वस्त्र-आभूषण, साज-सज्जा पर एशिया का प्रभाव पड़ा। अरबों तथा तुर्कों की देखा-देखी यूरोपवासी लम्बी दाढ़ी रखने लगे। मकई, धान, नींबू, तरबूज, तनजेब, कालीन, दरी, रंग, दवाइयाँ, मसाले, सोना, चाँदी आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं का अब वहाँ अधिकाधिक उपयोग होने लगा। तरह-तरह की कला-कृतियों, शिल्पकारी और आविष्कारों का यूरोप वालों को पहले-पहल पता चला। उदाहरणार्थ, पवन-चक्की का ज्ञान उन्हें एशिया से हुआ और इसका सबसे अधिक उपयोग नीदरलैंड में होने लगा। पूर्व से बहुत-सी कलाकृतियाँ धर्मयोद्धा लूट कर ले गए, जैसे, कन्स्टेंटीनोपुल की प्रसिद्ध काँसे की अश्व मूर्त्तियाँ, जिन्हें वेनिस स्थित संत मार्क गिरजाघर के सामने प्रतिष्ठापित किया गया। फिर मध्यकालीन यूरोप का सूरमा-वर्ग पूर्व की अधिक उन्नत संस्कृति से सम्पर्क में आने के कारण पहले से अधिक सुरुचिपूर्ण और परिष्कृत हो सका। पूर्वी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव शहरों तथा गाँवों, दोनों पर पड़ा, यद्यपि अधिक प्रभाव निःसंदेह यूरोप की नगरी सभ्यता पर ही पड़ा। धर्मयुद्धों के कारण यूरोप में कुछ अपरिहार्य आर्थिक परिवर्त्तन हुए। नागरी सभ्यता अब वहाँ तीव्र गति से विकसित हुई। वेनिस, जिनेवा, पिसा और मार्शलिज जैसे नगरों की समृद्धि पहले से बहुत बढ़ गई। एशिया स्थित ईसाई राज्यों में यूरोपीय सामानों की खपत बढ़ी तो दूसरी ओर एशियाई सामानों की यूरोपीय बाजारों में लगभग बाढ़-सी आ गई। व्यावसायिक विकास की यह प्रक्रिया जर्मन, फ्रांसीसी और नीदरलैंड्स के नगरों में भी देखने को मिलती है। चतुर्थ धर्मयुद्ध के फलस्वरूप, यूरोप का भूमध्यसागर पर नियंत्रण स्थापित हो गया। इससे कन्स्टेंटीनोपुल का पूर्व और पश्चिम के बीच आढ़तिया नगर के रूप में महत्त्व काफी घट गया। इस तरह, बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में यूरोपीय वाणिज्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। प्रथम धर्मयुद्ध से पहले अमेल्फी और वेनिस का पूर्वी व्यापार पर लगभग एकाधिकार था। परन्तु दक्षिण इटली के नारमनों के कब्जे में आ जाने के कारण अमेल्फी का व्यावसायिक महत्त्व काफी घट गया। धर्मयुद्ध के आरम्भ होने के समय वेनिस ही इटली में पूर्वी व्यापार का एकमात्र आढ़तिया रह गया था। सन् १०८२ ई० में एलेक्सियस कोमेनस द्वारा और विशेष

छूट मिलने के कारण वेनिस की व्यावसायिक स्थिति और भी मजबूत हो गई। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही। इटली होकर जानेवाले धर्मयोद्धा वेनिस के अतिरिक्त जिनेवा तथा पिसा से भी जहाजी और आर्थिक सहायता पाते थे। ये दोनों नगर धर्मयोद्धाओं की तत्काल आवश्यकताओं की पूर्ति कर लाभ तो उठाते ही थे, साथ-साथ सीरिया में धर्मयोद्धाओं की संभावित विजय से पूर्वी व्यापार में वेनिस का साझीदार बनने की भी आशा इन्हें थी। अतः प्रथम तीन धर्मयुद्धों के समय वेनिस के अतिरिक्त जिनेवा और पिसा ने भी न केवल धर्मयोद्धाओं को अपने जहाजों में ढोने का काम किया बल्कि विजय-अभियानों में भी सक्रिय भाग लिया। जिनेवावासी ही आरसुफ, सिजेरिया तथा आकार के विजय के लिए मुख्यतः जिम्मेदार थे। पिसावालों का लाओडिसिया विजय में प्रमुख हाथ था। वेनेशियनों का सिडोन और टायर विजय में महत्वपूर्ण योग था। इन नगरों को जीतने के पीछे धार्मिक से भी अधिक व्यावसायिक स्वार्थ निहित था। सीरिया के तटीय तथा भीतरी नगरों में उपर्युक्त तीनों शहरों को व्यापारिक अधिकार प्राप्त हुए। फिर जो धर्मयोद्धा फिलिस्तीन में बस गए थे वे अपने आयुधों, घोड़ों जहाजों, शराब, ऊनी वस्त्रों तथा सैनिक सहायता के लिए पश्चिम पर ही निर्भर थे। इन आवश्यकताओं से सम्बन्ध लगभग सारा व्यापार इटालियन नगरों के ही हाथ में था। प्रत्येक वर्ष हजारों तीर्थयात्री फिलिस्तीन की पुण्यभूमि की यात्रा करते थे। इन्हें ढोने का काम भी प्रायः इटालियन जहाज ही करते थे। प्रत्येक वर्ष वेनिस, जिनेवा और पिसा से दो जहाजी बेड़े सीरिया पहुँचते थे। इन तीनों नगरों के पूर्वी व्यापार की मात्रा क्या थी, ठीक-ठीक कहना कठिन है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह मात्रा भारी रही होगी, क्योंकि बारहवीं शताब्दी में इन नगरों की समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। उसी तरह राइन घाटी, मार्सेलिज तथा दक्षिण फ्रांस के व्यावसायिक नगर भी पूर्वी व्यापार से कुछ-न-कुछ लाभान्वित हुए। पूर्व से बढ़े हुए सम्पर्क के फलस्वरूप एशियाई भोग-विलास की सामग्रियों की मांग भी बहुत बढ़ गई। दमिश्क और मिस्र होकर एशियाई रेशम, चीनी और गरम मसाले यूरोपीय सामंतों और भद्रजनों के घर तक पहुँचने लगे। इंगलैंड जैसे देशों ने इटालियनों और अरबों से जलपोत-निर्माण के नवीनतम तरीके सीखे। दिक्सूचक-यन्त्र की जानकारी भी यूरोप को शायद अरबों से ही मिली। पूर्वी व्यापार के फलस्वरूप सोने के सिक्के यूरोप पहुँचे और सिसली, फ्लोरेंस तथा वेनिस ने स्वर्ण-मुद्रा-प्रणाली को अपनाया। निरंतर बढ़ते व्यापार के लिए भारी रकमों की आवश्यकता पड़ने लगी। अतः अब प्रत्यय-पत्रों की शुरुआत हुई जिन्हें आधुनिक बैंक-प्रथा का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यद्यपि आदेशों से पहले भी यूरोप का एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था, परन्तु इसके फलस्वरूप इस व्यापार में असाधारण वृद्धि हुई।

धर्मयुद्धों का यूरोपीय सामरिकता पर भी प्रभाव पड़ा। अब विशाल एवं अत्यधिक सुरक्षित किलों का निर्माण होने लगा और घेरेबन्दी की कला एशियाई प्रभाव के कारण पहले से अधिक उन्नत हो गई। युद्ध में डोरीवाले धनुष तथा संवाद-वाहक कबूतरों का प्रयोग यूरोप ने एसिया से सीखा। धार्मिक स्थापत्य-कला के क्षेत्र में अब गोल गिरजाघरों का विकास हुआ। पूर्वी पद्धति पर अब लोक गीत तथा रुमानी कहानियाँ लिखी जाने लगीं। इतिहास-लेखन, संस्मरण, पुरावृत्ताख्यान, अनुवाद, चिकित्सा आदि पर भी पूर्व का प्रभाव पड़ा। संक्षेप में तेरहवीं शताब्दी के यूरोपीय "पुनर्जागरण" पर धर्मयुद्धों का गहरा प्रभाव था। पश्चिमी बौद्धिकता के क्षेत्र में अरस्तु की वापसी उसके ग्रन्थों के अरबी अनुवादों के माध्यम से हुई थी। मध्यकाल का सम्भवतः सबसे बड़ा इतिहासकार, टायर का विलियम, धर्मयुद्ध की देन था। अरबों के माध्यम से यूरोपवासियों ने यूनानी ज्योतिशास्त्र तथा भारतीय गणितशास्त्र के साथ-साथ अब अन्य विद्याओं का भी अवलोकन किया जिससे उनका मानसिक विकास संभव हुआ और वे भी अब स्वतंत्र रूप से ज्ञान-विज्ञान की बात सोचने लगे।

धर्मयुद्धों से भौगोलिक खोजों को भी प्रोत्साहन मिला। वेनेसियन यात्री मार्को पोलो ने एशिया सुदूर देशों का पता लगाया। सामुद्रिक खोज और साहसिकता की अब उस प्रक्रिया की शुरुआत हुई जिसे कोलम्बस, वास्कोडागामा और मैगेलन आदि ने बनाए रखा और जिसकी अंतिम परिणति नई दुनियाँ की खोज में हुई। इटालियन नगरों के व्यापारियों ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र की विशद जानकारी प्राप्त की और संभत: १२८० ई० में यूरोप का पहला नक्शा तैयार किया गया। वस्तुतः मध्य-कालीन बौद्धिकता के विकास में योद्धाओं की भौगोलिक खोजों का बहुत बड़ा योग था।

जहाँ तक पूर्वी साम्राज्य पर धर्मयुद्धों के प्रभाव का सम्बन्ध है, उनके चलते कुछ समय के लिए कन्स्टेंटीनोपुल की रक्षा हो सकी। प्रथम धर्मयुद्ध ने तुर्की आक्रमण की बाढ़ को रोक दिया और तीन सौ वर्षों के लिए पूर्वी साम्राज्य का या कम-से-कम उसकी राजधानी का पतन रुक गया। इससे मध्य यूरोप की नवजात ईसाई सभ्यता को अपने आपको सुदृढ़ बनाने का अवसर मिला, और जब एक बार पुनः मुसलमानी हमले शुरू हुए तो उनका सफलतापूर्वक सामना किया जा सका। यदि बारहवीं शताब्दी में सेलजुक तुर्कों को बौसफोरस को पार करने में सफलता मिल जाती तो शायद यूरोप का एक बहुत बड़ा भाग आज इस्लामी जगत का भाग होता। परन्तु,

चतुर्थ धर्मयुद्ध का स्वयं कन्स्टेंटीनोपुल पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसमें भाग लेनेवाले धर्मयोद्धाओं की लूट-खसोट की नीति के कारण उस नगर की अनेक कलात्मक वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं। सोना-चाँदी की मूर्त्तियाँ तथा गिरजाघरों की सजावट की चीजें गला डाली गईं। कन्स्टेंटीनोपुल की सैनिक शक्ति पंगु हो गई और इसके लिए सामरिक अवरोध कर सकना कठिन हो गया।

पुनर्जागरण (रेनासाँ)

पुनर्जागरण की परिभाषा :—"पुनर्जागरण" शब्द का अर्थ है, फिर से जागना। इस अर्थ में "मध्यकालीन पुनर्जागरण" अयथार्थ नाम है क्योंकि "कला एवं ज्ञान का पुनर्जन्म" केवल यूनानी ज्ञान एवं संस्कृति की पुनर्स्थापना के संदर्भ में ही ठीक था, अन्यथा पुनर्जागरण उन सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का क्रमिक विकास मात्र था जिनकी शुरुआत कैरोलिंगियन पुनर्जागरण से ही हो गई थी। समवेत रूप इतिहासकारों ने रेनासाँ का अर्थ बौद्धिक आन्दोलन से लगाया है। टामसन जानसन के अनुसार रेनासाँ शब्द का प्रयोग इतिहासकार चौदहवीं शताब्दी में हुए इटली की कला एवं ज्ञान के जागरण के संदर्भ में करते हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी आल्प्स-पर्वत को पार कर सोलहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण यूरोप में फैल गया। इतिहासकार लूकस ने भी कुछ इसी तरह का विचार किया है। उसके अनुसार रेनासाँ शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्त्तनों से है, जो चौदहवीं शताब्दी में आरम्भ होकर १६०० ई० तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल गए। इतिहासकार स्वेन के अनुसार मध्ययुग के अन्त में जितना बौद्धिक विकास हुआ, उसे ही सामूहिक रूप से पुनर्जागरण कहा गया। सीमोण्ड के अनुसार रेनासाँ एक ऐसा आन्दोलन था जिसके फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्र मध्ययुग से निकलकर वर्त्तमान युग के विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। वैनलून के शब्दों में रेनासाँ राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन न होकर मानस की एक विशिष्ट स्थिति को उजागर करता था। मिचलेट ने इसे मनुष्य तथा संसार का प्रकटिकरण कहा है। उसी की तरह पैटर ने इसे बौद्धिकता एवं चिंतन से सम्बद्ध वस्तुओं के प्रति स्नेह की संज्ञा दी है। वस्तुतः यह सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन की तरह बौद्धिक आन्दोलन था जिसका यूरोप के धार्मिक राजनीतिक और सामाजिक विकास से सम्बन्ध था।

यूरोप के सांस्कृतिक इतिहास में पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ जिस विद्वानों ने पुनर्जागरण-काल की संज्ञा दी है। इस युग में कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन एवं जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में नये-नये आदर्शों की स्थापना हुई जिनके फलस्वरूप यूरोप के दृष्टिकोण में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुए। इसके पहले योरोपीय जनता सामंत-प्रथा, पवित्र रोमन साम्राज्य तथा ईसाई-धर्म की व्यापकता के अन्तर्गत प्रगाढ़ निद्रा में सोई हुई थी। शिक्षा का अभाव था जीवन के विभिन्न पहलू ईसाई-धर्म से मंत्रमुग्ध से थे तथा स्वतंत्र-विचार की प्रवृति बहुत कम दृष्टिगोचर होती थी। जिस यूनानी भाषा से पाश्चात्य विद्वत-मंडली पूर्व-

परिचित थी, वह भी प्रायः लुप्त सी हो गई थी। लोगों का लैटिन भाषा का ज्ञान भी सीमित था। ईसाई-धर्म तथा मठों का बोलवाला था। बाइबिल का अध्ययन तथा मनन ही सर्वश्रेष्ठ विद्वता मानी जाती थी। दूसरी ओर पादरी-वर्ग धर्म-ग्रन्थों के स्वतंत्र मनन तथा बौद्धिक विश्लेषण का विरोधी था स्वतंत्र धार्मिक तथा बौद्धिक उदगार निषिद्ध थे। संक्षेप में योरोपीय समाज गतिहीन-सा हो गया था। बौद्धिक विकास की दिशायें अवरुद्ध हो गयीं थीं। राजनीतिक क्षेत्र में भी सर्वत्र अराजकताव्याप्त थी। जीवन-रक्षा ही लोगों का अभीष्ट बन गया था। किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। धीरे-धीरे लोगों में एक नई जिज्ञासा भावना जागरित हुई। परिणामस्वरूप मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं का उन्नयन आरंभ हुआ। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में यूरोपीय रचनात्मक शक्ति अनेक दिशाओं में उमड़ पड़ी। सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में आशातीत विकाश का आरम्भ हुआ। इसी प्रक्रिया को इतिहास में पुनर्जागरण की संज्ञा दी गई है।

पुनर्जागरण की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं तथा लक्षणों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि रेनासाँ उस धर्मनिरपेक्ष, जिज्ञासु और आत्मनिर्भर मनोभाव का पुनर्जन्म था जो प्राचीन जीवन और सभ्यता का प्रमुख लक्षण था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बौद्धिक पुनर्जागरण के प्रभाव से लोगों का जीवन और जगत के प्रति वैसा ही दृष्टिकोण हो गया जैसा प्राचीन यूनानियों तथा रोमनों का था। पुनर्जागरणकालीन व्याप्त ग्रीको-रोमन प्राचीनता के प्रति श्रद्धा-भावना को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि—जैसा कि प्रोफेसर वंच ने कहा है पुनर्जागरण का आरम्भ यूरोपीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसके कई पूर्वचिह्न पहले से विद्यमान थे। चौदहवीं शताब्दी से पहले भी समय-समय पर अथवा सामूहिक मानसिक उद्वेग, चिंतन और मनन के उदाहरण मिलते हैं। ऐसे प्रत्येक अवसर पर नवीन चिंतन का प्राचीनता से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता था। पुनर्जागरण से पूर्व इस तरह का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बौद्धिक आन्दोलन कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स से सम्बद्ध था। कैरोलिंगियन पुनर्जागरण में भी ग्रीक-रोमन सभ्यता के तत्व और प्रभाव निहित थे। परन्तु, यह आन्दोलन समयपूर्व था। चार्ल्स की मृत्यु के बाद यूरोप में पुनः अज्ञान का अन्धकार फैल गया, यद्यपि कैरोलिंगियन पुनर्जागरण की धूमिल किरणें कुछ समय के लिए यूरोपीय ज्ञान-क्षितिज को

लोहित बनाए रहीं। दूसरा उदाहरण अलबिजेनसियन आन्दोलन का दिया जा सकता है। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी का यह आन्दोलन धार्मिक से भी अधिक बौद्धिक, सामाजिक और साहित्यिक विकास का उदाहरण था। बहुत सम्भव था कि यहीं से पुनर्जागरण का वास्तविक शुभारम्भ हो जाता, किन्तु आत्म-निर्भर, शुभारम्भ हो जाता, किन्तु आत्म-निर्भर, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिकता से युक्त इस आन्दोलन से पादरी वर्ग सशंकित हो उठा और इसे क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। तीसरा पुनर्जागरणपूर्व आन्दोलन सम्राट फ्रेड्रिक द्वितीय (१२१२-५०) से सम्बद्ध था। फ्रेड्रिक धार्मिक संकीर्णता का विरोधी और मानसिक स्वतंत्रता तथा आत्म-निर्भरता का, जो पुनर्जागरण के प्रमुख लक्षण थे, समर्थक था। एक शब्द में, वह आधुनिक व्यक्ति था। वह अपने समय से कई शताब्दी आगे था। इसका कारण था कि उसपर पूर्व और पाश्चात्य धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं तथा ग्रीक-रोमन प्राचीनता का समान रूप से प्रभाव था। उसने अरस्तू तथा अभरोस के कई ग्रन्थों का लैटिन में अनुवाद कराया, नेपल्स विश्वविद्यालय की स्थापना की और पालेरमों स्थित अपने दरबार में उत्पीड़ित एलविजेनसियन विद्वानों को आश्रय प्रदान किया। इस तरह उसके संरक्षण में सिसली में उस बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ जिसका पुनर्जागरण के युग में अनेक इटालियन शासकों ने अनुसरण किया। वस्तुतः ग्रीक-रोमन तथा अरब संस्कृति के जिस आलोक से तेरहवीं शताब्दी का यूरोप आलोकित हुआ, उसमें कई तत्व फ्रेड्रिक द्वितीय की ही देन थे। फ्रेड्रिक द्वितीय की ही तरह दाँते ने भी पुनर्जागरण-युग का पूर्वाभ्यास दिया था। दाँते अलिघियेरी का १२६५ ई० में फ्लोरेंस में जन्म हुआ था। सन् १३०२ ई० में वहाँ से निर्वासन के बाद १३२१ में रेभेना में उसकी मृत्यु हुई। उसकी डिभाइन कॉमेडी को "मध्ययुगीनता का महाकाव्य" कहा गया हैं। यह मध्ययुगीन जीवन और विचारधारा का मूर्त्त रूप है। दाँते का धर्मशास्त्र मध्यकालीन चर्च का धर्म-शास्त्र है, उसका दर्शन नैयायिकों का दर्शन है और उसका विज्ञान समसामयिक है। अपने युग के अन्य लोगों की तरह वह पोपतंत्र तथा साम्राज्य के दैवी उद्गम में विश्वास करता है। नक्षत्र उसे प्रभावित करते हैं और धर्मद्रोह से उसे चिढ़ और भय है। अपने इन मध्यकालीन लक्षणों के बावजूद वह आनेवाले नवयुग का मसीहा तथा पुनर्जागरण का अग्रदूत था। ग्रीको-रोमन प्राचीनता में उसकी रुचि थी। वर्जिल उसका आदर्श था, प्राचीन ईसाई और हिब्रू साहित्य प्रेरणा का प्रमुख स्रोत था। उसकी आत्म-निर्भरता, तार्किक प्रवृति और अत्यधिक व्यक्तिकता के कारण वह मध्यकालीन से भी अधिक अर्वाचीन जान पड़ता है।

पुनर्जागरण के कारण :—उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त पुनर्जागरण का आरम्भ अन्य कारणों तथा परिस्थितियों से भी हुआ। मध्यकालीन पुनर्जागरण का प्रथम और प्रत्यक्ष जीवन की एक प्रमुख विद्या के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। सामंतवाद का आर्थिक आधार मेनार के किसान और खतों में काम करने वाले कम्मिये थे। अतः मध्यकालीन संस्कृति, जिसकी अभिव्यक्ति पुनर्जागरण के रूप में हुई, कम्मियों के श्रम और कृषि पर आधारित थी।

पुनर्जागरण का दूसरा आधार चर्च था। अतः इसका स्वरूप किसी हद तक धार्मिक था। ईसाइयत का यूरोपीय संस्कृति पर पूर्ण प्रभाव था। ग्रिगोरी महान से दाँते तक की यूरोपीय सभ्यता ईसाइयत से ओत-प्रोत थी। ग्रिगोरी महान के समय से ही पोपतंत्र प्रशिक्षित विद्वानों और वकीलों की आवश्यकता को अनुभव करने लगा था। अतः यूरोप के प्रत्येक भाग से विद्वान पादरियों को रोम आने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। पदप्रतिष्ठापन के संघर्ष को लेकर चर्च के पक्ष को मजबूत करने की दृष्टि से यथेष्ट साहित्य की सृष्टि हुई। इटली में मौंटे कैसिनों धार्मिक साहित्य के प्रमुख अध्ययन केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। रिहम्स का गेरवर्ट जो बाद में सिलवेस्टर द्वितीय के नाम से पोप हुआ, यूरोप में अरबी विज्ञान के प्रसार के पहले, यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान का मूर्त्त रूप था। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में उसका शिष्य फुलबर्ट लैटिन साहित्य का पारायण कर नवीन ज्ञान विकीर्ण करता रहा। टूर्स स्थित उसका शिष्य बेरंगर मध्यकालीन विद्वानों में संभवतः पहला व्यक्ति था जिसने चर्च के सिद्धान्तों तथा मतों को तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने को कहा। इसका मतलब यह नहीं कि वह धर्मशास्त्र के सिद्धांतों के खिलाफ था। अन्य नैयायिकों की तरह वह भी केवल यही सिद्ध करना चाहता था कि ईश्वरीय सत्य और तार्किक सत्य में कोई मौलिक अंतर हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सत्य अभिभाज्य है। एनसलम ईसाई धर्म के सिद्धांतों को तर्क द्वारा सिद्ध करने में पूर्ण विश्वास करता था। उसने केवल तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया। तब तक के उपलब्ध अरस्तू के कतिपय ग्रन्थों पर आधारित प्रारम्भिक नैयायिक आन्दोलन का चरमोत्कर्ष पियर अबेलार्ड (१०७९-११४२) में देखने को मिलता है। उसके शिष्यों में ब्रसिया का आल्ड, पीटर लोम्बार्ड और पोप अलेक्जेंडर तृतीय जैसे महत्त्वपूर्ण लोग शमिल थे। हेलवाइस के साथ उसकी प्रेम-लीला उसके पतन का कारण बनी, परन्तु धार्मिक सिद्धांतों के बौद्धिक एवं दार्शनिक विश्लेषण में वह लगभग बेजोड़ था। परस्पर विरोधी मतों को तर्क द्वारा सुलझाना उसकी विशेषता थी।

अबेलार्ड के जीवनकाल में ही पश्चिमी विद्वानों का अरबी भाषा में संचित दर्शन, गणित और विज्ञान के अक्षय ज्ञान-भंडार से परिचय हो रहा था। अब वे यूनान, वैजन्तियम और इस्लाम के संचित ज्ञान-कोश का उपयोग करने लगे थे। इस तरह, यूरोप में ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को एक नवीन और गतिशील दिशा प्राप्त हुई। आक्सफोर्ड, पेरिस और बोलोना में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और एक आंदोलन चल पड़ा जिसे स्कौलेस्टिसिज्म अर्थात् 'पंडित-पंथ' कहा गया है। इससे विद्याध्ययन एवं वाद-विवाद को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। लगभग तेरहवीं शताब्दी तक इस विचार पद्धति की सर्वांगीण उन्नति हुई। अब तक प्रायः अरस्तू के दार्शनिक सिद्धांतों की ही प्रधानता थी, किन्तु तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक राजर बेकन ने इसका तीव्र विरोध किया। यह आक्सफोर्ड का बहुत बड़ा नैयायिक था। उसने अपने युग को अज्ञानता का युग कहा। उसका कहना था कि यूरोपीय विद्वान अरस्तू के भद्दे लैटिन अनुवादों द्वारा अज्ञानता को प्रोत्साहन दे रहे थे, उसके आगे वे कुछ देख ही नहीं रहे थे। लगभग इसी समय एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो मानवतावाद के नाम से विख्यात हुआ। इनके प्रवर्त्तकों में फ्रैंसिस्कों, पेत्रांक, बोकेस्सिओ, एरासमस, टामस मूर तथा रैवेल आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों की लेखनी के प्रभाव से जनसाधारण में एक नई चेतना का प्रसार हुआ। लोग अब लौकिक जीवन के मापदण्ड से सब कुछ तौलने लगे तथा सांसारिक जीवन की सार्थकता से परिचित हुए। अतः धर्मशास्त्र, चर्च तथा पादरियों इत्यादि में लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। विश्वास की अपेक्षा लोग अब तर्क एवं युक्ति से अधिक काम लेने लगे। इस तरह, पुनर्जागरण की बौद्धिक पृष्ठभूमि की सृष्टि हुई।

राजकीय और सामंती दरबारों की ही तरह नवोदित तथा अन्य नगरों से भी पुनर्जागरण में सहायता मिली। उद्योग और व्यापार में उन्नति तथा नगरों के उदय के कारण सामंतों तथा पादरियों की तरह व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के एक नवीन वर्ग का जन्म हुआ। यह नवीन वर्ग पादरियों तथा सामंतों की ही तरह कला तथा साहित्य का संरक्षक था। जिसत रह सामंती समाज कम्मियों के श्रम पर आधारित था, उसी तरह व्यापारियों तथा उद्योगपतियों का वर्ग शिल्पी मजदूर-वर्ग के श्रम पर आधारित था। वाणिज्य-व्यावसाय की वृद्धि ने एक नये जीवन का सूत्रपात किया, वह था शहरी जीवन। उस समय भी आज की ही तरह शहरी जीवन ग्रामीण जीवन की अपेक्षा लोगों को अधिक प्रिय था। इसके पूर्व तक सामंतों ने व्या- पादरी-वर्ग को दबाकर रखा था और सामंती-प्रथा के समर्थक चर्च से भी सामंतों

को इस कार्य में हमेशा प्रोत्साहन मिलता रहा था। किन्तु, अनेक नगरों के उदय के कारण स्वतंत्र-विचारों का भी उदय हुआ। अब लोग पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं को आँख मूँदकर मानने को तैयार नहीं थे और इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। तर्क का विकास हुआ और लोग अब सोच-समझ तथा विचार के पश्चात् ही प्रथाओं तथा पद्धतियों को मानने लगे। इस कारण स्वतंत्र विचार तथा ज्ञान की प्रगति हुई। शहरों में रहनेवाले धनी-मानी व्यक्तियों के पास अपार धन था और वे विद्या एवं ज्ञानार्जन को प्रोत्साहित करने की स्थिति में थे। इस तरह, शहरों के धनी-मानी व्यक्ति एवं व्यापारी कला एवं संस्कृति के प्रभावशाली आश्रयदाता बन बैठे। इटली में पुनर्जागरण के सबसे बड़े केन्द्र फ्लोरेंस की दो बड़ी बैंक-कम्पनियाँ-स्टेजी तथा मेडिकी, यूरोपीय कलाकारों तथा विद्वानों को सर्वाधिक प्रश्रय देती रहीं। इसके अतिरिक्त, शहरों में निरंतर ही अन्य स्थानों से यात्रियों के आते-जाते रहने से परस्पर स्वतंत्र विचारों का आदान-प्रदान हुआ। इससे जनसाधारण की कूपमण्डूकता का नाश प्रारम्भ हो गया। संक्षेप में, मध्यकालीन नगरों, विशेषतः इटली के महान नगर-राज्यों के बौद्धिक तथा सामाजिक आंदोलन का चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के उस 'महान पुनर्जन्म' से, जिसे पुनर्जागरण की संज्ञा की गई, निकटतम सम्बन्ध था।

नारमनों द्वारा दक्षिण इटली और सिसली पर कब्जा किए जाने के फलस्वरूप, वहाँ यूनानी, लैटिन, मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों के संलयन का एक अभूतपूर्व मौका मिला। उसी तरह ग्यारहवीं शताब्दी में स्पेन में मुसलमानों के विरुद्ध ईसाइयों की राजनीतिक सफलता के फलस्वरूप, पश्चिमी यूरोप में अरब विज्ञान, दर्शन, साहित्य और संगीत के प्रसार का मार्ग प्रशस्त हो गया। वस्तुतः यह प्रभाव इतना गहरा था कि इसका पूरा-पूरा मूल्यांकन होना अभी तक बाकी है।

धर्मयुद्ध (क्रूसेड्स) प्रायः दो सौ वर्षों तक यूरोपीय ईसाईयों और अरब-तुर्क मुसलमानों के बीच चलते रहे थे। उनका भी पुनर्जागरण पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। इस काल में पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृतियों का अत्यंत निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। कैरोलियन पुनर्जागरण के धूमिल पड़ जाने पर यूरोपीय जनता सामंत-पद्धति, पवित्र रोमन साम्राज्य तथा चर्च की व्यापकता के अन्तर्गत एक मोहमयी निद्रा में सो गई थी। लगभग उसी समय पूर्व के लोग भारत तथा यूनान की प्राचीन सभ्यता, एवं संस्कृति से प्रभावित होकर एक नई सभ्यता का सृजन कर रहे थे। अरबवासियों ने इस दिशा में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया था। इतना

साम्राज्य यूरोप, एशिया तथा अफ्रिका के अधिकांश भू-भागों में फैला था। लगभग तेरहवीं शताब्दी तक पश्चिम में उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रमुख केन्द्र स्पेन में कौर्डोवा था। कुछ समय तक सिसली पर भी अरबों का अधिकार था। इस तरह अरबों के माध्यम से यूरोप ने यूनानी ज्योतिष-शास्त्र तथा भारतीय गणितशास्त्र के साथ-साथ अन्य विद्याओं का अवलोकन किया। इससे उनका मानसिक विकास संभव हुआ और वे भी अब स्वतंत्र रूप से ज्ञान-विज्ञान की बात सोचने लगे। धर्मयुद्धों की समाप्ति तक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। अलेक्जेंड्रिया, काहिरा, बगदाद और सुदूर बल्ख, इस्फहान और समरकंद की ग्रीक-अरब संस्कृति का यूरोपीय सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। यहाँ तक कि रोमन स्थापत्य शैली भी अरबों के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकी।

पश्चिमि राष्ट्रों में जागरित उपर्युक्त नवचेतना की अभिव्यक्ति लोक साहित्य के विकास द्वारा भी हो रही थी। मोटे तौर पर धर्म युद्धों के युग और परवर्ती काल में ही स्थानीय यूरोपीय भाषाओं में साहित्य का सृजन शुरू हुआ। स्पेन में कैस्टाइल की शूरधर्मिता पर आधारित महाकाव्य सिड द्वारा स्पेनी साहित्य का शुभारम्भ हुआ। दक्षिण फ्रांस के जनगायकों, ट्राउबेडूर्स ने अनेक प्रणय-गीतों की रचना की। उत्तरी फ्रांस के शार्लमन और उसके भट-सामंतो तथा राजा आर्थर और होली ग्रेल की कथायें बड़ी लोकप्रिय हुईं। इटली में दाँते ने अपनी डिवाइन कॉमेडी की रचना टस्कनी की मधुर भाषा में की। इससे इटली वासियों को अभिव्यक्ति के नवीन माध्यम की प्राप्ति हुई। इंग्लैंड में चौसर के कंटरबरी टेल्स द्वारा सैक्सन, नारमन और अंग्रेजी जनभाषाओं का विलयन पूरा हुआ। स्थानीय साहित्य का यह विकास पुनर्जागरण का पूर्वाभास देता था क्योंकि इस साहित्य में आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी और मध्यकालीन तापसिकता एवं धार्मिक प्रतिबंध के प्रति विरोधमात्र था। इस नव साहित्य ने न केवल आसन्न बौद्धिक पुनर्जन्म का संकेत दिया, बल्कि उसे आगे बढ़ाने में भी सहायता दी। "पंडित-पंथ" के लेखक लैटिन भाषा में लिखते थे, अतः उनके पाठकों की संख्या भी सीमित थी। परन्तु जनसाहित्यकार जनभाषा में लिखते थे, और स्वभावतः उनके गीत, कहानियाँ और रूमानी पाठ्य सामग्री सामान्य पाठकों में अधिक लोकप्रिय थी।

विशाल मंगोल-साम्राज्य का महत्त्व भी पुनर्जागरण के आगमन में कम नहीं था। तेरहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध विजेता चंगेज खाँ की मृत्यु के बाद कुबलाई खाँ ने एक विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। इसमें समस्त रूस,

पोलैंड तथा हंगरी आदि प्रदेश शामिल थे। उसका दरबार देश-विदेश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, धर्म-प्रचारकों तथा व्यापारियो से सदा भरा रहता था। इस अवधि में पिकिंग तथा समरकंद अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक केन्द्र बन गये थे। अतः इस युग में पूर्व तथा पश्चिम का वास्तविक सम्पर्क स्थापित हुआ। विद्वानों के एकत्र हो परस्पर विचार-विनिमय करने से जनसाधारण को अपार लाभ हुआ। वेनिस निवासी मार्कोपोलो, कुबलाई खाँ के दरबार में १२७२ ई० में गया। वहाँ से लौटकर उसने अपनी यात्रा का विशद वर्णन लिखा। इसका यूरोपीय जनमानस पर स्थायी प्रभाव पड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में कन्स्टेंटीनोपुल का पतन तथा उस्मानी तुर्कों का उदय पुनर्जागरण के लिए महत्त्वपूर्ण घटना थी। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह घटना पुनर्जागरण के प्रारम्भ की सूचक थी। सन् १४५३ ई० में वैजनटाइन साम्राज्य की राजधानी कन्स्टेंटीनोपुल पर उस्मानी तुर्कों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके फलस्वरूप पूर्वी रोमन-साम्राज्य का हमेशा के लिए अन्त हो गया। इस घटना से पुनर्जागरण को दो विशेष प्रकार से सहायता मिलि। सर्वप्रथम, पूर्वी रोमन-साम्राज्य की इस राजधानी में अबतक यूनानी ज्ञान विज्ञान की रक्षा हो रही थी। किन्तु उस्मानी तुर्कों की सफलता के बाद यहाँ के विद्वानों ने अपनी पोथियों तथा पाण्डुलिपियों को समेटकर यूरोप जहाँ-तहाँ शरण लेना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह उनके साथ प्राचीन यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का अक्षयभंडार पुनः यूरोपीय प्रदेशों में लौट आया और लोग इसकी ओर आकृष्ट होकर प्राचीन ज्ञान एवं साहित्य के अवगाहन में लीन हो गये। द्वितीयतः कन्स्टेंटीनोपुल के तुर्कों के हाथ में चले जाने से पूर्वी जगत के साथ व्यापार का स्थलमार्ग प्रायः अवरुद्ध हो गया। अतः, विवश होकर वाणिज्य-व्यवसाय की वृद्धि के लिए नये मार्गों का पता लगाना पड़ा। परिणामस्वरूप, भौगोलिक खोजों की एक नई शृंखला स्थापित हुई।

चर्च तथा राज्य, साम्राज्य एवं पोपतंत्र के बीच पदप्रतिष्ठापन संघर्ष के कारण जिस विवाद का जन्म हुआ, उससे विशाल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना हुई। इटली में मौंटे कैसिनो धर्मशास्त्रीय अध्ययनों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। चिकित्साशास्त्र के लिए सालेरनो तथा रोमन-विधि के लिए बोलोना को वैसी ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई। वाणिज्य एवं व्यवसाय के पुनर्जन्म से यूनानी संस्कृति के साथ यूरोप का पुनः नये सिरे से सम्पर्क स्थापित हुआ था। वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी सांस्कृतिक संक्रमण का युग था। जिसके पूर्ण परिणाम चौदहवीं तथा

पन्द्रहवीं शताब्दियों में देखने को मिले। उत्तर मध्यकालीन यूरोपीय पुनर्जागरण को आगे बढ़ाने में यूरोपवासियों को वास्तविक सहायता तब मिली जब वे कागज तथा मुद्रण-कला के अविष्कार सेप रिचित हुए। इनके प्रयोग द्वारा तत्कालीन स्थिति में आश्चर्यजनक क्रांति संभव हुई। सर्वप्रथम कागज का आविष्कार चीन में हुआ था। वहाँ से अरबों ने इसका उपयोग सीखकर स्पेन के रास्ते यूरोपवासियों को सिखलाया। मुद्रण-कला का आविष्कार भी सर्वप्रथम चीन में ही हुआ था। प्रारम्भ में वहाँ लकड़ी के ठप्पों द्वारा छपाई होती थी। यूरोप में ही मुद्रण-कला का विकास कैसे हुआ, इसका कोई सुनिश्चित उत्तर देना कठिन है, किन्तु आधुनिक प्रणाली के छापेखानों का उपयोग वहाँ संभवत: १४३६ और १४५० ई० के बीच शुरू हुआ। जान गुटनवर्ग ने वहाँ सर्वप्रथम धातु निर्मित-मुद्राणाक्षरों का आविष्कार किया। फलत: यूरोप के सभी प्रमुख नगरों में छापेखाने स्थापित हो गये। केवल वेनिस नगर में ही प्राय: दो सौ छापेखाने थे। अब काफी संख्या में पुस्तके छपने लगीं। इनका मूल्य हस्त-लिखित पुस्तकों से कम होता था। शिक्षा के प्रसार में इससे बहुत सहायता मिली। अभी तक पुस्तकें बहुत थोड़े से विद्वानों को उपलब्ध थीं। अब यूरोप की प्रादेशिक-भाषाओं में साहित्यिक रचनाए होने लगीं। जनता देश-विदेश के प्रमुख विचारकों एवं दार्शनिकों के विचारों से अवगत होने लगी। इससे लोगों में आलोचना प्रवृत्ति का विकास हुआ। कागज तथा मुद्रण-कला के अविष्कार द्वारा समाचार-पत्रों का भी प्रकाशन सम्भव हुआ। अत: उत्तर-मध्यकालीन यूरोपीय पुनर्जागरण में इन आविष्कारों का अपना विशिष्ट महत्व था।

पुनर्जागरण का प्रारम्भ और प्रसार : इटली का पथ-प्रदर्शन

पुनर्जागरण के आरम्भ के संदर्भ में सर्वप्रथम अवविजेनसियम बुद्धिवादी आंदोलन का उल्लेख किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश धार्मिक प्रतिक्रियावाद के फलस्वरूप इस आंदोलन का असामयिक अन्त हो गया। उसी तरह फ्रेड्रिक द्वितीय और दांते ने, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, पुनर्जागरण के आगमन में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया था। परन्तु पुनर्जागरण का वास्तविक प्रारम्भ इटली में हुआ, ठीक उसी तरह जैसे धर्मसुधार आंदोलन का जर्मनी से हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम इसके लिए इटली का वातावरण अत्यन्त ही अनुकूल था। इटालियन नगर पुनर्जागरण के प्रोत्साहक थे। भूमध्य सागर के मध्य में स्थित होने के कारण वहाँ वाणिज्य-व्यापार की असाधारण उन्नति हुई थी और बड़े-बड़े नगरों का उदय हुआ था। इन नगरों के लोग अत्यन्त धनी थे। ये धनी व्यक्ति बड़े-बड़े विद्वानों

तथा दार्शनिकों के आश्रयदाता थे। इन इटालियन नगर-राज्यों का राजनीतिक, बौद्धिक और कलात्मक जीवन प्राचीन यूनान के नगरों की तरह था। उदाहरणार्थ फ्लोरेंस इटली का एथेंस बन गया था। वहाँ की सम्पूर्ण जनता प्रतिभा की मूर्त रूप थी। यूरोप में सबसे पहले इटली के नगरों का जीवन मध्यकालीनता से मुक्त होकर आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ था। संक्षेप में, मध्यकालीन इटली के नगरों में पुनर्जागरण का प्रारम्भिक पालन-पोषण हुआ था।

पुनर्जागरण का इटली में ही आरम्भ होने का दूसरा कारण था उस प्राय-द्वीप में विभिन्न जातियों का संलयन। इन जातियों में गाथ, लोम्बार्ड, फ्रैंक, अरब, नारमन और जर्मन जातियाँ प्रमुख थीं। रोमन, बैजन्टाइन, अरब सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क और संलयन के फलस्वरूप मानसिक उन्नयन तथा व्यापक सामाजिक एवं बौद्धिक आंदोलनों का होना स्वभाविक ही था।

इटालियन स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप ने भी इटली में पुनर्जागरण के विकास में सहायता दी। उत्तरी यूरोपीय विश्वविद्यालयों में धर्म-शास्त्रों के अध्ययन पर ही विशेष जोर दिया जाता रहा जबकि दूसरी ओर इटली में रोमन विधि तथा चिकित्सा-शास्त्र जैसे धर्मनिरपेक्ष और उपयोगी विषयों की पढ़ाई ही अधिक होती थी। धर्मनिरपेक्ष ज्ञानार्जन का विशेष महत्त्व होने के कारण इटली में पुनर्जागरण-कालीन नवीन संस्कृति की नींव पड़ी।

पश्चमी यूरोप के अन्य देशों की तरह इटली की नवीन सभ्यता प्राचीन रोमन सभ्यता से बहुत अलग-अलग नहीं थी। यूरोप के अन्य नवोदित राज्यों की अपेक्षा इटलीवासी भाषा एवं रक्त की दृष्टि से प्राचीन रोमनों के कहीं अधिक निकट थे। रोम की प्राचीन गरिमा से सम्बद्ध होने का यह एहसास उनकी कल्पना को पंख तो लगा ही देता था, साथ ही, उसकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को पुन-रुज्जीवित करने की प्रेरणा भी उन्हें मिलती थी।

इटली में पुनर्जागरण को जन्म देने एवं उसे विशिष्ट दिशा प्रदान करने में प्राचीन रोमन स्मारकों का भी विशेष महत्त्व था। इटालियन नगर वस्तुतः प्राचीन साम्राज्य के अवशिष्ट चिह्न थे। सम्पूर्ण प्रायद्वीप प्राचीन रोमन स्मारकों के खंडहरों से भरा पड़ा था। विगत महानता के ये अवशिष्ट चिह्न इटालवी मानस पर गहरा प्रभाव डालते थे। रोमन प्राचीनता के प्रति यह मोह ब्रेसिया के आरनल्ड, रिएंजी तथा पेत्रार्क की आत्म-कथाओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इटली की नवोदित

आत्मा ने पूर्वकालिक महानता को सहज रूप में ग्रहण किया और, इस तरह, मृतप्राय ग्रीक-रोमन संस्कृति के विशेष उदापानों को पुनरुज्जीवित करने में सहायता मिली। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण दाँते हैं जिसे "इटली के पुनर्जागरण का अग्रदूत" कहा गया है। वह विश्वविख्यात कवि एवं दार्शनिक था। उसका जन्म इटली के फ्लोरेंस नामक नगर में हुआ था। उसने युवावस्था से ही राजनीति में भाग लेना शुरू किया, किन्तु इसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिल सकी। उसका सम्पूर्ण जीवन निराशओं से परिपूर्ण था। वह राजतंत्र का समर्थक था। उसको हार्दिक इच्छा थी कि कोई ऐसा शक्तिशाली सम्राट हो जो सम्पूर्ण इटली को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध सके। किन्तु उसका यह स्वप्न पूरा नहीं हुआ और राजा के दल की पराजय के कारण उसे फलोरेंस नगर भी छोड़ना पड़ा। इस घटना का उसके व्यक्तित्व पर स्थायी प्रभाव पड़ा। वह तत्कालीन समाज तथा राजनीति का कटु आलोचक बन बैठा। वह एक प्रतिभा लेख था। उसने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने अपनी विभिन्न इच्छाओं की अभिव्यक्ति की। उसकी 'डिवाइन कामेडी' ने पोप तथा सामंतों के नैतिक पतन की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया। दाँते इस बात को सहन नहीं कर सकता था कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास में विभिन्न अड़चनों का सामना करना पढ़े। अत: उसने आधुनिक विचारों को प्रतिपादित करना प्रारंभ किया। उसने लोगों को बताया कि राज्य का अस्तित्व मनुष्यमात्र के लिए ही है और इसके प्रबन्ध में उन्हें भी हाथ बटाना चाहिए। इस तरह दाँते ने स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद की जिस भावना पर जोर दिया, वह नवीन संस्कृति के प्राय: हर पहलू में पाई जाती है।

यूरोपिय पुनर्जागरण के इटली में प्रारंभ होने का एक अन्य कारण यह था कि कन्स्टेंटीनोपुल के पतन के पश्चात् वहाँ के विद्वनों ने भागकर इटली के नगरों में आश्रय लिया। इससे उन नगरों में पुन: प्राचीन विद्या एवं ज्ञान का प्रसार शुरु हुआ और अल्पकाल में ही इन विद्वानों की विद्वत्ता की चिनगारी यूरोप के अन्य देशों में फैल गई। इटली में इन नवागत विद्वानों की संख्या इतनी अधिक थी कि लगता था कि "यूनान का पतन नहीं हुआ था, उसका इटली में, जिसे प्राचीन काल में मैगना ग्रेसिया कहते थे, प्रवजन हो गया था।" ये विद्वान भगोड़े अपने साथ प्राचीन यूनानी साहित्य की अनेक अनमोल पाण्डुलिपियाँ लेते आए थे, जिनका उस समय तक यूरोप को कोई ज्ञान नहीं था। इनमें से अनेक इटालियन स्कलों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षक तथा व्याख्याता नियुक्त किए गए। इस तरह रोमन प्रजातंत्र-काल में जो कुछ

हुआ था उसकी अब पुनरावृत्ति हुई। इटली पर यूनानी पाण्डित्य की दूसरी बार विजय हुई।

इटली में पुनर्जागरण के दो पक्ष थे—प्राचीन साहित्य एवं ज्ञान का पुनर्जन्म, तथा प्राचीन कला का पुनर्जन्म। पुनर्जागरण के बौद्धिक और साहित्यिक पक्ष को 'मानववाद' और इसके समर्थकों को मानववादी कहा गया है। मानववादियों में फ्रांसेस्को पेत्रांक (१३०४-१३७४) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेत्रांक को समझना स्वयं पुनर्जागरण को समझना है। पेत्रांक इटालियन पुनर्जागरण के मानववादी पक्ष का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। मध्यकाल का वह प्रथम विद्वान था जिसने सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के महत्व को समझा। उसने अथक परिश्रम द्वारा प्रायः दो सौ प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह तैयार किया। भेरोना के एक पुस्तकालय से उसने लैटिन भाषा में लिखित सिसेरो के पत्र प्राप्त किए। उसे ग्रीक भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसने लैटिन के साथ-साथ ग्रीक पाण्डुलिपियाँ भी एकत्रित कीं। कन्स्टेंटीनोपुल से उसने प्लेटो के सोलह ग्रन्थ और होमर की एक प्रति हासिल की। प्राचीन लेखकों में उसकी आत्मिक अभिरुचि थी और वह उनसे काल्पनिक पत्राचार किया करता था। वह मध्यकालीन प्रवृत्ति का घोर विरोधी था। पंडित-ग्रंथ के विशेष रूप से खिलाफ था। वह उन्हें सत्यान्वेषी न मानकर मिथ्या तार्किक समझता था। विश्वविद्यालय जो पंडित-पंथ के गढ़ थे, उसकी दृष्टि में घोर अज्ञान के केन्द्र थे। जब उसके विरोधी अरस्तू का आश्रय लेते थे तो वह कहता था कि अरस्तू की बहुत-सी बातें गलत थीं और मनुष्य होने के नाते वह मानवीय भूलों के परे नहीं था। उस युग में अरस्तू की आलोचना करना स्वयं बाइबिल की आलोचना करने की तरह था। अतः उसका आघात केवल अरस्तू पर न होकर स्वयं चर्च और सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था पर था। वस्तुतः उसका प्रमुख कार्य था साहित्य-विकास के क्षेत्र में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को आगे बढ़ाना। वह स्वयं एक कटु आलोचक था तथा उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि लोग प्राचीन साहित्य की उपलब्ध सामग्री को यथावत् ग्रहण न करें, बल्कि आलोचना-पर्यवेक्षण द्वारा अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना भी करें। प्राचीन रोमन साहित्य की ही तरह प्राचीन स्मारकों में भी उसकी रुचि थी। पुनर्जागरण से पहले प्राचीन स्मारकों का प्रायः दुरुपयोग ही होता रहा था। परन्तु पेत्रांक इन स्मारकों को आधुनिक-दृष्टि से देखता था।

पेत्रांक के कई उल्लेखनीय मानववादी शिष्य थे, जिनमें जियोभानी बोकासियो (१३१३-१३७५) प्रमुख था। उसकी प्रसिद्ध रचना डेकामेरॉन में इटालियन में

लिखित कहानियाँ हैं। मानवादी के रूप में उसने प्राचीनता के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया। उसने अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ एकत्रित कीं तथा उनकी प्रतियाँ तैयार कीं। उसने ग्रीक भाषा सीखने की कोशिश की, परन्तु इसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। उसके ग्रीक भाषा के शिक्षक ने इलियड तथा औडिसी का लैटिन में अनुवाद किया। सन् १३९६ ई० में पूर्वी सम्राट के दूत, मैनुएल क्रिसोलोरस को फ्लोरेंस में ग्रीक भाषा का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इस तरह सात सौ वर्षों की उपेक्षा के बाद पश्चिमी यूरोप के विद्यालयों में ग्रीक भाषा और साहित्य की विधिवत् पढ़ाई शुरू हुई।

इटालियन मानववादियों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में विशेष रुचि थी। धर्मयोद्धाओं के धार्मिक जोस की तरह उनमें प्राचीन पाण्डुलिपियों को हस्तगत करने का आग्रह था। इस संदर्भ में पेत्रांक का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। उसके बाद पोगियो ब्रासिओलिनी (१३८०-१४५९) का नाम लिया जा सकता है। उसने स्वीजरलैंड के संत गॉल मठ से क्वीनटिलियन के इंस्टीच्युट्स की एक प्रति हासिल की थी। इस तरह, इटालियन मानववादियों के अथक प्रयास के फलस्वरूप, प्राचीन साहित्य की अमूल्य निधि भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखी जा सकी, अन्यथा कुछ समय बाद इसका अधिकांश भाग अवश्य नष्ट हो गया होता।

इटालियन पुनर्जागरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष था—पुस्तकालयों की स्थापना। पुरानी पाण्डुलिपियों को एकत्रित करने और उनकी प्रतियाँ तैयार करने में काफी समय और धन लगता था। परन्तु समृद्ध व्यापारी, तानाशाह शासक और पोप मानववादियों के आश्रयदाता थे। ऐसे लोगों में फ्लोरेंस के कोसिमो और लोरेंजो डि मेडिसी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हीं के सद्प्रयासों से फ्लोरेंस, इटली में बौद्धिक एवं साहित्यिक पुनर्जागरण का केन्द्र बन सका। नवीन आन्दोलन के समर्थक पोपों में पोप निकोलस पंचम (१४४७-१४५५) का विशेष स्थान था। उसने यूरोप के विभिन्न भागों से पाण्डुलिपियां एकत्रित कीं। रोम में उसकी देखरेख में अनेक प्रतिलिपिक और अनुवादक कार्य करते थे। कुछ समय बाद पोप जुलियस द्वितीय (१५०३-१५१३) और पोप लियो दशम ने रोम को पुनर्जागरण की कला और ज्ञान का प्रमुख केन्द्र बनाया। ज्ञान के नवीन कोष को सुरक्षित रखने और विद्वानों के लिए सुलभ बनाने की दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना की गई। इस तरह, इटली के कुछ सबसे बड़े पुस्तकालयों की स्थापना हुई। फ्लोरेंस में मेडिसी ने प्रसिद्ध मेडिसी लाइब्रेरी की स्थापना की। रोम की वैटिकन लाइब्रेरी में अकेले पोप निकोलस पंचम ने ही पाँच हजार पाण्डुलिपियाँ जमा की थीं।

प्राचीन साहित्य का पुनर्जन्म, प्रतिलिपियों में अभिवृद्धि और पुस्तकालयों की स्थापना इटालियन मानववादियों के प्रारम्भिक कार्य थे। उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य थे—मूल ग्रन्थों की वृद्धि और तुलनात्मक अध्ययन, ग्रीक पाण्डु-लिपियों का लैटिन में अनुवाद, प्राचीन साहित्य की व्याख्या, मूल्यांकन और समीक्षा। इस दिशा में जिन इटालियन विद्वानों ने कार्य किया उनमें पोलिजियानों (१४५४-१४९४) सर्वश्रेष्ठ था। वह असाधारण प्रतिभा और विलक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति था। प्रसिद्ध डच मानववादी इरैसमस ने उसे "प्रकृति का असामान्य चमत्कार" कहा है। फ्लोरेंस में ग्रीक और लैटिन के शिक्षक के रूप में उसने नवीन ज्ञान को विकीर्ण करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के इटालियन विद्वानों में एक अन्य उल्लेखनीय नाम पिकों डेला मिरनडोला (१४६३-१४९४) का है। उसने ईसाइयत और नवीन ज्ञान के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण युग के इटालियन कवियों में अरियेस्टो का नाम प्रमुख है। उसका "आरलैंडो फुरियोशो" नामक ग्रन्थ रोमांटिक कविताओं का संग्रह है। उसकी तुलना विद्वानों ने 'किंग आर्थर' की कहानियों से की है। इसी युग में कुछ अन्य साहित्यकारों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें टासों और शेरूपोंरो के नाम अति प्रसिद्ध हैं। टासों की 'जेससेलमडलिवई' एक भावपूर्ण साहित्यिक कृति है। यहाँ उन विदवत्परिषदों का भी उल्लेख करना आवश्यक है जिनकी पन्द्रहवीं शताब्दी में इटली के प्रायः प्रत्येक नगर में स्थापना हुई। इनके सदस्य प्रायद्वीप के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे। इन परिषदों की तुलना आज के साहित्यिक एवं वैज्ञानिक परिषदों से की जा सकती है। इनमें सवश्रेष्ठ फलोरेंस में मेडिसी द्वारा स्थापित 'प्लेटोनिक अकादमी' थी। फ्लोरेंस के विद्वानों के लिए प्लेटो आदिक विज्ञ पुरुष था। वे उसका जन्म-दिन मनाते थे और उसकी प्रतिमा के समक्ष दीप जलाते थे। इससे प्राचीन संस्कृति में उनकी अपार आस्था का पता चलता है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में छापाखाने के आविष्कार ने इटालियन मानववादियों का कार्य और भी सरल बना दिया। इतिहासकार हैलम ने छापा-खाने को मानवजाति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आविष्कार कहा है। चलायमान अक्षरों से मुद्रित पहली पुस्तक बाइबिल की एक लैटिन प्रति थी जिसे गुटनवर्ग (१४००-१४६८) ने मेंज स्थित अपने छापाखाने से १४५४ से १४५५ के बीच निकाला था। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोप के प्रायः प्रत्येक देश में छापाखाने खुल गये थे। केवल अकेले वेनिस नगर में दो सौ से भी अधिक छापाखाने थे। अलडस मेनुटियस (१४५०-१५१५) ने वेनिस में प्रसिद्ध अलडाइन प्रेस खोला था।

इरेसमस ने कुछ दिनों तक इस प्रेस में ग्रीक ग्रन्थों के सम्पादक के रूप में काम किया था। अलडस के साथ सम्बद्ध विद्वान 'अलडाइन एकेडमी' के नाम से विख्यात हुए। इस अकादमी के सदस्य केवल ग्रीक भाषा के जानकार ही हो सकते थे। अलडस ने ग्रीक संस्करणों के अतिरिक्त लैटिन और हिब्रू संस्करण भी निकाले। कुल मिलाकर उसने एक हजार से भी अधिक ग्रन्थ छापे। इस तरह अलडाइन तथा अन्य प्रेसों के सत्प्रयासों के कारण प्राचीन साहित्य को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित बनाए रख सकना सम्भव हुआ।

इटालियन पुनर्जागरण का दूसरा पक्ष था प्राचीन कला का पुनर्जन्म। प्राचीनता के प्रति इटालियनों का मोह केवल दर्शन तथा साहित्य तक ही सीमित नहीं था, बल्कि प्राचीन कला के पुनरुद्धार में भी उनकी समान रूप से अभिरुचि थी। कलात्मक पुनर्जागरण का वास्तविक स्वरूप था प्रकृति से तादात्म्य-स्थापना। मध्यकालीन कला में स्वातंत्र्य तथा प्राकृतिकता का अभाव था। उस युग का कलाकार धार्मिक प्रतिबंधों के अन्तर्गत काम करता था। अतः उसकी कला में सादगी थी। उसकी कला में बैजयन्ति कला की रूक्षता तथा निष्प्राणता तो थी ही, वह संतों तथा संन्यासियों के प्रतिमानों से आगे सोच ही नहीं सकता था। दीवारों, वेदियों तथा पूजागृह की सजावट में वह निश्चित परम्परा से अलग होकर अपनी कला को निखार प्रदान नहीं कर सकता था। पुनर्जागरण युग से कला इन प्रतिबंधों से मुक्त होकर अधिक सजीव हुई। अब उस पर प्रकृति एवं प्राचीनता का प्रभाव समान रूप से परिलक्षित होने लगा। कला के पुनर्जागरण में भी महान् कलाकारों के व्यक्तिगत प्रभाव का विशेष महत्त्व था। यदि पेत्रांक मानववाद का जन्मदाता था, तो निकोला पिसानो पुनर्जागरण युग की मूर्तिकला का जन्मदाता था। उस पर प्राचीन युग की महान कृतियों का गहरा प्रभाव था। उसका जो महत्त्व मूर्तिकला के लिए था। लगभग वही महत्त्व ब्रुनेलेसी का वास्तुकला के क्षेत्र में था। पिसानो के साथ जिस नवीन कला का जन्म हुआ उससे मूर्तिकला के अतिरिक्त चित्रकला भी प्रभावित हुई। वस्तुतः इटालियन पुनर्गागरण की प्रतिनिधि कला चित्रकारी ही थी। ईसाई विचारों एवं भावनाओं की इसमें ही सर्वश्रेष्ठ कलात्मक अभिव्यक्ति हुई। शिल्प के माध्यम से आशा एवं विश्वास, खुशी एवं निराशा की अभिव्यक्ति उस सफलता के साथ सम्भव नहीं थी जिस सफलता के साथ चित्रकार इन अरूप तत्त्वों को मूर्त्त रूप दे सकता था। ईसामसीह के जीवनवृत्त की मुख्य घटनाओं को शिल्प के माध्यम से उजागर करना संभव न था। अतः चित्रकारी इटालियन कलाकारों के लिए भावाभिव्यक्ति का मुख्य साधन बन गई। अब चित्रकारों ने

पुरानी परम्पराओं को त्याग कर नूतन एवं स्वतन्त्र शैली का विकास किया। स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिकता के कारण इनकी कला-कृतियों में निखार आ गया। इनके चित्र अधिक सजीव तथा स्वाभाविक हो उठे। पुनर्जागरण काल के इटालियन चित्रकारों में माइकेल एंजेलो (१४७५-१५६४), राफेल (१४८३-१५२०) तथा लियोनारडो-दा विंची (१४५२-१५१९) के नाम अति प्रसिद्ध हैं। माइकेल एंजेलो एक बहुमुखी प्रतिभा का कलाकार था। उसकी दक्षता, चित्रकारी एवं मूर्तिकला में समान रूप से थी। उसके बनाए सैकड़ों चित्र आज भी विद्यमान हैं। वह सुन्दरता का पुजारी था तथा अपने चित्रों में सजीवता लाने के लिए पुरुषों का नग्न चित्र तक अंकित करता था। यद्यपि उसकी कलाकृतियाँ कलात्मक दृष्टि से अद्भुत थीं, फिर भी लोगों ने उसके जीवन-काल में उसे सराहा नहीं। इस कारण उसे अपने जीवन-काल में निराशा-भावना का ही अनुभव होता रहा। उसका 'अन्तिम निर्णय' नामक चित्र, जिसे उसने लगभग बीस वर्षों में पूरा किया, कला का अपूर्व नमूना है। इस छित्र को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य भय एवं आतंक से त्रस्त है तथा उसे ईश्वर के प्रेम एवं दया की कोई आशा नहीं है। माइकेल एंजलो की तरह राफेल पुनर्जागरण-कला का दूसरा महान चित्रकार था। सैंतीस वर्ष की अल्प आयु में ही इस महान कलाकार की मृत्यु हो गयी। फिर भी, इसने बहुत से चित्र अंकित किए थे। उसका विश्वविख्यात चित्र 'सिस्टाइन मेडोना'' है जिसे सभी प्रेक्षकों ने संसार की अमूल्य निधियों में एक माना है। लियोनारडो-दा-विंची की गणना सिर्फ कलाकार के रूप में ही नहीं बल्कि एक कुशल शिल्पी, संगीतज्ञ, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक के रूप में भी की जाती है। यद्यपि उसके अधिकांश चित्र अधूरे ही हैं, फिर भी वे अपनी सुन्दरता एवं कलात्मक दृष्टिकोण के कारण चित्रकला के अद्वितीय नमूने हैं। उसकी श्रेष्ठ कला-कृतियों में एक 'मोनालिसा' है। प्रारंभिक इटालियन चित्रकारों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत ईसाई धर्म ही था। जन्म-मरण स्वर्ग-नर्क सम्बन्धी मध्यकालीन मान्यताएँ ही उनके द्वारा चित्रित होती थीं। साइमोंड ने ठीक ही लिखा है कि जो कुछ दांते ने काव्य के माध्यम से किया, वह इन्होंने चित्र के माध्यम से किया। परवर्ती कलाकारों ने प्राचीनता के प्रभाव में आकर ईसाई और गैर-ईसाई, दोनों तत्त्वों को अपनी कला में शामिल किया। इस प्रकार ये परवर्ती कलाकारों पुनर्जागरण के वास्तविक प्रतिनिधि थे क्योंकि इस आन्दोलन का एक प्रमुख उद्देश्य ईसाइयत और गैर ईसाइयत में सामंजस्य स्थापित करना भी था।

पुनर्जागरण-कालीन इटली मूर्त्तिकला की भी आशातीत उन्नति हुई। निकोलो पिसानों का उल्लेख ऊपर किया जा चूका है। जियोवर्टी अपने काल का महान

शिल्पकार था। इसके द्वारा निर्मित फ्लोरेंस के गिरजाघर का दरवाजा माइकेल एंजलो की दृष्टि में 'स्वर्ग के द्वारा पर रखने योग्य' था। इसी युग में स्थापत्य कला की भी आश्चर्यजनक प्रगति हुई। विभिन्न प्रकार के कलात्मक इमारतों की सृष्टि हुई। ये भवन अपनी आकृति एवं सजावट के कारण अति भव्य थे। अब मेहरावों, खिड़कियों तथा गुम्बजों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाने लगा। रोम का संत पीटर गिरजाघर तथा वेनिस का संत मार्क गिरजाघर इस युग की स्थापत्य-कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं। रोम के संत पीटर गिरजाघर के निर्माण में माइकेल एंजलो ने सक्रिय भाग लिया था। स्थापत्य कला पर प्राचीन यूनान तथा रोम की शैली का प्रभाव ही प्रमुख था। गोथिक शैली का प्रभाव प्रायः शून्य के बराबर था।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रसांगिक नहीं होगा कि इटालियन पुनर्जागरण का एक धार्मिक तथा नैतिक अथवा सही माने में अधार्मिक तथा अनैतिक पक्ष भी था। सर्वप्रथम, गैर-ईसाई कवियों एवं दार्शनिकों के अध्ययन का प्रभाव चर्च की आशंका के अनुकूल ही पड़ा। धार्मिक आस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। लोगों की चिंतन धारा अब धार्मिक अविश्वास की ओर मुड़ने लगी। ग्रीक-अरब विज्ञान तथा चिंतन-शैली का यह प्रभाव तेरहवीं शताब्दी से ही परिलक्षित होने लगा था। पेत्रार्क के समय में भी विश्वविद्यालयों का वातावरण अनीश्वरवादी हो उठा था। अगली शताब्दी में इटालियनों की यह अनीश्वरवादिता और भी स्पष्ट हो गई। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही गई और कुछ समय बाद इटालियन समाज केवल नाम-मात्र का ईसाई रह गया। नवीन ज्ञान के जन्म के साथ-साथ उन सभी दोषों का भी जन्म हुआ जिनसे परवर्ती प्राचीन सभ्यता ग्रस्त होकर नष्ट हो गई थी। प्रजातंत्र काल में जिस तरह रोम का जीवन बाह्य प्रभावों तथा समृद्धि के फलस्वरूप पतनोन्मुख हो गया, उसी तरह पुनर्जागरणकालीन इटली भी बाह्य प्रभावों तथा अत्यधिक भौतिकता के कारण अधिकाधिक भ्रष्ट होता गया। अब ईसाई नैतिक मान्यताओं का स्थान प्राचीन काल की नैतिक मान्यताओं ने ले लिया। ईसाई सादगी, संयम और अनुशासन की अब खिल्ली उड़ाई जाने लगी और पूर्व-ईसाईकालीन दोष ग्राह्य माने जाने लगे। वस्तुतः इस युग के साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग प्राचीन ग्रीस-रोम के पराभवकालीन साहित्य से भी अधिक भ्रष्ट था। इटालियन समाज का यह नैतिक प्रभाव काफी हद तक बाद के उसके राजनीतिक प्रभाव के लिए जिम्मेदार सिद्ध हुआ।

यूरोप के अन्य भागों में पुनर्जागरण :

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इटालियन पुनर्जागरण की धारा प्राय: सूख गई। परन्तु, तबतक मानववाद आल्प्स पर्वतमाला को पार कर जर्मनी फ्रांस और इंग्लैंड में प्रवेश कर चुका था। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही जर्मन स्नातक इटली पहुँच-कर वहाँ के विद्वानों से यूनानी भाषा सिखने लगे थे। इटालियन मानववाद ग्रीक और लैटिन साहित्य के अध्ययन तक ही सीमित था, परन्तु उत्तरी यूरोप के मानव-वादियों की प्राचीन-हिब्रू और ईसाई साहित्य और संस्कृति में भी समान रूप से रुचि थी। वस्तुत: जर्मन और अन्य उत्तरी मानववादियों की साहित्यिक और बौद्धिक अभि-रुचि ने बाद के धर्मसुधार-आन्दोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया।

साहित्यिक दृष्टिकोण से यद्यपि पुनर्जागरण का प्रारम्भ इटली में हुआ, तथापि इसकी उन्नति अधिकतर यूरोप के अन्य देशों में ही हुई। फ्रांस और इंग्लैंड ने इस दिशा में अग्रणी का कार्य किया। यूरोपीय क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का महत्त्वपूर्ण कारण था ईसाई धर्मप्रचारकों का प्रयत्न। ईसाई धर्मप्रचारकों ने यूरोप के समस्त भू-भाग पर ईसाई मत को फैलाने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को ही अपनाया था। फलस्वरूप, ईसाई धर्मग्रन्थों का विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। इससे प्रत्येक देश को अपनी राष्ट्रभाषा का स्वरूप निर्धारित करने में अत्यधिक सहायता मिली। यों तो फ्रांस के साहित्यक जगत् में पुनर्जागरण का श्रेय फ्रन्कौस रैबेल, रोसाई तथा अन्य साहित्यकारों को है, किन्तु पुनर्जागरण साहित्य का जीता जागता नमूना निबन्धलेखक मौंत्ये की रचनाओं में व्यापक रूप से उपलब्ध होता है। उसने अपने लेखों में व्यक्तिगत भावनाओं एवं घटनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। यह निर्भीक प्रकृति का व्यक्ति था। अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने में उसने कोई कसर बाकी नहीं रखी। यही कारण था कि उसे "प्रथम आधुनिक पुरुष" की संज्ञा दी गई है। फ्रनकौस रैबेल की दो कलाकृतियाँ "गेरगनतुआ तथा पेण्टेग रुएल" विश्वविख्यात रचनाएँ हैं। सोलाहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में फ्रांस में उपन्यास लिखने की परम्परा का आरम्भ हुआ। इसमें दीन-हीन किसान तथा अन्य उत्पीड़ित व्यक्ति कथानक के मुख्य पात्र होते थे। इस युग के इतिहासकारों में चेस्टेलन और कोमिनेस का नाम लिया जा सकता है।

स्पेन तथा पुर्तगाल में पुनर्जागरण का प्रारम्भ लगभग १४९० ई० में हुआ। इन दोनों देशों में इसकी प्रगति धीमी थी। फ्रांस के विश्वविख्यात लेखक सरवैंटीज ने डॉन क्विक्जाण्ट नामक ग्रन्थ को स्पेनिश भाषा में लिखा। इसे पुनर्जागरण काल

के सुन्दर एवं आश्चर्यजनक ग्रन्थों में एक माना गया है। इसमें स्पेन के कृषक समुदाय का सुन्दर चित्रण किया गया है। लोक साहित्य के क्षेत्र में इंगलैंड में भी आशातीत प्रगति हुई। सन् १४०० ई० के लगभग विलियम लैंगलैंड प्रसिद्ध कवि हुआ। परन्तु परवर्ती अंग्रेजी कविता का वास्तविक जन्मदाता जोफ्री चौसर था जिसकी कटरबरी टेल्स नामक पुस्तक अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। फिर भी उसके समय तक मानववादी उत्साह की इंगलैंड में कमी थी। हम्फ्री और विलियम ग्रे जैसे मानववादी मुख्यत: ग्रन्थ-संकलन में ही रुचि रखते थे। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैंड में विलियम टिली, टामस लिनाकर और विलियम कोसिन जैसे प्रसिद्ध मानववादियों का उदय हुआ। इंग्लैंड के साहित्यिक क्षेत्र में पुनर्जागरण काल का देदीप्यमान नक्षत्र सर टामस मूर था। उसके विचार अपने समय से बहुत आगे थे। धार्मिक संकीर्णताओं की अवहेलना कर उसने एक ऐसे आदर्शवादी समाज की कल्पना की, जिसका तत्कालीन वस्तुस्थिति से प्राय: कोई संबध नहीं था। उसके अतिरिक्त कुछ अन्य साहित्यकार भी हुए जिन्होंने अपनी स्वतंत्र विचारधाराओं को ग्रन्थों का रूप देकर इण्ग्लैंड के पुनर्जागरण आन्दोलन को सफल बनाया। फ्रांसिस बेकन का नाम इस संबंध में महत्त्वपूर्ण है। वह अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसके निबन्ध-लेख आज भी विश्व के अधिकांश भागों में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। नाट्य साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय व्यक्ति शेक्सपियर हुआ। इस दिशा में उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी उसकी मौलिकता। यही कारण है कि नाटककार के रूप में उसका विश्व के प्रत्येक भाग में सम्मान है। उसकी प्रतिभा के विषय में विद्वानों का मत है कि उसके समान कोई अन्य नाटककार विश्व में आजतक पैदा ही नहीं हुआ।

मानववादी आन्दोलन का जर्मनी पर भी प्रभाव पड़ा। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गणितज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और धर्मशास्त्री के रूप में कुसा का कार्डिनल निकोलस अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। उसने अनेक लैटिन तथा यूनानी पाण्डुलिपियाँ एकत्रित कीं। डेमेन्टर का हेजियस प्रसिद्ध मानववादी शिक्षक था। उसके अनेक शिष्यों ने, जिनमें इरासमस भी शामिल था, नवीन ज्ञान को चतुर्दिक् फैलाया। दूसरे अन्य मानववादी भी थे जो जर्मनी के विश्वविद्यालयों, मठों और स्वतंत्र नगरों में निखड़े पड़े थे। उनमें कुछ उल्लेखनीय नाम बेसेल, एग्रिकोला, विफेलिंग, टिथेमियस, जोहान्स एलिपिड और रिजियोमोनटेनस के हैं। इन लोगों ने हिडेलबर्ग, ब्रेसल, स्ट्रैसबर्ग, नुरेलबर्ग, अरफर्ट तथा वियना मे मानववाद का प्रचार किया।

सामान्यतः इनकी अभिरुचि धर्मशास्त्रों तथा गैर-ईसाई में थी। इसके फलस्वरूप जर्मन मानववाद का एक अपना विशिष्ट स्वरूप विकसित हुआ जो आगे चलकर धर्मसुधार आन्दोलन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। इटली की ही तरह कुछ जर्मन मानववादियों की हिब्रू साहित्य मे विशेष रुचि थी। वेसेल तथा टियेमियस हिब्रू के विद्वान थे, परन्तु रूशलिन हिब्रू भाषा का वास्तविक ज्ञाता था। संक्षेप में, जर्मनी भी पुनर्जागरण का वास्तविक रूप था—ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार और प्राचीनता के प्रति आसक्ति।

पुनर्जागरण काल में विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। पोप के अनुसार विज्ञान मनुष्य की नैतिकता को नष्ट कर सकता था। मध्ययुग में चर्च विज्ञान की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा था। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में चर्च के प्रति लोगों की आस्था घटी तो विज्ञान की प्रगति निर्विघ्न रूप से होने लगी। लोग संकीर्ण विचारों को त्यागकर नये-नये प्रयोगात्मक अन्वेषणों की ओर आकृष्ट हुए। पुनर्जागरण-युग के प्रारंभिक वैज्ञानिकों में लियोनारडो-दा-विंची तथा रोजर वेकन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधान की भावना को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। लियोनारडो-दा-विंची ने लगभग पाँच हजार पृष्ठों के एक मोटे ग्रन्थ में विभिन्न वैज्ञानिक पहलुओं तथा मशीनों का विशद वर्णन किया। रोजर वेकन समझता था कि प्राचीन वैज्ञानिक निष्कर्षों में प्रौढ़ ज्ञान का अभाव था। अतः उसकी दृष्टि में नये आविष्कारों की नितांत आवश्यकता थी। लगभग इसी समय फ्रांसीसी विद्वान डेकार्ट ने विज्ञान के क्षेत्र में संदेहात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। इससे पुनर्जागरण-काल में विज्ञान की प्रगति में काफी सहायता मिली। भूगोल, ज्योतिष, गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि सभी विषयों में नवीन आविष्कार होने लगे जिनके फलस्वरूप विज्ञान-जगत शीघ्र ही आलोकित हो उठा।

इस युग में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रगति ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में हुई। पुनर्जागरण काल से पूर्व लोगों का टालमी की इस उक्ति में दृढ़ विश्वास था कि पृथ्वी सौरमंडल का केन्द्र है। जो भी व्यक्ति उस वैज्ञानिक विश्वास का खण्डन करने का दुस्साहस करता था, उसे अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती थीं। उदाहरणार्थ, ब्रूनो ने जब उस विश्वास का विरोध किया, तब उसे जिन्दा जला दिया गया। परन्तु पुनर्जागरण काल में पादरी कोपरनिकस ने कहा कि पृथ्वी चलायमान है तथा यह सूर्य की परिक्रमा करती है। जिसके कारण रात और दिन होते हैं।

उसकी पुस्तक रिवोल्युशन ऑफ द हेवनली ऑरब्स पुनर्जागरण युग की अपूर्व वैज्ञानिक रचना है। सर्वप्रथम लोगों ने कोपरनिकस का विरोध किया परन्तु जब अन्य वैज्ञानिकों ने उसका समर्थन किया तब विरोधी लोग चुप हो गये। जर्मन वैज्ञानिक केपलर ने कोपरनिकस के सिद्धान्त को गणित के आधार पर सत्य एवं प्रामाणिक बतलाया। लगभग इसी समय गैलीलियों ने भी इस नये सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए दूरबीन का आविष्कार किया। उसने भी जब पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने की बात कहीं, तब चर्च ने उसका विरोध किया। चर्च की आशंका थी कि इस नवीन सिद्धान्त से पृथ्वी का महत्त्व घट जायगा और चूँकि पृथ्वी पर पोप है, इसलिए पोप की भी प्रतिष्ठा घट जायगी। अतः चर्च द्वारा गैलीलियो पर दबाव पड़ना शुरू हुआ। उसे बाध्य किया गया कि वह अपने नवीन सिद्धान्त को वापस ले ले। अत्यधिक यंत्रणाओं के कारण गैलीलियों को अपने सुनिश्चित वैज्ञानिक सत्य को गलत बतलाना पड़ा। उसे यह घोषणा करनी पड़ी कि सूर्य अस्थिर है तथा वह पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। किन्तु, तबतक सत्य का प्रचार इतना हो चुका था कि जन-साधारण को अधिक दिन तक अन्धकार में रखना असंभव सा हो गया। नवीन वैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में आ जाने से जुलियस सीजर द्वारा चलाए गए कैलेण्डर में आवश्यक सुधार करना पड़ा। यह सुधार हुआ कैलेण्डर आज भी ग्रिगोरियन कैलेण्डर के नाम से प्रचलित है।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। गैलीलियो ने अरस्तूनियन गति का खण्डन किया और गति ध्वनि सम्बन्धी नवीन नियम सिद्धातों को प्रकाश में लाया। उसने इस बात का भी पता लगाया कि लोलक बराबर एक निश्चित समय के बाद डोलता है। उसके इसी वैज्ञानिक सत्य के आधार पर आधुनिक घड़ियों का निर्माण संभव हुआ। सर आइजक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता लगाकर भौतिक विज्ञान के क्षत्र में आश्चर्यजनक क्रांति पैदा की। उसने यह पता लगाया कि विभिन्न नक्षत्र एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी में भी आकर्षण-शक्ति है और वह भी ग्रहों को अपनी ओर खींचते हैं और विभिन्न ग्रहों की गति इसी आकर्षण-शक्ति द्वारा नियमित होती है। भौतिक विज्ञान के साथ-साथ सोलहवीं शताब्दी में गणितशास्त्र का प्रगति भी विशेष रूप से हुई। गणित के ज्ञान की आवश्यकता विभिन्न कारणों से बराबर बढ़ रही थी। फलतः केपलर (शूलकाणी मूलभागों की प्रवहमाण अनुगति का सिद्धान्त), तरतग्लिया (घन समीकरण) फरोरी (चतुर्वल-समीकरण), विएटा

(एलेजबरिक समीकरण), स्टेवीन (दशमलव भिन्न) तथा नेपियर (प्रतिफलन) आदि विभिन्न विद्वानों ने गणितशास्त्र के अध्ययन तथा व्यावहारिकता को अत्यधिक सूक्ष्म तथा सरल रूप प्रदान किया।

पुनर्जागरण युग में चिकित्साशास्त्र तथा रसायनशास्त्र की भी अपूर्व उन्नति हुई। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान हेपोक्रेटीज तथा गैलेन की चिकित्सा-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं का पुनः अध्ययन आरंभ हुआ। फलस्वरूप उनके सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन संभव हुए। विसेलियस पुनर्जागरण-काल का एक महान चिकित्साशास्त्री था। वह नीदरलैंड का रहनेवाला था। उसने हेपोक्रेटीज तथा गैलेन की रचनाओं का सूक्ष्म अध्ययन कर मानव शरीरशास्त्र पर एक बृहद् ग्रन्थ की रचना की। इस पुस्तक में उसने गैलेन की दो सौ औषधियों एवं शल्य-प्रणाली में आवश्यक सुधार किये। इस क्षेत्र में दूसरा प्रमुख व्यक्ति इंग्लैंड निवासी विलियम हारवे थे। चिकित्साशास्त्र को उसकी अपूर्व देन थी रक्त-प्रवाह का सिद्धांत जो वर्त्तमान-युग में भी सही माना जाता है। यह पहला व्यक्ति था जिसने यह प्रमाणित किया कि रक्त का संचार होता है और यह हृदय से धमनियों में, वहाँ से रगों में और पुनः हृदय में आता है। अन्य प्रमुख चिकित्सकों में लुकस, कोरेडस तथा हेलमौण्ट आदि के नाम विख्यात है। कोरेडस ने ईथर का आविष्कार कर शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र में महान् क्रांति पैदा की।

पुनर्जागरण-काल के प्रारंभ से ही यूरोपवासियों ने भौगोलिक अन्वेषण कार्य में महत्वपूर्ण कदम उठाया। फलस्वरुप भूगोल का ज्ञान विस्तृत हुआ। इन भौगोलिक खोजों के विशेष कारण थे। सर्वप्रथम कारण यह था कि व्यापारिक क्षेत्र में यूरोप का महत्व प्रायः कम हो रहा था, क्योंकि उस समय तक अरबवासी व्यापारिक क्षेत्र में लगभग एकाधिकार कायम कर चुके थे। यूरोप तथा एशिया के बीच व्यापारिक जल एवं स्थलमार्ग मुस्लिम देशों से होकर जाते थे। जब यूरोपवासियों ने इन मार्गों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा, तब तुर्की शासकों ने इसका तीव्र विरोध किया। फलतः यूरोपियनों को व्यापार की उन्नति के लिए नये-नये मार्गों को ढूंढ़ निकालना आवश्यक-सा हो गया। धर्मयुद्ध के समय यूरोपियनों ने सर्वप्रथम मसालों के व्यवहार को सीखा था। अतः यूरोपीय बाजारों में मसालों की मांग बहुत अधिक बढ़ गयी थी। इसके व्यापार में लाभ-ही-लाभ था। इस कारण भी मसालेवाले देशों के मार्ग का पता लगाना यूरोपीय व्यापारियों के लिए आवश्यक हो गया था। इस दिशा में ईसाई-धर्मप्रचारकों ने भी विशेष योगदान किया था।

इनका मुख्य ध्येय था अपने धर्म का प्रचार करना। अतः इन्होंने भी बहुत से साहसिक व्यक्तियों को इस दिशा में कार्य करने के लिए सदा प्रोत्साहित किया। प्रारंभिक दिनों में जहाज द्वारा सामुद्रिक यात्रा करना अत्यंत कठिन कार्य था। दिशा-विहीन हो जाने के भय से लोग समुद्र-तट से अपने जहाजों को अधिक दूर नहीं ले जाया करते थे। किन्तु, तेरहवीं शताब्दी के अंत के कुछ पहले मेरिनर्स कम्पास का आविष्कार हुआ। लगभग इसी समय पृथ्वी के गोलाकार होने के सिद्धान्त को भी जोरों से प्रतिपादित किया गया। लोगों में ऐसा विश्वास पैदा किया गया कि पृथ्वी के गोलाकार होने के कारण एक जगह से प्रस्थान करनेवाला फिर लौटकर उसी स्थान पर पहुँच जायगा। अतः इन कारणों से अब नाविकों का भय जाता रहा और अज्ञात देशों की खोज में लोग दूर-दूर की यात्राओं पर निकलने लगे।

भौगोलिक अन्वेषण सम्बन्धी कार्यों का सूत्रपात पन्द्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाल के संरक्षण में प्रारम्भ हुआ। वहां का शासक हेनरी इन कार्यों में बड़ी दिलचस्पी रखता था। वह एक कुशल नाविक भी था और इतिहास में 'नाविक राजकुमार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके द्वारा भेजे नाविकों ने गिनी की खाड़ी स्थित देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर व्यापार करना शुरू किया। सन् १४८६-८८ ई० में बोर्थेलोगो डिआज नामक नाविक ने 'केप ऑफ गुड होप' का पता लगाया। किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौगोलिक अन्वेषण कार्य क्रिस्टोफर कोलम्बस ने संपादित किया। वह पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिए एक नया मार्ग खोज निकालना चाहता था। किन्तु, स्वयं साधनहीन होने के कारण इधर-उधर भटक रहा था। सर्वप्रथम उसने पूर्तगाल के शासक से इस कार्य में सहायता की याचना की, निन्तु वह सफल नहीं हो सका। अंत में वह स्पेन के राजा फर्डिनैण्ड तथा रानी इजावेल को गुलाम तथा सोना देने के वादे के बदले में सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ। सन् १४४२ ई० की ३ अगस्त को वह अपने ८८ आदमियों तथा ३ छोटे-छोटे जहाजों को लेकर भारत के सामुद्रिक मार्ग का पता लगाने के लिए निकल पड़ा। लगभग सवा मास तक वह लगातार चलता ही रहा, किन्तु जमीन का एक चप्पा भी उसे देखने को नसीब नहीं हुआ। इस अवधि में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके साथी प्रायः धैर्य खो चुके थे, तभी १४९२ की १२ अक्टूबर को उन्हें सर्वप्रथम पृथ्वी का दर्शन हुआ। कोलम्बस ने सोचा कि वह भारत के आस-पास पहुँच गया है। फलतः उसने उन प्रदेशों का नामकरण 'इण्डीज' कर दिया जो आज भी 'वेस्ट इण्डीज' के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु वास्तविकता यह थी कि उसने भारत की जगह बिल्कुल नवीन प्रदेशों का पता लगा लिया था। कोलम्बस की इस यात्रा से नये विश्व

पता लगाना आसान हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् फ्लोरेंस निवासी अमेरिगो वेशपुची ने 'नये विश्व' की सफल यात्रा की तथा उसी के नाम पर उस देश का नाम भी अमेरिका पड़ा। उसने अपनी यात्रा का रोचक विवरण अपने भ्रमण-ग्रन्थ में दिया है।

कोलम्बस की सफलता से कुछ अन्य लोगों को भी प्रेरणा मिली। सन् १४९८ ई० में वास्कोडि-गामा उत्तमाशा-अंतरीप होता हुआ कालीकट पहुँचा। इस तरह उसने कोलम्स के अधूरे काम को पूरा किया। मैगलेगन विश्व का प्रथम व्यक्ति था जिसने सम्पूर्ण विश्व की परिक्रमा जहाज द्वारा की। सर्वप्रथम वह दक्षिण अमेरिका गया। वहाँ से प्रशान्त महासागर की यात्रा करते हुए उसने फिलिपाइन्स का पता लगाया। स्पेनवासियों ने पेरू तथा मेक्सिकों का पता लगाया। सन् १४९७ ई० में हेनरी सातवां की मदद पाकर जॉन केबेट ने न्यूफाउण्डलैंड का पता लगाया। इसी तरह १५३४ ई० में फ्रांसीसी जैक कार्टियर ने कनाडा का पता लगाया। उपर्युक्त भौगोलिक अन्वेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इनके द्वारा भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि तो हुई ही, अन्य दिशाओं में भी नवीन अनुसंधानों को प्रोत्साहन मिला। वाणिज्य व्यवसाय की दृष्टि से इन भौगोलिक खोजों का महत्व सबसे अधिक था। इंग्लैंड, पुर्तगाल, फ्रांस यथा स्पेन आदि देश व्यापारिक देश बन गये। समाज में पूंजीपतियों का वर्ग उत्पन्न हुआ। यद्यपि प्रारम्भ में इन खोजों का सर्वाधिक लाभ स्पेन तथा पुर्तगाल को हुआ, परन्तु आगे चलकर यूरोप के प्रायः सभी देश इनसे लाभान्वित हुए। एक प्रकार से यूरोपीय देशों ने नवज्ञात प्रदेशों को आपस में बाँट लिया, जिनके फलस्वरूप यूरोप में धन-धान्य की वृद्धि हुई।

कला, साहित्य और विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों की स्थापना भी संभव हुई। यूरोप के प्राचीनतम विश्वविद्यालय, जैसे, सालेरनो, बोलोना, पैरिस तथा ऑक्सफोर्ड की इसी युग में स्थापना हुई। विश्वविद्यालयों की स्थापना से कानून, चिकित्सा धर्मशास्त्र आदि विषयों की नियमित रूप से पढ़ाई होने लगी। बारहवीं शताब्दी से ही रोमन विधि की पढ़ाई पुनः शुरू हो गयी थी। इटली से इस विद्या का प्रसार ऑरलियन्स, पेरिस और वहाँ से ऑक्सफोर्ड में हुआ। वैजन्टाइन प्रभाव के कारण संगीत के क्षेत्र में नवीन राग-रागिनियों का विकास हुआ। इससे आधुनिक यूरोपीय संगीत की नींव पड़ी। संगीत का स्वरूप धार्मिक और सामान्य, दोनों ही था। ग्रिगोरियन धुन का अन्त पहले हुआ, 'काउंटर-प्वायंट' का विकास बाद में हुआ।

पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव :

पुनर्जागरण के वैज्ञानिक, साहित्यक, कलात्मक, दार्शनिक और बौद्धिक प्रभावों के अतिरिक्त कुछ सामान्य प्रभाव भी पड़े। सर्वप्रथम, पुनर्जागरण ने जीवन और जगत सम्बन्धी कुछ नवीन मान्यताओं को जन्म दिया। पश्चिमी ईसाई जगत के बौद्धिक और नैतिक जीवन में ठीक उसी प्रकार की क्रांति आ गई जैसा कि प्राचीन-काल में ईसाई धर्म के प्रचार के शब्दों में, हुआ था। नवीन ज्ञान वस्तुतः नवीन धर्मशास्त्र की तरह था। बिशप क्रिप्पटन के शब्दों में, "इसका उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप में एक नवीन संस्कृति को फैलाना था।" अब लोग मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और महत्ता से परिचित हुए। लोगों ने समझा कि जीने में अपने-आप में ही एक विशेष प्रकार का सुख है जिसका परलोक के नाम पर त्याग करना उचित नहीं। आत्मा का हनन किये बिना भी ज्ञान की पिपासा को शांत किया जा सकता है। इन नवीन विचारों से मानव जाति के विकास में अत्यधिक सहायता मिली। इस तरह, धर्म, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, आविष्कार और उद्योग प्रायः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया। दूसरे शब्दों में, पुनर्जागरण के फलस्वरूप, मानव जाति ने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

दूसरी बात कि पुनर्जागरण ने ऐतिहासिक तारम्तय की छिन्न-भिन्न हुई शृंखला को फिर से जोड़ा। ग्रीको-रोमन जगत में प्रवेश करते ही ईसाई धर्म ने प्राचीनता के प्रति युद्ध-सा छेड़ दिया था। विधर्मिता पर ईसाईयत की विजय का अर्थ था प्राचीन सभ्यता से विच्छेद। यह सही है कि प्राचीन सभ्यता से विच्छेद। यह सही है कि प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के कुछ तत्व पूर्व-मध्यकाल में ईसाइयता में भी प्रवेश कर गए थे, परन्तु प्राचीनता का अधिकतर परित्याग ही किया गया था। इस तरह, यूरोप में ऐतिहासिक तारतम्य छिन्न-भिन्न हो गया था। परन्तु, पुनर्जागरण काल की उदारता और उत्साह, के कारण ईसाइयत तथा प्राचीन सभ्यता के बीच सामंजस्य स्थापित करना संभव हुआ। इस तरह, प्राचीन एवं आधुनिक जगत के बीच की खाई पट गई। मानव जाति के लिए यह अत्यंत लाभप्रद बात हुई, क्योंकि प्राचीन सभ्यता में साहित्य, कला और विज्ञान के अनमोल तत्त्व निहित थे जिनकी उपेक्षा करना न संभव ही था और न उचित ही। अब उनका उचित मूल्यांकन और उपयोग होने लगा जिससे प्राचीन सौंदर्य एवं सत्य की जानकारी आधुनिक जगत को हो सकी।

तृतीयतः, पुनर्जागरण से शिक्षा में सुधार हुआ। मानववादी आन्दोलन के

फलस्वरूप, शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए। मध्ययुग में लैटिन भाषा का ह्रास हुआ था, लोग ग्रीक भाषा को प्रायः भूल चुके थे। अरस्तू का दर्शन अपना सही रूप खो चुका था। प्लेटो को तो मध्ययुगीन चिंतक प्रायः भूल ही चुके थे। परन्तु, मानववादी आन्दोलन के कारण लैटिन भाषा की, उसके मूल रूप में, पुनर्स्थापना हुई। ग्रीक भाषा के साथ भी लगभग ऐसा ही हुआ। प्लेटो के दर्शन के साथ-साथ ग्रीक-रोमन साहित्य की प्रायः विस्मृत अमूल्य निधियां पाठकों को अब उपलब्ध हुई। इससे आधुनिकता के उदय और विकास में सहायता मिली। स्कूल और विश्वविद्यालय भी इस नवीन मानववादी आन्दोलन से अछूते नहीं रहे। प्रायः सभी प्राचीन और नवीन विश्वविद्यालयों में ग्रीक एवं लैटिन भाषाओं की पढ़ाई होने लगी। पंडित पंथ की शिक्षण विधि का स्थान अब मानववादी शिक्षण-विधि ने ले लिया। यह नवीन शिक्षा-विधि आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षण-प्रणाली के आगमन तक बनी रही।

चतुर्थ:, पुनर्जागरण से लोक भाषाओं के विकास में सहायता मिली। ग्रीको-रोमन साहित्य के अध्ययन से पाठकों का सम्पर्क दो अत्यन्त समृद्ध भाषाओं से हुआ। इससे नवीन साहित्य के सृजन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली, फ्रांस, स्पेन, इंग्लैंड तथा जर्मनी की जन-भाषाओं पर इसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। यह सही है कि ग्रीको-रोमन साहित्य का अत्यधिक प्रश्रय दिए जाने के कारण कहीं-कहीं लोकभाषाओं की उपेक्षा भी हुई, परन्तु अधिकांशतः, मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप, स्थानीय भाषाओं का परिमार्जन ही हुआ।

पुनर्जागरण के फलस्वरूप पुरातत्त्व, विज्ञान तथा ऐतिहासिक आलोचना विधि का भी जन्म हुआ। वस्तुतः, पुनर्जागरण में विज्ञान की विभिन्न विधाओं के अनेक तत्त्व निहित थे। परन्तु जहां तक पुरातत्त्व विज्ञान का प्रश्न है, इसका प्रारंभ पुनर्जागरण, काल से ही माना जा सकता है। इटालियन विद्वानों का ध्यान स्वभावतः सर्वप्रथम रोम के प्राचीन स्मारकों की ओर गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में फ्लेमियों विओंडों ने 'रोम रेस्टोर्ड' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उससे भी पहले रियेन्जी ने 'डिस्क्रीपशन ऑफ दी सिटी आफ रोम ऐण्ड इट्स स्प्लेंनडर' नामक पुस्तक लिखी थी, परन्तु, पुरातत्त्व विज्ञान की दृष्टि से, फ्लेमियों की पुस्तक अधिक अच्छी थी। इससे इतिहास की एक सर्वथा नवीन विद्या का जन्म हुआ जिससे आगे चलकर प्राचीन विश्व सभ्यता के अनेक अज्ञात ऐतिहासिक सत्यों का उद्घाटन सम्भव हुआ। पुरातत्त्व की ही तरह ऐतिहासिक आलोचना-विधि भी पुनर्जागरण

से प्रभावित हुई। पुनर्जागरण-काल की मानसिकता आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु थी। लोग किसी बात को आंख मूँदकर मान लेने की मध्यकालीन प्रवृत्ति का परित्याग कर उसकी प्रामाणिकता पर अधिक ध्यान देने लगे थे। पेत्रांक इस नवीन मनोवृत्ति का मूर्त रूप था। उसने प्राचीन लेखकों का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया और केवल उन्हीं लेखकों को सही माना जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध थी। परन्तु गवेषणात्मक-ऐतिहासिक विधि का वास्तविक जन्मदाता लोरेंसियस भाला (१४०७-१४५७) था। उसने इतिहास प्रसिद्ध 'डोनेशन आफ कन्सटनटाइन' को भाषा-विज्ञान तथा ऐतिहासिक आधार पर अप्रामाणिक सिद्ध किया। उसने लिवी की प्रामाणिकता को भी चुनौती दी और सेनेका तथा संत पाल के बीच के तथाकथिक पत्राचार को जाली बतलाया। इस तरह प्रामाणिक सूत्रों पर आधारित आलोचनात्मक इतिहास-लेखन की उस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप प्राचीन तथा मध्यकालीन एशियाई तथा यूरोपीय इतिहास को प्रामाणिक रूप दिया जा सका। अब सही इतिहास के लेखन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उस प्रकार के लेखकों में फ्लोरेंस के मैकियावेली (१४६९-१५२७) और गुईसिआरडिनी (१४८२-१५४०) सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। वे अपनी आलोचनात्मक एवं निष्पक्ष प्रवृत्ति के कारण दकियानूसी तथा भोंडे मध्यकालीन इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न थे। इसलिए उन्हें सर्वप्रथम आधुनिक इतिहासकार माना गया है।

अंततः, पुनर्जागरण ने भावी यूरोपीय धर्मसुधार-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि तैयार की। मानववादी आन्दोलन जब आल्प्स पर्वतमाला को पार कर उत्तर की ओर बढ़ा तो वहाँ के विद्वान प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य से भी कहीं अधिक प्राचीन, हिब्रू साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। छापाखानों के खुल जाने के कारण बाइबिल की प्रतियाँ अब मूल हिब्रू तथा ग्रीक के अतिरिक्त क्षेत्रीय-भाषाओं में भी सहज उपलब्ध थी। अतः अब बाइबिल का अधिक उत्साहपूर्ण और विश्लेषणात्मक अध्ययन होने लगा। फलस्वरूप, जबकि दक्षिणी यूरोप की मुख्य अभिरुचि प्राचीन साहित्य एवं कला तक ही सीमित रही, उत्तरी यूरोप के गंभीर आलोचक एवं विद्वान ईसाई-धर्म के मूल नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की ओर अधिक आकृष्ट हुए। अतः वहाँ का मानववादी, धर्मसुधारक बन बैठा।। इसलिए साइमोंड ने कहा है कि "धर्मसुधार आन्दोलन जर्मन पुनर्जागरण था।" मानववादी स्वतंत्र चिंतन की प्रवृत्ति का धर्मशास्त्रीय एकाधिकार से टकराव होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि

आगे चलकर पोपतंत्र ने इस सम्पूर्ण बौद्धिक आन्दोलन का विरोध किया, जबकि प्रारम्भिक स्थिति में कई पोप इसके प्रबल समर्थक रहे थे। मानववादी धार्मिक क्षेत्र में प्रायः आत्मनिर्भर थे जो धर्मसुधार काल की व्यक्तिवादी तथा विरोधी प्रवृत्ति का पूर्वाभास देता था। वस्तुतः मानववाद न केवल मध्यकालीन धर्माधारित व्यवस्था का विरोधी था, बल्कि वह सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था का ही विरोधी था। इस तरह, उत्तरी यूरोप के महान मानववादी कूलिन और इरैसमस आदि सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन के वास्तविक अग्रदूत थे।

संक्षेप में, पुनर्जागरण-काल मध्यकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय था। इसकी सबसे बड़ी देन थी, प्राचीन अंधविश्वासों से मानव जाति को मुक्त कर नई चेतना द्वारा उसका विकास करना। पुनर्जागरण के ही फलस्वरूप, यूरोप ने मध्यकालीन बर्बरता का परित्याग कर आधुनिकता के क्षेत्र में पदार्पण किया। प्राचीन परिपाटियों तथा अन्धविश्वासों की जगह अब तर्क एवं स्वतन्त्र चिंतन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इससे आधुनिक वैज्ञानिक युग की नींव पड़ी और भौतिक-वाद का जन्म हुआ। राष्ट्रीय एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का भी प्रारम्भ इसी युग में हुआ। ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर धर्म तथा धार्मिक विचारों को कसा जाने लगा। इससे यूरोपीय धर्म-सुधार-आन्दोलन की शुरुआत हुई जिसके अनेक व्यापक परिणाम निकले।

☆

अध्याय १४

यूरोप का धर्म-सुधार-आन्दोलन

पाश्चात्य यूरोपीय ईसाई-जगत का पूर्व-मध्यकालीन स्वरूप चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में प्राय: छिन्न-भिन्न हो गया। ग्यारहवीं, बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी के पोपों ने जिस शक्तिशाली चर्च की स्थापना की थी, वह ध्वस्त तो नहीं हुआ, परन्तु उसकी नींव हिल चुकी थी। स्थापित चर्च को चुनौती देनेवाले विधर्मी आन्दोलन दबा दिये गये थे, परन्तु उन्होंने सोलहवीं शताब्दी के धर्म-सुधार आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। चर्च पर जो वज्रपात हुआ उसके लिए किसी हद तक उसकी आन्तरिक व्यवस्था जिम्मेदार थी। चर्च का संगठन मनुष्यों द्वारा चलाया जाता था, अत: उसमें मानवीय दुर्बलताओं का प्रविष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। फिर यदा-कदा कोई-न-कोई उत्साही व्यक्ति चर्च में सुधार लाने का प्रयास भी करता था, परन्तु उनमें से किसी में सन्त बर्नार्ड, सन्त डोमिनिक अथवा सन्त फ्रांसिस की-सी प्रभविष्णुता नही थी। चर्च की आध्यात्मिकता का स्रोत जो विगत काल में इसे स्वत: सनमार्ग पर चला देता था अब प्राय: सूख चुका था। चर्च तथा पादरी वर्ग की दुर्बलताओं से भी अधिक खतरनाक बात यह हुई कि सम्पूर्ण समाज का दृष्टिकोण ही अब धर्मनिरपेक्ष होता जा रहा था। साहित्य की धर्म-निरपेक्षता अब पहले से अधिक प्रखर होकर ललित-कला के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गई। वाणिज्य के विस्तार ने भी जन-साधारण को नया दृष्टिकोण प्रदान किया था। सबसे बड़ी बात यह हुई कि राजनीति अब धर्म-सापेक्ष न रहकर धर्म-निरपेक्ष होती गई। रोमन विधि ने धर्म-निरपेक्ष-राज्य की प्रधानता पर बल दिया। अत: रोमन-विधि के निरन्तर बढ़ते ज्ञान का व्यापक प्रभाव तो पड़ा ही, साथ-ही, राजसत्तावाद के सिद्धान्त पर जोर दिये जाने का भी जन-मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों के विकास के साथ-साथ राजागण और उनकी प्रजा अपने आप को विशिष्ट हितों पर आधारित राजनीतिक इकाइयाँ समझने लगे। ईसाई-जगत के हितों की बजाय उनकी दृष्टि में अपने राज्य की भलाई का अधिक महत्त्व हो गया। फ्रांस के हितों की रक्षा के लिए फिलीप ऑगस्टस पोपतन्त्र के विनाश की कल्पना भी नहीं कर सकता था, परन्तु यही विचार फिलिप चतुर्थ को अस्वाभाविक नहीं लगता और चार्ल्स षष्ठ तो पूर्ण आवश्यक भी लग सकता था। यह विचार कि धर्म-निर-

पेक्ष राज्य का प्रथम कर्तव्य है सामान्यजन की भलाई करना, चर्च की व्यवस्था पर भी प्रभाव डाल रहा था। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के अधिकांश पादरी यह समझने लगे थे कि उनका सर्वप्रथम कर्त्तव्य राज्य के प्रति है। इस तरह धर्मनिरपेक्ष राजनीति चर्च संगठन के लिए एक महत्त्वपूर्ण और खतरनाक तत्त्व बन गई थी। संक्षेप में, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चर्च का राजनीतिक और आध्यात्मिक संगठन दुर्बल हो चुका था। पोप सुसंस्कृत परन्तु आरामतलब जीव थे जो चर्च को कामधेनु समझते थे और चर्च की सम्पदा का अपने सम्बन्धियों में खुलेआम वितरण कर रहे थे। "बेबिलोनियन बन्दिता" और "महान विच्छेद" के फलस्वरूप पोपतन्त्र और चर्च, दोनों की प्रतिष्ठा घट गई थी। कई धर्मप्राण सुधारकों के बावजूद कोई भी स्थायी सुधार सम्भव न हो सका था। धर्मनिरपेक्ष राजागण अपने नियन्त्रण में राष्ट्रीय चर्चों की काफी हद तक स्थापना कर चुके थे और अपनी पकड़ को मजबूत बनाने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं निकलने देना चाहते थे। कई देशों में गुप्त रूप से विधर्मिता पनप रही थी। धर्म-सुधार आन्दोलन की नींव सुदृढ़तापूर्वक डाली जा चुकी थी।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। उस समय तक यूरोप की चर्च व्यवस्था में अनेक बुराइयाँ आ गई थी। रोम-स्थित पोप सम्पूर्ण ईसाई जगत का एक मात्र आध्यात्मिक संरक्षक था। वह अपने को ईसाई देशों के राजाओं का भी राजा समझता था। परन्तु स्वयं रोमन-चर्च अनेक दलों में विभक्त था। ये दल एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते रहते थे। यूरोप के अधिकांश मठ भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये थे। चर्च कट्टरपन्थियों, दकियानूसी विचार वाले व्यक्तियों तथा पुरानी रूढ़ियों के समर्थकों का अड्डा बन गया था। इस गन्दे धार्मिक वातावरण से अनेक लोग क्षुब्ध थे। यूरोप में सोलहवीं शताब्दी का आरम्भ कुछ ऐसे परिवर्त्तनों से हुआ जो यूरोपीय जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल परिवर्त्तन लाये। इन परिवर्त्तनों के कारण पुनर्जागरण हुआ जिसकी अभिव्यक्ति मानवतावाद में हुई। भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप यूरोप का व्यापार चमक उठा और यूरोप सोने-चाँदी का भंडार बन गया। धन-वैभव के आधिक्य ने लोगों को सुखद जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी और मानवतावादी विचारधारा ने उन्हें धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। फलतः पूर्व-मध्यकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मान्यताएँ नष्ट होने लगीं। परन्तु चर्च प्रगति के मार्ग में बाधक था। अतः सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में धर्म-सुधार आन्दोलन आवश्यक हो गया था। मानवतावाद के विकास के लिए ईसाई धर्म क

प्रतिष्ठित मान्यताओं, संस्थानों, रीति-रिवाजों तथा पदाधिकारियों के विरुद्ध जिस विद्रोह-भावना का सूत्रपात हुआ, उसे मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में धर्म-सुधार-आन्दोलन की संज्ञा दी गई है।

धर्म-सुधार-आन्दोलन के प्रमुख कारण :

मध्यकालीन यूरोपीय धर्म-सुधार-आन्दोलन के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कई कारण थे। किन्तु, निम्नलिखित कारण प्रमुख थे, जिनके चलते सोलहवीं शताब्दी तक धर्म-सुधार-आन्दोलन का व्यापक रूप प्रकट हुआ।

चर्च की प्रतिक्रियावादिता :

चर्च की स्थापना नैतिक उन्नयन के निमित्त हुई थी, परन्तु उसमें अनेक बुराइयाँ घुस गई थीं। मध्यकाल तक उसकी शक्ति असाधारण रूप से बढ़ गई थी और यह सामन्त व्यवस्था तथा पुरानी रूढ़ियों का प्रबल समर्थक बन गया था। नये आदर्शों तथा सिद्धान्तों की स्थापना में इसकी रुचि नहीं थी। विचार-स्वातन्त्र्य का यह घोर विरोधी था। यदि कोई चर्च के विरुद्ध नये विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता था तो उसे एवं उसके अनुयायियों को बलपूर्वक दबा दिया जाता था। संक्षेप में, चर्च यथास्थिति में किसी भी परिवर्त्तन का विरोधी था। शुरू में लोगों के अज्ञान के कारण चर्च को सफलता मिल जाती थी, किन्तु समाज में बुद्धि-जीवी एवं मध्य वर्ग के उदय के कारण चर्च की स्थिति कमजोर पड़ गई। लोग प्राचीन रुढ़ियों के प्रति आवाज उठाने लगे। मुद्रण-कला के आविष्कार के कारण बाइबिल की प्रतियाँ जनसाधारण को भी सुलभ हो गईं। प्रबुद्ध-वर्ग अब धर्म के वास्तविक स्वरुप को समझने लगा तथा धार्मिक वाद-विवाद में रुचि लेने लगा। बाइबिल तथा अन्य धर्मग्रन्थों के अध्ययन के फलस्वरुप चर्च की पोल खुलने लगी। लोगों का यह विचार पुष्ट होने लगा कि चर्च सच्चे ईसाई मत का समर्थक नहीं था। विचारकों तथा धर्म-सुधारकों की संख्या बढ़ती गई और इन लोगों ने ईसाई-धर्म के प्राचीन स्वरुप को पुनर्स्थापित करने की माँग की। धर्म के नाम पर फैले अनाचार को मिटाने के लिए ये लोग प्राणों की आहुति तक देने लगे। चर्च केवल प्रतिक्रिया-वादी ही नहीं था, दमन में भी इसका अटूट विश्वास था। अदूरदर्शी चर्च के पदा-धिकारियों ने धर्म-सुधारकों एवं विचारकों का संहार करना प्रारम्भ कर दिया। इससे धर्म-सुधार-आन्दोलन को और अधिक प्रोत्साहन तथा बल मिला। संहार-मात्र से विचारों का दमन सम्भव न था। उल्टे चर्च की दमनकारी नीति के कारण लोग पोपतन्त्र से घृणा करने लगे।

चर्च एवं राज्य में मतभेद :

धर्म-सुधार-आन्दोलन का दूसरा प्रमुख कारण था विभिन्न यूरोपीय राजाओं तथा पोप के बीच संघर्ष। पन्द्रहवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता पर आधारित कई राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इनमें राजाओं अथवा सम्राटों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। किन्तु पोप का कहना था कि वह विभिन्न राज्यों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता था। स्वभावतः पोप तथा राज्यों के बीच राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। पोप के अत्यधिक प्रभाव से राजागण असन्तुष्ट थे; क्योंकि इससे उनके सम्मान में कमी होती थी। प्रजा की भक्ति भी दो दिशाओं में बँट जाती थी, जिससे राष्ट्र संगठन एवं निर्माण में बाधा पहुँचती थी। अतः, पश्चिमी यूरोप के अनेक राजाओं ने पोप तथा चर्च के अनावश्यक हस्तक्षेप का विरोध करना शुरू किया। इससे धर्म-सुधार की प्रगति में विशेष सहायता मिली। पोप तथा राजाओं के पारस्परिक विरोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण था—अदालतों पर अधिकार का प्रश्न। चर्च के पदाधिकारियों पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं था। पोप सभी राज्यों के चर्च-संगठनों का प्रधान था। अतः, प्रायः झगड़ा इस प्रश्न पर होता रहता था कि विभिन्न देशों में चर्च के बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार किसमें निहित है, राजा या पोप में। राजा इन उच्च पदों पर अपने लोगों को बहाल करना चाहते थे, क्योंकि ये पद आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद थे। इसी तरह; चर्च के न्यायालयों में अनेक मुकदमों के फैसले होते थे। चर्च की कचहरियों पर राजा का कोई नियन्त्रण नहीं था। अतः, प्रायः राजद्रोही लोग भी इन कचहरियों की शरण लेते थे। यह बात राज-संगठन एवं निर्माण की दृष्टि से अहितकर थी, क्योंकि एक ही राज्य में दो प्रकार के कानूनों के प्रचलन से गड़बड़ी फैलती थी। राजागण इस स्थिति में परिवर्त्तन लाना चाहते थे। चर्च की कचहरियों को अर्थ-दण्ड से अच्छी आमदनी होती थी। इस कारण से भी राजागण इन कचहरियों पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। पोप एवं राजाओं के बीच संघर्ष का तीसरा कारण था—राष्ट्रीय सरकारों को धन की आवश्यकता। यद्यपि शासन का स्वरूप बदलकर राष्ट्रीय हो गया था, फिर भी राज्यों का आर्थिक ढाँचा मध्ययुगीन ही था। अब तक प्रायः सभी राज्यों की स्थायी सेना बन गई थी; शासन-व्यवस्था में आवश्यक सुधार हो चुके थे। अनेक उच्चस्थ पदाधिकारियों की नियुक्ति हो गई थी। इन कारणों से सरकारी खर्च बहुत बढ़ गया था। किन्तु, पुरानी आर्थिक व्यवस्था के कारण सरकारी आमदनी कम थी। स्वभावतः राजाओं की दृष्टि चर्च की अपार सम्पत्ति पर थी, जिसे वे समस्या के समाधान के लिए, विविध कर लगाकर हड़पना चाहते थे। परन्तु चर्च करों से मुक्त था। इस कारण भी यूरोपीय राजाओं ने धर्म-सुधार-आन्दोलन का साथ दिया।

चर्च की आन्तरिक बुराइयाँ :

चर्च में धर्म के नाम पर प्रचलित बुराइयाँ भी धर्म-सुधार-आन्दोलन में सहायक सिद्ध हुईं। चर्च की अनेक आन्तरिक बुराइयों के कारण लोगों की धार्मिक श्रद्धा को अत्यधिक चोट पहुँची। ईसाई पादरी भी सामन्त थे और उनके अन्दर भी सामन्तों के सभी दुर्गुण वर्त्तमान थे। साधु-प्रकृति का परित्याग कर पादरी-वर्ग नैतिक दृष्टि से बहुत अधिक नीचे गिर गया था। ईसाई मठ व्यभिचार के केन्द्र बन गये थे। मठों में भौतिक सम्पदा के बाहुल्य के कारण पादरीगण अध्ययन-अध्यापन से विमुख होकर भोग-विलास में लिप्त हो गए थे। पादरी अपने वैभवपूर्ण जीवन को बनाये रखने के लिए अनेक भले-बुरे उपायों से धन इकट्ठा करने में लगे रहते थे। चर्च में धर्म के नाम पर केवल आडम्बर तथा दिखावा मात्र था। सीधे-सादे ईसाई मत में विधि-विधानों एवं कृत्रिमता की प्रधानता हो गई थी। जनता चर्च की इस नीति के कारण धर्म संकट में पड़ गई थी, क्योंकि धार्मिक प्रार्थना, विधि-विधान आदि अब जन-साधारण के आध्यात्मिक उन्नयन के साधन न रहकर पादरियों के लिए धन-संचय के हथकण्डे बन गये थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक पादरियों का नैतिक पतन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। धर्म की आड़ में सर्वत्र पाप एवं कुकर्म का बोलबाला था। स्वयं पोप के जीवन से सादगी, धार्मिकता एवं पवित्रता का अन्त हो गया था। पोप अलेक्जेंडर छठा नैतिक दृष्टि से पतित एवं घृणित था। इसी प्रकार पोप लियो दसवाँ भी धन के लिए जघन्य-से-जघन्य कार्य करने से भी नहीं हिचकता था। धन एकत्र करने के सभी संभव हथकण्डे उसने अपनाये। उसके कुकृत्य के कारण जन-सामान्य की धार्मिक भावना को बड़ी चोट लगी। ठीक इसी समय एक नई प्रथा आरम्भ हुई जिसे इण्डल्जेंस कहते थे। इसका अर्थ था पोप को धन देकर अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करना। लोगों में यह प्रचार किया गया कि जो भी व्यक्ति अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहता है, वह धन देकर पोप से क्षमाप्रदान-पत्र खरीद सकता है। वास्तव में यह प्रथा अत्यन्त विचित्र एवं हास्यास्पद थी। इसने सच्चे ईसाइयों को पोपतन्त्र के विरुद्ध भड़काने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस प्रथा का संक्षेप में यही अर्थ निकलता था कि स्वर्ग की अर्गला को चाँदी की कुंजी से खोला जा सकता था। ईसाई-धर्म के सच्चे अनुयायी यह बात मानने को तैयार नहीं थे। धर्मात्मा एवं श्रद्धालुजन की समझ में यह बात नहीं आती थी कि पाप को पैसों से धोया जा सकता है। उनकी दृष्टि में तो इस प्रथा के कारण पापाचार एवं भ्रष्टाचार पर समाज में कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता। अतः ऐसे लोगों ने इस प्रथा का घोर विरोध किया। छोटे पादरी तथा साधारण मठवासी अभी भी धर्मप्राण थे। चर्च की आन्तरिक बुराइयों

से वे भी दुखी थे। वे नहीं चाहते थे कि वड़े पादरी धर्म-कर्म से अलग रहकर भोग-विलास का जीवन-यापन करें और साथ-साथ धार्मिकता की नींव भी कमजोर करते जायँ। अतः, उन्होंने भी एक स्वर से इस आन्दोलन का समर्थन किया।

जनसाधारण एवं व्यापारियों का असंतोष :

राजाओं के अतिरिक्त सामान्य जनता भी चर्च से असंतुष्ट थी। इसका प्रधान कारण यह था कि चर्च सदा सामंतों एवं जागीरदारों का पक्ष लेता था। किसान वर्ग चर्च की इस नीति का विरोधी था और समय-समय पर अपने विरोध का प्रदर्शन भी किया करता था। चर्च की शोषण नीति के फलस्वरूप किसान चर्च के विविध करों से दवे रहते थे। उनका कहना था कि ईसा ने सभी मनुष्यों के साथ प्रेम का पाठ पढ़ाया था, फिर उनके साथ पशु जैसा व्यवहार क्यों किया जाता था। वौद्धिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप अधिकांश जनता की आँखों के सामने से अज्ञान का आवरण हट चुका था। लोग अपना महत्त्व समझने लगे थे। ठीक इसी समय एक नवीन वर्ग का उदय हुआ व्यापारियों का। इस वर्ग के पास धन-सम्पदा और समय की कमी नहीं थी। यह वर्ग पढ़ा-लिखा और जाग्रत भी था। भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप यूरोप का सुदूर देशों से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। वाणिज्य-व्यापार अपनी मध्यकालीन पराकाष्ठा पर था। किन्तु, चर्च व्यापारियों के मार्ग का रोड़ा था। चर्च का कहना था कि सूद लेना पाप है। उसके इस कथन के कारण यूरोप के अधिकांश देशों में सूद न लेने के कानून भी वने थे। किन्तु व्यापारिक प्रगति के लिए सूद मुनाफा तथा लेन-देन आवश्यक है। पुनः, विना सूद कर्ज मिलना कठिन था। अतः व्यापारी वर्ग भी चर्च से असंतुष्ठ था और चर्च के प्रमुख, पोप के, प्रभाव को समाप्त करने के पक्ष में था।

पुनर्जागरण का प्रभाव :

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में यूरोप में वौद्धिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप भी धर्म-सुधार-आन्दोलन को सहायता मिली। साहित्य, कला, विज्ञान आदि क्षेत्रों में प्रगति के कारण' लोगों की आँखें खुल गयीं। युगों से दवी यूरोप की आत्मा पुनः सशक्त हो गई। साहित्य ने प्राचीन सभ्यता का दिग्दर्शन कराया, कला ने अद्भुत शक्ति का परिचय दिया तथा विज्ञान ने नये आयुध प्रदान किये। अंधकार का पर्दा हट गया तथा लोगों की वौद्धिकता एवं तर्कशक्ति में वृद्धि हुई। चर्च की धोखेवाजी एवं ढकोसलों का पर्दाफाश होने लगा तथा लोग ईसा के वास्तविक धर्म को समझने लगे। नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रभावस्वरूप लोग ईसाई-धर्म के प्रचलित

विश्वासों एवं मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर परखने लगे। योरोपीय बौद्धिक पुनरुत्थान के कुछ समर्थक अब धर्म-सुधार के भी पक्षधर हो गये।

धर्म सुधार-आन्दोलन का आरम्भ :

पहले के एक अध्याय में हमने देखा है कि पोपतंत्र ने एक दीर्घकालीन संघर्ष के बाद सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय को पराजित कर दिया था और होहेनस्टॉफेन घराने को तबाह कर पवित्र रोमन साम्राज्य की शक्ति का अंत कर दिया था। इस संघर्ष में फ्रांस के राजाओं ने साधारणतः पोपतंत्र का ही साथ दिया था। यह सही है कि लुई नवाँ और फिलिप तृतीय का भी पोपतंत्र से, पादरियों पर कर लगाने के प्रश्न पर, कुछ मतभेद था। परन्तु यह मतभेद कुछ ले-देकर समाप्त कर दिया गया था। परन्तु फिलिप चतुर्थ (१२८५-१३१४) के गद्दी पर बैठते ही स्थिति में परिवर्त्तन आने लगा। फिलिप राजतंत्र की शक्ति को बढ़ाने के लिए कटिबद्ध था। वह ऐसे लोगों से घिरा भी था जो धर्मनिरपेक्ष राज्य की सर्वोपरिता में विश्वास करते थे। फिलिप की पोप होनोरियस चतुर्थ (१२८५-८७) और पोप निकोलस चतुर्थ (१२८८-९२) से तो किसी तरह निबह गई, परन्तु दिसम्बर १२९४ में जब बेनेडिक्ट बोनिफेस अष्टम (१२९४-१३०३) के नाम से पोप हुआ तो केपेसियन घराने से पोपतंत्र के सम्बन्ध बिगड़ने लगे। एक साधारण सामंत परिवार में उत्पन्न बोनिफेस, घमंडी, क्रोधी, के साथ-साथ, आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी भी था। नैतिक दृष्टि से भी उसका चरित्र उज्जवल नहीं था। वह पोपतंत्र की शक्ति में विस्तार के साथ-साथ अपने सम्बन्धियों को भी किसी न किसी तरह धनवान बनाने का इच्छुक था। उसकी नीति के कारण रोमन सामंतों में ही अधिकांश उसके कट्टर विरोधी हो गये। घर में ही अपनी स्थिति कमजोर पड़ जाने के बावजूद, वह पश्चिमी यूरोप के दो सर्वाधिक शक्तिशाली राजाओं से उलझ पड़ा।

सन् १२९५ ई० में फिलिप चतुर्थ और एडवर्ड प्रथम (१२७२-१३०७) गैस्कनी को लेकर युद्ध की तैयारी कर रहे थे। दोनों ही अपने राज्यों के पादरियों पर कर लगाकर युद्ध का बोझ हल्का करना चाहते थे। परन्तु, १२९६ ई० में बोनिफेस ने एक धर्माज्ञप्ति जारी की जिसके द्वारा किसी भी राज्य के पादरियों को पोप की आज्ञा के बिना राज्य को कर देने से मना कर दिया गया। फिलिप ने तत्काल रोम के लिये सोना-चांदी का निर्यात बन्द कर दिया। लाचार होकर बोनिफेस को कहना पड़ा कि काफी जरुरतमंद होने पर राजा पादरियों पर कर लगा सकता था। परन्तु इससे भी फिलिप के साथ उसका सम्बन्ध मधुर नहीं हो सका। सन् १३०२ ई० में बोनिफेस

ने फिलिप को जातिवहिष्कृत करने की धमकी दी। परन्तु, फिलिप के समर्थकों ने ७ सितम्बर, १३०३ ई० को वृद्ध पोप को बंदी बना लिया। यद्यपि उसे शीघ्र ही मुक्त कर दिया गया, दुःख और अपमान के कारण कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। सन् १३०५ में फिलिप का समर्थक बोर्दियोक्स का आर्कबिशप बरट्रैण्ड, क्लिमेंट पंचम के नाम से पोप चुन लिया गया। उसने रोन नदी के पूर्वी तट पर एभिगनन को अपना निवास स्थान बनाया। इस तरह फ्रांस में न होते हुए भी तथा पोप पूरी तरह कपेसियन राजा के चंगुल में था। पोपतंत्र ने होहेनस्टौफेनों को पराजित किया था, परन्तु अब पोप स्वयं कपेसियनों का बंदी बन गया। अगले बहत्तर वर्षों तक एभिगनन पोप की राजधानी बना रहा। क्लिमेंट के उत्तराधिकारी बहुत कोशिश करके भी फ्रांस के राजाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। उन्हें फ्रांस का पक्षधर समझा जाता रहा। अतः उनके द्वारा लगाये करों का ईसाई जगत में सर्वत्र और विशेषतः इंगलैंड में विरोध होता रहा। संक्षेप में, पोप के एभिगनन में रहने की अवधि का, जिसे सामान्यतः वेबिलोनियन बन्दिता कहा गया है, पोपतंत्र की शक्ति और प्रतिष्ठा पर घातक प्रभाव पड़ा।

सन् १३७८ ई० में इटालियन अरबन षष्ट के पोप चुने जाने पर रोम पुनः पोपों का निवास-स्थान बना। परन्तु, फ्रांसीसी कार्डिनलों ने रॉबर्ट को क्लिमेंट सप्तम (१३७८–९४) को पोप चुना। इस तरह, ईसाई जगत में उस महान मतभेद का आरम्भ हुआ जिसका चर्च की एकता पर घातक प्रभाव पड़ा। फ्रांस और स्कॉटलैंड एभिगनन-पोप के समर्थक थे, तो इंग्लैंड रोमन पोप का समर्थक था। पारस्परिक द्वेष और संघर्ष के कारण पोप के प्रति शेष निष्ठाभावना भी लोगों के मन से समाप्त होने लगी। बहुत से लोग पोप पद की उपादेयता पर ही गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे। इसके पहले भी स्वयं फ्रांस में ही 'अलबिजेन्सेज' तथा 'वालडेन्सेज' नामक दो धार्मिक सम्प्रदायों ने चर्च की शक्ति के विरुद्ध प्रचार शुरू किया था। परन्तु उस समय चर्च इनका दमन करने में सफल हुआ था। फिर भी, वाल्डेन्सेज-सम्प्रदाय द्वारा लोकभाषा में बाइबिल के अध्ययन के जोरदार समर्थन का जनमत पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा था। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पदुआ के मार्सिलियो ने डिफेनसॉर पेसिस लिखा जिसमें जनता को राजनीतिक शक्ति का मूल स्रोत बताया गया। दैवी शक्ति पर आधारित वंशानुगत राजतन्त्र में उसका विश्वास नहीं था। उसी तरह उसकी दृष्टि में पोप से लेकर साधारण पादरी तक सभी जनता के सेवक थे। पादरी वर्ग को राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। आध्यात्मिक तथा राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में जनता ही

सर्वोपरि थी। जॉडुन के जॉन और ऑकहम के विलियम के विचार भी मारसिलियों से मिलते-जुलते थे। ये तीनों विद्वान आमूल परिवर्त्तनवादी थे, अतः इनकी बात को आंशिक रूप में भी मान लेना तत्कालीन दकियानूसी समाज के लिए संभव न था। अधिकांश लोग, विशेषतः विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकगण केवल इतना ही चाहते थे कि "महान मतभेद" किसी तरह समाप्त हो और चर्च में अत्यधिक आवश्यक सुधार लाए जाएँ।

चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में एभिगनन और रोमन पोपो ने महान मतभेद को दूर करने का असफल प्रयास किया। सन् १४०९ ई० में पिसा की धर्म-सभा ने इन दोनों पोपों को नकार कर कोस्सा को जॉन तेईसवां (१४१०–१५) के नाम से पोप चुना। इस तरह अब एक ही जगह तीन पोप हो गए। सन् १४१३ ई० में हंगरी के राजा सिजिसमंड ने कांन्सटान्स की धर्मसभा बुलाई। इसमें तीन धर्माध्यक्ष, उनतीस कार्डिनल, तैंतीस आर्कविशप, एक सौ पच्चास बिशप, एक सौ मठाधीश और प्रायः तीन सौ धर्मशास्त्र के विद्वान शामिल हुए। इस सभा ने तीनों पोपों को अपदस्थ कर दिया और कार्डिनल ओडो को मार्टिन पंचम (१४१७–३१) के नाम से पोप चुना। कांन्सटान्स की धर्मसभा ने महान मतभेद को समाप्त किया, चर्च में कुछ मामूली सुधार किए, आम धर्मसभा को पोप से भी श्रेष्ठ घोषित किया और निश्चित अवधि के अन्तर्गत् धर्मसभाओं के बुलाए जाने की व्यवस्था की। परन्तु पोप धर्मसभाओं की सर्वोपरिता को मानने को तैयार नहीं थे और अन्त में १४३९ ई० में वेसेल की धर्मसभा ने यह घोषणा की कि धर्मसभा पोप से श्रेष्ठ नहीं थी। दूसरी ओर फ्रांस तथा जर्मनी आदि के राजाओं ने राष्ट्रीय चर्च पर अपना शिकंजा मजबूत करने का प्रयास जारी रखा। परिणाम-स्वरुप उनके द्वारा धर्म-सुधार-आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त होता रहा।

जिस समय चर्च के आंतरिक संगठन और प्रतिष्ठा को वेबिलोनियन बन्दिता, महान मतभेद और धर्मसभा-आन्दोलन से क्षति पहुँच रही थी, इसके शत्रु विधर्मियों की संख्या भी तीव्र गति से बढ़ रही थी। कथारी विधर्मिता का पहले ही विनाश हो चुका था, परन्तु चौदहवीं शताब्दी में वाल्डेन्सियन विधर्मी अत्यन्त क्रियाशील थे। उनसे भी अधिक व्यापक और चर्च के लिए खतरनाक प्रभाव 'फ्री स्पिरिट', 'बेगुइन' और 'बेगहार्ड' विधर्मियों का था। पन्द्रहवीं शताब्दी में इन सबों से अधिक प्रभावशाली हस्साइट विधर्मियों का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन लोगों ने धर्म-सुधार का मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। 'ब्लैक डेथ' के कारण 'फ्लेगलैंट' विधर्मियों का जन्म हुआ। ये आपस में कोड़े मारकर काली

मौत की छाया को हटाने में विश्वास करते थे। बाद में ये यहूदियों और विरोधी पादरियों की हत्या करने लगे। यद्यपि उपर्युक्त सभी विधर्मियों ने लथर और काल्विन के विचारों की ग्राह्यता का मार्ग तैयार किया, परन्तु धर्म-सुधार-आन्दोलन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग्रदूत इंग्लैंड-निवासी जॉन विकलिफ (१३२५–१३८४) और चेक जॉन हस ही थे।

जॉन किलिफ (१३२५–१३८४ ई०) :

धर्म-सुधार आन्दोलन का क्रमबद्ध इतिहास वस्तुत: इंग्लैंड के जॉन विकलिफ से ही शुरू होता है। उसे ईसाई-धर्म-सुधारकों का अग्रदूत माना गया है। उसका नाम यॉर्कशायर स्थित विकलिफ पर पड़ा था। वह प्रारम्भ से ही अध्ययनशील एवं विचारक प्रकृति का था। सन् १३६० ई० में वह ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के बैलियोलकॉलेज का प्राध्यापक था। सन् १३६८ ई० में उसे धर्म-शास्त्र में महामहोपाध्याय की उपाधि मिली। एक धर्म-शास्त्री के रूप में उसकी अपार ख्याति थी और चर्च की सम्पत्ति सम्बन्धी उसके विचारों से एडवर्ड तृतीय का ध्यान उसी की ओर गया। सन् १३७४ ई० में एडवर्ड तृतीय ने उसे राजकीय आयोग का सदस्य नियुक्त किया जिसे पोप के साथ कई विवादों पर विचार करने के लिए रोम भेजा गया था। इस आयोग को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली और विकलिफ ऑक्सफोर्ड लौट गया। वहाँ रहते हुए उसने राज्य एवं चर्च के सम्बन्धों पर पुस्तकें लिखना प्रारम्भ किया। विकलिफ के तर्कों का मूल था उसका चर्च की सम्पत्ति पर धर्मात्माओं के समान अधिकार का सिद्धान्त। उसका यह सिद्धान्त अनेक पूर्वगामी लेखकों के विचारों पर ही आधारित था। उसका कहना था कि सम्पत्ति पर सही अधिकार भगवान का ही है; मनुष्य तो केवल उसकी ओर से दैवी सम्पत्ति की देख-भाल करता है। भौतिक सम्पदा पर सभी धर्मात्मा व्यक्तियों का समान अधिकार है। आदम के पतन से पूर्व सम्पत्ति सामूहिक थी; पाप के प्रवेश मात्र से निजी सम्पत्ति का आरम्भ हुआ। चर्च को इस स्थिति का लाभ नहीं उठाना चाहिए। इसे उस उच्च धार्मिक नियम का पालन करना चाहिए जिसके अन्तर्गत निजी सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुत: वह चर्च को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं करना चाहता था। वह केवल इतना ही चाहता था कि चर्च अपनी सम्पत्ति का उचित उपयोग करे। राजा का यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वह इस बात का निर्णय करे कि चर्च को कितनी सम्पत्ति का उपभोग करने दिया जाए।

लगभग इसी समय घेंट के जॉन के नेतृत्व में कई अंग्रेज सामंत चर्च की सम्पत्ति को हथियाने की ताक में थे। विकलिफ के विचारों से उन्हें बल मिला। सन्

१३७६ में उसे लंदन की धर्मसभा में अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए आमंत्रित किया गया। इस अवसर पर उसे राजधानी के चर्चों में अपने विचारों को स्पष्ट करने को प्रोत्साहित किया गया। इस बात की सूचना पोप ग्रीगोरी ग्यारहवाँ को मिली। उसने इंगलैंड के बिशपों को विकलिफ को बन्दी बना लेने का आदेश दिया। एडवर्ड को विशपों की सहायता करने का आदेश दिया गया। लेकिन तभी एडवर्ड की मृत्यु हो गई और नये राजा रिचर्ड द्वितीय की माता ने विकलिफ को बंदी बनाना अस्वीकार कर दिया, यद्यपि उसे अपने विचारों को अभिव्यक्त करने से मना कर दिया गया। परन्तु उसने पोप के स्वेच्छाचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द की तथा 'ट्रान्शबस्टैनशियेशन' (द्रव्यान्तरण) के सिद्धान्त की कटु आलोचना की। इस सिद्धान्त के अनुसार पोप का यह कहना था कि ईसा की स्मृति में 'रोटी और मदिरा' का जो पान किया जाता है, वह वास्तव में उनके शरीर और खून में बदल जाता है। उसने इसे कोरा अंधविश्वास तथा ढोंग घोषित किया। वह धार्मिक विधि-विधानों को भी विशेष महत्त्व नहीं देता था। उसका कहना था कि बाईबिल में ही धर्म की वास्तविकता निहित है, अतः इसका अध्ययन प्रत्येक ईसाई के लिए नितान्त आवश्यक है। किन्तु, अभी तक बाइबिल की प्रतियाँ लैटिन भाषा में ही मिलती थी, जिसके कारण जनसाधारण ईसा के वास्तविक उपदेशों से वंचित थे। अतः सर्वप्रथम उसने बाइबिल का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। फलतः, जिन्हें लैटिन का ज्ञान नहीं था, वे भी इसे पढ़कर समझने लगे। इस प्रकार, धर्म-सुधार आन्दोलन में इस अनूदित बाइबिल से बड़ी सहायता मिली। परन्तु, पूजा-समारोह सम्बन्धी विकलिफ के विचारों से नराज होकर उसके बहुत समर्थक उससे अलग हो गये। यद्यपि लंकास्टर का शक्तिशाली ड्यूक विकलिफ को बन्दी बनाये जाने से बचाता रहा, उसे ऑक्सफोर्ड से निकाल दिया गया। उसके कई मित्र भी उस विश्वविद्यालय से निकाले गए। वह स्वयं लुट्टेरवर्थ चला गया जहाँ १३८४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

विकलिफ की मृत्यु से पहले ही उसके अनुयायियों ने इंग्लैंड की ग्रामीण जनता में उसके विचारों का प्रचार शुरू कर दिया था। इन प्रचारकों में कुछ ऑक्सफोर्ड के विद्वान थे, किन्तु अधिकांश गरीब पादरी ही थे। बाद में अन्य लोग भी घूम-घूमकर उसके उपदेशों को फैलाने लगे। विकलिफ के अनुयायियों को 'लोलार्ड' की संज्ञा दी गई। विकलिफ की शिक्षा से अधिकांशतः परिवर्तनवादी विद्वान, गरीब और ग्रामीण धनी सामंत ही प्रभावित हुए। यद्यपि प्रकट लोलार्डवाद ऑक्सफोर्ड से शीघ्र ही समाप्त हो गया, परन्तु गुप्त रूप से इसका प्रभाव बहुत दिनों तक बना रहा। इंगलैंड के ग्रामीण क्षेत्रों में जो लोलार्ड उपदेशक घूम रहे थे उनका भी दमन विकलिफ

की मृत्यु के बाद शुरू हो गया। रिचर्ड द्वितीय के समय में तो उन्हें केवल बंदी बना लिया जाता था, परन्तु जब हेनरी चतुर्थ गद्दी पर बैठा तो पार्लियामेंट ने एक कानून पारित किया जिसके अनुसार अभियोग सिद्ध होने पर लोलार्डों को जिन्दा जला देने की व्यवस्था की गई। कुछ लोलार्ड जलाये भी गये, परन्तु उनकी संख्या मामूली थी। जब हेनरी पाँचवाँ गद्दी पर बैठा तो लोलार्ड विरोधी कानून के अन्तर्गत कितनों को फांसी के फन्दे पर झूलना पड़ा तथा असंख्य व्यक्तियों को जिन्दा ही अग्नि की ज्वाला में भेंट चढ़ाना पड़ा। लेकिन लोलार्डों का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। जब सोलहवीं शताब्दी में जर्मन धर्म-प्रचारक एवं सुधारक, मार्टिन लूथर की शिक्षाएँ इंगलैंड पहुँचने लगीं, तब उनका स्वागत करने को थोड़े बहुत लोलार्ड अब भी बच रहे थे जिन्होंने आगे चलकर इंग्लैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म का सूत्रपात किया।

जॉन हस (१३६९-१४१५) :

यद्यपि विकलिफ के अनुयायियों की संख्या इंग्लैंड में कभी भी बहुत अधिक नहीं थी और उसके अनुयायियों को जल्दी दबा दिया गया, परन्तु सुदूर बोहिमिया पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १३७८ से १४१९ ई० तक वहाँ का शासक वेन-सेसलस था। उसकी बहन एन का इंग्लैंड के राजा रिचर्ड द्वितीय के साथ विवाह हुआ था। एन के साथ कई बोहिमिया निवासी इंगलैंड आये थे। इनमें कुछ विद्वान भी थे जो इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में पढ़ते थे। वहाँ उनका परिचय विकलिफ की शिक्षाओं के साथ हुआ और १३८० तक उसकी कई रचनायें बोहिमिया पहुँच चुकी थीं। सन् १४०२ ई० में प्राग के जेरोम ने विकलिफ की धर्मशास्त्र से सम्बद्ध रचनाओं का बोहिमिया में प्रचलन किया। जेरोम विकलिफ का उत्साही समर्थक था और शीघ्र ही कई बोहिमियन विद्वान उसके साथ हो लिये। सन् १३८७ ई० में सम्राट चार्ल्स चतुर्थ ने प्राग विश्वविद्यालय की स्थापना की। शीघ्र ही इसका स्वरुप अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का हो गया। इस तरह, यद्यपि यह बोहिमिया का एकमात्र विश्वविद्यालय था, विदेशी विद्वानों की ही यहाँ प्रधानता थी। विकलिफ के विचारों को प्राग के चेक विद्वानों का समर्थन प्राप्त हुआ। सन १४०३ ई० में पादरियों के दबाव के कारण प्राग विश्वविद्यालय के चेक विद्वानों ने विकलिफ के सिद्धान्तों को नकार दिया, किन्तु, कुछ विद्वान अडिग बने रहें। इनमें एक जॉन हस भी था।

जॉन हस का जन्म १३६९ ई० में हुआ था। वह १३९३ ई० में बी०ए० और १३९६ ई० में एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। हस एक जोरदार प्रचारक स्तोत्र लेखक और धर्म-सुधार-समर्थक था। चर्च की बुराइयों और पादरियों के पतित जीवन का वह कटु आलोचक था। धर्म-सुधार में अभिरुचि रखने वाले कुछ लोगों ने

प्राग के बेथलहम चर्च को अपना प्रचार-केन्द्र बनाया था। सन् १४०२ ई० हस को इस चर्च का उपदेशक नियुक्त किया गया। सन १४०१ ई० में ही हस ने द्रव्यान्तरण के सिद्धान्त की आलोचना की थी और कहा था कि एक पापात्मा पादरी द्वारा धर्मोचित कर्मकाण्ड सम्पादित हो ही नहीं सकते थे। सन १४०३ ई० में उसने विकलिफ के सिद्धान्तों का समर्थन किया; परन्तु १४११ ई० तक उसे विकलिफ का अनुयायी नहीं माना जाता था। परन्तु, जब हस को प्राग विश्वविद्यालय का रेक्टर चुना गया तो प्राग के आर्कविशप ने उसका विरोध किया क्योंकि पादरियों सम्बन्धी हस के विचारों से वह खार खाये बैठा था। विश्वविद्यालय के उपदेशकों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और प्राग को धार्मिक उत्सवों से वंचित करने का निदेश किया गया।

हस के जीवनकाल का वास्तविक संकट १४१२ ई० में आया। पोप जॉन तेइसवां ने नेपल्स के राजा के विरुद्ध धर्मयुद्ध का आह्वान किया। अभियान में भाग लेनेवालों या आर्थिक सहायता करनेवालों को दण्ड-मुक्ति का लोभ दिखाया गया। सभी सुधारकों ने इस प्रकार दी जाने वाली दण्ड-मुक्ति का विरोध किया। हस तो दण्ड-मुक्ति के सिद्धान्त का ही विरोधी था। उसने कहा कि ईसाई-धर्म के कानूनों का उल्लंघन करने वाले पोप के आदेशों का कोई औचित्य नहीं था। पोप ने हस को धर्म-निष्कासित कर बेथलहम चर्च को गिरा देने का आदेश दिया। राजा वेनसेसलस ने हस और उसके समर्थकों को प्राग से निकाल दिया। हस बोहिमिया के ग्रामीण क्षेत्र में चला गया जहाँ रहकर वह प्रचार और लेखन कार्य में लगा रहा। उसकी इन रचनाओं पर विकलिफ का प्रभाव स्पष्ट है।

कान्सटैण्ट की धर्म-सभा का एक मुख्य उद्देश्य हस के समर्थकों का दमन करना था। सम्राट सिजिसमंड ने हस को अभय दान देकर सभा में शामिल होने को आमन्त्रित किया। हस ३ नवम्बर १४१४ ई० को कान्सटेण्ट पहुँचा। सम्राट के आश्वासन के बावजूद पादरियों ने उसे बन्दी बना लिया और सिजिसमंड ने उसे छुड़ाने की कोशिश भी नहीं की। हस ने अपने सिद्धान्तों को नकारने से इन्कार कर दिया। उसे ६ जुलाई, १४१५ को पादरी पद से हटाकर राजा को सौंप दिया गया। पातकी सिजिस-मंड ने उसे जिन्दा जलवा दिया। अगले वर्ष प्राग के जेरोम की भी यही गति हुई। इस घटना का असर बोहिमिया में व्यापक रूप से हुआ। वहाँ की जनता ने पोप की इस जघन्य कृत्य के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया, जिससे स्थिति

गम्भीर हो उठी। पोप ने उनका दमन करने के लिए धर्मयुद्ध की घोषणा की। यह युद्ध कुछ समय तक चलता रहा, किन्तु १४३६ ई० में चर्च और विद्रोहियों के बीच एक धार्मिक समझौता हुआ जिसके अनुसार विद्रोहियों के कई आक्षेपों को चर्च ने स्वीकार कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के शेष वर्षों में भी बोहिमिया की राजनीति में अस्थिरता बनी रही और वहाँ का कम-से-कम एक राजा हस का अनुयायी था। बोहिमिया सोलहवीं शताब्दी के प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार आन्दोलन तक विधर्मी राज्य बना रहा। इस तरह, जहाँ तक चर्च का प्रश्न था, बोहिमिया विधर्मिता का केन्द्र था जिसका प्रभाव ईसाई जगत के अन्य भागों पर भी पड़ सकता था।

सावोनारोला (१४५२–१४९८) :

जॉन हस से लगभग पचास वर्ष बाद इटली के फ्लोरेंस नगर में भी चर्च के विरुद्ध आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसका नेतृत्व सावोनारोला ने किया। किन्तु, उस समय तक रोमन-चर्च के समर्थकों की संख्या अधिक थी। अतः इस सुधारक की भी वही दशा हुई जो हस की हुई थी। चर्च के अधिकारियों ने उसे भी जीवित ही जला दिया। इस प्रकार रोमन चर्च के विरुद्ध किये गये प्रारम्भिक धार्मिक-आन्दोलन प्रायः असफल रहे। इस असफलता के पीछे मुख्य कारण था कि उस समय तक वातावरण पूर्णतया अनुकूल नहीं हो पाया था। दूसरा कारण यह था कि योरोपीय देशों में राष्ट्रीयता की भावना का पूर्णरूप से विकास नहीं हो पाया था, जिसके अभाव में धार्मिक आन्दोलनों की सफलता संदिग्ध थी। फिर इन प्रारम्भिक सुधारकों के विचार बड़े उग्र थे, जिस कारण समाज के धनी-मानी तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों की मान्यता उन्हें प्राप्त नहीं हो पाती थी। इस तरह, प्रारम्भिक प्रयास असफल रहे। परन्तु इनका प्रभाव बना रहा। इन असफल प्रयासों की अन्तिम परिणति सोलहवीं शताब्दी में हुई, जिसके फलस्वरूप कैथोलिक चर्च का स्वरूप ही बदल गया।

मार्टिन लूथर एवं धर्म-सुधार-आन्दोलन की प्रगति :

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप में चर्च के सुधार का प्रश्न विस्फोटक बन चुका था। केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी जिसे मार्टिन लूथर ने प्रदान किया। यूरोप में वास्तविक धर्म-सुधार-आन्दोलन का प्रारम्भ मार्टिन लूथर के समय से ही हुआ। जर्मनी में उसने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया उसका ईसाई धर्म की एकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। मार्टिन लूथर का जन्म १० नवम्बर, १४८३ ई० को जर्मनी के एक मुक्त किसान परिवार में हुआ था। बाद में उसका परिवार मैन्सफील्ड चला गया जहाँ उसका पिता लोहे की खान में काम करने लगा। बाद में

लूथर ने अपने रूक्षतापूर्ण बचपन की चर्चा की है जिससे अन्दाज किया जाता है कि उसके माता-पिता ने उसका लालन-पालन कठोर अनुशासन में किया था। उन्होंने पूरी कोशिश की कि उनका पुत्र प्रचलित धार्मिक मान्यताओं और अंधविश्वासों में पूर्ण आस्थावान हो। सात वर्ष की आयु में उसे मैन्सफील्ड के लैटिन विद्यालय में दाखिल किया गया। वहाँ उसने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया जिसके फलस्वरुप उसे चौदह वर्ष की अवस्था में पढ़ने के लिए मैग्डेवर्ग भेजा गया। वहाँ से वह अरफर्ट विश्वविद्यालय गया जहाँ उसने १५०२ ई० में बी० ए० और बाइस वर्ष की अवस्था में, १५०५ में, एम० ए० की परीक्षा पास की। पिता के कहने पर वह कानून पढ़ने बैठा, परन्तु दो मास बाद अचानक वैराग्य ग्रहण कर वह अरफर्ट के अगस्टिनियन मठ में प्रविष्ट हो गया। दो वर्ष बाद उसे पादरियों की श्रेणी में शामिल कर लिया गया। तीन वर्ष तक व्याख्याता रहने के बाद १५११ ई० में वह विटेनबर्ग मठ का उप-मठाधीश नियुक्त हुआ। एक साल पहले मठीय कार्य लेकर वह रोम हो आया था। पवित्र नगर के नैतिक पतन को प्रत्यक्ष देखकर उसे मर्मान्तक पीड़ा हुई थी। प्रायः एक वर्ष तक उप-मठाधीश रहने के बाद भी उसे आत्म-तृप्ति की अपेक्षा आत्मग्लानि ही होती रही। वह उस वातावरण में अपने को नियंत्रित नहीं रख सका। चर्च के विरुद्ध उसमें प्रतिक्रिया शुरु हुई। वह एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की खोज में लग गया जिसके द्वारा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित किया जा सके। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मनुष्य को सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वर पर भरोसा करना चाहिए। उसने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि यदि मनुष्य अपना चरित्र-निर्माण बाइबिल के आदेशानुसार करे तो ईश्वर उसका अवश्य सहायक सिद्ध होगा। प्रायश्चित, तीर्थयात्रा तथा कर्मकाण्ड इत्यादि ढकोसला मात्र हैं।

संत पॉल के 'एपिस्टल टु दी रोमन्स' पर अपने व्याख्यानों के समय लूथर इस बात का संकेत दे चुका था कि अवसर और कारण उपस्थिति होने पर वह सुधारक की भूमिका अदा कर सकता था। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि तत्कालीन जर्मनी चर्च के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रायः तैयार बैठा था। जर्मनी में कई समृद्ध नगर थे, छापाखाने का कब का आविष्कार हो चुका था, बाइबिल की प्रतियाँ लोकभाषा में उपलब्ध थीं, ईसाई जाँच न्यायालय प्रायः निष्क्रिय थे और केन्द्रीय सरकार की दुर्बलता के कारण किसी भी सुधारक के लिए स्थानीय शासकों का संरक्षण प्राप्त कर लेना कठिन नहीं था। लूथर प्रारम्भ में पोप का विरोधी नहीं था, परन्तु एक तात्कालिक घटना ने उसे अचानक पोप का कट्टर विरोधी बना दिया।

थी। उसके विरोधी राजाओं में एक इंग्लैंड का राजा हेनरी आठवाँ भी था जिसने लूथर की आलोचना में एक पुस्तक ही लिख डाली थी। इससे प्रसन्न होकर पोप ने उसे 'धर्म का संरक्षक' की उपाधि दी। आश्चर्य की बात यह है कि प्रोटेस्टैण्ट इंग्लैंड के शासक अभी भी इस उपाधि को धारण किये हुए हैं।

जर्मनी में लूथर को तत्काल सफलता मिली। सन् १५२४ ई० में स्पेयर की धर्मसभा ने एक चर्च परिषद की स्थापना करने का निश्चय किया जिसका काम था रोम से अलग होकर एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना करना। परन्तु, इस योजना को उसी वर्ष के जर्मन-कृषक-विद्रोह से व्यवधान हुआ। कृषक-विद्रोहियों ने इतने अत्याचार किये कि शुरू में उनके प्रति सहानुभूति रहते हुए भी बाद में लूथर को उनका विरोध करना पड़ा। उस समय तक लूथर के समर्थकों ने प्रोटेस्टेंट नाम धारण कर लिया था। इस प्रकार, जर्मनी का राज्य सर्वप्रथम धार्मिक दृष्टिकोण से दो भागों में विभक्त हो गया। जो लूथर के अनुगामी थे, उन्होंने अपना राज्य-धर्म प्रोटेस्टेंट मत को रखा तथा विरोधी राज्यों ने पोप के पुराने धर्म को ही ज्यों-का-त्यों रहने दिया। सन् १५२६ ई० में स्पेयर की दूसरी धर्म-सभा में यह निश्चय किया गया कि "प्रत्येक राजा धर्म के मामले में ऐसा मार्ग अपनाएगा कि वह अपने आचरण के लिए ईश्वर और सम्राट के प्रति उत्तरदायी होगा।" जून १५३० ई० में ऑग्सबर्ग की धर्मसभा में एक अन्य प्रमुख सुधारक, मेलैंक्थन ने लूथर के समर्थकों एवं कैथोलिकों के बीच की दूरी को कम करने की कोशिश की। परन्तु, प्रोटेस्टैण्ट सुधारवादी थे और कैथोलिक प्राचीन पद्धति के अनुयायी थे। अतः इन दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी था। किन्तु, यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। साम्राज्य पर तुर्की आक्रमण का खतरा था। अतः सम्राट ने राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखकर १५३२ ई० में नुरेमबर्ग की संधि द्वारा प्रोटेसटेण्टों को उत्पीड़न से सुरक्षा का आश्वासन दिया। यह प्रायः संघर्ष का अंत था, यद्यपि पोप अगले बीस वर्षों तक प्रोटेस्टैण्टों को दबाने का प्रयास करता रहा। अंत में, १५५५ ई० में आग्सबर्ग का समझौता हुआ, जिसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि प्रत्येक राजा अपनी प्रजा का धर्म निश्चित कर सकता है, किन्तु वह लूथर के सुधारवादी धर्म तथा रोमन कैथोलिक धर्म को छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं लाद सकता। इस समझौता से वस्तुतः प्रोटेस्टैण्ट मत को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गयी। जर्मनी के अधिकांश राज्यों में लूथर का सुधारवादी धर्म राज्य-धर्म बन गया। यह वास्तव में लूथर की महान विजय थी। जर्मनी के जन-जीवन पर उसके धर्म की छाप सदा के लिए अंकित हो गयी।

अन्य योरोपीय देशों में धर्म-सुधार-आन्दोलन की प्रगति :

इंग्लैंड, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, नेदरलैंड, डेनमार्क तथा स्वीडन आदि में भी लूथर की शिक्षाओं के फलस्वरूप प्रोटेस्टैण्ट आन्दोलनों की शुरुआत हुई। इन आंदोलनों का इतिहास भी प्रायः वैसा ही था जैसा कि व्यक्तिगत कारणों से लूथर द्वारा शुरू किए गए आंदोलन का था। केवल इंग्लैंड में इस आंदोलन का स्वरूप कुछ भिन्न था। इस तरह, मार्टिन लूथर का धर्म केवल जर्मनी तक ही सीमित नहीं रहा वलिक आस-पास के देशों में भी व्यापक रूप से फैला। लूथर द्वारा पोप की नीति के पर्दाफाश के कारण प्रायः सम्पूर्ण यूरोप के लोगों में जागृति आ गयी। फलतः अनेक योरोपीय देशों में पोप के विरुद्ध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ तथा कैथोलिक चर्च में परिवर्त्तन लाने की भरपूर कोशिशें होने लगीं। धर्म-सुधार आन्दोलन को सफल बनाने के लिए लूथर ने राष्ट्रीय भावना को जगाना प्रारम्भ किया था। उसने लोगों को वतलाया कि चर्च की अपेक्षा राजा की मर्यादा एवं हस्ती कहीं बढ़कर है। इस कारण राष्ट्रीय भावना वाले राज्यों ने लूथर की वाणी का स्वागत करते हुए पोप की प्रभुत्ता के खिलाफ धर्म-युद्ध प्रारम्भ कर दिया।

इंग्लैंड :

सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक इंग्लैंड में भी पोप के विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गयी थी। किन्तु इंग्लैंड का राजा हेनरी आठवां, मार्टिन लूथर का कट्टर विरोधी था। अतः प्रारम्भ में धर्म-सुधार-आन्दोलन की इंग्लैंड में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। हेनरी आठवां का पोप के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध अच्छा था। उसके प्रोटेसटैण्ट विरोधी होने के कारण पोप ने उसे 'धर्मरक्षक' की उपाधि दी थी। किन्तु यह मित्रभाव अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सका। कुछ व्यक्तिगत तथा कुछ राजनीतिक कारणों से हेनरी आठवां को पोप से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। इस कारण से इंग्लैंड में भी धर्म-सुधार आन्दोलन की नींव दृढ़ हो गई। इस सम्बन्ध-विच्छेद के पीछे प्रमुख कारण था कि हेनरी आठवां अपनी पत्नी कैथेरिन को तलाक देकर एक अन्य सुन्दरी एनबोलीन से विवाह करना चाहता था। पोप से वह इसकी अनुमति चाहता था। किन्तु कैथेरिन स्पेन के राजा पंचम चार्ल्स की मौसी थी। चार्ल्स का पोप पर अत्यधिक प्रभाव था। अतः पोप इस प्रकार की अनुमति देकर चार्ल्स को रंज करना नहीं चाहता था। साथ ही वह हेनरी को भी अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। इसलिए उसने कार्डिनल वुल्जी और कांमपेजियो के तत्त्वावधान में एक आदेशात्मक आयोग की नियुक्ति की जिसका काम तलाक के प्रश्न को सुलझाना था। परन्तु यह आयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहा। इस आयोग की

असफलता ने इंग्लैंड के चर्च का रोम से सम्बन्ध विच्छेद अवश्यम्भावी बना दिया। सन् १५२९ में हेनरी अष्टम ने इच्छाओं की पूर्ति के लिए दो साधनों का सहारा लिया। सर्वप्रथम उसने तलाक के प्रश्न को सुलझाने के लिए टामस क्रेमर की नियुक्ति की। वह केम्ब्रिज में इरेसमस के विचारों से बहुत प्रभावित हो चुका था। उसने प्रश्न पर विचार करने के लिए योरोपीय विद्वानों को आमंत्रित किया। उसने निर्णय लिया कि यदि विद्वानों ने यह राय दी कि हेनरी का कैथरिन से सम्बन्ध दैव-नियम के विरुद्ध है तो हेनरी स्वयं विवेक का सहारा लेकर, बिना पोप की अनुमति लिये ही, अपने विवाह को अवैध घोषित कर सकता है। अतः कंटरबरी के आर्कबिशप की राय से हेनरी ने कैथेरिन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। ए० डी० इन्स के शब्दों में "कैंटरबरी के आर्कबिशप के फैसले से रोम से निश्चित रूप से विच्छेद हो गया।"

हेनरी अष्टम ने दूसरा कदम यह उठाया कि नवम्बर १५२९ ई० में उसने पार्लियामेंट की बैठक बुलाई। यह पार्लियामेंट सात वर्षों तक रही। इसलिए इसे सप्तवर्षीय या रिफॉरमेशन पार्लियामेंट कहा गया है। पार्लियामेंट राजा की चर्च-नीति को कार्यान्वित करने को तैयार हो गई। सर्वप्रथम चर्च के धन बटोरने की प्रथा को समाप्त करने की ओर ध्यान दिया गया। चर्च के धन बटोरने के विभिन्न साधनों में मृतलेख-प्रमाण या वसीयतनामे को प्रमाणित करने का आज्ञा-पत्र, श्मशान संबंधी शुल्क तथा पाप-मोचन-पत्र मुख्य थे। कुछ पादरियों ने कृषि एवं व्यापार द्वारा भी धन कमाया था। हेनरी ने पार्लियामेंट की सहायता से पादरियों की आय के विभिन्न साधनों को समाप्त कर दिया। पादरियों की वृत्ति के विषय में विशेष रूप से यह कहा गया कि कोई भी पादरी एक से अधिक वृत्ति को नहीं अपना सकता है। वृत्ति का धारण भी राजाज्ञा से ही किया जा सकता था। पहले इस तरह की आज्ञा पोप दिया करता था। दिसम्बर १५३० ई० में पार्लियामेंट की दूसरी बैठक हुई। तृतीय एडवर्ड के समय से ही यह व्यवस्था चली आ रही थी कि इंग्लैंड का किसी तरह का मामला इंग्लैंड में ही निपटे। पोप के पास उसकी सुनवाई के लिए न भेजा जाय। परन्तु, वूल्जी ने तलाक के प्रश्न को पोप के पास भेजकर इस नियम का उल्लंघन किया था। अतः यह उसके पतन का एक कारण बना। वूल्जी को पोप के दूत के रूप में जिन पादरियों ने स्वीकार किया था उन्हें भी दोषी पाया गया। कंटरबरी के पादरियों के संघ पर एक लाख तथा यार्क के पादरियों पर अट्ठारह हजार पौंड का जुर्माना लगाया गया। सन् १५३१ ई० में पार्लियामेंट ने इंग्लैंड के राजा को पादरियों एवं चर्च

का संरक्षक एवं प्रधान स्वीकार कर लिया। इस तरह, कानूनी तौर पर पोप की प्रभुता को इंग्लैंड में समाप्त कर दिया गया। कंटरबरी तथा यार्क के पादरियों ने राजा के इस नये पद को मान लिया। पादरियों को एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने को भी बाध्य किया गया जिसमें उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे बिना राजा की आज्ञा के चर्च सम्बन्धी किसी भी तरह के नियम नहीं बनाएंगे। इन तरीकों को अपना कर इंग्लैंड में पादरियों को शक्तिहीन कर दिया गया। इतना ही नहीं, हेनरी ने अधिकांश ईसाई-मठों की सम्पत्ति पर भी कब्जा कर लिया तथा पोप को वार्षिक करों का भी भेजा जाना बन्द करवा दिया। इससे राज्य की आय तथा शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। इंग्लैंड की जनता ने भी हेनरी के कार्यों का समर्थन किया। जब १५३४ ई० में पोप ने हेनरी को धर्म से बहिष्कृत कर दिया, तो हेनरी ने इसका जवाब विश्वविद्यालयों के पादरी संघ से मिल कर दिया। यह कहा गया कि "किसी भी विदेशी बिशप की तरह अब रोम के बिशप का भी इंग्लैंड पर किसी तरह का हक नहीं है।'

हेनरी अष्टम के उत्तराधिकारी एडवर्ड षष्ठ (१५४७–१५५३ ई०) के समय में इंग्लैंड में धर्म-सुधार की प्रक्रिया और भी तेज हो गई। पादरी संघ एवं चर्च में लैटिन के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया। क्रेनमर को अंग्रेजी बाइबिल लिखने का आदेश दिया गया। उसने सुन्दर गद्य-शैली में १५४९ ई० में प्रथम प्रार्थना पुस्तक की रचना की जो अभी भी अंग्रेजों की प्रार्थना पुस्तक है। किन्तु इंग्लैंड में धर्म के मामले में राजकीय नीति का देश के उत्तर-पश्चिम भाग ने विरोध किया। वहां के लोग धर्म में किसी तरह का परिवर्त्तन नहीं चाहते थे। उनके क्रोध का तत्काल कारण था—नई प्रार्थना पुस्तक की उद्घोषणा। विद्रोहियों ने एक्सटर पर कब्जा कर लिया। सरकारी सेना ने विद्रोहियों को परास्त कर प्रायः चार हजार लोगों को मार डाला। इस तरह पश्चिमी इंग्लैंड का धार्मिक विद्रोह कुचल डाला गया। सन् १५४९ ई० के बाद चर्च में धर्म-सुधारकों की नियुक्ति होने लगी। सन् १५५२ में द्वितीय प्रार्थना पुस्तक प्रकाशित की गई। चर्च के अनेक उत्सवों को बंद कर दिया गया। धर्म के ४२ अनुच्छेद प्रकाशित किए गए। इस तरह उग्र सुधार की नीति अपनाई गई।

एडवर्ड षष्ठ की उत्तराधिकारिणी मेरी (१५५३-१५५८) की आस्था रोमन कैथोलिक धर्म में थी। उसने गद्दी पर बैठते ही एडवर्ड के राज्यकाल में बने सभी धार्मिक कानूनों को रद्द कर दिया। पोप के दूत कार्डिनल पॉल को इंग्लैंड आने की

अनुमति मिली। इंग्लैंड पुनः रोमन चर्च के अधीन आ गया। प्रोटेस्टेन्टों को कत्ल किया जाने लगा। मेरी खून-खराबी की नीति अपनाकर इंग्लैंड में कैथोलिक धर्म को पुनर्स्थापित करना चाहती थी। परन्तु, १७ नवम्बर, १५५८ ई० में असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका।

महारानी एलिजाबेथ (१५५८-१६०३) के गद्दी पर बैठने तक चर्च-व्यवस्था का प्रश्न अत्यन्त गंभीर हो चुका था। वह प्रोटेस्टैंट मत को अपनाने के लिए विवश थी, क्योंकि रोम ने उसकी माता एनबोलिन का अष्टम हेनरी के साथ विवाह अवैध माना था। मेरी के अत्याचारों से भी इंग्लैंड में कैथोलिक मत का पक्ष कमजोर पड़ गया था। परन्तु, एलिजाबेथ ने धर्म के मामले में मध्य-मार्ग को अपनाया। पुनः एक बार रोम का सम्बन्ध इंग्लैंड से तोड़ दिया गया। हेनरी अष्टम के चर्च सम्बन्धी सभी नियमों को पुनः लागू किया गया। रानी को प्रजा, चर्च तथा राज्य का प्रधान घोषित किया गया। छठे एडवर्ड के राज्यकाल की दूसरी प्रार्थना-पुस्तक स्वीकृत की गई। परन्तु, उसके समय के ४२ धर्म-अनुच्छेदों को घटाकर ३९ कर दिया गया। स्पष्ट है कि एलिजाबेथ की चर्च-व्यवस्था का स्वरूप एक सुन्दर समाधान का था। अष्टम हेनरी की तरह उसने न तो कड़े शब्दों में चर्च के प्रधान होने की घोषणा की और न एडवर्ड की प्रार्थना-पुस्तक में रोम विरोधी परिच्छेद ही रहने दिया। किसी को धर्म के मामले में धमकी नहीं दी गई। केवल चर्च न आनेवाले कैथोलिकों पर एक शिलिंग अर्थदण्ड की व्यवस्था की गई। अतएव कैथोलिक होना खर्चीला काम हो गया। मितव्ययी बनने के लिए लोग चर्च में उपस्थित होना ही श्रेयस्कर समझने लगे। इस तरह, एलिजाबेथ की धार्मिक नीति धीरे-धीरे इंग्लैंड में मान्य हो गई। उसके धर्म को "एंग्लिकन-धर्म" की संज्ञा दी गई है।

स्कॉटलैंड :

स्कॉटलैंड भी धर्म-सुधार आन्दोलन से अछूता नहीं रहा। किन्तु यहाँ इस आंदोलन का स्वरूप कुछ भिन्न था। यहाँ के जेम्स पंचम का अभी भी पोप, पादरियों एवं फ्रांस में विश्वास था। धर्म-सुधारकों का साथ देकर वहाँ का राजा इन सबों से सम्बन्ध तोड़ना नहीं चाहता था। स्कॉटलैंड का चर्च धनी था। वहाँ के विशप कुलीन युद्ध-प्रिय, धनलोलुप एवं विलासी थे। वे प्रायः कुलीन परिवारों के थे और चर्च की सम्पत्ति बटोरने के विचार से इसमें आ गये थे। वे आपस में हमेशा लड़ते रहते थे। साधारण पादरी गरीब, अशिक्षित एवं अभद्र थे। पादरी वृत्तियाँ भी कम कष्टदायक न थीं। मृत्यु-शुल्क के साथ श्रेष्ठ वस्त्र और गाय वसूलने की प्रथा से सामान्य जन

को कष्ट होता था। गरीब जनता इससे तबाह थी। विवाह के समय भी पादरी दान-दक्षिणा वसूलते थे। अंततः चर्च के लोगों का नैतिक पतन हो गया था। पादरी ब्रह्मचर्य व्रत के विरोधी बन गये थे। वे सामान्य जन की तरह शादी-विवाह कर रहे थे। उनके बच्चे अपनी सम्पत्ति के अधिकारी होते थे। सुधार के सभी प्रयास अभी तक विफल हुए थे। इसी समय जर्मन धर्मसुधारकों का प्रभाव स्कॉटलैंड पहुँचा धर्म पुस्तकों का अनुवाद होने लगा। पार्लियामेंट एवं चर्च ने नये विचारकों को दबाना चाहा। सन् १५२८ ई० में जर्मन सुधारवाद से प्रभावित पैट्रिक हेमिल्टन को जीवित जला दिया गया। किन्तु इससे धर्म सुधारकों को नई प्रेरणा मिली। जॉर्ज विशर्ट ने नये विचारों का प्रचार-प्रसार जारी रखा। उसने कई स्थानों में भाषण दिये। गिरफ्तारी और जांच के बाद उसकी भी जान ले ली गई। विशर्ट का एक मित्र जॉन नॉक्स भी अनेक लोगों के साथ देश से निकाल बाहर किया गया। उधर इंग्लैंड के साथ स्काटलैंड के राजनीतिक सम्बन्ध बिगड़ते गए। बाहरी सहायता के अभाव में स्कॉटलैंड का धर्म सुधार आन्दोलन कमजोर पड़ता गया। परन्तु एडवर्ड षष्ट ने वहाँ के सुधार-आन्दोलन में रुचि दिखाकर निर्वासित धर्म-सुधारकों का अपने दरबार में स्वागत किया। प्रोटेस्टेन्टों के हित में उसने जॉन नॉक्स को भी मुक्त करवाया। मेरी ट्यूडर के शासनकाल में स्कॉटलैंड के प्रोटेस्टेन्टों को बहुत सताया गया। अप्रिल १८५८ ई० में स्कॉट रानी मेरी के फ्रांस के डॉफिन के साथ विवाह कर लेने से स्कॉटलैंड का धर्म-सुधार-आंदोलन और भी कमजोर पड़ गया।

हालैंड :

सोलहवीं शताब्दी का एक प्रमुख मानववादी, रोटर्डम-निवासी इरेसमस, जर्मन लूथर से पूर्व ही, हालैंड में धर्म-सुधार की ज्योति जला चुका था। उसने पेरिस तथा ऑक्सफोर्ड में शिक्षा पाई थी तथा जर्मनी एवं इटली की यात्रा कर चुका था। वह इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का विद्वान था। लूथर के द्वारा धर्म-सुधार-आंदोलन के प्रारम्भ होने से पूर्व ही १५११ ई० में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दि प्रेज आफ फौली "लिखी थी। इस पुस्तक द्वारा उसने लोगों का ध्यान सहज ही चर्च की बुराइयों की ओर खींचा। इस पुस्तक में भिक्षुओं की अज्ञानता एवं उनके सहज-विश्वास की आलोचना की गई। इरेसमस ने धर्म-पुस्तकों के आलोचनात्मक अध्ययन पर विशेष जोर दिया। वह लूथर की तरह उग्रवादी नहीं था। धर्म में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के पक्ष में वह नहीं था क्योंकि पुनर्जागरण का महत्त्वपूर्ण पक्ष मानववाद धर्म-सुधार-आंदोलन से भिन्न था। फिर भी, उसने अपनी उपर्युक्त पुस्तक,

प्रहसनों एवं उपहासों के माध्यम से पोप की कहीं अधिक खिल्ली उड़ाई। उसने अपने विवेक एवं बुद्धि के सहारे चर्च की प्रभुता से लोगों को मुक्त करने का सफल प्रयास किया। धर्म-सुधार-आंदोलन से इसका सीधा सम्बन्ध भले ही न रहा हो परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इसी ने धर्म सुधार-आंदोलन के बीज बोए।

स्विटजरलैंड :

स्विटरजलैंड का प्रमुख धर्म-सुधारक ज्विंगली था। उसका सन् १४८४ ई० में वहाँ के एक धनी परिवार में जन्म हुआ था। वह लूथर का समकालीन था। उसका कहना था कि पवित्र धर्म की स्थापना तभी हो सकती है जबकि लोग बाइबिल के आदेशानुसार आचरण करें। अतः उसने लूथर से भी अधिक बढ़-चढ़कर बाइबिल के 'अध्ययन एवं मनन' पर जोर देना आरम्भ किया। उसने धर्म के नाम पर उपवास करने का विरोध किया तथा ईसाई पादरियों के ब्रह्मचर्यपालन आदि को कोरा ठहराया। उसने मानव जीवन की सादगी एवं नैतिकता पर अत्यधिक जोर दिया। प्रचलित कैथोलिक धर्म से विरक्ति के फलस्वरूप उसने अपने आपको १५२३ ई० में कैथोलिक चर्च से अलग कर लिया। उसके उपदेशों एवं विचारों से प्रभावित होकर स्विटजरलैंड के अधिकांश कैण्टनों (राज्यों) ने उसका समर्थन करना प्रारम्भ किया। वह स्वयं ज्यूरिक नगर में आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था। इसी बीच १५३१ ई० में किसी ने उसकी हत्या कर दी। किन्तु इससे स्विटजरलैंड में प्रोटेस्टेंट आन्दोलन का प्रभाव कम नहीं हुआ। उसकी मृत्यु के बाद हजारों की संख्या में स्विटजरलैंड-निवासियों ने प्रोटेस्टेंट धर्म को स्वीकार किया।

फ्रांस :

स्विटजरलैंड के ज्विंगली की ही तरह फ्रांस में जॉन कालविन धर्म-सुधार-आंदोलन का पक्षधर था। उसका जन्म १५०९ ई० में फ्रांस में हुआ था। यद्यपि वह फ्रांसीसी था, तथापि उसने जेनेवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और १५६४ ई० में अपनी मृत्यु तक वहीं बना रहा। प्रारम्भ में वह भी कैथोलिक मतावलम्बी था, परन्तु सुधार-आन्दोलन के सम्पर्क में आने के बाद उसे कैथोलिक चर्च से विरक्ति हो गई। उसने कहा कि उसे कैथोलिक मत के त्याग तथा ईसा के पवित्र सिद्धान्तों पर आधारित एक नवीन धर्म की स्थापना का दैवी आदेश है। इसी विश्वास के आधार पर उसने प्रोटेस्टेंट धर्म का नेतृत्व ग्रहण किया। वह कोई बड़ा विद्वान नहीं था। परन्तु उसमें विवेक, चतुराई तथा तर्क का कोई अभाव न था। इन गुणों के कारण वह सहज ही लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने में सफल हुआ। लूथर को शासकों तथा

किसानों का समर्थन प्राप्त था तो कालविन के समर्थक व्यापारी तथा मध्यवर्ग के लोग थे। उसने उनका नेतृत्व ग्रहण किया और सूद लेने को धर्मोचित ठहराया। उसका कहना था कि पूँजी के लिए सूद लेना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि भूमि के लिए भूमि-कर लेना। उसके इसी प्रकार के अन्य कई तर्क व्यापारी वर्ग के लिए सुविधाजनक थे। अतः इस वर्ग ने उसका डटकर समर्थन किया।

कालविन एक प्रतिभाशाली तथा उच्चकोटि का तार्किक भी था। उसने बाइबिल की सर्वोपरिता को स्वीकार किया और सेवा एवं सादगी के जीवन पर जोर दिया। लूथर की तरह उसके विचार भी उग्र थे। उसने मनोरंजन तथा खेल-तमाशों तक पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की। उसका दृष्टिकोण पूर्णरूपेण असहिष्णु था। उसने अनेक लोगों को मृत्यु के घाट केवल इसलिए उतरवा दिया कि वे उससे सहमत नहीं थे। 'इन्सटीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजियन' नामक अपनी रचना में उसने प्रोटेस्टेंट धर्म की विशद व्याख्या की है। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप धर्म-सुधार-आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसकी सबसे बड़ी देन थी कि उसने जनसाधारण में आत्मबल एवं विश्वास की भावना का संचार कर धर्म के प्रति लोगों में आस्था उत्पन्न की। उसका मत कालविनवाद या श्रेष्ठ जनवाद (प्रेस्बिटेरियनिज्म) कहा जाता है। उसके धार्मिक मत को विशेषतः फ्रांस तथा स्कॉटलैंड में सफलता मिली।

धर्म-सुधार-आन्दोलन की सफलता के कारण :

पूर्व-मध्यमकालीन सुधारकों के प्रयत्नों से यह बात स्पष्ट हो गई थी कि धर्म-सुधार की नितांत आवश्यकता थी और रोमन कैथोलिक चर्च सुधारों के प्रति उदासीन रहता है तो समस्या किसी भी समय विस्फोट का रूप धारण कर सकती है। जनता पोप तथा कैथोलिक चर्च को घृणा की दृष्टि से देखने लगी। उनकी आस्था चर्च से उठती जा रही थी। जॉन विकलिफ तथा जॉन हस के प्रयासों के फलस्वरूप उत्तर-मध्यकाल में धर्म-सुधार का मार्ग प्रशस्त हो गया। उनकी रचनाओं तथा भाषणों ने कैथोलिक चर्च की बुराइयों को जनता के समक्ष और भी उजागर करके रख दिया। अब लोगों की आस्था कैथोलिक चर्च में नहीं के बराबर रह गई। ऐसी स्थिति में धर्म-सुधार का होना अवश्यम्भावी था।

सोलहवीं शताब्दी में धर्म-सुधार-आंदोलन की सफलता का प्रमुख कारण था राष्ट्रीय भावना का उदय। लूथर तथा कालविन के विचार इस दिशा में विशेष सहायक सिद्ध हुए। इन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को पोप की सर्वोपरिता के विरुद्ध

उभाड़ा। उनकी दृष्टि में किसी भी राज्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप अनुचित था। राज्य आंतरिक मामलों में सार्व-भौम है। अतः किसी भी देश के धर्म पर विदेशी पोप की सत्ता अनुचित है। इन विचारों का परिणाम यह हुआ कि राजागण पोप के नियंत्रण से मुक्त होने के लिए फ्रेडरिक बारबेरोसा तथा फ्रेडरिक द्वितीय जैसे पूर्व-मध्यकालीन राजाओं से भी कहीं अधिक सचेष्ट हो उठे। उन्होंने धर्मसुधारकों को प्रोत्साहन तथा प्रश्रय देना प्रारम्भ किया। राजाओं की दृष्टि चर्च की अपार सम्पदा पर भी थी। इस कारण भी उन्होंने धर्म-सुधार-आंदोलन का साथ दिया।

धर्म-सुधार-आंदोलन की सफलता का एक अन्य कारण यह भी था कि उत्तर मध्यकाल तक चर्च की उपयोगिता भी संदिग्ध जान पड़ने लगी थी। पुनर्जागरण; काल में सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप चर्च का कार्यक्षेत्र सीमित हो गया था। उदाहरणार्थ, शिक्षा एवं ज्ञान का क्षेत्र पहले चर्च के अधीन था, परन्तु पुनर्जागरण काल में ऐसे नये वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसने उस कार्य को अपनी देख-रेख में लेना शुरू किया। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में चर्च की उपयोगिता घट गई। इस नवीन परिस्थिति में धर्म-सुधार-आंदोलन को प्रोत्साहन एवं बल मिला।

धर्म-सुधार-आन्दोलन के परिणाम

प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार-आन्दोलन :

सोलहवीं शताब्दी के धर्म-सुधार-आन्दोलन तथा प्रोटेस्टेंटों की सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि अपने स्थायित्व के निमित्त रोमन कैथोलिक चर्च में भी सुधार आवश्यक थे। तब अपनी सुरक्षा की दृष्टि से कैथोलिक मतालम्बियों ने भी सुधार-आन्दोलन का सूत्रपात किया जिसे प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार (काउण्टररिफॉरमेशन) कहा गया है। इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य था चर्च संगठन एवं कार्य-विधि से सम्बद्ध सिद्धान्तों में परिवर्तन लाना। पोप पॉल चतुर्थ ने इस आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। उसके तथा अन्य कई लोगों के प्रयासों से कैथोलिक चर्च की अनेक बुराइयों का उन्मूलन संभव हुआ। अब भ्रष्ट पादरियों और अनुशासनहीन धर्माधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा। समय-समय पर उन्हें उनके अपराधों के लिए दण्ड भी दिया जाने लगा। प्रतिवादात्मक सुधार-आन्दोलन के मूलतः दो पक्ष थे— धर्म-सिद्धान्तों की व्याख्या तथा धर्म-प्रचार-कार्य। इसके लिए विविध उपाय काम में लाये गये। सन् १५४५ ई० से १५६३ ई० तक ट्रेण्ट की धर्म-सभा ने रोमन

कैथोलिक चर्च के प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श किया। प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों के आक्षेपों के समुचित उत्तर भी तैयार किये गए। इस कार्य में जेस्विट संघ के सदस्यों से पोप को उल्लेखनीय सहायता मिली। जेस्विट संघ की स्थापना स्पेनवासी इगनेशियस लायोला ने की थी। जेस्विट संघ का नाम ईसा पर पड़ा था। और इसका उद्देश्य था—ईसामसीह के धर्म की निःस्वार्थ सेवा। लायोला की पृष्ठभूमि सैनिक थी, अतः उसके द्वारा स्थापित जेस्विट संघ में ईश्वर-भक्ति, सादगी तथा ब्रह्मचर्य आदि नियमों का कठोरतापूर्वक पालन किया जाता था। पोप को इस संघ के कार्यों से विशेष प्रसन्नता हुई। अतः उसने इसके सदस्यों को उन देशों में भेजा जहाँ धर्म-सुधार-आन्दोलन का विशेष प्रभाव था। इस संघ के सदस्यों ने प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी देशों में भी कैथोलिक मत की पुनर्स्थापना का हर सम्भव प्रयास किया। जेस्विट पादरी जहाँ कहीं भी गए वहाँ शिक्षा-प्रचार, दीन-दुखियों की सेवा कर लोगों का हृदय जीतने में सफल हुए। उनकी निःस्वार्थ सेवा से प्रभावित होकर अनेक लोग रोमन कैथोलिक धर्म की ओर पुनः आकर्षित हुए। प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार के कारण मूल धर्म-सुधार-आन्दोलन की गति कुछ धीमी पड़ गई। साथ ही सुदूर भारत तथा चीन आदि देशों में कैथोलिक धर्म फैलाने की चेष्टा की गयी। संक्षेप में कैथोलिक चर्च के पराभव की प्रक्रिया रुक गई और जिन देशों में अभी कैथोलिक धर्म शेष था, वहाँ इसकी जड़ मजबूत हुई।

सामाजिक परिणाम :

धर्म-सुधार-आन्दोलन के फलस्वरूप, कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टेंटों में अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए होड़-सी चल पड़ी। अतः दोनों सम्प्रदायों में आचरण की शुद्धता एवं नैतिकता का प्रादुर्भाव हुआ। प्यूरिटनवाद नैतिक नियमों की शुद्धता पर ही तो आधारित था। कालविनवाद इस दिशा में सबों से आगे था। अब कर्मकाण्डों की जगह पर आचरण की शुद्धता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। अनेक सामाजिक अन्धविश्वासों का लोप होने लगा।

एक सामाजिक दुष्परिणाम यह हुआ कि गिरजों एवं मठों की रोटी पर पलने वाले अनेक लोग अब आश्रयहीन हो गए। अतः कई देशों में गरीबी तथा बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। कठोर प्यूरिटनवाद के कारण बहुतों के लिए जीवन नीरस बन गया। तीर्थ-यात्राओं, धार्मिक छुट्टियों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाने से सामाजिक विविधता में कमी आ गई।

राजनीतिक परिणाम :

धर्म-सुधार-आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी था कि इससे ईसाई-धर्म की एकता का अन्त हो गया। ईसाई चर्च दो भागों में विभक्त हो गया—प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक। आगे चलकर इन दोनों वर्गों के भी उपवर्ग उठ खड़े हुए। धार्मिक विभाजनों ने राजनीतिक गुटबन्दियों को जन्म दिया। धर्म के नाम पर राजनीतिक संघर्ष चलाने लगे जिसमें असंख्य लोगों की जान गई। यूरोप में सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध धार्मिक युद्धों का काल था। प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप भीषण रक्त-पात हुआ। धर्म के नाम पर जीवित जलाया जाना, विरोधी धर्मावलम्बियों पर तरह-तरह के अत्याचार करना यूरोप में सामान्य बात हो गई। धर्म के नाम पर पहला युद्ध हालैंड में शुरू हुआ। वहाँ का अभिजातवर्ग प्यूरिटन था। इस वर्ग ने देश के स्पेनिश राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस धार्मिक पृष्ठाधार के अति-रिक्त हालैंड के धर्मयुद्ध में राष्ट्रीयता का प्रश्न भी मिश्रित था। कई लेखकों की दृष्टि में इसी धर्म युद्ध से उत्तर-मध्यकालीन यूरोप में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। सन् १३१८ ई० में जर्मनी में भी एक भयंकर धार्मिक विस्फोट हुआ जिसकी प्रति-ध्वनि अगले तीस वर्षों तक सुनाई पड़ती रही। फ्रांस के ह्यूनाट लोगों ने भी अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए युद्ध किया। इंग्लैंड में भी लगभग इसी समय धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई जिसके फलस्वरूप प्यूरिटनों को इंग्लैंड छोड़कर अन्य देशों में और विशेषतः अमेरिका में शरण लेनी पड़ी। इस तरह, धर्म के नाम पर यूरोप में सर्वत्र दीर्घकालीन संघर्ष चलता रहा। धर्म में उदारता का व्यवहार शुरू हुआ, तभी यह संघर्ष बन्द हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी तक धर्म एवं राजनीतिक का गठबंधन प्रायः समाप्त हो गया।

धर्म-सुधार-आन्दोलन से राजाओं की शक्ति में अपार वृद्धि हुई। पोप विदेशी था। उसके विरुद्ध आन्दोलन होने से राष्ट्रीयता की भावना सबल हुई। स्कॉटलैंड को फ्रांस के प्रभाव से और हालैंड को स्पेन के प्रभाव से मुक्ति मिली। विभिन्न देशों में चर्च का राष्ट्रीयकरण हुआ। पोप के प्रभाव से मुक्त हो जाने के बाद राजागण अपने राज्यों की सीमा के अन्तर्गत् विरोधियों से काफी मुक्त हो गए। इस तरह, राष्ट्रीय राज्यों की शक्ति में वृद्धि हुई और निरंकुश राजतंत्र को प्रोत्सा-हन मिला। आगे चलकर वैधानिक शासन की प्रवृत्ति जगी और निरंकुश राजाओं की शक्ति घटने लगी। निरंकुश राजतन्त्र और असहिष्णुता लोकतन्त्र के मार्ग में बाधाएँ थीं, परन्तु प्रोटेस्टेंटवाद ने व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित किया और कुछ चर्चों

का संगठन प्रजातान्त्रिक हो गया। इस तरह, धर्म-सुधार-आन्दोलन ने लोकतन्त्रवाद को प्रोत्साहन दिया। इंग्लैंड का शासन प्रबन्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महारानी एलिजाबेथ के शासनकाल के बाद इंग्लैंड में जो संवैधानिक प्रगति हुई, उसके लिए प्रोटेस्टेंट मत का प्रचार काफी हद तक जिम्मेदार था। कई धर्म-सुधारकों ने सूद, मुनाफा को जायज ठहराया था। इससे व्यापारी वर्ग की समृद्धि बढ़ी और शासन पर इसका प्रभाव बढ़ने लगा।

सांस्कृतिक परिणाम :

धर्म-सुधार-आंदोलन के सांस्कृतिक परिणाम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इस आन्दोलन के पूर्व सम्पूर्ण ईसाई-जगत रूढ़िगत परम्पराओं तथा अंध-विश्वासों से ग्रस्त था। ईसाई जनता के लिए पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतीक था। उसकी आज्ञा का उल्लंघन ईश्वर-विरोध के सदृश था। किन्तु धर्म-सुधार-आन्दोलन ने सभी अंध-विश्वासों को निर्मूल साबित कर ईसाई जगत के मानसिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब शिक्षा एवं साहित्य की प्रगति विशेष रूप से हुई। मध्ययुग में कला एवं शिक्षा को चर्च से प्रोत्साहन मिलता रहा था। धर्माधिकारी ही मुख्यतः शिक्षक होते थे और शिक्षण-संस्थान प्रायः चर्च से सम्बद्ध थे। परन्तु, धर्म-सुधार-आन्दोलन के कारण शिक्षा एवं संस्कृति का अबाध विकास कुछ समय के लिए अवरुद्ध सा हो गया क्योंकि प्रोटेस्टेंट मूर्तिकला, चित्रकला, संगति एवं तड़क-भड़क के विरोधी थे। फिर भी, यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं बनी रही। आगे चलकर प्रोटेस्टेंटों ने अनेक शिक्षण-संस्थान खोले। धर्म-सुधारकों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और बाइबिल का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार के बाद कैथोलिक भी शिक्षा के प्रसार की ओर उन्मुख हुए जिसके फलस्वरूप जन-साधारण में शिक्षा का प्रसार हुआ और राष्ट्रीय साहित्य का सृजन हुआ। इस संदर्भ में उल्लेनीय बात यह है कि अब शिक्षा का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष होता गया और चर्च की जगह अब उसपर राजकीय प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रकार, एक ओर तो लोक भाषाओं, साहित्य, विज्ञान और कला की विशेष उन्नति हुई और दूसरी ओर ईसाई जगत की चिन्तन-शक्ति चर्च के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र-चिन्तन की ओर अग्रसर हुई। इससे वैज्ञानिक उन्नति को प्रोत्साहन मिला।

आर्थिक परिणाम :

अर्थ-व्यवस्था का धर्म के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है, परन्तु धर्म-सुधार-आंदोलन का ईसाई-जगत की अर्थ-व्यवस्था पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। ईसा-

मसीह ने धन-संचय को हेय दृष्टि से देखा था। अतः चर्च सूद और मुनाफे का विरोधी था। चर्च की इस नीति से वाणिज्य-व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। समस्त यूरोप की अर्थ-व्यवस्था एक प्रकार से शिथिल पड़ गई थी। परन्तु प्रोटेस्टेंट मत के नेता सूद और मुनाफे का समर्थन करते थे। उन्होंने एक उचित सीमा के अन्दर सूद लेना और मुनाफा कामाना उचित ठहराया। इससे वाणिज्य-व्यापार के प्रसार को नई शक्ति मिली। जेस्विट प्रचारकों के प्रयासों के फलस्वरूप सुदूर देशों में न केवल ईसाई मत एवं शिक्षा का प्रचार हुआ, बल्कि विभिन्न महादेशों के साथ यूरोपीय व्यापार की भी अभिवृद्धि हुई। अब व्यावसायिक क्षेत्र में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। मध्ययुगीन सामंती अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत, भू-सम्पदा का विशेष महत्त्व था। परन्तु पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में सामंतवाद के पराभव के बाद अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर आधारित हो गई। पूँजी की अभिवृद्धि और धन-संचय का अब स्वागत होने लगा। व्यापारिक प्रगति के साथ-साथ राष्ट्रीय संपदा में भी वृद्धि होने लगी। विस्तृत पैमाने पर व्यापार करने के लिए वृहत् व्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना होने लगी। फलस्वरुप यूरोप में पूँजीवाद का विकास कालांतर में संभव हुआ।

●

अध्याय १५

मध्ययुगीन योरोपीय विश्वविद्यालय

आज की ही तरह मध्ययुग में भी यूरोप का बौद्धिक जीवन विश्वविद्यालयों द्वारा ही प्रतिविम्बित होता था। यूरोप के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों की शुरुआत बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में हुई थी। यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन से लेकर कैरोलिंगियन साम्राज्य के उदय तक का काल सचमुच अज्ञान, हिंसा और अराजकता से परिपूर्ण था। इस युग में जो थोड़े बहुत विद्वान हुए, उनकी अभिरुचि भी प्राचीन संस्कृति एवं धर्मशास्त्रों तक ही सीमित थी। ज्ञान का आलोक अल्प काल के लिए कैरोलिंगियन युग में अवश्य दिखाई पड़ा, परन्तु वास्तविक बौद्धिकता की ज्योति दशम शताब्दी से ही विकीर्ण होने लगी। ग्यारहवीं शताब्दी बौद्धिक उन्नयन का काल था और परवर्ती विश्वविद्यालयों को बारहवीं शताब्दीय पुनर्जागरण की देन कहा जा सकता है। पुनर्जागरण के स्थायी तत्त्वों को वस्तुतः विश्वविद्यालयों ने ही जीवित रखा और उन्हीं के कारण यूरोप का उत्तर-मध्यकाल अंधकार और अज्ञान मुक्त होकर सभ्यता एव संस्कृति से युक्त हो सका।

शालंमन के राज्यारोहन के समय विद्या और ज्ञान की ज्योति यूरोप में काफी धूमिल पड़ चुकी थी। परन्तु, उसने साम्राज्य के गिरिजाघरों एवं मठों से लगे हुए विद्यालयों की स्थापना की। लगभग दो शताब्दियों तक यही स्कूल ज्ञान की ज्योति जलाते रहे। पूर्वमध्यकालीन यूरोप के अधिकांश विद्वान इन स्कूलों से सम्बद्ध थे। जब नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई तब इन चर्च स्कूलों ने आवश्यक आधारशिला का काम किया।

विश्वविद्यालयों की स्थापना के कारण

ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम और बारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में पश्चिमी यूरोप एक नवीन बौद्धिक आन्दोलन से आलोकित हो रहा था, जिसे "नवीन ज्ञान" की संज्ञा दी गई है। इस नवोदित बौद्धिकता के फलस्वरूप उच्च एवं विशिष्ट प्रकार की शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। स्वतन्त्र एवं धर्म-निरपेक्ष लोग शिक्षण का महत्त्व समझने लगे थे। वे ऐसी शिक्षा चाहते थे जो कामकाजी न हो और लोगो को चिकित्सा, कानून तथा राजनीति में प्रवेश पाने में सहायक सिद्ध हो।

इस आवश्यकता की पूर्ति चर्च स्कूलों द्वारा संभव नहीं थी, अतः विश्वविद्यालयों की आवश्यकता पड़ी।

विश्वविद्यालयों के उदय के कुछ अन्य कारण भी थे। बारहवीं शताब्दी की बढ़ती हुई विधर्मिता के कारण चर्च ऐसी विशाल शिक्षण-संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव करने लगा था जिनमें बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को चर्च के संगठन एव सिद्धान्तों की रक्षा करने का प्रशिक्षण दिया जा सके। इस तरह, पोप की आज्ञा से १२२९ ई० में तुलों विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जिसका प्रमुख उद्देश्य था अल-बिजैंसियन विधर्मिता का विरोध करना। उस समय तक चर्च का स्वरूप एक विशाल केन्द्रीभूत संगठन का हो गया था जिसे अपनी कचहरियों के लिए वकीलों, कार्यालयों के लिए पत्राचार तथा प्रारूप-लेखल में कुशल लिपिकों की आवश्यकता थी। सामंतों तथा राजाओं को भी नागरिक सेवा के लिए प्रशिक्षित वकीलों एवं लैटिन भाषा के जानकार व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। सन् ११५८ ई० में सम्राट् फ्रेडरिक बारबेरोसा ने विद्यार्थियों तथा विशेषतः धर्मशास्त्रों के व्याख्याताओं को विशेप सुविधा प्रदान की। उसे आशा थी कि ये लोग पोपतंत्र के विरुद्ध उसके संघर्ष में उसका साथ देंगे। नवस्थापित नगरों तथा उद्योगों की भी कुछ इसी तरह की जरूरतें थीं। सन् १३४९ ई० में फ्लोरेंस नगर में विश्वविद्यालय की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से हुई थी कि प्लेग के कारण उसकी घटी हुई आबादी बढ़ सके। इस तरह, विभिन्न प्रकार के पेशेवर विशेषज्ञों को तैयार करने के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई क्योंकि चर्च स्कूलों से यह काम पूरा नहीं हो रहा था।

यूरोप तथा विशेषतः स्पेन आदि पर धर्मयुद्धों के फलस्वरूप ग्रीक-अरब संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ रहा था। ग्रीक और मुस्लिम चिकित्सा-ग्रन्थों के यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद होने के कारण अब ईसाई भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य लोग भी चिकित्सक का पेशा अपनाने लगे। तर्क एवं विज्ञान में बढ़ती हुई अभिरुचि के कारण जिज्ञासु स्नातकों की संख्या निरंतर बढ़ रही थी। विद्यार्थियों एवं अभिरुचियों में वृद्धि के फलस्वरूप विशाल शिक्षण-केन्द्रों की आवश्यकता हुई। इस तरह मठीय तथा चर्च-स्कूलों की जगह अब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। शीघ्र ही, उच्च शिक्षण-केन्द्रों के रूप में चर्च-स्कूल विश्वविद्यालयों के समक्ष फीके पड़ गये। प्राथमिक शिक्षा पर भी इन स्कूलों का लगभग एकाधिकार समाप्त हो गया क्योंकि नवोदित नगरों एवं व्यावसायिक संघों द्वारा अनेक पाठशालाओं की स्थापना की जाने लगी। इन पाठशालाओं में चर्च-स्कूलों से भी कहीं अधिक विधिवत् लैटिन तथा ग्रीक भाषा-

की पढ़ाई होती थी। बाद में अनेक पाठशालाओं का स्वरूप विश्वविद्यालयों के संदर्भ में मात्र प्रदायकों का हो गया।

प्रमुख विश्वविद्यालय :

यूरोपीय विश्वविद्यालयों का प्रारम्भिक इतिहास अस्पष्ट है, क्योंकि इनमें प्राचीनतम का क्रमिक विकास हुआ था और इनकी औपचारिक ढंग से स्थापना नहीं हुई थी। इनसे से कुछ का चर्चीय और मठीय विद्यालयों से विकास हुआ था जबकि कुछ की उत्पत्ति सामान्य और विशेषतः औद्योगिक तथा व्यावसायिक नगरों में स्थापित विद्यालयों से हुई थी। आगे चलकर उपर्युक्त दूसरी कोटि के विश्वविद्यालय प्रथम कोटि के विश्वविद्यालयों से अधिक विख्यात हो गये। पोपों ने विकासोन्मुख विद्यालयों को प्रश्रय दिया और राजाओं तथा सम्राटों ने उनके विशेषाधिकारों की अधिकार-पत्रों द्वारा पुष्टि की। नवोदित नगरों ने उनके विकास में सहायता दी और समृद्ध नागरिकों तथा व्यापारियों ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया।

बारहवीं शताब्दी के अंत और तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राचीनतम का विश्वविद्यालयों को राजकीय तथा पोप के अधिकार-पत्रों द्वारा औपचारिक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। सालेरनो, बोलोना तथा पेरिस के विश्वविद्यालय सर्वाधिक प्राचीन थे। बोलोना तथा पेरिस विश्वविद्यालय संगठन तथा प्रशासन की दृष्टि से बाद के विश्वविद्यालयों के लिए आदर्श थे। पूर्व-मध्यकाल से ही अलंकार-शास्त्र के शिक्षक इटली में अत्यन्त लोकप्रिय थे। बोलोना में वाग्मिता के प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया जाता था। ग्यारहवीं शताब्दी से रोमन विधि की पढ़ाई यहाँ विशेष रूप से होने लगी। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बोलोना का प्रसिद्ध विधि-शिक्षक पेपो था। परन्तु कानून की पढ़ाई के लिए बोलोना को अत्यधिक प्रसिद्ध इरनेसियस के कारण मिली। धर्मसूत्र का प्रसिद्ध विद्वान ग्रेसियन बारहवीं शताब्दी के मध्य में बोलोना में शिक्षक था। बारहवीं शताब्दी के अंत तक बोलोना में अलंकार-शास्त्र; नागरिक कानून, धर्मसूत्र के अतिरिक्त चिकित्सा-शास्त्र की भी पढ़ाई होने लगी थी। ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक पेरिस का चर्च-स्कूल काफी प्रसिद्ध हो चुका था। योग्य शिक्षक नोत्रेदाम गिरजाघर के आसपास के भवनों में पढ़ाते थे। विलियम और अबलार्ड यहाँ के दो लब्धप्रतिष्ठ शिक्षक थे। धीरे-धीरे संत जेनभिभ मठ के पास की ढालू भूमि में पेरिस के अधिकांश विद्यालय स्थापित हो गये। इन्होंने ही आगे चलकर पेरिस विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया। बारहवीं शताब्दी के अंत तक पेरिस के शिक्षकों ने अपना संघ या विश्वविद्यालत स्थापित कर लिया था।

सन् १२०० ई० में फिलिप ऑगस्टस ने एक अधिकार-पत्र द्वारा पेरिस विश्वविद्यालय को मान्यता दी।

इंग्लैंड के ऑक्सफोर्ड नगर में पेरिस तथा बोलोना के शिक्षकों के व्याख्यान बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही होने लगे थे। हेनरी द्वितीय तथा लुई सप्तम के निरंतर युद्धों से अंग्रेज विद्वानों का पेरिस में टिकना कठिन हो गया था। सन् ११६७ ई० में हेनरी ने उन्हें स्वदेश लौट जाने का आदेश दिया। फलस्वरूप ऑक्सफोर्ड में अनेक विद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १२०९ ई० तक ऑक्सफोर्ड में छात्रों की संख्या दो हजार तक पहुँच गई। सन् १२१४ ई० में पहली बार इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति का उल्लेख मिलता है। कुछ समय तक यहाँ के शिक्षक उत्तरी और दक्षिणी 'राष्ट्रों' में बँटे रहे। दोनों 'राष्ट्रों' के अपने-अपने कार्याध्यक्ष थे। परन्तु तेरहवीं शताब्दी के अंत तक 'राष्ट्रों' का विलयन हो गया, यद्यपि कार्याध्यक्ष विश्वविद्यालय के अनुशासनाधिकारियों के रूप में बने रहे। पेरिस की तरह ऑक्सफोर्ड में उच्च निकायों के न तो अलग-अलग संगठन ही थे और न अधिष्ठाताओं के ही पद थे। कुलाधिपति और कार्याध्यक्ष सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के उच्चतम पदाधिकारी थे और विश्वविद्यालय प्रशासन से सम्बद्ध अधिकांश निर्णय शिक्षकों की आम बैठकों में लिये जाते थे।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की उत्पत्ति सम्बन्धी हमारा ज्ञान अस्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऑक्सफोर्ड तथा पेरिस से आने वाले शिक्षकों ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना की। प्रारम्भिक विश्वविद्यालय भाड़े के मकानों में चलते थे. अतः शिक्षकों तथा छात्रों को एक जगह से दूसरी जगह जाने में सुविधा थी। कई बार नागरिकों तथा सरकार से संघर्ष होने के कारण भी ऑक्सफोर्ड के शिक्षक तथा विद्यार्थी कैम्ब्रिज चले गये। सन् १२३० ई० में रानी से झगड़ा हो जाने के कारण पेरिस के अनेक शिक्षक कैम्ब्रिज चले गये। तेरहवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १२२२ ई० में बोलोना से आये कुछ शिक्षकों ने पदुआ विश्वविद्यालय की स्थापना की। राजकीय आदेश के अन्तर्गत स्थापित होने वाला पहला विश्वविद्यालय नेपल्स का था, जिसकी स्थापना १२२४ ई० में फ्रेडरिक द्वितीय ने की। छह: वर्ष बाद पोप ने तुलों विश्वविद्यालय की स्थापना की। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में पुर्तगाल तथा स्पेन में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। चौदहवीं शताब्दी में इटली में सात, फ्रांस में चार तथा जर्मनी

में पांच विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में सात और इटली तथा जर्मनी में अन्य कई विश्वविद्यालय शुरू हुए।

संगठन और प्रशासन

निसंदेह मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ शैक्षणिक संस्थान विश्वविद्यालय ही थे। सामूहिक अर्थ में 'यूनिवरसिटास' शब्द का अर्थ 'सभी' होता था। वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के किसी भी दल के लिए किया जा सकता था जो निश्चित उद्देश्य से परस्पर सहयोग करते थे। व्यावसायिक तथा शैक्षणिक संघों के सदस्यों के लिए इसका आम तौर पर प्रयोग होता था। इंग्लैंड के बैरनों तथा कभी-कभी सम्पूर्ण इंग्लैंड के लोगों तक के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। विश्वविद्यालय मूल रूप से शैक्षणिकसंघ थे। उत्तरी यूरोप में वे शिक्षकों के तथा इटली एवं दक्षिणी यूरोप में छात्रों के संघ थे। दोनों ही प्रकार के संघों की स्थापना सदस्यों की सुरक्षा तथा शैक्षणिक विकास को ध्यान में रखकर की गई थी। शिक्षक तथा विद्यार्थी प्रायः राजाओं तथा सामंतों की अनुमति के बिना ही ऐसी शैक्षणिक सहयोगी-संस्थाओं की स्थापना कर लेते थे। व्यक्तिगत तौर पर छात्र जमींदारों, दुकानदारों तथा शिक्षकों द्वारा अपने शोषण को नहीं रोक सकते थे। अतः उन्होंने छात्र संघों की स्थापना कर ली थी। शीघ्र ही विभिन्न विषयों में शिक्षक-संघ भी कायम हो गए। परन्तु, परीक्षा-सम्बन्धी बातों को छोड़कर शेष सभी बातों में छात्र-संघ प्रबल थे। शिक्षकों-प्राध्यापकों को रेक्टर के प्रति आज्ञाकारिता की शपथ लेनी पड़ती थी और उसकी अनुमति के बिना वे शहर से बाहर नहीं जा सकते थे। देर से वर्ग में जाने अथवा निर्धारित अवधि से अधिक देर तक पढ़ाते रहने पर जुर्माना देना पड़ सकता था। शुरू में शिक्षकों की आय का एकमात्र जरिया छात्र-शुल्क था। बाद में विभिन्न विषयों के वेतनभोगी पदों की सृष्टि हुई।

कुलाधिपति और शिक्षकों के बीच प्रायः मतभेद होते रहते थे। अबलार्ड सदृश स्वतंत्रमत शिक्षकों का विश्वविद्यालय प्रशासन से मतभेद हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। सन् १२१० ई० तक पेरिस सदृश विश्वविद्यालयों में अनुशासनाधिकारियों के पद बन चुके थे। तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक कला निकाय के शिक्षकों द्वारा रेक्टर का चुनाव होने लगा था। धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र और चिकित्सा निकायों के अलग-अलग कार्याध्यक्ष होते थे। सैद्धान्तिक रूप से रेक्टर केवल कला निकाय का अध्यक्ष होता था परन्तु इस निकाय के सबसे वृहत होने के कारण वह अपने को विश्वविद्यालय का सर्वोच्च पदाधिकारी समझता था। धर्मशास्त्र निकाय के कार्याध्यक्ष बहुत दिनों तक

इसका विरोध करते रहे, किन्तु अंत में कला निकाय के कार्याध्यक्ष की सर्वोपरिता को स्वीकार कर लिया गया। सन् १२१४ ई० में पहली बार विश्वविद्यालय के कुलाधिपति का उल्लेख मिलता है। कुलाधिपति और कार्याध्यक्ष विश्वविद्यालय के उच्चतम पदाधिकारी थे और विश्वविद्यालय प्रशासन से सम्बद्ध अधिकांश निर्णय शिक्षकों की आम बैठकों में लिए जाते थे।

यद्यपि विभिन्न विश्वविद्यालयों में कई प्रकार की असमानतायें थीं, परन्तु उनकी प्रमुख विशेषतायें लगभग एक जैसी थीं। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय को चर्च एवं राज्य की प्रभुता से मुक्त होने के लिए सतत प्रयास करना पड़ा था। शिक्षक और छात्र सैद्धांतिक रूप से राज्य द्वारा बन्दी बनाये जाने अथवा दंडित होने से मुक्त थे। वस्तुतः विश्वविद्यालयों के कुलाधिपतियों के नागरिक अधिकार अपरिमित थे। वे अपने नागरिक अधिकारों की वृद्धि के लिए तरह-तरह के उपाय करते रहते थे। होता यह था कि कोई विद्यार्थी शराब की दुकान में तोड़ फोड़ करता अथवा किसी महिला के साथ बलात्कार करता था तब नगरवासी और राजकीय पदाधिकारी उसे बन्दी बनाने का प्रयास करते थे। एक अच्छा खासा हंगामा उठ खड़ा होता था। हंगामा के बाद विश्वविद्यालय के पदाधिकारी राजा के पास अपील करते थे। राजा अक्सर विश्वविद्यालय पदाधिकारियों के नागरिक अधिकारों में वृद्धि कर मामले को सुलझा देता था। यदि राजा हिचकिचाता तो विश्वविद्यालय पदाधिकारी पोप की शरण लेते थे। अतः पोप एवं राजा के पारस्परिक मतभेद का उन्हें अक्सर लाभ होता था। कुलाधिपतियों का शिक्षकों, छात्रों तथा अन्य कर्मचारियों पर पूर्ण नियंत्रण था। विद्यार्थियों के भोजन एवं आवास सम्बन्धी नागरिकों से झगड़ों की सुनवाई कुलाधिपति करता था। विश्वविद्यालय को पाठ्यग्रन्थ, स्याही और कागज आदि देनेवाले व्यावसायिक संघों की देखरेख रेक्टर करता था।

तेरहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में कुछ धर्मात्मा और परमार्थी पुरुषों एवं महिलाओं को गरीब छात्रों की दशा पर चिंता होने लगी। आवास एवं भोजन पर काफी खर्च पड़ता था। अधिकांश गरीब विद्यार्थियों को इससे कष्ट होता था। अतः परमार्थी व्यक्तियों ने गरीब-छात्र-सदनों की स्थापना की जिनमें निःशुल्क अथवा मामूली शुल्क पर भोजन-आवास की व्यवस्था रहती थी। इन सदनों में अनुशासन बनाये रखने के लिए किसी शिक्षक को भी निःशुल्क रखा जाता था। यदि कोई विद्यार्थी कुछ पढ़ना चाहता था तो ऐसे अधिवासी शिक्षक की सहायता लेता था। इस तरह महाविद्यालयों का आरम्भ हुआ जिन्होंने आगे चलकर विश्वविद्यालयों के इतिहास में

महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सन् १२५८ ई० में समृद्ध व्यापारी रावर्ट डि सोरवोन ने पेरिस में प्रथम महाविद्यालय की स्थापना की। उसी के नाम पर सोरवोन आजतक प्रसिद्ध है। सन् १५०० ई० तक पेरिस में लगभग साठ महाविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। सन् १२६४ ई० में मर्टन निवासी, रोचेस्टर के विशप वाल्टर ने ऑक्सफोर्ड में मर्टन महाविद्यालय की स्थापना की। लगभग उसी समय उत्तरी इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध जमींदार जान वेलियोल ने वेलियोल महाविद्यालय की स्थापना की। इन महाविद्यालयों के खर्च के निमित्त काफी भूमि और आय की व्यवस्था की गई थी। इस तरह, महाविद्यालयों का शिक्षण के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व हो गया। वस्तुतः सभी प्रकार की शिक्षा अब महाविद्यालयों में दी जाने लगी और विश्वविद्या-लयों का काम परीक्षा लेना और उपाधियाँ बाँटना रह गया।

पाठ्य-क्रम और उपाधियाँ

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम पूर्ववर्ती मठीय और चर्च विद्यालयों के पाठ्य-क्रमों से काफी मिलते-जुलते थे। बारहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के फलस्वरूप पाठ्य-सामग्री में प्रर्याप्त वृद्धि हुई। विश्वविद्यालयों में विभिन्न निकायों की संख्या निश्चित नहीं थी, फिर भी, प्रत्येक विश्वविद्यालय में साधरणतः धर्मशास्त्र, चिकित्सा, विधि और कला (दर्शन) के निकाय होते ही थे। आजकल साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में जो अलग पढ़ाई होती है, वह मध्ययुग में कला निकाय में ही शामिल थी। कला निकाय की पढ़ाई धर्मशास्त्र, विधि तथा चिकित्सा आदि पेशेवर निकायों में प्रवेश करने को तैयारी के रूप में होती थी। परन्तु, पेशेवर निकायों में प्रवेश पाने से पूर्व बहुत कम ही छात्र कला निकाय की पढ़ाई पूरी करते थे। कुछ विश्वविद्यालयों ने खास-खास विषयों की पढ़ाई में विशिष्टता प्राप्त की थी, जैसे, बोलोना कानून में, सेलो-रनो चिकित्साशास्त्र में तथा पेरिस धर्मशास्त्र में, कला (दर्शन) के पाठ्य-क्रम में साधारणतः अलंकार-शास्त्र, तर्कशास्त्र, अंकगणित, ज्यामिति, ज्योतिष-शास्त्र तथा संगीत जैसे विषय शामिल रहते थे। लैटिन व्याकरण और अलंकार शास्त्र के लिए डोनेटस तथा प्रिसियन की रचनायें पाठ्य-ग्रन्थों में शामिल थीं। तर्कशास्त्र की शिक्षा प्रधानतः अरस्तु की 'कैटिगोरिज' तथा 'कंसरनिंग इन्टरप्रेटेशन' नामक रचनाओं पर आधारित थी। अंकगणित, ज्यामिति तथा संगीत के लिए अभी भी बोइथियस को ही अधिकृत विद्वान माना जाता था। ज्योतिष शास्त्र की प्रमाणिक पुस्तक 'प्लिनी विर-चित नेचुरल हिस्ट्री' थी। तेरहवीं शताब्दी में कुछ और भी पाठ्यग्रन्थ शामिल किए गये। ज्यामिति की पढ़ाई अब युक्लिड पर आधारित थी। बीजगणित तथा त्रिकोण-

मिति पर अब कुछ अरबी ग्रन्थ उपलब्ध थे। ज्योतिष-शास्त्र के लिए अब टालमी रचित 'अलमाजेस्ट' तथा मुस्लिम खगोलीय तालिकायें अधिक लोकप्रिय थीं। संगीत पर भी मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट था, यद्यपि यह प्रभाव सैद्धांतिक से अधिक व्यावहारिक था। चिकित्साशास्त्र का अध्ययन हिपोक्रेट्स तथा गैलेन की रचनाओं पर आधारित था। धर्मसूत्र तथा कानून-दीवानी ग्रेशियन के 'डिक्रेटम' तथा 'कारपस जुरिस सिविलिस' के माध्यम से पढ़ाये जाते थे। धर्मशास्त्र के पाठ्यक्रम पहले पीटर लोम्बार्ड के 'सेन्टेंसेज' और बाद में टामस अक्विनास के' समरी आफ थियोलाजी पर आधारित थे। फलित-ज्योतिष तथा रससिद्धि पर कोई निश्चित पाठ्य-क्रम नहीं था, यद्यपि मुस्लिम-ग्रन्थों में उनके लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी। ललित कलाओं तथा साहित्य के लिए भी कोई निश्चित पाठ्य-क्रम नहीं था। संक्षेप में, मध्यकालीन योरोपीय विश्वविद्यालयों का पाठ्य-क्रम तत्कालीन निश्चित आवश्यकताओं पर आधारित था।

शुरू में विश्वविद्यालयों का सत्रकाल निश्चित नहीं था। कहीं का विद्यार्थी किसी भी विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सकता था। विश्वविद्यालयों से उत्तीर्ण होनेवाले स्नातक कहीं भी पढ़ा सकते थे। कला (दर्शन) की पढ़ाई पूरी करने पर कानून, चिकित्सा और धर्मशास्त्र सदृश पेशेवर विषयों की पढ़ाई की जा सकती थी, यद्यपि पहले कला की पढ़ाई पूर्ण करने के नियम का अक्षरशः पालन शायद ही किसी विश्वविद्यालय में होता था। विश्वविद्यालय प्रदत्त उपाधियाँ अधिकांशतः अध्यापन-उपाधियाँ ही थीं। साधारणतः उत्तीर्ण स्नातकों को कुछ समय के लिए अपने विश्व-विद्यालय में ही अध्यापन-कार्य करना पड़ता था। बी० ए० की परीक्षा पास करने के लिए चार-पाँच वर्षों तक पढ़ने के बाद परीक्षा देनी होती थी। एम०ए० तथा महामहोपाध्याय की उपाधि के निमित्त तीन-चार वर्ष और भी पढ़ना पड़ता था। साधारणतः पैंतीस वर्ष की आयु से कम में किसी को महामहोपाध्याय की उपाधि नहीं मिल पाती थी।

अनेक विद्यार्थी उपाधियों के निमित्त निर्धारित पाठ्-क्रम को पूरा नहीं कर पाते थे और रियायत की माँग करते थे। शिक्षक भी इन रियायतों के लिए प्रायः तैयार हो जाते थे, बशर्ते कि उन्हें शानदार दावत दी जाए। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गई कि शायद ही कोई विद्यार्थी निर्धारित पाठ्य-क्रम को पूरा कर पाता था और अधिकांश छात्र रियायतों के आधार पर ही उत्तीर्ण होते थे। आवश्यकता थी केवल निर्धारित सत्रकाल में विश्वविद्यालय में उपस्थिति की और रियायतों के लिए आवश्यक

द्रव्य व्यय करने की क्षमता की। इस प्रथा का विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक-जीवन पर घातक प्रभाव पड़ा। न छात्र व्याख्यानों में उपस्थित होने की आवश्यकता समझते थे और न शिक्षक व्याख्यान देने की। यदि सचमुच कोई कुछ पढ़ना चाहता था, और उसे कोई सचमुच पढ़ानेवाला मिल जाता था, तो वह अवश्य कुछ सीख लेता था।

शिक्षण-विधि

विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए छात्रों को लैटिन की लिखित और मौखिक परीक्षा देनी पड़ती थी। परन्तु, यह परीक्षा केवल नाममात्र की थी और अधिकांश विद्यार्थी शायद ही कुछ लिखना-पढ़ना जानते थे। यही कारण था कि ऑक्सफोर्ड के न्यू कालेज से पहले आवश्यक तैयारी की दृष्टि से विकेनहम के विलियम ने विंचेस्टर कालेज की स्थापना की थी। विश्वविद्यालय में नाम लिखाते ही छात्र अलंकारशास्त्र तथा तर्कशास्त्र आदि विषयों की पढ़ाई शुरू कर देते थे। जहाँ तक शिक्षण-विधि का प्रश्न है, शिक्षा श्रव्य और पठित-दोनों प्रकार की होती थी। शिक्षक किसी पाठ्य ग्रन्थ जैसे विला डेई के अलेक्जेंडर के 'डाक्ट्री नल' को वर्ग में पढ़कर सुनाता था। तदुपरान्त पहले से उपलब्ध ग्रन्थ की टीका पढ़कर सुनाता था और अंत में अपने विचार प्रकट करता था। इस प्रक्रिया को ग्रन्थ का 'सुनना' कहा जाता था। ग्रन्थों के अतिरिक्त छात्रों को स्वयं भी कुछ पुस्तकें पढ़नी पड़ती थीं। ऑक्सफोर्ड में कोई उपाधि लेने से पहले परीक्षार्थी को शिक्षकों द्वारा प्रदत्त इस आशय का प्रमाणपत्र उपस्थित करना पड़ता था कि उसने सचमुच कुछ ग्रन्थ सुने तथा पढ़े हैं। कानून की पढ़ाई भी इसी तरह होती थी।

प्रारम्भिक विश्वविद्यालयों के अपने भवन नहीं के बराबर थे। पढ़ाई चर्चों से लगे मकानों में या शिक्षकों द्वारा भाड़े पर लिये गये मकानों में होती थी। बैठने को मेज केवल शिक्षकों के लिए होती थी। छात्र सामान्यतः ज़मीन पर ही बैठते थे। पुस्तक भी शायद केवल शिक्षक के पास ही होती थी। शिक्षण और संभाषण की भाषा यथासंभव लैटिन थी। व्याख्यान अधिकांशतः सद्यःस्फूर्त और तीव्र गति होते थे। पुस्तकों की नितांत कमी थी। कागज का अभाव था और चर्मपत्रों का मूल्य इतना अधिक था कि सामान्य विद्यार्थी खरीद नहीं पाता था। अतः छात्र व्याख्यानों को मोम-पट्टियों पर अथवा सुविधा होने पर चर्मपत्रों पर लिखते थे। इस प्रकार लिखी पाठ्य-समग्री का उपयोग बहुधा एक से अधिक विद्यार्थी करते थे। पुस्तकों

और लेखन-सामग्री के अभाव में छात्रों की स्मरण शक्ति ही उनके अधिक काम आती थी। छात्र पारस्परिक विचारविमर्श द्वारा भी अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करते थे। वस्तुतः ये विचार विमर्श औपचारिक वाग्मिता का रूप ग्रहण कर लेते थे। वाग्मिता का विश्वविद्यालयों में विशेष महत्त्व था क्योंकि अंतिम परीक्षा के समय शास्त्रार्थ द्वारा परीक्षार्थी को अपने अभिमत की सशक्त पुष्टि करनी पड़ती थी।

विद्यार्थी-जीवन

मध्यकालीन यूरोपीय विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या काफी अधिक थी। पेरिस तथा आक्सफोर्ड जैसे बड़े विश्वविद्यालयों में चार-पाँच हजार तक छात्र थे। इस तरह प्रबुद्ध आबादी का बहुत बड़ा भाग विश्वविद्यालय शिक्षा पाता था। यह सही है कि विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले अनेक छात्रों का बौद्धिक स्तर स्कूली था, परन्तु मध्यकालीन बौद्धिकता के उन्नयन में विश्वविद्यालयों का निःसन्देह बहुत बड़ा योग था। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सभी आयु के लोग विश्वविद्यालय में शिक्षा-ग्रहण करने आते थे। इस तरह, लगभग बालकों के साथ अधेड़ लोग भी एकमात्र बैठकर पढ़ते देखे जा सकते थे।

मध्यकालीन विश्वविद्यालयों छात्रावासों की व्यवस्था नहीं थी। छात्र जहाँ कहीं भी जगह मिलती थी, जैसे-तैसे रह लेते थे। साधारणतः कई छात्र मिलकर किराये पर कोई मकान ले लेते थे जिसमें वे स्वशासित-समुदाय की तरह रहते थे। पेरिस में ऐसे छात्र-सदनों को 'हासपिटिया' तथा ऑक्सफोर्ड में 'आलोइ' कहा जाता था। युवा सामंत अपने लिए पूरा मकान ही ले लेते थे जिसमें अपने निजी शिक्षक तथा नौकर-चाकर के साथ रहते थे। गरीब छात्र, जो छात्र-सदनों में भी नहीं रह सकते थे, किसी के शिरोगृह अथवा व्यापारियों के मकानों में रह लेते थे। आगे चलकर कुछ परमार्थी लोग गरीब छात्रों को थोड़ी बहुत सहायता देने लगे। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से छात्रों के महाविद्यालय प्रांगण में ही रहने की व्यवस्था की जाने लगी। इस तरह तेरहवीं शताब्दी के स्वशासित छात्र-सदन पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनुशासित छात्रावासों में बदल गये।

मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों के छात्रों का जीवन साधारणतः अनियमित और उच्छृंखल था। वस्तुतः वह युग ही अराजकता का था और छात्रों का आचरण समयानुकूल था। मदिरालय में लड़ना, नगरवासियों को आतंकित करना, राहगीरों को लूटना, कुत्तों तथा लड़कियों के लिए आपस में लड़ना तथा जुआ खेलना विद्यार्थियों के लिए

आम बात थी। वर्गों में भी फसाद उठ खड़े होते थे और छात्रों तथा नागरिकों के बीच दंगे तो होते ही रहते थे। परिणामस्वरूप कभी-कभी छात्रों तथा उनके शिक्षकों को नगर से निकाल बाहर किया जाता था। लिपिजिग विश्वविद्यालय में दाखिला लेनेवाला पन्द्रहवीं शताब्दी छात्रों के साथ वरिष्ठ छात्र कुछ उसी तरह का आचरण करते थे जिसे आज की शब्दावली में 'रैगिंग' कहा जाता है। ऑक्सफोर्ड के विद्यार्थी तलवारों, तीर-धनुष से लैस शाम को सड़कों पर निकल पड़ते थे और राहगीरों पर हमले कर देते थे। रोम के विद्यार्थी हत्या, राहजनी तथा चोरी आदि सभी प्रकार के संभव कुकर्म करते थे। थोड़े से भी उपद्रवी छात्र सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के वातावरण को दूषित कर देते थे। प्रत्येक विश्वविद्यालय में समृद्ध घरों के छात्र शराब, दावतों और लड़कियों पर काफी पैसा बहाते थे। हाथापाई, जोर-जोर से गाने, चिल्लाने, पानी-शराब आदि उछालने, कूदने-उछलने, पत्थर फेंकने पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में निषेध-आज्ञाओं से प्रतीत होता है कि बहुसंख्यक छात्र उच्छृंखल थे। शिक्षकों में भी गैरजिम्मेदार लोग थे। एक जर्मन शिक्षक जिसने अपने कई सहयोगियों को घायल किया था, अंत में एक शिक्षक की हत्या करने के अपराध में नौकरी से निकाला गया। आक्सफोर्ड के एक प्राध्यापक ने एक अशिष्ट पादरी की हत्या करने के लिए अपने शिष्यों को भड़काया था। परन्तु उच्छृंखल छात्रों तथा गैरजिम्मेदार शिक्षकों के साथ-साथ मेधावी, परिश्रमी और कर्तव्यपरायण छात्रों तथा शिक्षकों की भी कोई कमी नहीं थी। इस तरह के छात्र और शिक्षक प्रायः गरीब परिवारों से आते थे। ये अधिकांशतः विश्वविद्यालय के निकट ही शांत वातावरण में रहकर लिखते-पढ़ते थे। ऐसे विद्यार्थी भी थे जिनका जीवन में अध्ययन अध्यापन ही प्रमुख उद्देश्य था। छोटा मोटा काम कर अपना खर्च चलानेवाले विद्यार्थी भी थे और अक्सर अपनी कक्षाओं के कुशाग्रतम छात्र भी ये ही थे। दूसरी ओर सभी प्रकार की सुविधाओं के बावजूद फिसड्डी छात्रों की भी कमी नहीं थी।

विश्वविद्यालयों का प्रभाव तथा महत्त्व

अपने अनेक और प्रत्यक्ष दोषों के बावजूद, विश्वविद्यालयों से मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता और संस्कृति की अपार सेवा हुई। विश्वविद्यालयों से विद्वानों को जीविका तो मिली ही; शिक्षा और ज्ञान के प्रसार के निमित्त अपेक्षित वातावरणकी सृष्टि हुई। उत्तरकालीन मध्ययुग के कई श्रेष्ठतम विद्वान किसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। विभिन्न निकाय अपने विषयों के विशेषज्ञ समझे जाते थे और एक बार किसी धार्मिक प्रश्न पर पेरिस विश्वविद्यालय के धर्मशास्त्र निकाय की राय लिये बिना निर्णय लेने के कारण पोप को भी क्षमा याचना करनी पड़ी थी। विश्वविद्यालयों

से निकलने वाले छात्र विद्वज्जनोचित सेवाओं की शोभा बढ़ाते थे। एम० ए० पास करनेवाले ऐसे स्नातक, जिन्हें विश्वविद्यालयों में नौकरी नहीं मिलती थी, विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करते थे। नागरिक-विधि के आचार्य उन देशों में वकालत करते थे जिनमें रोमन कानून प्रचलित था और नहीं तो राजाओं के कानूनी परामर्श-दाता बन जाते थे। धर्मसूत्रों के विशेषज्ञ चर्च की कचहरियों में काम करते थे। धर्मशास्त्र के आचार्य या तो प्राध्यापक बनते थे या उनकी उपाधि चर्च में ही उनकी पदोन्नति का कारण बनती थी। संक्षेप में ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-मध्यकाल में यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का जो उन्नयन हुआ वह विश्वविद्यालयों की अनुपस्थिति में शायद संभव न होता।

मध्यकालीन ईसाई जगत पर विश्वविद्यालयों का प्रभाव तीन कारणों से पड़ता था। सर्वप्रथम, बौद्धिक संस्थानों के रूप में वे राज्य तथा चर्च से सम्बद्ध होकर भी उनसे काफी स्वतंत्र थे। दूसरी बात कि वे ज्ञान, शिक्षा और विचार के केन्द्र थे जिनका विशिष्ट महत्त्व था। फिर उनमें दी जानेवाली शिक्षा का ईसाई जगत के लिए व्यावहारिक महत्त्व भी था। उत्तरी यूरोप में विश्वविद्यालय बौद्धिक संस्थानों के रूप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालते थे। इटली में विभिन्न आचार्य रोम के सार्वजनिक जीवन में प्रमुख भाग लेते थे। उदाहरणार्थ ११५८ ई० में रोनकाग्लिया की धर्मसभा में बोलोना के चार आचार्यों ने राजाधिराज पर अपना अभिमत दिया था जिसके आधार पर सम्राट् फ्रेडरिक बारबेरोसा ने लोम्बार्ड नगरों के विरुद्ध अपने लगभग विस्मृत विशेषाधिकारों पर जोर दिया था। अन्य आचार्य रोम के अभिजात वर्ग के प्रमुख सदस्य थे। इटली के आचार्यों से भी अधिक प्रभावशाली पेरिस के विद्वान धर्माधिकारी थे। पेरिस विश्वविद्यालय का फ्रांस की गृहनीति और यूरोप की धार्मिक नीति पर काफी प्रभाव था। पश्चिमी यूरोप का धर्मशास्त्र पेरिस से अत्यधिक प्रभावित था। 'ईसाई मत का धर्मसूत्र रोम अथवा बोलोना में निर्मित होता था, परन्तु शुद्ध धर्मशास्त्र में रोम पेरिस का अनुगामी था। पेरिस विश्वविद्यालय की मध्यस्थता से ही ईसाई-मत का महान विभेद समाप्त हुआ था।

यह कहना गलत होगा कि मध्यकालीन योरोपीय विश्वविद्यालयों की एकमात्र उपलब्धि पंडितवाद ही था। दक्षिण यूरोप के सभी विश्वविद्यालयों में अध्ययन का प्रमुख विषय कानून था। इसका यूरोप के लिए अत्यधिक व्यावहारिक महत्त्व था। धर्मसूत्र का विश्वविद्यालयों द्वारा जो वैज्ञानिक विकास हुआ उसका चर्च पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पोपतंत्र ने पूरा उपयोग किया। इंग्लैंड को छोड़कर प्रायः

सभी देशों में वकील और न्यायाधीश वे ही लोग थे जिन्होंने रोमन विधि में प्रशिक्षण पाया था। विश्वविद्यालयों के कानून निकायों के कारण ही, धीरे-धीरे जर्मनी तथा फ्रांस में ट्यूटोनिक संहिताओं का स्थान रोमन विधि ने ले लिया था। केवल इंग्लैंड में ही वकालत पेशा वाले लोगों को राष्ट्रीय कानून की विभिन्न शाखाओं में प्रशिक्षित किया जाता था।

कानून की तरह विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा उपयोगी थी। सालेरनों, मॉंटपेलियर तथा बोलोग्ना में दी जानेवाली चिकित्साशास्त्र की शिक्षा वैज्ञानिक तथा विकसित नहीं थी, फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान पर मध्ययुगीन चिकित्सा तथा ज्योतिष विद्यालयों का काफी प्रभाव पड़ा है।

तत्कालीन विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा उच्च कोटि की नही थी; किन्तु उसका निजी महत्त्व था, इसमें कोई संदेह नहीं। उस समय का कानून का विद्यार्थी कानून के साथ-साथ लैटिन भाषा और साहित्य भी पढ़ता था। अतः उसका बौद्धिक स्तर आज के विद्यार्थी से निम्न नहीं था। मध्ययुगीन शिक्षा का यदि कोई प्रमुख दोष था तो वह था पाठ्य विषयों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के समुचित ज्ञान का अभाव। इस दोष के बावजूद, महत्त्व की बात यह है कि नागरिक जीवन को दिशा प्रदान करनेवाले सभी प्रकार के लोग धर्माधिकारी, राजनीतिज्ञ, वकील तथा अन्य पेशेवर लोग तथा बड़े सामन्तों के उच्चस्थ अधिकारीगण अधिकांश विश्व-विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त लोग थे। विश्वविद्यालयों के कारण ही गरीब परिवारों तथा मामूली सामन्तों के लड़के भी उचित शिक्षा पाकर महत्त्वपूर्ण पदों तक पहुँच पाते थे। उत्तर-मध्यकाल में तो राजाओं और बड़े सामन्तों के लड़के भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए विश्वविद्यालयों की शरण में आने लगे। जैसे-तैसे विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि होती गई, पढ़नेवालों की संख्या भी बढ़ती गई। इस तरह उत्तर-मध्य-काल में यूरोप में जितनी अधिक संख्या में पढ़े लिखे लोग थे उतने शायद पहले कभी भी नहीं थे। वस्तुतः विश्वविद्यालय मध्यकालीन बौद्धिक उत्साह और उत्कर्ष के प्रतीक थे। साधारणतः यही समझा जाता है कि मध्ययुग प्रधानतः धर्म तथा नैतिकता से सम्बद्ध था, परन्तु बौद्धिकता तथा संगठन की दृष्टि से विश्वविद्यालय मध्यकालीन मानसिकता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति थे। यही कारण है कि सर्वव्यापी परिवर्त्तनों के बावजूद आज के विश्वविद्यालय भी शिक्षण-विधि, पाठ्य-विषय और संगठन की दृष्टि से मध्यकालीन विश्वविद्यालयों से काफी मिलते-जुलते हैं।

❀

अध्याय १६

नगरों का विकास

प्राचीन विश्व के अन्य भागों की ही तरह यूरोप में भी समृद्ध तथा घनी आबादी वाले शहर थे। रोमन साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में पश्चिमी यूरोप में नागरी सभ्यता का विशेष रूप से विकास हुआ था। इस साम्राज्य में अनेक शहर और कस्बे थे। इन सबों में सर्वश्रेष्ठ निःसंदेह रोम था, परन्तु पूर्व में कान्स्टैंटीनोपुल से लेकर उत्तर-पश्चिम में लंदन तक अलेक्जेंड्रिया, एंटिओक, कार्थेज तथा लियोन्स आदि कम उल्लेखनीय नहीं थे। यद्यपि विभिन्न नगरों में आकार तथा महत्त्व की दृष्टि से अंतर था, परन्तु सभी नगर नागरिकों का जीवन यथासंभव सुखप्रद बनाने की चेष्टा करते थे। चौथी शताब्दी के कई रोमन नगर योजना, सफाई, सुविधा तथा सुन्दरता की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के नगरों से घटिया नहीं थे। प्रायः सबों में पर्याप्त पेय-जल निकासी, पक्की सड़कों तथा वर्षा-धूप से बचाव की व्यवस्था थी। दुकानों-बाजारों, देव-स्थानों, पुस्तकालयों, कचहरियों, नाटकघरों, विजय-तोरणों तथा सुन्दर हमामों से नगर भरे थे। आज भी उन साम्राजिक नगरों के खंडहर आकर्षक जान पड़ते हैं। प्रारम्भ में वे नगर प्राचीनों से घिरे नहीं थे तथा उनकी गगनचुम्बी अट्टालिकायें कम विकसित प्रदेशों से आये यात्रियों अथवा बाद के बर्बर आक्रमणकारियों को आश्चर्य-चकित करनेवाली थीं।

परन्तु बर्बर जातियों के आक्रमणों से रोमन नगरों की अपार क्षति हुई। यह बात नहीं थी कि बर्बर आक्रमणकारी साम्राज्य सहित नगरों को ध्वस्त करने की इच्छा रखते थे। उनकी इच्छा तो साम्राज्य पर कब्जा कर उसमें बस जाने की थी। वे दक्षिणी यूरोप के सुखद वातावरण, उपजाऊ भूमि तथा समृद्ध नगरों को अपने अधिकार में ले लेना चाहते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश विध्वंस उनकी सामरिकता का अभिन्न अंग था और उनके आक्रमणों के फलस्वरूप पाँचवीं शताब्दी के अंत तक रोमन साम्राज्य के अधिकांश नगर ध्वस्त हो गये। गाथ, हूण फ्रैंक आक्रमणकारियों के मार्ग में पड़ने वाले नगर अचानक लुप्त हो गये। स्वयं रोम कुछ समय के लिए वीरान पड़ गया। ब्रिटेन के अधिकांश रोमन नगर ऐंग्लो-सैक्सन आक्रमणकारियों ने नष्ट किये। दक्षिणी फ्रांस, इटली तथा स्पेन के नगरों का नुकसान अपेक्षाकृत कम

हुआ, परन्तु अछूता इनमें कोई भी न बचा। अन्य नगरों का विनाश नगरवासियों के पलायन, मलवा तथा झाड़-झंकार के जमा हो जाने के कारण हुआ। यद्यपि कुछ नगर अपने दुर्भेद्य प्राचीरों के कारण अजेय बने रहे, किन्तु उनकी समृद्धि का अंत हो गया। उनकी घनी बस्तियाँ, समृद्ध बाजार और पक्की सड़कें धीरे-धीरे नगण्य हो गईं। इस पराभव का कारण था कि रोमन साम्राज्य की समृद्धि का एक प्रमुख स्रोत-वाणिज्य-व्यापार अब काफी घट गया। यात्रा अब संकटपूर्ण हो गई थी। बर्बर जातियों, लुटेरों तथा लड़ाकू सामंतों के कारण मुनाफा-लोलुप व्यापारी भी अब लम्बी यात्रा पर निकलने से हिचकता था। रोमन साम्राज्य की लम्बी सड़कें धीरे-धीरे टूट-फूट गईं, नदियों के पुल नष्ट हो गये और जाड़ा-बरसात में व्यापारियों के लिए निकलना और भी कठिन हो गया।

व्यापार की कमी और फलस्वरूप नगरों के पराभव का एक अन्य कारण यह भी था कि सातवीं शताब्दी में भूमध्य सागर पर अरबों का नियंत्रण हो जाने से तट-वर्ती प्रदेशों का पश्चिमी यूरोप से सम्पर्क प्रायः टूट गया। रेशम, चाँदी, आभूषण, कम्बल, मसाला, मदिरा, तेल, मोम अन्नादि का व्यापार घटते-घटते प्रायः बंद हो गया। इन वस्तुओं के व्यापारी धीरे-धीरे दिवालिया हो गये और नगरों के पराभव से उनके ग्राहकों की संख्या भी कम हो गई। अधिकांश लोग ग्रामीण-क्षेत्रों में जाकर बस गये जहाँ खेत में उपजनेवाली वस्तुओं से उनकी सामान्य आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं और नगरों की उनके लिए कोई विशेष उपयोगिता नहीं रह गई।

बर्बर आक्रमणकारी ग्राम्य-जीवन के आदी थे। गाँवों का उन्मुक्त वातावरण उन्हें शहरों की भाग-दौड़ से अधिक रुचिकर था। प्राचीर युक्त नगर उन्हें कारागार जान पड़ते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि ऐसे आक्रमणकारियों के आगमन से यूरोप की नागरी-सभ्यता धीरे-धीरे ग्रामीण सभ्यता में बदल गई। ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप की आबादी निस्संदेह ग्रामवासिनी थी। सामंतवाद, जिसका इस काल में विकास हुआ, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से शहरी न होकर देहाती था। अतः, यद्यपि अभी भी दस्तावेजों में 'सिमिटास', 'अर्बस', 'म्यूनिसिपियम' तथा 'औपिडुम' आदि शब्द मिलते थे परन्तु उनका इंगित उन स्थानों की ओर था जिन्हें अधिक-से-अधिक कस्बा कहा जा सकता था। उनमें न तो व्यापारी थे और न व्यापार था। आस-पास के इलाकों से इनका स्वरूप कोई विशेष भिन्न भी न था

प्राचीन नगरों का पुनरुत्थान और नवीन नगरों की स्थापना

परन्तु बर्बर आक्रमणकारी जैसे-जैसे यूरोप में बसते गये वहाँ का जीवन पुनः

सामान्य होता गया। प्राचीन रोमन नगर पुनर्जीवित हो उठे और नवीन नगरों की स्थापना होने लगी। नागरी सभ्यता की पुनर्स्थापना के कई कारण थे। शार्लमन की मृत्यु से लेकर दशम शताब्दी तक मार्ग की सभी कठिनाइयों के बावजूद यूरोप का व्यापार पुनर्जीवित हो रहा था। सड़कों और अन्य स्थल मार्गों का उपयोग पुनः बढ़ गया था। अनेक प्रकार के यात्री उनका उपयोग कर रहे थे। राजागण बराबर एक जगह पर स्थावर न रहकर अपने राज्यों के विभिन्न भागों में घूमते रहते थे। बड़े सामंत भी देखभाल की दृष्टि से अपने विभिन्न ताल्लुकों में आते-जाते रहते थे। साधारण लोग, जैसे कम्मिये आदि अपने मालिकों का सामान यहाँ से वहाँ पहुँचाने के लिए भी आते-जाते रहते ही थे। तीर्थयात्रियों की संख्या भी कम नहीं थी। अंग्रेज जाति इसमें सबसे आगे थी। बारहवीं शताब्दी में एडवेना नामक वृद्ध महिला ने अपने युवा पुत्र गोड्रिक के साथ लंदन से रोम तक की यात्रा यथासंभव पैदल ही पूरी की। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैंड से रोम की तीर्थयात्रा करनेवाले लोगों की संख्या इतनी अधिक थी कि संत पीटर गिरजाघर के पास उनके विश्राम के लिए विशेष रूप से एक भवन का निर्माण कराया गया। राजाओं, सामंतों, कम्मियों की ही तरह व्यापारी भी ग्राहकों की तलाश में जगह-जगह जाते रहते थे। सामान्य बिसाती से लेकर बड़े व्यापारी तक यूरोप के कोने-कोने में घूमते रहते थे। मेला-बाजार में विशेषतः उनका आवागमन होता था। दशम शताब्दी का अंत होने पर और विशेषतः उत्तर-सागर के जल-दस्यु आक्रमणों के बंद होने पर यूरोप में जीवन अधिक शांतिपूर्ण हो गया। सड़कों पर प्रत्येक प्रकार के यातायात में वृद्धि हुई। व्यापारी समृद्ध होते गये। नये शहरों का उदय हुआ और पुराने नगरों का पुनरुत्थान। यह सब कुछ अचानक अथवा अकारण न था नगरों की स्थापना अथवा पुनरुत्थान के कई कारण थे।

सर्वप्रथम, वाणिज्य और व्यापार की आवश्यकताओं ने कई नगरों को जन्म दिया। अच्छे बन्दरगाहों, जहाज या नौका चलाने योग्य नदियों और प्रमुख सड़कों को जोड़ने वाले स्थानों पर नवीन नगर सहज ही उठ खड़े हुए। उदाहरणार्थ ऑक्सफोर्ड की स्थापना इसलिए हो सकी कि चारों दिशाओं से आनेवाली सड़कें यहाँ मिली थीं और आगे बढ़ने पर टेम्स नदी को पार किया जा सकता था। साथ ही लंदन से ऑक्सफोर्ड तक नौका द्वारा पहुँचा जा सकता था। व्यापारियों और उनके समान की सुरक्षा की दृष्टि से जो स्थान किलों आदि के होने से सुरक्षित थे वहाँ नगर स्थापित हो गये। 'बर्ह' शब्द का अर्थ है मजबूत क़िला। जिन नगरों के नाम

में 'वरो' अथवा 'वरी' शब्द शामिल हैं, उनकी शुरुआत इसी तरह हुई। ऐसे अनेक किलों की स्थापना नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। पश्चिम में नारमनों, दक्षिण में अरबों तथा पूर्व में स्लाव आक्रमणों के कारण सर्वत्र ऐसे सुरक्षित स्थानों की आवश्यकता थी जहाँ किसान संकट के समय आश्रय ले सकते। केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता का लाभ उठाकर जो सामंत अपने क्षेत्रों में प्रायः स्वतंत्र हो गये थे ऐसे किलों की स्थापना में विशेष अभिरुचि रखते थे। डेन आक्रमणों के बाद इंग्लैंड के राजाओं ने भी ऐसा ही किया। सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप ऐसे किलों से छा गया जिनमें नाइटों की स्थाई छावनी रहती थी। आस-पास के लोग परकोटे के बनाने में सहायता देते थे, जिनके पीछे संकट के समय वे आश्रय लेते थे। पुराने नगरों में भी चहारदिवारी बनाकर इसी प्रकार सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी। शहरों के नाम में 'चेस्टर' (जैसे विचेस्टर) अथवा 'कास्टर' (जैसे लंकास्टर) शामिल रहने का अर्थ है कि उनकी शुरुआत रोमन फौजी छावनियों के रूप में हुई। स्वयं 'टाउन' शब्द की व्युत्पत्ति सैक्सन शब्द 'टुन' से है जिसका अर्थ है किसी फार्म अथवा जागीर में शामिल समस्त कृषि-क्षेत्र। इस तरह के फार्म अथवा कृषिभूमि पर बसने वाले प्रथम व्यक्ति के नाम पर भी नगर का नामकरण हो जाता था, जैसे; एडमंड पर एडमंडटन।

व्यापारियों को अपना समान बेचने के लिए ग्राहकों की आवश्यकता पड़ती थी। अतः वैसी कोई भी जगह जहाँ लोगों के सहज एकत्रित होने की संभावना रहती थी, जैसे साप्ताहिक हाट, मेला या कोई तीर्थस्थान, वहाँ मध्य युग में नगर-स्थापना की बहुत संभावना रहती थी। किलों तथा मठों के आसपास अनेक लोग पड़े ही रहते थे। उनकी वजह से बिसाती-व्यापारी भी वहाँ पहुँचते ही रहते थे। उनके लिए सराय-बजार आदि की स्थापना होती थी जो धीरे-धीरे नगर का रूप ग्रहण कर लेते थे। इंग्लैंड में राजा एडमंड (जिसे डेनों ने ८६८ में मार डाला था) की कब्र पर फूल चढ़ाने दूर-दूर से तीर्थयात्री आते थे। इस तरह वहाँ नॉरमन विजय से पहले ही एक अच्छे-खासे नगर की स्थापना हो चुकी थी। इसी तरह यूरोप में कई मठों तथा समाधियों के आस-पास नगरों की स्थापना हुई।

नगरों का विकास

दशम तथा ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोप में नगरों का तीव्र गति से विकास हुआ। दशम शताब्दी में पश्चिमी यूरोप नॉर्समेन, हंगेरियनों तथा अरबों के आक्रमणों से आक्रांत था। किसी केन्द्रीय शक्ति के अभाव में अपनी सुरक्षा के लिए नगरों ने सैन्य-

दलों तथा नागरिक प्रशासन का संगठन किया। रक्षार्थ नगर-प्राचीर बनाये गये। यदि देहात में सामंतों के गढ़ सुरक्षा का काम करते थे तो नगरों की रक्षा उनके प्राचीरों द्वारा होती थी।

जब यूरोप में सामंतवाद का प्रादुर्भाव हुआ तो नगर भी इस व्यवस्था के अंग बन गये। सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत नगर अधीनस्थ तथा सम्प्रभु भी थे। अधीनस्थ के रूप में उन्हें सामंत को सभी सामन्तवादी सहायता देनी पड़ती थी। शुरू में प्रत्येक नागरिक सामंती कर अथवा सैनिक सहायता व्यक्तिगत रूप में देता था, किन्तु आगे चलकर नगर यह सहायता सामूहिक रूप से देने लगे। वाणिज्य व्यापार के कारण नगर समृद्ध थे और आवश्यकता पड़ने पर सामंत उनसे धन वसूलते थे। समय के साथ सामंतों की मांग भी बढ़ती गई और अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि यह भार नगरों के लिए दुर्वह हो गया। अतः नगरों और सामंतों में दीर्घकालीन संघर्ष का सूत्रपात हुआ जिसकी परिणति नगरों के दास्य-विमोचन में हुई। इंग्लैंड तथा जर्मनी के नगर प्रायः सामंतों को धन देकर मुक्त हुए। अन्य नगरों ने युद्ध में विजय पाकर मुक्ति हासिल की। कुछ सामंतों ने स्वयं नगरों को अधिकार-पत्र देकर उनके विशेषाधिकारों को स्वीकार किया क्योंकि नगरों की समृद्धि में उनका भी हित निहित था। कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर कई सामंतों ने विशेषाधिकारों से युक्त नवीन नगरों की स्थापना की। अधिकार-पत्र प्राप्त नगरों के धन और आबादी में वृद्धि हुई और उनमें कुछ शीघ्र ही लगभग स्वतंत्र नगर-राज्यों के रूप में परिवर्तित हो गये। ऐसा विशेषतः इटालियन और जर्मन नगरों के साथ हुआ। अन्य देशों में, और विशेषतः फ्रांस में, नगरों की आंशिक स्वतंत्रता भी बहुत दिनों तक कायम न रह सकी। फ्रांस में नगरों के विशेषाधिकार तथा स्वायत्त शासन का राजा ने धीरे-धीरे अपहरण कर लिया। उनका प्रशासन राजकीय पदाधिकारियों द्वारा होने लगा।

पुनर्जागरण की ही तरह नागरी-सभ्यता का प्रारम्भिक उदय और विकास इटली में हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम, इटली के नगर प्राचीन रोमन नगरों के वास्तविक और निकटतम उत्तराधिकारी थे। यद्यपि रोमन प्रशासन का लोप हो गया था, प्राचीन आदर्श अभी तक इटालियन नगरों को अनुप्राणित करते रहते थे। द्वितीयतः, लोम्बार्ड आक्रमणों के कारण इटली की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई थी। केन्द्रीयशक्ति के अभाव में शहरों पर स्व-शासन का भार आ गया और एक दूसरे के साथ उनका सम्बन्ध लगभग स्वतंत्र राज्यों का सा हो गया। फिर, इटली में सामंतवाद की शक्ति के अल्प होने से भी नगरों के उदय और विकास में सहायता

मिली। सामंतों और नगरों के संघर्ष में यहाँ नगरों की विजय हुई। सामंत स्वेच्छा अथवा दबाव के कारण नगरवासी बन गये। नागरिकों की श्रेणी में सामंतों के शामिल हो जाने से नगरों के जीवन में विविधता के साथ साथ शक्ति का भी संचार हुआ। अंत में, पोपतंत्र तथा साम्राज्य के दीर्घकालीन संघर्ष के कारण भी इटालियन नगरों की शक्ति और स्वतंत्रता में वृद्धि हुई। पोप तथा सम्राट दोनों ही नगरों को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते रहते थे। इससे लाभ उठाकर इटालियन नगर दोनों के नियंत्रण से मुक्त हो गये। इटालियन नगरों की भौतिक समृद्धि तथा राजनीतिक शक्ति का प्रमुख कारण उनका उन्नत वाणिज्य-व्यापार था। इटली के तटवर्ती नगरों का पूर्वी व्यापार धर्मयुद्धों के कारण और भी चमक उठा था। धर्म-योद्धाओं को लाने, ले जाने का काम कर वेनिस, जिनेवा तथा पिसा आदि नगरों ने खूब धन कमाया। धर्मयुद्धों की समाप्ति के बाद भी उनके कारण जिस व्यापार की शुरुआत हुई थी, वह चलता रहा। धर्मयोद्धा भोगविलास की जिन पूर्वी वस्तुओं की रुचि लेकर लौटते थे, उनकी पूर्ति भी इटालियन व्यापारी अपने पूर्वी व्यापार के कारण करते थे।

इटालियन नगर-राज्यों में वेनिस सर्वाधिक प्रसिद्ध था। हूण आक्रमण से आक्रांत भगोड़ों ने पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में इस नगर की स्थापना की। इस नगर के शासक को ड्यूक कहा गया। नवीं तथा दसवीं शताब्दी में इस नगर-राज्य को बराबर नारमणों, अरबों, स्लावों तथा हंगेरियनों के विरोध का सामना पड़ा। विजयों और संधियों द्वारा धीरे-धीरे इसका पूर्वी भूमध्यसागर-तट पर पूर्ण नियंत्रण हो गया। धर्मयुद्धों से पहले भी वेनिस का पूर्वी व्यापार पर्याप्त था। धर्मयुद्धों के कारण यह व्यापार और भी बढ़ा। चतुर्थ धर्मयुद्ध में भाग लेने के कारण इसे पेलोपोनेसस तथा कई ग्रीक द्वीपों तथा तटवर्ती प्रदेशों की प्राप्ति हुई। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक वेनिस की शक्ति अपनी चरम सीमा पर थी। उससे बाद उसका पतन होने लगा। एड्रियाटिक से पूर्व उसके प्रदेश ओटोमन तुर्कों के अधिकार में चले गये। कोलम्बस द्वारा नई दुनिया की और वास्को-डि-गामा द्वारा भारत के साथ नवीन जल-मार्ग की खोज के कारण वेनिस के व्यापार को क्षति पहुँची क्योंकि इसके बाद पूर्वी व्यापार अतलांतिक सागर के बंदरगाहों से होने लगा।

इटालियन व्यापारी नगरों में वेनिस के बाद जिनेवा का स्थान था। व्यापारिक जगत में उसने पिसा को नीचा दिखाकर वेनिस से पूर्वी व्यापार को छीन लेने की पूरी कोशिश की। धर्मयुद्धों से वेनिस की ही तरह जिनेवा को भी पूरा लाभ हुआ।

उसकी सर्वाधिक उन्नति १२६१ ई० के बाद हुई। इस वर्ष बासपोरस के इलाके में कई व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुई। शीघ्र ही काला सागर तथा कैस्पियन के रास्ते उसका पूर्वी व्यापार चमक उठा। व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रायः दो सौ वर्षों तक वेनिस तथा जिनेवा के बीच सामुद्रिक संघर्ष चलता रहा। सन् १३८० ई० में वेनिस के जहाजी बेड़े ने जिनेवा के बेड़े को परास्त कर उसके व्यापार को चौपट कर दिया। सन् १४५३ ई० में तुर्कों द्वारा कान्स्टेटीनोपुल पर कब्जा किये जाने से जिनेवा की समृद्धि हमेशा के लिए समाप्त हो गई।

इटालियन नगर-राज्यों में एक फ्लोरेंस, उद्योग, साहित्य तथा कला का केन्द्र था। परन्तु गुएल्फों तथा गिबेलाइनों के पारस्परिक संघर्ष के कारण यहाँ प्रायः अशांति बनी रहती थी। विजयी दल बहुधा विरोधी दल के प्रमुख नेताओं को नगर से निकाल बाहर करता था। आश्चर्य इस बात का है कि इस अशांति के बावजूद फ्लोरेंस की समृद्धि तथा प्रसिद्ध बढ़ती ही गई। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस नगर पर प्रसिद्ध मेडिसी परिवार का नियंत्रण हो गया। उनकी निरंकुशता भी प्रजातांत्रिक तत्त्वों पर आधारित थी। कोसिमो डि मेडिसी (१३८९-१४६४) को तो प्रजावत्सल और राष्ट्रपिता तक कहा जाता था। इन प्रबुद्ध तानाशाहों ने कलाकारों, विद्वानों को प्रश्रय देकर तथा जनहित के कार्यों द्वारा अपने शासन को लोकप्रिय बनाया।

इटली की ही तरह मध्ययुग में यूरोप के अन्य भागों मे भी नगरों का तीव्र गति से विकास हुआ। सामंतों के लिए उनकी भूमि में नगरों की स्थापना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद थी। अतः, नवीन नगरों की स्थापना के लिए उनमें होड़-सी लग गई। उन्होंने प्राचीन ग्रामीण समुदायों को नगरों में परिवर्तित करने का प्रयास किया या सर्वथा नये-नगरों की स्थापना की। तुलों के काउंट ने ११४४ ई० में दक्षिणी फ्रांस में मोंटौबन नगर की स्थापना की। हेनरी लायन ने म्युनिक, ब्रुंसविक तथा लुबेक आदि नगरों की स्थापना की। उत्तर-मध्यकाल में जर्मन नाइटों द्वरा उत्तर-पूर्व जर्मनी में कम से कम पचासी नगर स्थापित किये। दक्षिण-पूर्व जर्मनों में ११२० ई० में फ्रिबर्ग की स्थापना हुई। ये नवस्थापित नगर योजना तथा संगठन की दृष्टि से पहले के अनेक नगरों से श्रेष्ठ थे। यह दूसरी बात है कि जल्दीबाजी में पूर्वयोजना के बिना स्थापित कई नगर स्थायी नहीं हो सके।

मध्यकालीन यूरोपीय नगरों के अवशेष आज के विशाल नगरों में इस प्रकार व्यस्त हो गये हैं कि उन्हें पहचान पाना कठिन है। फिर भी, फ्रांस के एगस मोर्ट्स

तथा वेजले एवं जर्मनी के रोथेनवर्ग जैसे नगर आज भी अपने मध्यकालीन स्वरूप से अधिक भिन्न नहीं हैं। फ्रांस तथा स्पेन को जोड़नेवाली मुख्य सड़क पर ओड नदी के तट पर स्थित कारकेसोम नगर का मध्यकालीन प्राचीर अपने बुर्जों सहित आज भी देखा जा सकता है। इसकी चहारदिवारी के भीतर पुराने मकानों में आज भी उनलोगों के वंशज रहते हैं जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी में आक्रमणकारियों का डट कर सामना किया था। गिमिगनानों में अभी भी मध्यकालीन अट्टालिकाएँ देखी जा सकती हैं। फ्लोरेंस नगर में उस युग के व्यापारियों के कई प्रासाद आज तक खड़े हैं। वियना, पेरिस, म्युनिक तथा मुरेमवर्ग की वहुत-सी वस्तियाँ ठीक उन्हीं स्थानों पर वनी हैं जहाँ मध्यकाल में ये नगर स्थित थे। मुरेमवर्ग के मध्यकालीन प्राचीर तथा कोट-खाई के कुछ अवशेष अभी तक वचे हुए हैं।

पौर जीवन

मध्यकालीन नगर छोटे और सघन थे। वे साधारणतः प्राचीर, गढ़-खाई, वाँध, लकड़ी के वाड़े से घिरे रहते थे। शुरू में इन वाड़ों से वाहर शायद ही कोई मकान वनता हो। चहारदिवारी से पार खेत इतने करीव होते थे कि शहर गाँव तथा नगर का सम्मिलित रूप जान पड़ते थे। नगर के भीतर भी खुली जगहों की कोई कमी नहीं थी। ये खुली जगहें पार्क अथवा स्टेडियम न होकर उद्यान, वगीचा, छोटे मैदान हुआ करती थीं जिनमें रात को सुरक्षा की दृष्टि से नगर में लाये गये पशु चरते थे। अभी यूरोप में ऐसे कई मध्यकालीन नगर हैं जिन्हे देखकर अंदाज लगाया जा सकता है कि नगर तथा ग्राम जीवन में उन दिनों कितना कम अंतर था। वेजले जैसे नगरों में अभी भी ऐसे लोग हैं जो दुकानदार के साथ-साथ किसान भी हैं। मध्य-युग में यह सामान्य वात थी, क्योंकि व्यापार तथा कृषि के वीच की विभाजक रेखा वहुत स्पष्ट नहीं थी।

वाद में, जैसे-जैसे आवादी वढ़ती गई, नगर के वाग-वगीचे तथा मैदान घटते गये। उनकी जगह घनी वस्तियाँ वस गईं। मकान पत्थर, लकड़ी, शाखा-टहनी या किसी भी उपलव्ध वस्तु के होते थे। उनमें से कुछ तो विल्कुल मेनोर के कम्मियों की झोपड़ी की तरह थे, परन्तु शेप लम्वे चौड़े थे। इनका मुख्य-द्वार गली में खुलता था। इनमें कुछ दोमंजिले या तिमंजिले भी होते थे। मकानों में कमरे वहुत नहीं होते थे। नीचे की मंजिल में तो कभी-कभी केवल एक ही कमरा होता था जिसका दुकान आदि के रूप में उपयोग होता था। ऊपर एक अन्य कमरा होता था जो मकान मालिक के शयनकक्ष का काम करता था। उसके ऊपर अटारी होती थी जिसमें

परिवार के अन्य सदस्य सोते थे। यदि मकान-मालिक व्यापारी अथवा शिल्पी होता था तो दरवाजे के पास बिक्री की वस्तुओं को लटका देता था अथवा उन्हें एक लकड़ी की मेज पर फैला देता था ताकि खरीदार देख सकें। साप्ताहिक हाट में भी ऐसे व्यापारियों तथा शिल्पियों के भाड़े के कमरे होते थे। मध्यकालीन यूरोप के अनेक साप्ताहिक हाट आज के स्थायी बाजारों में परिवर्तित हो गये हैं। इन हाटों में वर्षा, शीत तथा आँधी-तूफान से बचने की कोई खास व्यवस्था नहीं रहती थी। दुकानदार, खरीदार तथा बिक्री के सामान प्रायः वर्षा-कीचड़ से लथपथ हो जाते थे।

किसी भी शहर में व्यापारी प्रमुख व्यक्ति थे और उनकी शिकायतों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इन व्यापारियों में कुछ उसी नगर में जनमे-बढ़े थे, कुछ अन्य स्थानों से आकर बस गये थे। कुछ स्वयं मालिक थे, तो कुछ अपने मालिकों का काम करते थे। फ्लोरेंस के प्रसिद्ध दातिनी परिवार का व्यापार यूरोप में दूर-दूर तक फैला हुआ था। कुछ व्यापारी निस्संदेह बेईमान थे। वे कम तौलते तथा ज्यादा दाम लेते थे। परन्तु अधिकांश व्यापारी ईमानदार थे। व्यापारी साधारणतः स्वतंत्र जन थे तथा उनका कोई अधिपति नहीं था। व्यापारियों के अतिरिक्त शहर में अन्य लोग भी रहते थे, जैसे, सराय-मालिक, डाक-वाहक, कुली तथा कई प्रकार के शिल्पी आदि। पेरुगिया आदि वस्त्र-उत्पादक नगरों में बहुत बड़ी संख्या में ऊन कातने, बुनने तथा रंगनेवाले लोग रहते थे। इन शिल्पियों में मेनोर से भागे हुए दास भी होते थे जो नगर में एक-दो वर्ष लुक-छिपकर रह लेने पर नियमानुसार स्वतंत्रजन हो जाते थे। फिर भी शहरों में बहुत-से ऐसे लोग भी थे जो किसी-न-किसी सामंत के अधीनस्थ व्यक्ति थे। उन्हें सामंती सेवाओं तथा करों के लिए बाध्य किया जा सकता था। यदि गाँव में दास होना पाप था, तो नगर में दास होना और भी अपमानजनक था, क्योंकि किसी सामंत की जमीन में बसे हुए बुनकर चर्मकार अथवा सराय-मालिक को भी फसल काटने; जलावन लाने अथवा मछली मारने के लिए पकड़ा जा सकता था। अतः नवोदित नगरों के निवासी यदि किसी बात की अत्यधिक चिंता करते थे तो वह थी उनकी स्वतंत्रता। प्रत्येक व्यक्ति अपने समय तथा हुनर का स्वतंत्र रूप से उपयोग करना चाहता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में कठिनाई अवश्य थी, परन्तु जैसे-जैसे नगरवासियों में सहयोग की भावना बढ़ने लगी वे स्वतंत्रता तथा अन्य सुविधाओं की प्राप्ति के लिए सामंतों पर दबाव डालने लगे। जिन नगरों में ऐसी भावना तथा समृद्धि का तीव्र गति से

विकास हुआ वे नगर अत्यन्त शक्तिशाली हो गये। इटली तथा फ्रांस में ऐसे नगरों को 'कम्यून' कहा गया। उदाहरणार्थ, मिलान एक अत्यंत प्रसिद्ध 'कम्यून' था। यह नगर में रहनेवाले सभी व्यापारियों की सूची रखता था, अपने चिकित्सक, न्यायाधीश तथा अन्य पदाधिकारी नियुक्त करता था। आवश्यकता पड़ने पर शत्रुओं का सामना करने के लिए चालीस हजार सैनिक भी बटोर सकता था। मिलान किसी को अपना मालिक नहीं मानता था क्योंकि यह शक्तिशाली नगर था। परन्तु अन्य मामूली तथा कमजोर नगरों ने अपने मालिकों को कुछ ले देकर ही स्वतंत्रता हासिल की।

स्वतंत्रता के अतिरिक्त नगरवासी सर्वत्र सुरक्षा तथा शांति की कामना करते थे। वाह्य हस्तक्षेप से बचने के लिए उन्होने मजबूत प्राचीर तथा विशाल फाटक बनाये थे। शक्तिशाली कम्यूनों की अपनी सेना तथा रात्रि-प्रहरी थे। सावधान नागरिक रात होते ही दरवाजों को मजबूती से बन्द कर लेते थे और प्रहरी चोर-उचक्कों पर कड़ी नजर रखते थे। इन प्राचीरों, फाटकों, पहरेदारों पर पैसा खर्च होता था। यह पैसा नागरिक स्वयं जमा करते थे। यह पैसा बाजार में दुकानों तथा नगर के मकानों पर लगने वाले शुल्क से आता था। सभी गृह-स्वामी वर्ष में एक बार एक साथ बैठकर नगर परिषद का चुनाव करते थे। इन परिषदों के सदस्यों की संख्या बारह से चौदह तक होती थी। नगर-परिषद का काम था पैसा जमा कर उसे ठीक से खर्च करना, शांति-सुरक्षा बनाए रखना तथा नगर के सम्मान की रक्षा करना।

मध्यकालीन यूराप के औद्योगिक जीवन के केन्द्र नगर थे। नगरों का औद्योगिक जीवन श्रमिक-निकायों पर आधारित था। ये श्रमिक निकाय दो प्रकार के थे। श्रेष्ठी निकाय तथा शिल्प-श्रेणी। श्रेष्ठी-निकायों का आरम्भ प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। इनके सदस्य नगर के भू-स्वामी तथा व्यापारी थे। इनका प्रमुख उद्देश्य था सदस्यों की व्यावसायिक उन्नति, किन्तु इनका सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। वस्तुतः श्रेष्ठी-निकायों का ऐतिहासिक महत्त्व उनके राजनीतिक कार्यों-कलापों के कारण ही है। कई नगरों में श्रेष्ठी-निकाय नगर-प्रशासन के उद्योग तथा व्यापार विभाग की तरह थे। इंग्लैंड में तो कुछ समय के लिए नगर-प्रशासन का सम्पूर्ण भार इन्हीं श्रेष्ठी-निकायों पर था। आगे चलकर अधिकांश शिल्पियों ने अपना पृथक संघ बना लिया। इस तरह की शिल्पी-श्रेणियों इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों में बारहवीं शताब्दी में स्थापित हुई। इस तरह चर्मकारों, नानबाइयों, बुनकरों, रंग-रेजों तथा आराचक्की वालों के अलग-

अलग संघ बन गये। किसी-किसी नगर में तो ऐसे संघों की संख्या पचास से भी अधिक थी। ये संघ नागरिक प्रशासन तथा व्यापार में समान अधिकार प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठी-निकायों से संघर्ष करते रहते थे। तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दियों में यह संघर्ष अति उग्र हो गया। अंत में विजय शिल्पी-श्रेणियों की ही हुई। श्रेष्टी निकाय या तो कमजोर पड़ गये या शिल्पी-श्रेणियों के अंग बन गये।

नगरों को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हमेंशा सचेत रहना पड़ता था। इसके लिए उन्हें अपनी रक्षा-वाहिनी रखनी पड़ती थी। परन्तु प्रत्येक नगर के लिए अकेला अपनी रक्षा करना कठिन काम था। अतः पौर-संघों की स्थापना हुई, जैसे, लोम्बार्ड-संघ, स्पेनिश-संघ, रेमिश-संघ, स्वेवियन-संघ, तथा हैंसियाटिक-संघ आदि। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में जर्मन नगरों का प्रसिद्ध हैंसियाटिक-संघ स्थापित हुआ। इसमें उत्तरी-जर्मनी के लगभग अस्सी नगर शामिल हुए। इस संघ ने अपनी सेना के अतिरिक्त एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण किया। इस संघ ने डेनमार्क के राजाओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया और इग्लैंड के एडवर्ड चतुर्थ को महत्त्व-पूर्ण व्यावसायिक सुविधाएँ देने को बाध्य किया। व्यापार की सुविधा के लिए संघ ने विदेशी नगरों में कारखानों, शास्त्रागारों, सरायों तथा चर्चों की स्थापना की। इनकी तुलना सत्रहवीं- अठारहवीं शताब्दी की एशिया-स्थित योरोपीय व्यापारिक कोठियों से की जा सकती है। इस तरह की प्रमुख व्यापारिक-कोठियाँ लंदन, बरगेन, विस्बे तथा नोभगोराद में थी। इस तरह, उत्तरी यूरोप के सम्पूर्ण व्यापार पर इस संघ का लगभग एकाधिकार था। परन्तु आगे चलकर कुछ विशिष्ट कारणों से यह संघ छिन्न-भिन्न हो गया। सर्वप्रथम, विभिन्न देशों में स्थानीय व्यापारियों तथा शासकों का विरोध दिन-प्रतिदिन उग्र होता गया। दूसरी बात कि यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय-सरकारों की स्थापना के कारण विदेशों में संघ का प्रभाव घटता गया। एक कारण यह भी था कि मछली-व्यापार का प्रमुख केन्द्र बाल्टिक सागर से हटकर नेदरलैंड में चला गया और इस तरह हैंसियाटिक-संघ के व्यापार का एक प्रमुख आधार लुप्त हो गया। पुनः, पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में नवीन जल-मार्गों की खोज के कारण व्यावसायिक केन्द्र बाल्टिक तथा भूमध्यसागर के बंदरगाहों से हटकर अटलांटिक महासागर के बंदरगाहों में चले गये। अंततः, धर्मसुधार आंदोलन के कारण जर्मनी में जिन धर्म-युद्धों का सूत्रपात हुआ उसने अधिकांश जर्मन नगर बरबाद हो गये। इससे भी हैंसियाटिक-संघ का विघटन निश्चित हो गया। उत्तरी इटली के लोम्बार्ड-संघ को भी सम्राट फ्रेडरिक बार-

वेरोसा की इटालियन नीति से अपार क्षति उठानी पड़ी। उसने लोम्बार्डों के कई नगरों को नष्ट कर दिया। मिलान नगर के नागरिकों को उजड़कर गाँवों में शरण लेनी पड़ी और नगर के परकोटों तथा भवनों को धूल में मिला दिया गया।

मध्यकालीन योरोपीय नगरों की देन

मध्यकालीन मठों तथा प्रासादों की ही तरह नगरों ने भी यूरोप के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। सर्वप्रथम, मध्ययुगीन नगरों ने आधुनिक जगत को कतिपय महत्वपूर्ण आर्थिक आदर्श और सिद्धान्त दिये। मठों की ही तरह नगरों में भी श्रम पर जोर दिया जाता था और दासता तथा कमियापन जैसे अभिशापों का पहली बार लोप होने लगा। प्राचीन काल में, विशेषत: यूनान तथा रोम में, श्रेष्ठी-वर्ग को प्रतिष्ठित नहीं माना जाता था, किन्तु मध्ययुगीन श्रेष्ठी-निकायों तथा शिल्पी-श्रेणियों को नागरिक प्रशासन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। अब श्रमिक-वर्ग को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। इससे नगरों के औद्योगिकरण में सहायता मिली। अत: स्वतंत्र श्रम पर आधारित आधुनिक औद्योगिक-व्यवस्था का आरम्भ मध्ययुगीन नगरों से ही माना जा सकता है। वस्तुत: आधुनिक उद्योगवाद मध्यकालीन नगर की ठीक उसी प्रकार उपज है जैसे आधुनिक यूरोपीय अभिजात वर्ग मध्ययुगीन सामंती प्रासादों से उद्भूत है। आर्थिक दृष्टि से मध्यकालीन नगर मध्ययुगीन आर्थिक व्यवस्था को आधुनिक आर्थिक व्यवस्था से जोड़नेवाली कड़ी थे। आधुनिक व्यापारवाद की शुरुआत वस्तुत: मध्यकालीन नगरों से ही हुई। मध्यकालीन नगर औद्योगिक तथा व्यावसायिक जीवन के केन्द्र थे और अन्तर्राष्ट्रीय-विनिमय तथा व्यापार का व्यवस्थित आरम्भ भी उन्हीं से हुआ।

मध्यकालीन नगरों ने समाज को दो नवीन वर्ग दिये। मध्यवित्तवर्ग तथा श्रमिक वर्ग। पहले वर्ग में व्यापारी, महाजन, पूँजीपति तथा उद्योगपति शामिल थे। दूसरे वर्ग में सभी प्रकार के दक्ष तथा अदक्ष श्रमिक आते थे। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में समाज में केवल दो ही प्रमुख वर्ग थे-सामंत तथा पादरी। इन्हीं दोनों वर्गों के हाथों में सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्ति निहित थी। नगरवासियों का एक तीसरा एवं पृथक वर्ग-मध्य-वित्त-वर्ग विकसित हुआ। इस वर्ग ने धीरे-धीरे राजनीति तथा प्रशासन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी से नगरों के प्रतिनिधि सामंतों तथा पादरियों के प्रतिनिधियों के साथ विभिन्न देशों की प्रतिनिधि सभाओं में बैठने लगे। आज की संसदीयप्रणाली के विकास पर इसका

गहरा प्रभाव पड़ा। वस्तुतः मध्यकालीन नगर आधुनिक राजनीतिक स्वतंत्रता के जन्मस्थान थे। उन्होंने सामंतवाद के पराभव में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। अब लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा केवल उनकी भू-सम्पदा पर आधारित नहीं रह गई। उद्योग तथा व्यापार से धन कमाकर भी अब सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल की जा सकती थी। कम्मियों के लिए तो नगरों ने मानो मुक्ति का द्वारा ही खोल दिया। नगरवासी कम्मियों पर अब सामंती प्रतिबंध नहीं रह गये। भगोड़े कम्मिये नब्बे दिनों तक लगातार शहर में रहकर स्वतंत्र जन बन जाते थे। इसीलिए यह कहावत चल पड़ी "शहर की हवा मनुष्य को स्वतंत्र बना देती है।"

राजनीतिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि नगरों ने निरंकुश राजतंत्र के विकास में सहायता की। सामंती अराजकता एवं अनुशासनहीनता के विरुद्ध राजाओं को मध्यवित्त-वर्ग में सहायता मिली। मध्यवर्ग ने राजकीय स्थायी सेना का व्यय भार दूहन किया। अतः राजाओं को अब सामंती सैनिक सेवा पर निर्भर रहने की आवश्यकता न रही। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि मध्यवर्ग के बिना उत्तर, मध्यकाल तथा आधुनिक काल का राजनीतिक विकास शायद संभव न होता।

सांस्कृतिक दृष्टि से नगरों का प्रमुख प्रभाव यह पड़ा कि सामाजिक विकास तथा परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएँ पहले से तीव्र हो गयीं। उद्योग एवं व्यापार के प्रसार के साथ-साथ नवीन विचारों एवं आदर्शों का भी सर्वत्र प्रचार हुआ। समृद्ध नगरवासियों ने नगरों की शोभा तथा सुविधा में वृद्धि की। नगरों की बढ़ती हुई आबादी के कारण नवीन समस्याओं को सुलझाने के लिए कई प्रकार के कदम उठाये गये। व्यापारी वर्ग ने कला, साहित्य तथा चित्रकारी को संरक्षण प्रदान किया। फलस्वरूप, सुन्दर भवनों, प्रवेश द्वारों, प्रासादों तथा देवस्थानों का निर्माण संभव हुआ। सभी प्रकार की सुविधाओं से युक्त नागरिक जीवन अब लोगों को मठीय तथा संन्यासी जीवन से कहीं अधिक आकर्षक जान पड़ने लगा। समृद्ध इटालियन नगरों ने स्वतंत्र, विविध तथा गतिशील जीवन का समवेत प्रभाव पुनर्जागरण के रूप में पड़ा। जिनेवा में अभी भी मध्यकालीन स्थापत्य कला के कई सुन्दर नमूने देखे जा सकते हैं। फ्लोरेंस नगर उत्तर-मध्यकालीन यूरोप में साहित्य तथा कला का केन्द्र था। वहीं के ऊनी तथा रेशमी वस्त्र विश्व-विख्यात थे। किसी भी मध्ययुगीन नगर से इस नगर में रहनेवाले कवियों, इतिहासकारों, वस्तु-शिल्पियों तथा चित्रकारों की संख्या कहीं अधिक थी। एथेंस को छोड़कर अन्य किसी भी मध्यकालीन योरोपीय नगर में इतने महान व्यक्ति नहीं हुए। फ्लोरेंस की श्रेष्ठतम विभूतियों में दांते,

पेत्रांक, बोकासियों, मेकियावेली, माईकेल-एंजेलो, लियोनार्डो-द-विंची, गैलिलियो तथा मेडिसी का नाम सहज ही लिया जा सकता है। वेनिस नाविकों तथा व्यापारियों द्वारा फैलाई गई देश-विदेश की कहानियों के लिए विख्यात था। ऐसे लोगों में मार्कोपोलो का नाम सर्वाधिक विख्यात हुआ। मार्कोपोलो ने चीन सहित ऐसे सुदूर देशों की यात्रा की जहाँ तक उन्नीसवीं शताब्दी से पहले शायद ही कोई अन्य यूरोपवासी पहुँचा हो।

अध्याय १७

उद्योग और व्यापार

मेरोविंगीयन और कैरोलिंगीयन व्यापार

रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही यूरोप की अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिलक्षित होने लगे। कई कारणों से रोमन नगरों का ह्रास हुआ और योरोपीय समाज का स्वरूप कृषि-प्रधान हो गया। वर्बर जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप यह प्रक्रिया और भी तीव्र हो गयी। पश्चिमी यूरोप की अधिकांश जनता मेनर-व्यवस्था पर निर्भर करने लगी। मेनर-व्यवस्था के अन्तर्गत विक्रय निमित्त आवश्यकता से अधिक अन्न वचता था और न नगरों में उसके खरीदार ही थे। राजनीतिक अराजकता के कारण व्यापारी वर्ग दूरस्थ स्थानों तक जाकर सामान बेच भी नहीं सकता था। जो कुछ थोड़ी खरीद बिक्री स्थानीय बाजारों में होती थी उसमें नकद लेन-देन न होकर वस्तुओं का विनिमय ही होता था। मेरोसिंगीयन तथा कैरोलिंगीयन शासकों के समय में रेशम तथा मसाला जैसी चीजें भी अल्प मात्रा में ही पूर्वी जगत से यूरोप तक पहुंच पाती थीं। इन वस्तुओं का शराब तथा तेल के साथ विनिमय होता था। यह मामूली व्यापार भी योरोपीय व्यापारियों के हाथ में न होकर यहूदियों तथा सीरियनों के नियंत्रण में था। वस्तुतः व्यापारी वर्ग का पश्चिमी यूरोप में प्रायः लोप हो चुका था। यह सही है कि इटली तथा कान्स्टेंटी नोपुल के व्यावसायिक सम्बन्ध अभी भी बने हुये थे, किन्तु पश्चिमी भूमध्यसागर पर अरबों का नियंत्रण हो जाने के कारण यूरोप का व्यावसायिक पुनरुत्थान लम्बे अरसे के लिए प्रायः रुक सा गया। सामंतवाद के उदय से वर्बर जातियों के आक्रमणों पर नियंत्रण पाया जा सका किन्तु सामन्तों के पारस्परिक युद्धों के कारण व्यावसायिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया तीव्र न हो सकी।

व्यावसायिक पुनरुत्थान

यूरोप की अर्थ-व्यवस्था में ग्यारहवीं शताब्दी से परिवर्त्तन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। अगले तीन सौ वर्षों तक व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में यूरोप की निरंतर उन्नति होती रही। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम, बैजन्टाइन साम्राज्य

एवं मुस्लिम देशों के व्यापार की वृद्धि हुई तथा उन्हीं के माध्यम से मध्य-पूर्व तथा सुदूर पूर्व से व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना हुई दूसरा कारण यह था कि पश्चिमी यूरोप में नये उद्योगों की स्थापना हुई। जो यूरोप तथा एशिया के बाजारों के लिए विभिन्न प्रकार के सामान तैयार करने लगे । तीसरी बात यह थी कि उत्साही व्यक्तियों ने जंगलों को काटकर तथा दलदलों को सुखा कर कृषि में वृद्धि की। कृषि उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप वाणिज्य व्यापार में भी उन्नति हुई। उपर्युक्त परिवर्त्तनों के कारण समाज में तीन शहरी वर्गों का जन्म हुआ—मध्यवित्त-वर्ग (जिसमें उद्योगपति, व्यावसायी तथा छोटे व्यापारी शामिल थे) कुशल शिल्पी, तथा साधारण श्रमिक। इन तीनों वर्गों के पारस्परिक सहयोग से प्राचीन रोमन नगरों की पुनर्स्थापना तो हुई ही, साथ-साथ अनेक नये नगरों की भी स्थापना हुई । इन वर्गों ने कम्मियों की मुक्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया और यूरोप की आबादी में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई ।

इटालियन नगर व्यावसायिक पुनरुत्थान के अग्रदूत सिद्ध हुए। मुस्लिम आक्रमणों के बावजूद बैजन्टाइन साम्राज्य से वेनिस का व्यावसायिक सम्बन्ध कभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था। वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी से पहले ही वेनिस एक समृद्ध नगर बन चुका था। बैजन्टाइन साम्राज्य के अतिरिक्त उसने भूमध्यसागर स्थित मुस्लिम व्यावसायिक केन्द्रों से भी सम्बन्ध स्थापित किया था। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही जिनेवा तथा पिसा भी नवीन व्यावसायिक नगरों के रूप में उभरने लगे थे। इन दोनों नगरों ने अरबों को सार्डिनिया तथा कार्सिका से निकाल कर वहाँ के काष्ट एवं खनिज व्यापार पर एकाधिकार कर कर लिया। सिसली-विजय में नारमनों से सहयोग कर इन दोनों नगरों ने कुछ समय के लिए वहाँ के बाजारों पर कब्जा कर लिया। मेसिना, सिराक्युज तथा तथा पालेरमो में इन नगरों ने अपनी बस्तियाँ स्थापित की। सन् १०८७ ई० में महदिया पर कब्जा कर लेने से इन्हें उत्तरी अफ्रिका तट पर महत्वपूर्ण व्यावसायिक सुविधायें प्राप्त हुई। प्रथम धर्मयुद्ध के समय तक सम्पूर्ण पश्चिमी भूमध्यसागर पर जिनेवा तथा पिसा का व्यापारिक एकाधिकार स्थापित हो चुका था । धर्मयुद्धों के फलस्वरूप एजियन तथा पूर्वी भूमध्यसागर पर भी इटालियन नगरों का प्रभुत्व कायम हो गया। सीरिया तथा फिलस्तीन के तटीय नगरों के अलावा लगभग सम्पूर्ण बैजन्टाइन साम्राज्य में उनकी व्यापारिक बस्तियां स्थापित हो गयीं। तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भूमध्यसागर व्यापार पर उनका लगभग एकाधिकार हो गया। उत्तरी अफ्रिका तट पर ट्यूनिस, गेब्स तथा ट्रिपोली के साथ जिनेवा तथा पिसा का व्यापक

व्यापार था। सन् १२६१ में जिनेवा को काला सागर में व्यापक व्यापारिक सुविधायें प्राप्त हुई। सीरियाई नगरों पर धर्मयोद्धाओं के अधिकार हो जाने पर इटालियन व्यापारी सुदूर तबरीज तक पहुँच गये। तेरहवीं शताब्दी के अंत में मार्कोपोलो पेकिंग तक हो आया। चौदहवीं शताब्दी में मध्यपूर्व तथा सुदूर पूर्व से गरम मशाले योरोपीय बाजारों में पहुँचने लगे। अरब, भारत, लंका, मालाया तथा चीन से तरह-तरह की औषधियों, धूप-लोबान सुगन्धि तथा इत्र का यूरोप में आगमन होने लगा। पश्चिमी वस्त्र-उद्योग, कपास, रेशम, नील तथा फिटकिरी आदि आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी व्यापार पर निर्भर था। इथोपिया से हाथी दांत, लंका से मोती तथा सुदूर पूर्व से चीनी का यूरोप में आयात होता था।

ग्यारहवीं शताब्दी में इटालियन व्यापार के विस्तार से पूर्व भी यूरोप का एक अन्य मार्ग से एशिया से व्यापारिक सम्बन्ध था। नार्स आक्रमणों से यूरोप की अपार क्षति हुई थी, किन्तु दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से स्कैंडिनेवियनों ने वाणिज्य व्यापार में विशेष रुचि लेना शुरू किया। उन्हीं के चलते रूस के मार्ग से उत्तरी यूरोप का बेजन्टाइन तथा बगदाद की श्रेष्ठ सभ्यताओं से सम्पर्क पुनर्स्थापित हुआ। इस तरह एक ओर इटालियनों तथा दूसरी ओर स्कैंडिनेवियनों के प्रयास से यूरोप के दो छोरों पर दो व्यावसायिक केन्द्रों की स्थापना हुई। इन दो केन्द्रों का यूरोप के अन्य भागों पर कितना प्रभाव पड़ा इसकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इनके प्रभाव से यूरोप का तटीय-व्यापार तीव्र गति से विकसित हुआ। साथ ही तटों से भीतर की ओर नदी-घाटियों में भी व्यापार की उन्नति हुई। धीरे-धीरे बारहवीं शताब्दी के अंत तक उत्तरी तथा दक्षिणी व्यापार इतना उन्नत हो गया कि पश्चिमी यूरोप में वास्तविक आर्थिक पुनरुत्थान के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे।

व्यापारी वर्ग

मध्यकालीन योरोपीय व्यापारी चलायमान व्यक्ति थे। जल अथवा थल-मार्ग पर ये गिरोह बनाकर चलते थे। उनकी तुलना एशियाई व्यापारी काफिलों से की जा सकती है। ग्यारहवीं शताब्दी तक पेशेवर व्यापारियों की भरमार हो गयी थी। इस तरह क्रय-विक्रय द्वारा जीविका चलानेवाला वह व्यापारी वर्ग जिसका मेरोमिंगीयन काल में प्रायः अंत हो गया था, एक बार पुनः सक्रिय हो उठा। मध्यकालीन व्यापारी वर्ग के पास पूँजी की कमी थी। अतः प्रायः उसे उधार से काम चलाना पड़ता था, बहुत-से व्यापारी दूसरों का सामान ढोकर भी काफी कमा लेते थे क्योंकि

वस्तुओं की कमी के कारण मूल्य ज्यादा होता था और मुनाफे की मात्रा भी अधिक होती थी। अकाल की स्थिति में तो मुनाफे में और भी वृद्धि हो जाती थी, सुरक्षा की दृष्टि से व्यापारी अधिकांशतः प्राचीन रोमन नगरों अथवा उन्हीं स्थानों में टिकते थे जहाँ कोई दुर्ग अथवा किला होता था। आधुनिक अर्थ में व्यापारियों पर कोई नियमित रूप से कर नहीं लगता था। स्थानीय प्रथा के अनुसार उनसे कुछ उगाह लिया जाता था। सामंत लोग नानबाइयों, दलालों तथा अन्य व्यापारियों से कुछ सामंती कर वसूल लेते थे। शपथ तथा द्वन्द्व के अतिरिक्त व्यापारियों पर अन्य कोई नियमित कानूनी कारवाई की व्यवस्था भी नहीं थी। व्यापारियों के जीवन में उनके निकायों का विशेष महत्त्व था, क्योंकि इनके द्वारा उनके विभिन्न अधिकारों की रक्षा और सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी।

व्यापारी वर्ग में सामान्य लोगों के अतिरिक्त कुछ सामंत, पादरी तथा राज-घरानों के लोग भी शामिल थे। मठीय व्यापार का एक उल्लेखनीय उदाहरण इंग्लैंड के सिस्टरसियनों का ऊन-व्यापार है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में स्काटलैंड में मठ, व्यापार, जहाजरानी तथा सूद पर धन लगाने का काम करते थे। बेनेडिक्टा-इन मठ अपनी भूमि में उगाये अन्न को बेचकर काफी पैसा कमा लेते थे। बारहवीं शताब्दी में रिचर्ड प्रथम ने टीन के व्यापार में काफी मुनाफा कमाया। इसी तरह तेरहवीं शताब्दी में हेनरी तृतीय गस्कनी की राजकीय भूमि पर उगाये गये अंगूर की शराब अपने आदमियों द्वारा बिकवाता था। सिसली नारमन राजाओं ने तो कई वस्तुओं के व्यापार पर राजकीय एकाधिकार ही बना रखा था। बारहवीं शताब्दी में वहाँ लोहा तथा इस्पात के व्यापार पर राजकीय एकाधिकार था। राजकीय भू-सम्पदा पर उगाई जाने वाली फसल का अधिकांश भाग वेनिस के व्यापारियों के हाथों बेच दिया जाता था। फ्रेडरिक द्वितीय के शासनकाल में राजकीय कृषि का योजनाबद्ध विकास किया गया। अनेक व्यापारिक मेले शुरू किये गये। आन्तरिक चुंगी उठा दी गयी और माप तौल को प्रामाणिक रूप देने का सफल प्रयास किया गया। अंजेविन राजाओं के शासनकाल में राजकीय व्यापार सचमुच बहुत व्यापक हो गया। अंजेविन प्रशासक अब अन्न तथा पशुओं के अतिरिक्त मक्खन, पनीर तथा तेल भी बेचने लगे, अब नमक के व्यापार को भी राजकीय एकाधिकार में ले लिया गया। राजकीय जहाज भी अब भाड़े पर सामान ढोने लगे।

व्यापारिक मेले

अत्यधिक महत्त्व था। मेले प्रायः सभी देशों में और सर्वत्र लगते थे और अपनी एकरूपता के कारण योरोपीय समाज के अभिन्न अंग जान पड़ते थे। चलायमान व्यापारियों के युग में उनका विशेष महत्त्व था, किन्तु जैसे-जैसे व्यापारी वर्ग स्थावर होता गया, इनका महत्त्व भी घटता गया। परवर्ती काल के मेले प्रारंभिक मेलों से न केवल सर्वथा भिन्न थे, बल्कि यूरोप के आर्थिक जीवन में उनका महत्त्व भी कम होता गया।

मेले साप्ताहिक बाजारों से भिन्न थे। साप्ताहिक बाजारों में खुदरा व्यापार होता था, किन्तु मेले थोक व्यापार के केन्द्र थे। उनकी तुलना आज की अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों से की जा सकती है। इनमें कहीं से कोई भी चीज, किसी भी मात्रा में आ सकती थी। उनकी तैयारी में इतना समय लगता था कि किसी एक जगह पर साल में एकाध बार ही मेले लग सकते थे। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी के शैम्पेन मेलों में यूरोप भर के व्यापारी जमा होते थे। अधिकांश मेलों की शुरुआत ग्यारयहवीं शताब्दी से हुई। केवल पेरिस के निकट संत डेनिस मेला ही मेरोमिंगियन काल से ही लगने लगा था। तेरहवीं शताब्दी के अंत तक मेलों की संख्या बहुत बढ़ गयी। मेलों पर स्थानीय शासकों का अधिकार होता था। मेले प्रायः नगरों में ही लगते थे, यद्यपि मिलन तथा वेनिस जैसे बड़े नगरों में एक भी मेला नहीं लगता था। इस तरह मेलों का महत्त्व स्थान के कारण न होकर इनकी अपनी विशेषताओं के कारण था।

मेलों को कई प्रकार की कानूनी सुविधाएँ प्राप्त थीं—उनकी शान्ति भंग करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी। वहाँ जानेवालों को स्थानीय शासक सुरक्षा प्रदान करता था। मेलों के लिए कई प्रकार की छूट दी जाती थी, जैसे कम्ब्राई के मेले में चौपड़ तथा ताश खेलने की छूट थी। मेलों मे जलपान-गृह तथा खेल-तमाशे विशेष आकर्षण केन्द्र थे। मेलों से बाहर किये गये अपराधों के लिए व्यापारियों को वहाँ दण्डित नहीं किया जा सकता था। सूद पर कर्ज लगाने की भी यहाँ छूट रहती थी। बारहवीं शताब्दी के मेले प्रायः छः सप्ताह तक चलते थे। इसी शताब्दी में मेलों की संख्या में सर्वाधिक वृद्धि हुई। वस्तुतः मध्यकालीन मेलों में से कुछ आज तक लोकप्रिय हैं, जैसे लिपजिग का मेला।

बैंकों का आरंभ

रोमन साम्राज्य में मुद्रा का प्रचलन था और उस साम्राज्य के पतन के बाद भी यूरोप में मुद्रा का उपयोग होता रहा। परन्तु मध्ययुग में इसका उपयोग अत्यन्त सीमित था। व्यापार के ह्रास के कारण शुरु में मुद्रा की अधिक आवश्यकता रह भी

नहीं गयी थी। सामंती प्रथा के अन्तर्गत अधिकांश पावनों की चुकती उपज अथवा श्रम के रूप में होती थी। अतः सीमित अर्थ में उस युग में प्राकृतिक-अर्थव्यवस्था थी। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुद्रा का उपयोग एकदम बन्द नहीं हो गया था। कैरोलिंगियन राजाओं के समय में चाँदी के सिक्के का ही प्रचलित थे। मुद्रा का आधार पाउंड था जो पेंस में बँटा होता था। पेंस और अर्द्ध-पेंस ही वास्तविक प्रचलित सिक्के थे। बड़े पैमाने पर क्रय-विक्रय के अभाव में इन छोटे सिक्कों से ही अधिकांश काम चल जाता था। राज्य सिक्कों की तौल तथा धातु की शुद्धता के विषय में हमेशा सजग रहता था। राजकीय टकसाल थे और मुद्रा-निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था। नकली सिक्के ढालने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी। सिक्कों के लिए चांदी पुराने सिक्कों को गलाकर, बर्बर जातियों को पराजित कर तथा कुछ खानों का उपयोग कर प्राप्त की जाती थी। कैरोलिंगियन साम्राज्य के अवशेष पर जो नये राज्य स्थापित हुए, उनमें भी चांदी का 'डेनियर' ही अधिकतर चलता रहा। स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन केवल उन्हीं भागों में था जिनपर बैजन्टाइनों अथवा मुसलमानों का कब्जा हो गया था। सन् १०६६ ई० से पहले आंग्ल-सैक्सनों ने भी कुछ स्वर्ण-मुद्राओं का निर्माण किया था- सन् १२३१ ई० में फ्रेडरिक द्वितीय ने 'आगसटेल्स' नामक सुन्दर स्वर्ण—मुद्राओं को प्रचलित किया, किन्तु इनका उपयोग दक्षिणी इटली तक ही सीमित रहा। सन् १२५२ ई० में फ्लोरेंस में 'फ्लोरिनो' नामक सोने के सिक्के ढाले गये जो अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए। सन् १२८४ ई० में वेनिस ने 'जेचिन' नामक स्वर्ण-सिक्का निकाला। चौदहवी शताब्दी तक स्पेन, बोहिमिया, इंग्लैंड तथा हालैंड आदि देशों में स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन हो गया।

जहाँ तक ऋण देने की बात है, चर्च सबसे आगे था। प्रसिद्ध चर्चों के पास अपार खजाना था जिसका कुछ भाग इस तरह खर्च होता था। अकाल के समय में विशेषतः मठीय खजानों का उपयोग इस रूप में होता था। आस-पास के सामंत मठीय खजाने का ऋण प्राप्ति के लिए उपयोग करते थे। अपनी जमीन बंधक रखकर वे मठ से धन प्राप्त करते थे। जमीन की उपज से सूद की प्राप्ति हो जाती थी और इस तरह मठों पर सूदखोरी का आरोप भी नहीं लगता था। व्यावसायिक-ऋण का आरंभ भी ग्यारहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। बारहवीं शताब्दी तक तो व्यावसायिक ऋण का आम प्रचलन हो गया। गरम मसाला, शराब, ऊन, वस्त्र आदि का क्रय-विक्रय उधार होने लगा। वेनिस, जिनेवा तथा पिसा के अनेक व्यापारी सामुद्रिक व्यापार में अपनी पूंजी लगाने लगे। हुंडी का उपयोग भी अब व्यापक रूप

से होने लगा। तेरहवीं शताब्दी तक व्यापारीगण नियमित रूप से वही-खाता रखने लगे।

ऋण लम्बी अवधि के लिए ही अधिक दिये जाते थे। व्यावसायिक-ऋण इटली में सर्वाधिक और जर्मनी में सबसे कम प्रचलित थे। मध्ययुगीन बैंक-व्यवसाय का प्रमुख पक्ष उधार देना ही था। बड़े-बड़े महाजन इस कार्य में लगे थे, क्योंकि अतिरिक्त धन को ऋण के रूप में देना उनके लिए लाभप्रद था। साधारणतः प्रत्येक मध्यकालीन ऋणदाता साहूकार और व्यापारी भी था। राजा सामंत और पादरी तक इन साहूकारों से कर्ज लेते थे। सन् ११६० ई० के लगभग इंग्लैंड के राजा और अनेक सामंत विलियम केड से भारी कर्ज ले रहे थे। ऋण की वापसी साधारणतः एक वर्ष बाद होती थी। ऋण लेते समय प्रतिष्ठित व्यक्तियों की जमानत देनी पड़ती थी या बंधक के रूप में भूमि रखनी पड़ती थी। सामंतों की ही तरह नगरवासी भी प्रायः ऋण लेते रहते थे। आवश्यकताओं के सीमित होने के बावजूद धार्मिक संस्थान भी कर्ज लेते थे। उदाहरणार्थ तेरहवीं शताब्दी के मध्य में नारमंडी के प्रायः सभी मठ कर्ज में डूबे हुए थे। व्याज की दर दस से पन्द्रह प्रतिशत होती थी, यद्यपि कभी-कभी पाँच से लेकर चौबीस प्रतिशत तक भी व्याज लिया जाता था। बैंक-व्यवस्था में इटालियन अति कुशल थे। अतः तेरहवीं शताब्दी के अंत तक आल्प्स पर्वत से उत्तर अधिकोष-व्यापार पर उनका लगभग एकाधिकार हो गया। राजा, पोप, बिशप, मठाधीश तथा नगरवासी, सभी उनकी सेवाओं से लाभ उठाते थे। वस्तुतः सम्पूर्ण यूरोप की अर्थ-व्यवस्था पर उनका नियंत्रण था। राजा उन्हें परामर्श-समितियों की बैठक में बुलाते थे, राजकीय टकसाल की देख-भाल उन्हें सौंपते थे और कभी-कभी करों की वसूली का काम भी उनके जिम्मे दे देते थे। अधिकोष-व्यापारी साहूकारी के अलावा ऊन, सूती-वस्त्र, गरम मसाले, सोना-चाँदी आदि के व्यापार में भी लगे थे। जहाजरानी के अतिरिक्त पेरिस आदि नगरों में उनके पथिकाश्रम तक थे। जैसे-जैसे उनका व्यापार विस्तृत होता गया, व्याज की दर भी वे बढ़ाते गये। कभी-कभी शत-प्रतिशत व्याज लेने से भी वे नहीं हिचकते थे। कई लेखकों ने यहूदी साहूकारों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। किन्तु इटालियन साहूकारों की तुलना में वे नगण्य थे। वस्तुतः जो देश आर्थिक दृष्टि से जितना ही समृद्ध था, वहाँ यहूदी साहूकारों की संख्या उतनी ही कम थी। उनमें से अधिकांश पूर्वी यूरोप में ही सीमित थे। पूर्व-मध्यकाल में वे पूर्वी देशों का सामान यूरोप में बिसातियों के रूप में बेचते थे। बाद में मुस्लिम स्पेन के मार्ग से वे गरम मसाला, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य सामान यूरोप तक पहुँचाने लगे। परन्तु प्रथम धर्म-युद्ध के बाद उनका उत्पीड़न होने लगा।

ग्यारहवीं शताब्दी में भूमध्यसागरीय व्यापार के पुनरुत्थान के बाद पूर्वी व्यापार में मध्यस्थ के रूप में यहूदियों की आवश्यकता नहीं रह गई। केवल बारसेलोना के व्यावसायिक जीवन में ही उनका कुछ महत्त्व रह गया। उन्हीं की तरह तेरहवीं शताब्दी से चर्च का लेन-देन व्यापार भी कम हो गया, क्योंकि सूदखोरी को गुप्त रखना अब कठिन था।

तटीय और सामुद्रिक व्यापार

यातायात की असुविधाओं के बावजूद मध्ययुगीन योरोपीय व्यापार नगण्य नहीं था। नवीं शताब्दी से सड़कों की दशा बहुत खराब हो गयी थी। रोमन साम्राज्य की सुन्दर सड़कें टूट-फूट चुकी थी। पहले से आती हुई चुंगी अभी भी लगती थी, किन्तु उसका उपयोग सड़कों की मरम्मत के लिए न होकर स्थानीय शासकों के व्यक्तिगत खर्च के लिए होता था। व्यापारी इस चुंगी को अनावश्यक बोझ समझते थे और सचमुच व्यापार पर इसका बुरा असर पड़ता था। बारहवीं शताब्दी तक नवोदित नगरों ने कुछ चुंगियों से अपने को मुक्त करा लिया था, फिर भी, पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक राइन तथा डेन्युब आदि नदियों में पैंतीस से सत्तर तक चुंगियाँ लगती थीं। इस तरह आर्थिक शोषण तथा खराब सड़कों के कारण व्यापार को क्षति पहुँचती थी। जाड़ा में सड़कों पर कीचड़-पानी जमा हो जाता था। उनकी देख-भाल का जिम्मा उनलोगों को था जिनके इलाके से होकर वे पार करती थीं अथवा उनकी सुव्यवस्थिति का जिनका स्वार्थ निहित था। इटली तथा उत्तरी यूरोप को जोड़नेवाले आल्पस के बीच का मार्ग अत्यन्त रद्दी हालत में था। लोम्बार्डी के शासक इसकी देख-रेख के प्रति अत्यधिक उदासीन थे। केवल नेपल्स के शासक राजमार्गों को अच्छी हालत में बनाये रखते थे। विभिन्न नदियों पर भी जो पुल बने हुए थे, उनमें से अधिकांश का निर्माण नगर वासियों ने ही किया था। सड़कों की खराबी के कारण उनपर हल्की गाड़ियाँ ही चल सकती थीं। सामान ढोने के लिए दो पहियों वाले हल्के छकड़ों का उपयोग होता था, किन्तु अधिकांश माल घोड़ों पर लादा जाता था।

थल-व्यापार की कठिनाइयों के कारण व्यापार के लिए अधिकतर जल-मार्ग का ही उपयोग होता था। सूखा, बाढ़ तथा पाला के कारण नदियों के उपयोग में भी कठिनाई होती ही थी। फिर भी, नदियों के किनारे जगह-जगह पर माल लादने तथा उतारने की सुविधा प्राप्त थी। कई इलाकों में यातायात के लिए नहरें खोदी गयी थीं। तेरहवीं शताब्दी तक नहरों की संख्या काफी हो गयी थी। नहर खोदने

का खर्च नगरवासी अथवा व्यापारी ही उठाते थे। नहरों का उपयोग करने वाली नौकाओं को निश्चित चुंगी देनी पड़ती थी।

स्वभावत; सामुद्रिक व्यापार थल-मार्ग अथवा नदियों द्वारा होने वाले व्यापार से कहीं अधिक विस्तृत था। कम्पास के अविष्कार से पूर्व जहाज अधिकतर समुद्र-तट की रेखाका ही अनुसरण करते थे। समुद्री डाकुओं के भय से जहाज दल बाँध कर चलते थे। जहाजों पर दो सौ से छह: सौ टन तक माल लादा जाता था। भूमध्य-सागर में अधिकांशत: खुली हुई विशाल नौकाओं का उगयोग होता था। तेरहवीं शताब्दी में पतवारों में सुधार होने से जहाजरानी में सुविधा हुई। जाड़ा में जब तेज हवा चलती थी, बहुत कम जहाज चलते थे। चौदहवीं शताब्दी तक केवल इटालियन जहाज ही जिब्राल्टर की खाड़ी पार करते थे। बन्दरगाहों की स्थापना से माल उतार लेने के बाद जहाजों को घसीट कर तट पर लाया जाता था जहाँ उनकी आवश्यक मरम्मत की जाती थी।

मार्ग पर लगने वाली चुंगी के कारण व्यापारियों को कुछ असुविधा अवश्य होती थी, किन्तु विभिन्न राज्यों द्वारा मुक्त व्यापार की नीति अपनाये जाने के कारण राजनीतिक हस्तक्षेप का अभाव था। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद ही राष्ट्रीय उद्योगों के हित में कहीं-कहीं संरक्षण कर लगाये जाने लगे। फिर भी विभिन्न राज्यों के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धों का व्यापार पर असर तो पड़ता ही था। युद्ध-काल में शत्रु-देश के व्यापारी प्राय: बंदी बना लिये जाते थे। व्यापार पर पाबंदी लगाकर शत्रु पर आर्थिक दबाव डाला जाता था। किन्तु, शांति स्थापना के बाद पुन: पूर्व-स्थिति स्थापित हो जाती। विभिन्न शासक विदेशी व्यापारियों पर अतिरिक्त कर लगाते थे तो साथ ही उन्हें कई प्रकार की सुविधाएँ देते भी थे। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिलता था।

आयात-निर्यात के सामान

यूरोप के अंतर्राष्ट्रीत व्यापार की एक प्रमुख वस्तु गरम मासाला था। पश्चिमी भूमध्य सागर के अनेक बन्दरगाह इससे भारी मुनाफा कमाते थे। अरब, भारत तथा चीन से मसाले सीरिया पहुंचते थे, जहाँ से योरोपीय व्यापारी इन्हें जहाजों पर लाद कर ले जाते थे। गरम मसालों को लाद कर ले जाना तो आसान था ही, उनकी कीमत भी बहुत मिलती थी। उद्योगों के लिए कच्चे माल का व्यापार उन दिनों सीमित था। बंदरगाहों में उपलब्ध यांत्रिक उपकरण गोलमिर्च, लवंग, गन्ना तथा दालचीनी आदि हल्की वस्तुओं को ही लाद और उतार सकते थे। यूरोप

में इन वस्तुओं की खपत भी पर्याप्त थी। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से यूरोप में चावल, संतरा, खूबानी, अंजीर, किशमिश, सुगंधी रंग, फिटकिरी तथा देवदारु आदि का भी आयात होने लगा। शीघ्र ही कपास, रेशम, बेलबूटेदार वस्त्र, कमख्वाब, मलमल तथा ताफता आदि योरोपीय आयात के सामानों में शामिल हो गये।

यूरोप से बाहर जाने वाली वस्तुओं में लकड़ी-हथियार तथा आरम्भ में दास प्रमुख थे। बाद में ऊनी सामानों का भी निर्यात होने लगा। ऊनी वस्तुओं के व्यापार में जिनेवा सबसे आगे था। वहाँ के ऊनी वस्त्र अपने लचीलेपन, कोमलता तथा टिकाऊपन के लिए प्रसिद्ध थे। अत: उनकी कीमत भी काफी मिलती थी। वस्त्र व्यापार में उनका वही महत्त्व था जो खाद्यानों में गरम मसालों का था। उत्तरी यूरोप में जर्मनी का वही व्यापारिक महत्त्व था जो दक्षिण में इटली का था। किन्तु जर्मन व्यापार अधिकांशत: कृषि-उत्पादनों पर आधारित था। वहाँ से गेहूँ शहद, लकड़ी, मछली और अलकतरा का निर्यात होता था। थोड़ा ऊन और नमक का भी निर्यात होता था। इन वस्तुओं की कीमत कम होने के कारण जर्मन व्यापारियों को इटालियनों की तुलना में मुनाफा भी कम होता था। चौदहवीं शताब्दी तक इंग्लैंड कृषि-प्रधान देश था। वहाँ से थोड़ा-बहुत कच्चा माल ही बाहर जाता था। वहाँ की जहाजरानी भी मध्ययुग के अन्त तक बहुत विकसित नहीं हो पायी थी। फ्रांसीसी उद्योग तथा व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय नहीं था। विदेशी व्यापारियों की फ्रांस में विशेष रुचि नहीं थी। बहुत थोड़ी मात्रा में नमक, रेशम तथा शराब का ही निर्यात होता था पिकार्डी में वोड (नीले रंग का पौधा) की खेती होती थी। इटली के वस्त्र व्यापारी इसका नील के रूप में व्यवहार करते थे। अरब विजेताओं के निष्कासन के बाद स्पेनी राज्यों का आर्थिक विकास तीव्र गति से हुआ। यहूदियों ने यहाँ के व्यापार में काफी धन लगाया था। बारसलोना दास-व्यापार का केन्द्र था। चौदहवीं शताब्दी से स्पेन के जहाज जिब्रालटर की खाड़ी के पार भी जाने लगे। स्पेन से विभिन्न प्रकार के धातुओं तथा ऊन का निर्यात होता था। यूरोप के सम्पूर्ण आयात-निर्यात की मात्रा का ठीक-ठीक अंदाज नहीं लगाया जा सकता है। आधुनिक व्यापार की तुलना में तो यह निस्संदेह नगण्य ही था।

उद्योग

योरोपीय नगर उद्योगों के प्रमुख केन्द्र थे। प्रत्येक छोटे-बड़े नगर में शिल्पी नगर की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा निर्यात के निमित्त वस्तुओं का निर्माण करते थे। विलासिता के उपकरण तैयार करने वाले कारीगर सभी नगरों में नहीं थे;

किन्तु दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले कारीगर जैसे नानवाई, कसाई, दर्जी, स्वर्णकार, कुम्भकार, तथा लुहार आदि प्रायः प्रत्येक नगर में उपलब्ध थे। प्रत्येक बड़े मैनर की तरह नगर भी अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन करते थे। आस-पास के इलाकों के किसान अन्न के बदले में शहर में निर्मित वस्तुओं को ले जाते थे।

औद्योगिक कानून खाद्यान्नों के कानूनों से कहीं अधिक संकुल थे। इनके द्वारा उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के हितों की समान रूप से रक्षा करने की चेष्टा की गई थी। प्रत्येक देश में इस उद्देश्य की पूर्ति शिल्पी-निकायों के माध्यम से होती थी। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में विभिन्न शिल्पी निकायों की स्थापना होने लगी। शासक-वर्ग ने भी शिल्पी निकायों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। बारहवीं शताब्दी के मध्य तक प्रायः प्रत्येक औद्योगिक नगर में ऐसे शिल्पी निकायों की स्थापना हो गई। यह सही है कि इस शिल्पी निकायों को किसी उद्योग विशेष को अपनाने से किसी को रोकने का अधिकार नहीं था, किन्तु अपनी श्रेणी में शामिल न होने वाले समान-कर्मी शिल्पियों पर ये दबाव तो डाल ही सकते थे। ये शिल्पी-निकाय कभी-कभी स्थानीय प्रशासन से पूर्ण स्वायत्तता की भी मांग कर बैठते थे, किन्तु औद्योगिक एकाधिकार के बदले में इन्हें राज्य को एक निर्धारित वार्षिक शुल्क भी देना ही पड़ता था।

यद्यपि विभिन्न शिल्प निकाय आन्तरिक स्वायत्तता तथा राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से सर्वत्र एक ही जैसे नहीं थे, उनका आर्थिक संगठन यूरोप में सर्वत्र लगभग एक जैसा ही था। हर जगह शिल्पी को न केवल बाह्य प्रतियोगिता, बल्कि आन्तरिक प्रतियोगिता, से भी बचाने का प्रयास होता था। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि एक शिल्पी दूसरों को नुकसान पहुँचाकर स्वयं अति समृद्ध न हो जाए। कार्य-अवधि, मूल्य, पारिश्रमिक, उपकरणों एवं कारीगरों की संख्या तथा निरीक्षण-विधि, सभी पूर्वनिश्चित थे। उत्पादन का उच्च स्तर बनाए रखने का सदैव प्रयास होता था। इससे उपभोक्ता को लाभ होता था। धोखाधड़ी अथवा लापरवाही के लिए कठोर दंड की व्यवस्था थी। सरकारी निरीक्षकों के आलावा आम जनता भी शिल्पियों की कार्य विधि पर कड़ी निगाह रखती थी। प्रत्येक शिल्पी निकाय के सदस्य मालिक, शिल्पिशिक्षार्थी तथा परसेवी शिल्पकारों में बंटे हुए थे। मालिक निर्माण-गृह, कच्चा माल तथा उपकरणों का स्वामी होता था। शिल्प-शिक्षार्थी उसकी देख-रेख में काम करते थे, क्योंकि किसी भी

नवसिखुआ को उत्पादन-कार्य नहीं सौंपा जाता था। परसेवी शिल्पकार वे लोग थे जो अपने कार्य में तो दक्ष थे, किन्तु मालिक बनने की स्थिति में नहीं थे। प्रत्येक निर्माण-गृह एक दुकान भी था जहाँ खरीदार सीधा उत्पादक से समान खरीद सकता था। अतः मध्यस्थों के लिए विशेष गुंजाइश नहीं थी।

किन्तु, नगर-उद्योगों का स्वरूप सर्वत्र एक-जैसा नहीं था। अधिक-विकसित नगरों में स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति करने वाले शिल्पियों के अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में ऐसे कारीगर भी थे जो केवल निर्यात के निमित्त ही समान तैयार करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करनेवाले व्यापारियों से ये लोग कच्चा माल प्राप्त कर उसे तैयार माल में बदल उन्हें सौंप देते थे। अतः उनकी स्थिति केवल परसेवी शिल्पियों की थी। इस तरह के बहुत से लोग रेशम, ताँबा, बुनाई तथा रंगाई के काम में लगे हुए थे। अधिकांश लोग वस्त्र-उद्योग से सम्बद्ध थे, क्योंकि मध्यकालीन यूरोप का यही उद्योग सर्वाधिक विकसित था। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में घेन्ट में चार हजार बुनकर थे, जबकि नगर की कुल आबादी ही पच्चास हजार के लगभग थी।

बड़े औद्योगिक नगरों के कामगारों को कभी-कभी संकटों और कार्य-निषेध का भी सामना करना पड़ता था। युद्ध अथवा कच्चा माल के यातायात में कमी के कारण जब निर्माण-कार्य बन्द हो जाता था तो हजारों कारीगर बेकार हो जाते थे। मालिकों, शिल्पशिक्षार्थियों की स्थिति तो फिर भी ठीक ही रह जाती थी परेशानी होती थी परसेवी कारीगरों को। ये रोज कमाने-खाने वाले लोग थे जिन्हे हफ्तावार मजदूरी मिलती थी। काम नहीं मिलने पर इनके मरने की नौबत आ जाती थी। सामान्य स्थिति में भी इनके साथ मालिकों का व्यवहार अच्छा नहीं था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि तेरहवीं शताब्दी से ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों से हड़ताल होने लगी। सन् १२७४ में घेन्ट बुनकरों की हड़ताल हुई। दूसरी ओर मालिक भी मजदूरों के साथ उत्तरोत्तर अधिकाधिक सख्ती से पेश आने लगे। भागने वाले तथा तोड़-फोड़ करने वाले मजदूरों को मौत तक की सजा दे दी जाती थी।

कृषि

बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक यूरोप की नब्बे प्रतिशत जनता गाँवों में रहती थी। इस तरह मध्यकालीन यूरोप निस्संदेह कृषि प्रधान था। ग्रामीण समाज मुख्यतः मेनर व्यवस्था पर आधारित था। अधिकांश जमींदारियाँ आठ-दस हजार एकड़ भूमि में फैली हुई थीं, यद्यपि कुछ इससे भी बड़ी थीं। मेनर की समस्त भूमि लगा-

तार न होकर दूर-दूर तक बिखरी रहती थी। मेनर व्यवस्था के प्रमुख लक्षण सभी देशों में प्रायः एक-जैसे थे। मेनर का केन्द्र सामंत का निवास-स्थान था जिसके चतुर्दिक् खलिहान, बरसार तथा घुड़सार इत्यादि होते थे। मेनर की समस्त भूमि तीन भागों में बंटी होती थी, स्वामी-सम्पदा—असामी की भूमि और आम जमीन। स्वामी-सम्पदा के अन्तर्गत वह सब भूमि आती थी जिसका स्वामी-सम्पदा उपयोग स्वयं सामंत करता था। असामी की भूमि उतनी होती थी जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाता था। मालिक और असामी, दोनों ही अपनी भूमि के आसपास के चारागाहों, दलदलों तथा जंगलों का समान रूप से उपयोग करते थे। इसे आम जमीन कहा जा सकता है। बाजार की कमी के कारण मेनर की उपज उतनी ही होती थी जिससे उसमें रहने वाले लोगों का काम चल जाता था। उत्पादन बढ़ाने अथवा कृषि में सुधार लाने के प्रयास नहीं के बराबर थे। बारहवीं शताब्दी के मध्य तक मेनरों की अधिकांश जमीन झाड़-झंखार से भरी हुई थी। इस तरह सामंतों एवं चर्च की अपार भू-सम्पदा का राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए समुचित उपयोग नहीं हो पाता था।

मालिक एवं असामी की जमीन के चारों ओर बिखरे होने के कारण जोतने, बोने तथा काटने का काम लगभग सबों को एक ही समय पर करना पड़ता था। पौधों के कुछ बढ़ने पर खेतों में बाड़े डाले जाते थे। फसल कटने पर गाँव के सभी मवेशी एक साथ ही ठूँठ को चरते थे। किसी व्यक्ति के रुग्ण अथवा पंगु हो जाने पर पड़ोसी उसकी सहायता करते थे। किन्तु बचत की आदत अभी तक किसानों को नहीं पड़ी थी। यदि कोई परिवार बहुत बड़ा था तो छोटे लड़के खेतों में झोपी डालकर फसल की रखवाली करते थे अथवा लफंगों के साथ इधर-उधर भटकते थे।

परन्तु, बारहवीं शताब्दी से यूरोप की कृषि व्यवस्था में परिवर्त्तन के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। अरबों, नार्शमेन और हंगेरियनों के आक्रमण के समाप्त हो जाने से दशम शताब्दी से यूरोप की आबादी बढ़ रही थी। मेनर प्रथा के अन्तर्गत बढ़ती हुई आबादी का भरण-प्रोषण संभव न था। अतः अनेक लोगों को आजीविका के अतिरिक्त साधनों की तलाश करनी पड़ रही थी। विशेषतः छोटे सामंतों के बड़े लड़कों को छोड़कर, शेष को बेकारी की समस्या सता रही थी। सामंतों के इन्हीं छोटे लड़कों में से अनेक प्रथम धर्म-युद्ध में शामिल हुए थे, बहुत से लोग नवोदित नगरों में जाकर उद्योग-व्यापार का काम करने लगे। जर्मनी के अनेक लोग एल्बी तथा सेल के तटवर्ती स्लाव प्रदेशों में जाकर बस गये।

पहले कहा जा चुका है कि कृषि-व्यवस्था में सुधार लाने में सामंतों को विशेष अभिरुचि नहीं थी। परिवर्तित सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों, नगरों के उदय तथा वाणिज्य व्यापार में वृद्धि का भी उनके दृष्टिकोण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु कुछ मठवासी कृषि विधि में सुधार लाने के निमित्त विशेष सचेष्ट थे। इनमें सिसटर्सियन प्रमुख थे, सिसटर्सियन मठों की स्थापना ज्यादातर उजाड़, जंगली तथा कृषि रहित इलाकों में हुई थी। उन्होंने जंगल-झाड़ को साफ कर विशाल कृषि-क्षेत्रों की स्थापना की थी। इनमें अधिकांश पांच-सात सौ एकड़ से भी बड़े थे। मठवासी, बाह्य अनुयायियों तथा भाड़े के मजदूरों की सहायता से इनमें खेती करते थे। इन सिसटर्सियन कृषि-क्षेत्रों में न तो कम्मिये थे न बेगार करने वाले। मेनरों से ये नये फार्म सर्वथा भिन्न थे। इनका संचालन केन्द्रीभूत ठोस तथा मुनाफा के सिद्धान्त पर आधारित था। मठों की तरह मेनरों तथा गांवों से निकले हुये लोगों ने भी जंगलों, झाड़, दलदलों को ठीक कर कृषि योग्य बनाया। इस तरह अनेक नई बस्तियों तथा कृषि क्षेत्रों की स्थापना हुई। इनमें सर्वत्र मुक्त-श्रमिक काम करते थे और कम्मी-प्रथा का सर्वथा अभाव था। यहाँ किसी सामंत की भू-सम्पदा तो थी नहीं, अतः प्रत्येक किसान अपनी जमीन का अधिक से अधिक अच्छा उपयोग करता था। ये किसान सामंती करों तथा सेवाओं से भी मुक्त थे। अपने मेनर की देखरेख में इन्हें प्रशासानिक स्वायत्तता भी प्राप्त थी। धीरे-धीरे अपनी जमीन पर इन नये किसानों का लगभग पूरा अधिकार हो गया और उस क्षेत्र का सामंत केवल नाममात्र की मालगुजारी का ही हकदार रह गया। वाणिज्य व्यापार में उन्नति, नगरों की स्थापना और लोगों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण एक ओर मुद्रा में वृद्धि हुई तो दूसरी ओर दाम भी ऊँचे होते गये। इसका भी किसानों को पूरा लाभ हुआ। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में उन्नति के कारण अब किसान अन्न के अतिरिक्त ऐसे फल भी उगाने लगा जिनसे उसे अधिक आय होती हो इंग्लैंड के सिसटर्सियन मठ काफी मात्रा में ऊन बेचते थे। फ्रांस तथा टसकनी आदि में वोड की अधिक खेती होने लगी। जहाँ शराब बनाने तथा ढोने की सुविधा थी, वहाँ कृषि भूमि का स्थान अंगूर के बागों ने ले लिया। प्रशा में अन्न की उपज अधिक होने लगी क्योंकि अतिरिक्त

अन्न के लिए उत्तरी यूरोप में बाजार उपलब्ध था जैसे-जैसे कृषि कर्म अधिक लाभ-प्रद होता गया, नगरों के नवोदित धनी और स्वयं किसान जमीन खरीदने में पूंजी लगाने लगे। कृषि-कर्म की बढ़ती हुई उपयोगिता के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि खेती के तरीके अभी भी प्राचीन और रूढ़िग्रस्त थे। खाद का उपयोग नहीं के बराबर था। अर्द्धदासप्रथा के समाप्त हो जाने के बाद भी किसान के शोषण तथा उत्पीड़न की प्रक्रिया पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। किसानों के राजनीतिक अधिकार तो सीमित थे ही, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बहुत ऊँची नहीं थी।

अध्याय १८

सभ्यता और संस्कृति

विभिन्न वर्ग

मध्यकालीन योरोपीय समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त था। सर्वोच्च वर्ग पादरियों का था जो ईश्वर की सेवा के साथ-साथ जन-सामान्य की मुक्ति के निमित्त प्रयत्नशील रहता था। दूसरा वर्ग सामंतों का था जो चर्च एवं समाज की इनके शत्रुओं से रक्षा करता था। तीसरा वर्ग उन लोगों का था जो पहले दो वर्गों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। यद्यपि नगरों के उदय के कारण यह तीसरा वर्ग धीरे-धीरे पूंजीजीवी तथा किसान दो उप-वर्गों में विभक्त हो रहा था, समाज के तीन वर्गीय विभाजन का विचार ही प्रमुख था। फिर भी, वास्तविक सामाजिक जीवन में यह तीन-वर्गीय विभाजन प्रायः लुप्त होता जान पड़ता था; क्योंकि उच्च पादरी सामंतों की तरह रहते थे और छोटे पादरी सामान्य किसान से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ते थे। पूंजीजीवी वर्ग की विचार-शैली तथा जीवन-यापन की विधि किसानों से सर्वथा भिन्न थी।

समाज में लोगों का यह निश्चित मत था कि तीनों वर्गों का विभाजन दैवी-इच्छा पर आधारित था तथा प्रत्येक वर्ग को अपनी स्थिति से संतुष्ट रहना चाहिए। वर्ग-विशेष के सदस्यों को ईश्वर ने उसी वर्ग के लायक गुणों के साथ जन्म दिया है, अतः किसानोचित गुणों से युक्त व्यक्ति सामंत नहीं बन सकता। किन्तु वंशानुगत सामंती का विचार धीरे-धीरे विकसित हुआ और बारहवीं शताब्दी तक यही समझा जाता था कि किसान माता-पिता का पुत्र भी उचित प्रशिक्षण प्राप्त कर सामंत-पद को प्राप्त कर सकता था। जब तक समाज में सामंतों तथा किसानों के ही दो वर्ग रहे, तबतक सामंत इस विचार को प्रश्रय देते रहे क्योंकि बहुत कम किसान सामंतों की श्रेणी में प्रवेश कर पाते थे। किन्तु, नगरों के उदय के कारण स्थिति बदल गयी क्योंकि नगरवासी आर्थिक क्षेत्र में सामंतों की बराबरी करने लगे। अतः वंशानुगत सामंत-पद के सिद्धांत पर अब जोर दिया जाने लगा। इसका प्रमुख उद्देश्य पूंजी-जीवी वर्ग को सामंतों की श्रेणी से बाहर रखना था।

पादरी वर्ग

मध्यकालीन योरोपीय समाज पर पादरी वर्ग का गहरा प्रभाव था। प्रत्येक देश के प्रायः सभी भागों में अनेक गिरजाघर थे। इसमें कुछ छोटे थे तो कुछ बड़े। गांव का गिरजाघर ग्राम-जीवन का प्रमुख केन्द्र था। यह न केवल उपासना-गृह था बल्कि चौक-बाजार का सर्वाधिक आकर्षण-स्थल भी था। गिरजाघर मजबूत बनाये जाते थे जिसमें कि युद्ध-काल में इनका आश्रय-स्थान के रूप में भी उपयोग किया जा सके। सुन्दर नक्काशी, चमकदार शीशों तथा पट्टियों से इन्हें सजाया जाता था। इस तरह यदि बाजार नगर अथवा गांव का हृदय था, तो गिरजाघर उसकी आत्मा था। नगर अथवा गांव की श्रमिक श्रेणी गिरजाघर में विशेष वेदी तथा उपासना-गृह का निर्माण कराती थीं। गिरजाघर की ड्योढ़ी में प्रायः दुकानें हुआ करती थीं जहां व्यापारीगण एकत्रित होते थे। गिरजाघर की घंटी न केवल लोगों का पूजा समारोह के निमित्त आह्वान करती थी, बल्कि उन्हें खतरे की सूचना भी देती थी। विशेष अवसरों पर तो घंटी बजायी ज ती थी, साथ ही लोगो का यह भी विश्वास था कि घंटी की ध्वनि में तूफान तथा भूत-प्रेत से रक्षा करने की भी शक्ति थी।

पादरी-वर्ग का प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित हो, सो बात नहीं थी। गैर-धार्मिक मामलों में भी इस वर्ग का प्रभाव था, क्योंकि अनेक पादरी बड़े भू-स्वामी भी थे। अन्य सामंतों की ही तरह, बड़े पादरी भी अपना पावना वसूलते थे। सैनिक सेवा की जगह वे रुपये ले लेते थे। जिन राजाओं अथवा शक्तिशाली सामंतों से उन्हें भूमि मिली होती थी उनका सामंती पावना वे स्वयं भी चुकाते थे। छोटे सामंत अक्सर पादरियों से कर्ज लेते रहते थे। आर्कबिशप, बिशप तथा मठाधीश राजाओं के परामर्शदाता भी होते थे। अतः उनका राजनीतिक प्रभाव भी मामूली न था। उनकी व्यक्तिगत आय कभी-कभी बहुत अधिक होती थी। उनके भड़कीले वस्त्रों, सुन्दर प्रासादों, घोड़ों तथा रत्नों को देखकर ही कुछ लोगों ने सुधार की आवश्यकता पर बल दिया था।

पादरियों में निम्नतम स्थान पल्ली-प्रदेश के पुरोहित का था। ये पुरोहित साधारणतः किसानों अथवा शिल्पियों के पुत्र होते थे। बचपन में ही चर्च की सेवा का व्रत लेकर मामूली वजीफों के एवज में चर्च का छोटा-मोटा काम करने लगते थे। गांवों में गिरजाघर का निर्माण प्रायः मैनर के स्वामी द्वारा कराया जाता था। अतः उसे पल्ली-पुरोहित की नियुक्ति अधिकार रहता था। वही पुरोहित का वेतन भी निश्चित करता था। पुरोहित को एक मकान के अलावा कुछ जमीन भी दी जाती

थी। ग्रामवासी अपनी आमदनी का दसवां भाग चर्च के खर्च के लिए देते थे। पल्ली-पुरोहित साधारणतः अल्पज्ञ होते थे। पुरोहित नियुक्त किये जाने से पहले बिशप द्वारा उनकी परीक्षा ली जाती थी। किन्तु यह परीक्षा केवल नाममात्र की थी और अधिकांश पुरोहित न तो लैटिन बोल सकते और न लिख पाते थे। प्रार्थना के लिए भी वे अक्सर स्थानीय भाषा का ही उपयोग करते थे। कुछ पेशेवर लोग उनके लिए प्रार्थना तथा उपदेश का प्रारूप तैयार कर देते थे। कभी-कभी चर्च के उच्चाधिकारी तक लैटिन भाषा नहीं जानते थे। अधिकांश पल्ली-पुरोहित किसानों की तरह ही रहते थे। उन्हें खेत-खलिहान में परिश्रम करने के साथ-साथ अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को भी निभाना पड़ता था। जन्म, विवाह तथा मृत्यु से सम्बद्ध संस्कार उनके बिना पूरे नहीं माने जाते थे। फिर भी मजे की बात यह थी बहुत कम लोग उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनके किसान परिवारों में जन्म लेने के कारण सामंत उन्हें हेय दृष्टि से देखते ही थे, उनका अपना जीवन भी इतना दोषपूर्ण था कि उनके प्रति अश्रद्धा होना ही स्वाभाविक था। मगजीदार लम्बी बाँह वाली पोषाक, नोकदार जूता और तलवार से सज्जित पुरोहित चक्रस्पर्धा में भाग लेनेवालों की वाहवाही करते देखे जा सकते थे। कुछ पुरोहित गिरजाघरों को भाड़ा पर लगा देते थे तो कुछ सोना-चाँदी के पूजा-पात्रों तक को बेच डालते थे। उनके अनैतिक जीवन का जन-साधारण पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता था। कई ग्रामवासी गिरजाघर की ड्योढी में ही जुआ खेलने बैठ जाते तो कुछ लोग गिरजाघर में ही लड़ने लगते थे।

अंधविश्वासों का सर्वत्र बोलबाला था। गाँव में रहनेवालों के लिए तो धर्म और चमत्कार में अभिन्न सम्बद्ध था। अनेक किसान बपतिस्मा का जल गुप्त रूप से अपनी फसलों पर छिड़कते थे अथवा अपने पशुओं को पिला देते थे। संतों के अवशेषों का धर्म में विशेष महत्त्व था। कई गिरजाघरों तक हजारों तीर्थयात्री केवल इसीलिए पहुँचते थे कि उनमें रखे किसी संत के अवशेष के बारे में उनका विश्वास था कि उसके दर्शन अथवा स्पर्श मात्र से व्याधियाँ दूर हो जाती थीं। कभी-कभी कई गिरजाघर एक साथ ही किसी विशेष अवशेष का अपने यहाँ होने का दावा करते थे। इसमें झगड़ों की शुरुआत होती थी। अज्ञात संतों के अवशेषों की खरीद-बिक्री भी धड़ल्ले के साथ चलती थी। बुद्धिमान और गम्भीर पादरीगण निस्संदेह अज्ञान, अंधविश्वास तथा चमत्कार के विरोधी थे, किन्तु उनका प्रभाव सीमित था। फिर भी चर्च ज्ञान, कला, चिकित्साशास्त्र तथा कानून का संरक्षक था।

गरीब तथा रुग्ण व्यक्तियों को इससे सहायता मिलती थी और वैज्ञानिकों, चिकित्सकों तथा लेखकों को प्रश्रय मिलता था। किन्तु, यह सब गिरजाघरों द्वारा न होकर मठों के द्वारा ही होता था।

ईसाई मठ आत्मनिर्भरता के प्रतीक थे। इनके अपने निर्माणकक्ष, खेत, बाग तथा खलिहान होते थे जिनमें संसार से विरक्त भिक्षु काम करते थे। ये भिक्षु एक साथ ही खाते-सोते थे। पर्याप्त सरायों के अभाव में मठों का आतिथ्य-कक्ष तीर्थयात्रियों के काम आता था। मठ के आस-पास छोटे-छोटे मकानों में पाकशाला, नानबाई, भट्ठी, निर्माण कक्ष तथा धुलाईघर स्थित थे। मठवासियों का जीवन काफी व्यस्त होता था। आधी रात को घंटी की आवाज पर उठकर इन्हें विशेष प्रार्थना करनी पड़ती थी। तदुपरान्त, ये सुबह तक सोते रहते थे। सुबह उठकर ये प्रातःकालीन प्रार्थना में भाग लेते थे। सुबह से दोपहर तक का समय अध्ययन चिंतन तथा अन्य कार्यों में लगाया जाता था। दोपहर के भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम किया जाता था। तदुपरांत, मठवासी लेखन, प्रतिलिपि तैयार करने, बाग में काम करने, मछली मारने चमड़ा सुखाने, मूर्त्ति बनाने, रोटी सेंकने अथवा शराब तैयार करने जैसे विभिन्न कार्यों में लग जाते थे। संध्याकालीन प्रार्थना तथा भोजन के बाद भिक्षु विश्राम करते थे। मठों का संचालन मठाधीशों द्वारा होता था। मठाधीश के नीचे सहायक मठाधीश होता था। मठों की दूरस्थ शाखाओं में भी सहायक मठाधीश होते थे। सभी भिक्षु दैन्य, सच्चरित्रता और आज्ञाकारिता की शपथ लेते थे, किन्तु मठाधीशों तथा सहायक मठाधीशों का जीवन समृद्ध होता था क्योंकि ये लोग अधिकांशतः सामंत परिवारों से आते थे। प्रमुख व्रतों के अतिरिक्त भिक्षुओं को एक निश्चित आचार-संहिता का पालन करना पड़ता था। कालांतर में, प्रायः सभी मठों में आचार-संहिताओं का केवल नाममात्र का परिपालन होने लगा। इससे एक लाभ भी हुआ। सादगी के नियमों के उल्लंघन के फलस्वरूप प्रतिलिपि-लेखन, संगीत, मूर्त्ति-निर्माण, चित्रकारी, नक्काशी तथा स्थापत्य को प्रोत्साहन मिला। संत डेनिस के मठाधीश सुगेर ने स्थापत्य को प्रोत्साहन दिया। क्लुनी के मठाधीश स्टेफन हार्डिंज ने बाईबिल के एक परिष्कृत संस्करण को निकाला और चर्च-संगीत के विकास को बढ़ावा दिया। मठों की बढ़ती हुई अत्यधिक सांसारिकता की सहज स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी हुई और अनेक सुधारकों ने मठ-व्यवस्था के विस्मृत आदर्शों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास भी किया। ऐसे सुधारकों में संत बरनार्ड सर्वाधिक विख्यात हुआ। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ्रांस के धार्मिक जीवन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। चर्च के

सर्वोच्च पदाधिकारियों की भी उसने कड़ी आलोचना की। अपने कठोर नियमों के परिपालन के लिए उसने क्लेरभाक्स में मठ की स्थापना की। इस मठ के भिक्षु दिन-रात में केवल एक बार भोजन करते थे, यद्यपि उन्हें बारह घंटों तक काम करना पड़ता था भिक्षुओं की ही तरह भिक्षुणियों के भी अनेक मठ थे। उनका जीवन भी लगभग भिक्षुओं की तरह निश्चित अनुशासन पर आधारित था। सामान्यत: भिक्षुणी-मठ भिक्षु-मठों की तरह समृद्ध नहीं थे। फिर भी जैसा कि चौसर के वर्णन से पता चलता है कुछ भिक्षुणियाँ भी अनेक भिक्षुओं की तरह अत्यधिक सुखमय जीवन यापन करती थीं।

सामंत वर्ग

मध्ययुग में प्रत्येक व्यक्ति का समाज में अपना निश्चित स्थान था। सामंत भी इसके अपवाद नहीं थे। "पादरी का काम ईश्वर की प्रार्थना करना था, सामंत का काम न्याय करना तथा किसान का काम सबों के लिए रोटी जुटाना था।" एक जोतता था, दूसरा प्रार्थना करता था तो तीसरा रक्षा करता था। तीनो अपना-अपना काम करते थे जिससे सामाजिक ऐक्य बना रहता था। यदि सामंत अच्छा खाता-पहनता था तो इसीलिए कि वह कुशल प्रशासन प्रदान करने के साथ-साथ अपनी तलवार से आश्रित व्यक्तियों की रक्षा भी करता था।

सामंत-वर्ग में भी अनेक उप-वर्ग थे। थोड़ी भूमि और छोटे मेनर के स्वामी स्क्वायर से लेकर विशाल भू-सम्पदा के स्वामी काउंट तक थे। किन्तु उन सबों में एक अर्थ में साम्य था कि सभी अभिजात वर्ग के थे। इस तरह कम-से-कम सैद्धांतिक रूप में एक ग्रामीण नाइट का भी रक्त उतना ही पवित्र था जितना किसी राजा का, यद्यपि पहले की शक्ति अत्यन्त सीमित थी। कमोवेश सभी सामंतों को एक ही प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। तत्काल निर्णय, शारीरिक क्षमता, आदेश और आज्ञा-पालन के गुण उनमें शुरू से ही विकसित किये जाते थे। उनके प्रशिक्षण में युद्ध विद्या का सर्वोच्च स्थान था यद्यपि आखेट, उचित खान-पान, अश्व परिपालन आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

सामंत भूमिपति और सैनिक का मिश्रित रूप था। योद्धा के रूप में वह अपने सामंती कर्त्तव्यों का पालन करता था। अधिक शक्तिशाली होने पर वह अपने पड़ोसी सामंतों से भी लड़ लेता था। भूमिपति के रूप में उसके अपने किसानों के प्रति कर्त्तव्य थे। सामंती कचहरी में बैठकर वह न्याय करता था। छोटे सामंत अपनी

जागीर से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयास करते थे। ऐसे सामंतों के पास दो-तीन सौ एकड़ भूमि होती थी और प्रायः दो दर्जन असामी। सामंती अधिपति के आह्वान पर इन्हें दो-तीन सैनिकों के साथ स्वयं भी मोर्चे पर जाना पड़ता था। सबसे बड़े सामंतों के पास शक्तिशाली किलों के अतिरिक्त हजारों एकड़ भूमि होती थी। ये साधारणतः राज-परिवारों से सम्बद्ध होते थे। ये अर्ल-काउंट तथा ड्यूक राज परिषद् में बैठते थे और राज्य के प्रशासन में सहयोग करते थे। उनसे छोटे सामंत न्याय करने के अलावा राजकीय कर वसूल करते थे। कुछ बड़े सामंतों की सेवा में राजा की ही तरह पुरोहित, खानसामा, अन्तःपुर-प्रहरी, कुली, किरानी और दर्जनों नौकर-चाकर होते थे। किन्तु साधारण सामंतों का जीवन सामान्य जन से अधिक भिन्न नहीं था। छोटे मेनर-गृहों की रचना और सजावट मामूली होती थी। समृद्ध सामंत अच्छा खाने-पीने के अलावा बाहरी दुनिया की भी खोज-खबर रखते थे, किन्तु मामूली सामंत सामान्य खान-पान के साथ-साथ बाह्य जगत की घटनाओं के प्रति प्रायः उदासीन रहते थे। संगीत तथा नृत्य में प्रायः सबों की रुचि थी। दाढ़ी संभवतः लोग सप्ताह में एक दिन ही बनाते थे, किन्तु केश-विन्यास की ओर लोगों का विशेष ध्यान था। नवीनतम तरीके से केश कटाकर सुनहरी टोपी धारण करना आम बात थी। गाउन अथवा कोट या तो सूती होते थे। अधिकांश सामंत रंगीन तथा भड़कीले वस्त्रों का उपयोग करते थे। सुबह मुँह-हाथ तो सभी धोते थे, किन्तु स्नान शायद मास में एकाध बार ही करते थे। साबुन का उपयोग केवल कपड़े धोने के लिए होता था, स्नान के लिए नहीं। गहनों की संख्या, गले की सिकड़ी तथा अंगूठी तक ही सीमित थी। मध्यकालीन सामंत सहृदयता और कठोरता का मिश्रित रूप था। एक ही साँस में वह श्रद्धा-शिष्टाचार तथा शत्रु की क्रूर हत्या की भी बात कर सकता था। आधुनिक मापदंडों के आधार पर उसे बहुत शालीन नहीं कहा जा सकता। अंगुलियों से नाक साफ करना, अचानक क्रोधित होकर पत्नी को पीट देना, नौकरों पर टूट पड़ना, अचानक रोने लगना, खाते हुए छिलका आदि जमीन पर गिराते जाना आदि उसकी बुरी आदतें थीं। किन्तु मध्ययुग में लोग उसे सुसंस्कृत, परिष्कृत तथा शिष्ट समझते थे।

सामंतवर्ग की स्त्रियाँ भी समान रूप से आकर्षक जीवन व्यतीत करती थीं। अपने को सजाना तथा विभिन्न प्रकार के खेल खेलना ही उनका प्रमुख काम था, परन्तु मेनर की मालकिन के रूप में उन्हें कई प्रकार के कर्तव्य भी निभाने पड़ते थे। किला अथवा मेनर के नौकरों की निगरानी करना उनका काम था।

देनेवाले पशुओं, बगीचा, रसोईघर तथा नानबाई पर भी उन्हें ध्यान देना पड़ता था। कढ़ाई-बुनाई का काम भी साधारणतः उन्हीं के जिम्मे था। कई सामंत महिलाएँ लिखाई-पढ़ाई, काव्य-लेखन तथा संगीत आदि में भी रुचि लेती थीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि जब सामंत किसी युद्ध में व्यस्त रहते थे तो जागीर की देख-भाल का सारा बोझ उनकी स्त्रियों पर आ पड़ता था। किसी-किसी को तो जागीर की रक्षा के लिए स्वयं शस्त्र तक धारण करना पड़ता था। आखेट, घुड़सवारी, व्यायाम तथा शस्त्र-संचालन के कारण सामंत का स्वास्थ्य तथा नैतिक बल साधारणतः उच्च कोटि का होता था।

सामान्य जन

मध्यकालीन यूरोप की प्रायः नब्बे प्रतिशत जनता आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर थी। जाड़ा-धूप-बरसात की चिन्ता किये बिना किसानों को सुबह से शाम तक खटना पड़ता था। वस्तुतः यूरोप की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था ही कृषि पर आधारित थी। रोटी, मांस ऊन तथा चमड़ा जिनकी आवश्यकता पूरे यूरोप को पड़ती थी, गाँव से ही आते थे। मुद्रा के अभाव में सम्पत्ति का आकलन भूमि, पशु तथा अनुयायियों के ही आधार पर होता था। किन्तु, दुर्भाग्य की बात यह थी कि उन सभी वस्तुओं को उपलब्ध करनेवाला किसान स्वयं भूखा-नंगा रहता था। भरपेट भोजन तथा पर्याप्त वसन उसे शायद ही कभी मिल पाता हो। इस असमानता की किसी को चिन्ता भी नहीं थी। अनेक पादरियों का कहना था कि यह सब प्रभु की इच्छा के अनुकूल ही था।

सम्पूर्ण समाज के लिए खून-पसीना एक करने के बावजूद किसानों सबों की दृष्टि में अत्यन्त गन्दा, पशुवत तथा कुत्सित जीव था। एक लेखक के विचार में "किसान का माथा ऐसा वज्र होता है कि उसमें किसी विचार का प्रवेश हो ही नहीं सकता।" एक अन्य लेखक की दृष्टि में "शारीरिक दुर्गन्ध के कारण उन्हें नर्क में भी प्रवेश दुर्लभ है।" उनके विषय में कहा जाता था कि "वर्षा छोड़ अन्य किसी प्रकार का जल उनके चेहरे को नहीं छूता था, सुगन्ध से वे बेहोश हो जाते थे और केवल गोबर से ही वे होश में आते थे।" हजारों किसान अपने स्वामियों के साथ युद्ध-क्षेत्र में जाते थे, किन्तु जब मृतकों की गणना होती थी तो उन्हें कोई याद नहीं करता था। गाँव में रहनेवालों को विलेन कहा जाता था। और यह शब्द केवल एक अक्षर बदल कर आज दुरात्मा का पर्यायवाची बन गया है। किसान अज्ञानता

के मूर्त्त रूप थे। अपनी भाषा का भी ज्ञान उन्हें नहीं के बराबर था। वस्तुतः उनकी परिगणना मनुष्य के रूप में होती ही नहीं थी। एक पादरी की दृष्टि में "ये गँवार पशुओं की श्रेणी के हैं। वस्तुतः किसानों में अनेक गुलाम थे। वे जमीन से बँधे हुए थे और मालिक की अनुमति के बिना कहीं आ-जा नहीं सकते थे। जमीन के साथ-साथ उनकी भी बिक्री हो जाती थी। एक साथ ही उन्हें दो व्यक्तियों के हाथ भी बेचा जा सकता था। कम्मिये मालिक की आज्ञा के बिना विवाह नहीं कर सकते थे। उनके बच्चों को उनसे लुटकर अलग-अलग बेंचा जा सकता था। एक स्वतंत्र व्यक्ति से विवाह कर कम्मिये मुक्त हो सकते थे, किन्तु ऐसी स्थिति में उन्हें स्वामी की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। कम्मियों का ज्यादातर उपयोग कृषि कार्य के लिए होता था, किन्तु साथ ही उन्हें अन्य प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। उन्हें अनेक कर भी देने पड़ते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके बच्चों को मृत्यु कर (हेरिऑट) देना पड़ता था। यह कर सम्पत्ति का सर्वश्रेष्ठ भाग होता था जैसे सुअर-भेड़ अथवा कांसे का कोई बर्तन।

अधिकांश किसान स्वतंत्र जन थे जिन्हें सामंती अधिपति से कर अथवा सेवा के बदले में जमीन मिली होती थी। साधारणतः सामंत अपने असामियों से अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करते थे। दूसरी ओर असामियों की कोशिश रहती थी कि उन्हें कम से कम काम करना पड़े। स्वतंत्र किसान भी करों से पूरी तरह मुक्त नहीं थे, कई मेनरों के किसानों को अपने मालिक की चक्की में आटा पिसवाना पड़ता था तथा उसके तन्दूर में ही रोटी पकवानी पड़ती थी। कभी-कभी अपनी भेड़ों को उन्हें मालिक के खेतों में ही चराना पड़ता था जिससे खेत की उपज बढ़ सके।

आमोद प्रमोद

ग्राम्य-जीवन केवल कठिनाइयों से परिपूर्ण हो, सो बात नहीं थी। अनेक पर्व-त्योहार तथा उत्सव थे जिन्हें पूर्ण उत्साह के साथ मनाया जाता था। बड़ा दिन का उत्सव नृत्य-संगीत तथा प्रीतिभोज द्वारा मनाया जाता था। ईस्टर के अवसर पर विशेष प्रकार के केक बनते थे। गिरजाघर जाना ही अपने आप में एक प्रकार का उत्सव था। कुछ लोग गिरजाघर की ड्योढ़ी में ही गा-बजाकर अपना मनोरंजन करने लगते थे। एक तरह के फुट-बौल, कुश्ती तथा प्रारंभिक किस्म की हॉकी में भी लोगों की रुचि थी। जाड़े में स्केटिंग भी लोकप्रिय खेल था। इंग्लैंड में धनुर्विद्या में लोगों की सर्वाधिक रुचि थी। मछली मार कर भी लोग अच्छा खासा मनोरंजन

कर लेते थे। किन्तु, मध्यकाल का सर्वश्रेष्ठ मनोरंजन मेला-बाजार से सम्बद्ध था : किसी नगर अथवा बड़े गाँव के मुख्य बाजार में दुकानें सज जाती थीं। मेलों में तरह-तरह के सामान बिकते थे। मवेशी, हथियार से लेकर खाने-पीने के सामान तक यहाँ बिकते थे। बाजीगर तथा मदारी अपना करतब दिखाते थे। नीमहकीम तरह-तरह की दवा बेचते थे। भीड़-भाड़ के कारण गिरहकट्टों की भी बन आती थी।

सामरिकता

मध्यकालीन योरोपीय नाइटों के लिए लड़ना-भिड़ना मामूली बात थी। सामंत योद्धाओं का आधा जीवन युद्ध करने और शेष जख्मों को सहलाने में व्यतीत होता था। चक्रस्पर्द्धा द्वारा नाइट युद्धकला का अनुभव प्राप्त करता था। उत्तराधिकार के प्रश्न अथवा सीमा-विवाद के कारण सामंत तथा राजागण आपस में लड़ते-भिड़ते ही रहते थे। इन सभी छोटी-बड़ी लड़ाइयों में सबसे अधिक नुकसान किसानों तथा नगरवासियों का ही होता था, क्योंकि विरोधी पक्ष एक दूसरे के गाँव, नगर, खेत-खलिहान जला डालते थे। कभी-कभी नगरों का घेरा डालकर भी आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया जाता था। बंदी सामंत की प्रजा को अपने स्वामी को छुड़ाने के लिए प्रायः भारी रकम निस्तार धन के रूप में देनी पड़ती थी। चर्च ने इन निरंतर होनेवाले युद्धों को रोकने का प्रयास भी किया था, किन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली थी।

मध्यकालीन योरोपीय सामरिकता बर्बरता और शौर्य का मिश्रित रूप थी। राजा अपने शत्रु के पास दूत भेजकर युद्ध का आह्वान करते थे। युद्धों का आरंभ कभी-कभी व्यक्तिगत् द्वन्द्व द्वारा होता था। युद्ध के दौरान भी कभी कभी दो सूरमाओं के द्वन्द्व को देखने के लिए लड़ाई स्थगित कर दी जाती थी। इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच सौ-वर्षीय युद्ध में ऐसी कई घटनाएँ घटित हुईं। किन्तु शौर्य के साथ-साथ बर्बरता का प्रदर्शन भी अक्सर होता था। फौज में आग लगाने वालों को विशेष तौर पर शामिल किया जाता था कुछ सैनिक विरोधी पक्ष के घायल सैनिकों की हत्या करने के लिए उनपर टूट पड़ते थे। कभी-कभी किसी नगर विशेष के सभी निवासियों की हत्या कर दी जाती थी। साधारणतः जबकि सामान्य सैनिकों की हत्या की जाती थी। बैरनों को निस्तार धन के लालच में बंदी बनाकर रखा जाता था। इसीलिए सैनिकों की कोशिश रहती थी कि वे विरोधी पक्ष के किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को बंदी बना लें। राजा भी बंदी बनाये जाने से नहीं बचते थे, यद्यपि उनके साथ भद्र व्यवहार किया जाता था।

युद्धों पर खर्च भी काफी पड़ता था। कुछ विशेष शस्त्रों का मूल्य भी पर्याप्त होता था। एक अच्छे जिरह-बख्तर की कीमत १५० डेनियर तक होती थी, प्रशिक्षित युद्ध के घोड़े की कीमत १६ से २५ पौंड तक होती थी। एक अच्छे धनुर्धर को प्रतिदिन ६० डेनियर तथा नाइट को १२० डेनियर दिया जाता था। प्रत्येक सामंत घोड़ों तथा शस्त्रों पर काफी खर्च करता था। अंत में सारा बोझ किसानों पर ही पड़ता था, इसलिए उनकी आर्थिक स्थिति का कमजोर होना स्वाभाविक था। आगे चलकर जब अस्त्र-शस्त्र अधिक मजबूत तथा सुन्दर बनने लगे, तो उनका मूल्य भी बढ़ने लगा। जिरह-बख्तर, ढाल, शिरस्त्राण, भाला, बर्छी, चाकू तथा मुग्दर ही प्रमुख आयुध थे। सेना युद्धक्षेत्र में साधारणतः तीन भागों में विभक्त रहती थी—अग्रिम भाग, मध्य तथा पृष्ठारक्षी। राजा सामान्यतः मध्य भाग में ही रहता था। किलों का घेरा डालना भी आम बात थी। रक्षकों को परास्त कर अथवा उनकी रसद काटकर किले पर अधिकार किया जाता था। घेराबन्दी के प्रमुख अस्त्र थे पाषाण-क्षेपक यन्त्र, पाषाण-क्षेपक फन्द तथा तीर-क्षेपक यन्त्र। पहियादार काठ के चबूतरों का उपयोग किले की दीवार पर चढ़ने के लिए किया जाता था। चौदहवीं शताब्दी के मध्य से तोपों का भी उपयोग किया जाने लगा। इनसे भी पत्थर के ही गोले बरसाये जाते थे, यद्यपि इनकी उपयोगिता सीमित थी। तेल, अलकतरा और गंधक को मिलाकर 'ग्रीक-फायर' नामक आग्नेय अस्त्र बनता था। इसका उपयोग किलों का घेरा डालनेवाली सेना के विरुद्ध किया जाता था।

युद्ध का वास्तविक रूप था वर्मयुक्त योद्धाओं के बीच आमने-सामने का युद्ध। किलों का घेरा डालने वाली फौज के खिलाफ भी किलों में से छोटे-छोटे युद्धक दल प्रायः भेजे जाते थे। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वक्राकार धनुष की जगह लम्बे धनुषों का उपयोग शुरू हुआ। इनकी मार घातक होती थी। सन् १३४६ ई० में क्रेसी की लड़ाई में अंग्रेजों ने फ्रांस के खिलाफ इन धनुषों का सफल प्रयोग किया। धीरे-धीरे लम्बे धनुषों ने छोटे धनुषों का स्थान ले लिया। घुड़सवार सेना भी इनके सामने बेकार सिद्ध होने लगी। वर्म अधिक से अधिक मोटे बनाये जाने लगे। किन्तु इससे भी कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। सर्वश्रेष्ठ वर्म और शिरस्त्राण उत्तरी इटली में बनते थे। इनका मूल्य भी अत्यधिक होता था। चौदहवीं शताब्दी के अंत तक गोला बारुद का प्रचलन हो चुका था। अतः धीरे-धीरे वर्म, शिरस्त्राण तथा लम्बे धनुषों का महत्त्व भी घटने लगा। शुरू में तोपें लोहा के अतिरिक्त कांसा, तांबा और लैटेन, की बनती थीं। प्रारंभिक तोपें लोहे की नली को जोड़कर

बनायी जाती थीं। स्वभावतः जोड़ वाला भाग कमजोर रह जाता था। कांसा से ढाली हुई तोप सबसे अच्छी होती थी। 'हैंडगोंस' जैसी छोटी तोपों से लेकर दो टन की 'मेसेजर' जैसी विशाल तोप भी बनती थी। कभी-कभी एक से अधिक नली वाली तोप भी बनाई जाती थी। इन तोपों की मारक शक्ति सीमित थी क्योंकि दूरी मापने एवं सटीक निशाना लगाने के उपकरणों का इनमें अभाव था। कुछ तोपें विस्फोट द्वारा अपने चलानेवालों को ही नुकसान पहुँचा देती थीं। स्काटलैंड के राजा जेम्स द्वितीय की मृत्यु एक ऐसे ही विस्फोट में हुई थी। सोलहवीं शताब्दी में कहीं जाकर अच्छी तोपों तथा गोला-बारूद का निर्माण शुरू हुआ। फिर भी किलों की दीवारों तथा फाटकों पर गोलों की मार का प्रभाव पड़ता ही था। तोप-खाना के आने पर अधिकांश शहर बिना युद्ध किये ही आत्म-समर्पण कर देते थे। छोटी-बड़ी सभी प्रकार की तोपों की मार से वर्मयुक्त योद्धा तिनकों की तरह उड़ जाते थे और वर्म चाहे जितना भी मोटा हो, बारुद से रक्षा करने में अक्षम था। सन् १४५३ ई० में अंग्रेज सेनापति लार्ड जान टालबॉट ने फ्रांस के कैस्टिलोन नगर पर आक्रमण किया, किन्तु तोपों की मार के समक्ष वह न केवल पराजित हुआ, बल्कि स्वयं भी मारा गया। इस समय से योरोप की युद्ध पद्धति में स्पष्ट परिवर्त्तन दिखायी पड़ने लगे। सोलहवीं शताब्दी के अंत तक बन्दूक का प्रचलन हो चुका था। अतः अब तीरंदाजों का स्थान बंदूकचियों ने ले लिया। धनुष का उपयोग अब केवल आखेट के लिए किया जाने लगा। उसी तरह युद्ध क्षेत्र में अब जिरह-बख्तर दिखाई नहीं पड़ते थे और उनका उपयोग केवल चक्र-स्पर्द्धाओं में किया जाने लगा। पदाति सेना के विकास के साथ-साथ वेतनभोगी स्थायी सेना की भी शुरुआत हुई। सामंती कर्त्तव्य पूरा करने अथवा व्यक्तिगत शौर्य का प्रदर्शन करने के लिए अब कम ही लोग युद्धक्षेत्र में जाते थे। युद्ध में अब स्थायी सैनिकों का महत्त्व अधिक हो गया। अधिक जोखिम वाले सैनिक कर्तव्यों के लिए अधिकाधिक वेतन की माँग होने लगी। शूरधर्म का युग अब प्रायः समाप्त हो चला था।

प्राथमिक शिक्षा

अधिकांश सामंत अपना नाम तक लिखना नहीं जानते थे। इसका कारण विद्यालयों अथवा शिक्षकों की कमी नहीं थी। सामंतों की मुख्य रुचि युद्ध विद्या में थी, अतः वे अन्य प्रकार की शिक्षा के प्रति उदासीन थे। वस्तुतः सामंत लिखने-पढ़ने का काम अपनी शान के खिलाफ समझते थे। शिक्षा पर चर्च का आधिपत्य था। लगभग प्रत्येक मठ तथा गिरजाघर के साथ एक विद्यालय अवश्य था।

साधारणतः इन विद्यालयों में वही बालक पढ़ते थे जिन्होंने पादरी अथवा भिक्षु-जीवन अपनाने का व्रत ले लिया हो। किन्तु, अधिकांश विद्यालय निकटवर्ती ग्राम अथवा नगर के बालकों को भी अल्पशुल्क लेकर पढ़ने देते थे। कभी-कभी नाइटों के बच्चे भी इन विद्यालयों में दाखिल कर लिये जाते थे। चौदहवीं शताब्दी के मध्य से निजी अनुदान प्राप्त विद्यालयों की संख्या में वृद्धि होने लगी। ऐसे विद्यालयों की स्थापना धनी मानी लोग करते थे जो अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए किसी पादरी की सेवा प्राप्त कर लेते थे और ऐसे पादरी को खाली समय में पढ़ने-पढ़ाने की भी छूट देते थे।

स्कूलों का पाठ्यक्रम सरल था। अधिकांश स्कूलों में वर्णमाला के बाद लैटिन में लिखित प्रार्थना-पुस्तकों का पाठ कराया जाता था। कुछ बड़े होने पर बच्चों को उनकी मातृभाषा के लिखने-पढ़ने का अभ्यास कराया जाता था। अंत में लैटिन से फ्रेंच अथवा अंग्रेजी में अनुवाद करना सिखाया जाता था। मध्ययुग में लैटिन जीवन्त भाषा थी जिसे पादरी और पढ़े-लिखे लोग समूचे यूरोप में बोलते थे। लैटिन व्याकरण का अध्ययन शिक्षा का आधार था और यह धारणा धीरे-धीरे इतनी प्रबल होती गई कि आज भी यूरोप के कुछ स्कूल शिक्षा की पूर्णता के लिए लैटिन का अध्ययन आवश्यक समझते हैं।

मध्ययुग में स्थानीय भाषाओं का लिखना-पढ़ना थोड़ा कठिन काम था, क्योंकि व्याकरण के नियम निश्चित नहीं थे और शब्दों का हिज्जे करना बोलने वाले के उच्चारण पर निर्भर करता था। अंकगणित की भी शिक्षा दी जाती थी, किन्तु यह कठिन विषय माना जाता था और इसमें सयानों को भी दिक्कत होती थी। एक विद्वान बिशप ने अपना अनुभव इस प्रकार व्यक्त किया है, "सवालों का हल निकालने में मुझे इतनी निराशा होती थी कि पहले का सब पढ़ा हुआ बेकार जान पड़ता था। अन्त में ईश्वर की कृपा और अथक परिश्रम से वह समझ गया······ जिसे लोग भिन्न कहते हैं।"

स्कूलों में अनुशासन कठोर था, विशेषतः उन बालकों के लिए, जो पादरी अथवा भिक्षु बनना चाहते थे। ये दूसरे प्रकार के छात्र विद्यालय में ही रहते थे और और उनके पाठ्यक्रम में धर्मशास्त्र की प्रधानता थी। थोड़ी-सी गलती पर अच्छी-खासी पिटाई हो जाती थी। अधिकांश शिक्षक मार विद्या में ही विश्वास करते थे, यद्यपि कुछ इसके विरुद्ध भी थे। वस्तुतः मध्ययुग के शिक्षकों का काम भी आज के शिक्षकों की तरह कठिन था, क्योंकि उस युग में भी उत्पाती छात्रों की कमी नहीं

थी। कभी-कभी मार-पीट की तीव्र प्रतिक्रिया भी होती थी। माम्सबरी मठ के छात्रों ने अपने एक शिक्षक की हत्या तक कर दी थी। उन्होंने उस शिक्षक को कलमों से खोभ-खोभकर मार डाला था। चौदहवीं शताब्दी के एक लेखक लिडगेट ने लिखा है कि बचपन में वह और उसके साथी चाकू लेकर लड़ा करते थे। बागीचों से फल तोड़ लेना, स्कूल से भागकर मछली पकड़ना और देर से घर लौटकर हजार बहाने बनाना आम बात थी। दातों से झिझोड़कर मांस खाना, हड्डी चबाना, नमक वाले पात्र से ही नमक चाट लेना, चभड़-चभड़ खाना, माथा खुजलाना, खाते-खाते टेबुल के नीचे थूक देना तथा चाकू से दांत खोदना आदि छात्रों के आम दुर्गुण थे।

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा का इस ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है (देखिये अध्याय १५)। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चच में उच्च पदों की इच्छा रखने-वाले छात्र बड़े मठों अथवा गिरजाघरों के स्कूलों में दाखिल होते थे। वहाँ से वे पेरिस तथा ऑक्सफोर्ड सदृश विश्वविद्यालयों में पहुँचते थे। चिकित्सा अथवा कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी इन विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट होना पड़ता था। विश्वविद्यालयों के छात्रों का जीवन कठिनाईपूर्ण था। उन्हें अपने आवास का प्रबन्ध स्वय करना पड़ता था, यद्यपि कुछ शिक्षक भी भाड़ा पर मकान लेकर लड़कों को पढ़ाने तथा ठहराने का प्रबंध कर लते थे। छोटे-छोटे कमरों में तीन-चार छात्र एक ही खाट पर सो लेते थे। जहाँ कहीं कोई खाली मकान मिल जाता था, छात्र भाड़ा पर ले लेते थे। अनेक छात्रों को अपने परिवारों से बहुत मामूली आर्थिक सहायता मिलती थी। ऐसे विद्यार्थी भी थे जो बाजार से सड़ी-गली सब्जी अथवा मांस बटोरकर पेट भर लेते थे। वस्त्राभाव में कई विद्यार्थी बारी-बारी से एक ही वस्त्र को पहन कर व्याख्यान सुनने जाते थे। थोड़ी रोटी और शराब से ऐसे छात्रों का काम चल जाता था क्योंकि अपनी गरीबी के कारण वे मांस-मछली खाने का आनन्द नहीं ले सकते थे। अभिभावकों को लिखे गये पत्रों में द्रव्याभाव का उल्लेख प्रायः रहता ही था।

विश्वविद्यालयों के स्नातकों का दिन तड़के सुबह आरम्भ हो जाता था। शीत जल से स्नान कर कुछ छात्र थोड़ी रोटी बियर के साथ खा लेते थे। अधिकांश बिना कुछ खाये ही पढ़ने चले जाते थे। सारा दिन अध्ययन, व्याख्यान-श्रवण तथा वाद-विवाद में शेष कर वे रात्रि भोजन के समय लौटते थे। व्याख्यान-कक्ष जाड़ा

काफी ठंढे रहते थे। उनमें कुर्सी भी केवल शिक्षक के लिए ही होती थी, छात्र जमीन पर पुआल बिछाकर सर्दी से बचने के लिए सटकर बैठते थे। इसीलिए पेरिस में स्कूलों वाली सड़क को 'पुआल स्ट्रीट' कहा जाता था। इन कठिनाइयों के बावजूद आज की ही तरह स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों से कुशल एवं प्रशिक्षित चर्च अधिकारी, चिकित्सक, अभियन्ता, वकील तथा वैज्ञानिक निकलते ही रहते थे।

विज्ञान

मध्ययुगीन यूरोप को विज्ञान की जानकारी प्राचीन यूनान तथा समकालीन अरबों से मिली थी। छठी शताब्दी से ही यूनानी तथा रोमन लेखकों के ग्रन्थों का अनुवाद होने लगा था। बारहवीं शताब्दी तक भौतिकी तथा खगोल विद्या पर अरस्तू के ग्रन्थ, परमाणु सिद्धान्त पर लुकेसियस के लेख तथा मानव शरीर विज्ञान एवं शल्य चिकित्सा पर गेलेन के लेख उपलब्ध थे। छठी शताब्दी में ही बोयेथियस ने अंकगणित तथा ज्योतिष-शास्त्र पर अपने वे ग्रन्थ लिखे जो युक्लिड तथा टालमी के सिद्धान्तों पर आधारित थे। बारहवीं शताब्दी से रोमन अंकों की जगह अरबी अंकों का व्यवहार होने लगा। इसका श्रेय पिसा के एक व्यापारी लियोनार्डो को था। इसी तरह बीजगणित, त्रिकोण-मिति, भिन्न तथा समीकरण आदि को गणित के गंभीर विद्यार्थियों द्वारा अध्ययन किया जाने लगा। पूर्वी सम्पर्क के कारण प्राणी शास्त्र, मानव शरीर, शास्त्र - भौतिकी, ज्वर, चेचक तथा लघु-शीतला सम्बन्धी यूरोपीय ज्ञान में अभिवृद्धि हुई।

विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान के साथ-साथ अंधविश्वास और अनेक प्रकार की भ्रांतियों की भी कमी नहीं थी। उदाहरणार्थ, सितारों तथा पृथ्वी के गतिशील होने के वैज्ञानिक सत्य के साथ-साथ कुछ लोग यह भी समझते थे कि पृथ्वी चिपटी है और सूर्य तथा सितारे इसके चतुर्दिक चक्कर लगाते हैं। सामान्यतः प्रायोगिक विज्ञान का अभाव था। अधिकांश वैज्ञानिक तर्क अथवा पूर्व लिखित ग्रन्थों के आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचते थे। चर्च तो किसी भी प्रकार के प्रयोग के खिलाफ था ही, क्योंकि उसकी दृष्टि में सारा ज्ञान बाइबिल में ही भरा पड़ा था। फिर भी, सभी बाधाओं के बावजूद कुछ ऐसे लोग भी अवश्य थे जो वैज्ञानिक प्रयोगों में लगे रहते थे। ऐसे लोगों मे सर्वश्रेष्ठ रोजर बेकन था। ऑक्सफोर्ड से स्नातक स्तर की शिक्षा ग्रहण करने के बाद बेकन ने पेरिस विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया था। पेरिस में ही १२४७ ई० तक व्याख्याता पद पर बना रहा, किन्तु बाद में त्याग-पत्र देकर अपना सारा समय वैज्ञानिक अनुसंधानों में लगाने लगा। ऑक्सफोर्ड में

रहकर उसने अपने महान ज्ञानकोश को लिखना शुरू किया। इसमें उसने इन्द्रधनुष से लेकर बारूद तक की चर्चा की। उस युग के सभी वैज्ञानिकों की तरह वह भी जादू तथा रहस्य में विश्वास करता था। उदाहरणार्थ, उसने कहा कि १२६४ ई० के धूमकेतु के कारण ही यूरोप में उस वर्ष घोर रक्तपात हुआ। दूसरी ओर वह अपने समकालीन अनेक वैज्ञानिकों के ठीक विरुद्ध वैज्ञानिक प्रयोगों पर जोर देता था। उसका शोध कार्य ज्ञान की अनेक विधाओं से सम्बद्ध था। भौतिकशास्त्र तथा गणित सम्बन्धी उसके खोज अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। उसकी मृत्यु १२९२ ई० में हुई।

बेकन तथा उसके जैसे अनेक अन्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले लोगों के बावजूद चिकित्सा के क्षेत्र में समुचित विकास न हो सका। चिकित्सक के नाम पर अनेक नीम-हकीम पल रहे थे। शरीर से किसी तरह कुछ रक्त को निकाल देना ही अनेक रोगों का निदान समझा जाता था। झाड़-फूँक पर भी लोगों का बहुत विश्वास था। फिर भी कुछ शल्य चिकित्सकों को मानव शरीर की संरचना का काफी अच्छा ज्ञान था। वस्तुतः औषध से शल्य चिकित्सा कहीं अधिक विकसित थी। दवाओं का असर बहुत कम ही होता था, यह दूसरी बात है कि मध्यकालीन चिकित्सक दवा देने से पूर्व ही अपनी पूरी फीस वसूल लेता था।

मध्यकालीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष के प्रति सचेत नहीं थे। अतः इस युग में जो कुछ तकनीकी प्रगति हुई, वह श्रम निकायों तथा शिल्पियों के कारण हुई। पवनचक्कियों तथा जल-चक्कियों की भरमार थी। अतः दांतीदार पहियों, चक्कों, पेंच तथा घिरनी आदि का लोगों का ज्ञान काफी अच्छा था। खनिज-भंजक यन्त्रों, भारी हथौड़ों तथा चिराईघरों को चलाने के लिए जल-शक्ति का उपयोग होने लगा था। वस्त्र तथा लोहों से सम्बद्ध उद्योगों में भी अनेक यन्त्रों का उपयोग होता था। भवन-निर्माण कला भी काफी विकसित हो चुकी थी। यही एक क्षेत्र था जिसमें सिद्धांत तथा उपयोग में एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा की जाती थी।

दर्शन

मध्यकालीन यूरोपीय संस्कृति का मूलाधार ईसाई धर्म ही था। उस युग के लोग अत्यधिक धर्मप्राण के साथ-साथ पूर्णरूपेण व्यावहारिक भी थे। धर्म में उनकी पूर्ण आस्था का कारण मुक्ति की इच्छा ही थी। यद्यपि उनमें ज्ञान की सहज पिपासा थी, उस युग के विद्वान ज्ञान को मुक्ति का साधन मान कर ही चलते थे। अतः तर्क

पर आधारित उनकी दार्शनिकता उन्हीं विषयों में अधिक रुचि लेती थी जो उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक जान पड़ते थे। प्रांजल भाषा एवं साहित्य का अध्ययन भी कोई विद्वान इसी विचार से अभिप्रेरित होकर करता था कि इससे स्वय उसे अपने धार्मिक विचारों को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने में सुविधा होगी। शिल्पी, जो गिरजाघर में सुन्दर नक्काशी करता था, अपनी कला को ईश्वर को प्रसन्न करने का माध्यम ही समझता था। इस तरह किसी भी प्रकार की कला को धार्मिक जामा पहना दिया जाता था, भले ही उसका धर्म से दूरस्थ सम्बन्ध भी न रहा हो।

इतिहासकार प्राय: मध्यकालीन संस्कृति की विभिन्न विधाओं के संश्लेषण की बात करते हैं। यद्यपि पूर्ण संश्लेषण असंभव है, किन्तु इसमें कोई सदेह नहीं कि उस युग के अनेक मानवीय कार्यकलापों का ईसाई धर्म से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य था। टामस अक्विनास और दांते में इस प्रकार के संश्लेषण का दर्शन होता है। कुछ उत्साही लेखकों ने गोथिक गिरजाघर में मध्ययुगीन संस्कृति का संश्लेषण देखा है; किन्तु यह मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन संस्कृति की सभी विधाओं की गिरजाघरों की कला में अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है।

मध्यकालीन सिद्धान्त के अनुसार, दर्शनशास्त्र उन सभी ज्ञानों का सम्मिलित रूप था जिनका मुक्ति प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था। ईश्वर तथा उससे सम्बद्ध सभी बातों का अध्ययन धर्मशास्त्र के अन्तर्गत् आता था। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में तर्क के लिए विशेष गुंजाइस नहीं थी, जबकि दर्शनशास्त्र में तर्क का किसी भी हद तक सहारा लिया जा सकता था। व्यावहारिक रूप में दोनों विषयों का पूर्ण पृथ्वीकरण संभव न था क्योंकि अनेक दार्शनिक विचारों का धर्मशास्त्रीय प्रश्नों से कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता ही था। जिन दार्शनिक विचारों का धर्मशास्त्रों से कोई मतलब नहीं था उनमें लोग विशेष रुचि भी नहीं लेते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में ज्ञान का सर्वोच्च उद्देश्य था मुक्ति-प्राप्ति में सहायता करना। अत: सम्पूर्ण मध्ययुग में दर्शन एवं धर्मशास्त्र का अभिन्न सम्बन्ध रहा।

मध्यकालीन दार्शनिकों के लिए सर्वाधिक रुचि का विषय था यथार्थवाद एवं सामान्य सत्तावाद के बीच का विवाद। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक संत अगस्ताइन के अति यथार्थवादी विचारों को सामान्यत: माना जाता रहा। उसके बाद रोसलिन की अति सत्तावादी विचारधारा की ओर लोग आकृष्ट हुए। उसके विचारों को धर्मविरोधी करार दिया गया और उसे अपने ही सिद्धांतों को अस्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। रोसलिन के शिष्य-पीटर अबलार्ड ने यथार्थवाद तथा सामान्य

सत्तावाद के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। संत टामस अक्विनास ने भी कुछ ऐसा ही प्रयास किया। उत्तर-मध्यकाल की दार्शनिक चिंतनधारा पर संत टामस अक्विनास का गहरा प्रभाव था, किन्तु सभी विद्वान उसके विचारों से सहमत नहीं थे। आकहम का विलियम चौदहवीं शताब्दी में अति सत्तावाद के प्रबल समर्थक के रूप में सामने आया। उस युग की विद्वमिता पर उसके विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा।

साहित्य

मध्ययुग में धर्मगुरुओं और विद्वानों की भाषा लैटिन थी। धर्मशास्त्र तथा दर्शन जैसे गंभीर विषय केवल लैटिन में ही लिखे जाते थे। बहुत दिनों तक केवल पादरी ही शिक्षित वर्ग के लोग थे, अतः राजाओं और सामंतों के यहाँ की दफ्तरी भाषा भी लैटिन ही थी। अधिकांश सरकारी कागजात उसी भाषा में लिखे जाते थे। अधिकांश विद्वान गंभीर विषयों पर ही लिखते थे, अतः लैटिन में काव्य-सृजन, कम-से-कम पुनर्जागरण युग तक अत्यन्त सीमित था। हिल्डेवर्ट जैसे लोग कभी-कभी लैटिन कविता लिख लेते थे, किन्तु उनकी कविता सामान्य प्रकार की होती थी। गोलियार्डिक कविता ही केवल उस युग में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सुरा और सुन्दरी ही इसका मुख्य विषय था। बारहवीं शताब्दी से प्राचीन लैटिन एवं यूनानी साहित्य में लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी। अबलार्ड यूनानी दार्शनिकों की अभिरुचि बढ़ने लगी। अबलार्ड यूनानी दार्शनिकों की ओर आकर्षित हुआ। बारहवीं शताब्दी के मानवतावादियों में सेलिसबरी का जॉन निस्संदेह सर्वाधिक उल्लेखनीय था। उसने लैटिन साहित्य का गहन अध्ययन किया था। दुर्भाग्यवश प्राचीन साहित्य में यह अभिरुचि स्थायी सिद्ध नहीं हुई। आगे प्राचीन साहित्य का अध्ययन होता रहा, किन्तु लोगों की अभिरुचि केवल धर्मशास्त्रों तथा दर्शन तक ही सीमित रह गयी।

मध्ययुग का अधिकांश साहित्य जन-भाषाओं में लिखा गया। इस प्रकार के सर्वप्रथम ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखे गये। शार्लमन ने जर्मन लोक-गीतों का एक संग्रह तैयार कराया था जो अब उपलब्ध नहीं है। लोकभाषा में लिखित एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य आंग्ल-सैक्सनों का 'बेवल्फ' था जिसमें बेवल्फ के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है। इस महाकाव्य में प्रारम्भिक जर्मन संस्कृति की झांकी देखने को मिलती है। हूणों और नारवेजियनों से सम्बद्ध कुछ साहित्य भी उपलब्ध है। इसकी सामग्री प्राचीन है, किन्तु इसे लिखित रूप बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में ही दिया गया था। बेवल्फ आंग्ल-सैक्सन साहित्य का प्रारम्भिक रूप था। बाद में सिडमॉन तथा सिनेवल्फ दो

महान संत कवि हुए। अल्फ्रेड महान ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का आंग्ल-सैक्सन भाषा में अनुवाद किया। आंग्ल-सैक्सन इंग्लैंड में लैटिन भाषा में केवल धर्म-ग्रन्थ ही लिखे जाते थे। इतिहास, सरकारी कागजात, राजाज्ञा और लोकप्रिय धार्मिक विषयों की भाषा जनभाषा ही थी। इस तरह, उस समय भी जब यूरोप के शेष भागों में लैटिन की ही प्रधानता थी, इंग्लैंड में लोकभाषा में समृद्ध साहित्य का सृजन हो रहा था। नारमन विजय के बाद आंगल-सैक्सन भाषा की अवनति हुई, किन्तु चौदहवीं शताब्दी में मध्यकालीन अंग्रेजी के रूप में इसका पुनर्जन्म हुआ।

ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में फ्रांस में लोक-साहित्य का प्रारंभ हुआ। इस साहित्य का प्रारम्भिक रूप गीति काव्य था जिसका प्रमुख विषय प्रेम था। अक्विटेन का ड्यूक विलियम नवां स्वयं एक अच्छा कवि था और उससे अनेक कवि प्रभावित हुए। ट्राउबेडार्स जैसे लोक-गायकों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। प्रारंभिक ट्राउबेडार्स की कल्पना उच्च कोटि की थी, किन्तु शीघ्र ही उसका स्वरूप पूर्णरूपेण परम्परावादी हो गया। कल्पना, ताजगी एवं सजीवता की दृष्टि से बारहवीं शताब्दी की ट्राउबेडार कविता सर्वश्रेष्ठ थी। अलबिजेनसियन धर्मयुद्ध के कारण ट्राउबेडार कवियों को बहुत छति पहुँची और चौदहवीं शताब्दी तक उनका प्रायः अन्त ही हो गया। चंपग्ने का काउन्ट थिबौट चतुर्थ तेरहवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ गीति-काव्य लेखक था। इंग्लैंड का राजा रिचर्ड प्रथम भी एक सुयोग्य कवि था। फ्रांस और जर्मनी के नगर-वासियों ने भी चौदहवीं शताब्दी में काव्य-लेखन को प्रोत्साहित किया। एंड्रू लिखित 'डी एमोर' मध्ययुग का संभवतः सर्वश्रेष्ठ प्रेम विषयक काव्य-ग्रन्थ था। मध्ययुगीन कविता की एक अन्य विधा थी-गाथा-काव्य। युद्ध और सामंती राजनीति पर आधारित गाथा काव्य का स्वरूप प्रेम पर आधारित गीति-काव्य से भिन्न था। गाथा-काव्य का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ उदाहरण चैनसन डी रोलां है। गाथाकाव्य में महिलाओं के लिए कोई स्थान नहीं था, यद्यपि यदा-कदा किसी सुन्दरी राजकुमारी का उललेख हो जाता है। गीति-काव्य की रचना सुन्दरियों को खुश करने के लिए होती थी, किंतु गाथा-काव्य पुरुषों की प्रशंसा में लिखा जाता था।

बारहवीं शताब्दी के मध्य तक कथा साहित्य की लोकप्रियता बढ़ने लगी थी। सामंत तथा उनके दरबारी कथा-कहानी सुनने में रुचि रखते थे और कहानी सुनाने वालों को इनाम भी देते थे। रोमन साहित्य से ली गयी कहानियाँ लोकप्रिय थीं। वेल्स की किस्सा-कहानियों पर आधारित अनेक कहानियाँ बारहवीं शताब्दी में फ्रांस में लिखी गयीं। बारहवीं शताब्दी के मध्य में जॉफ्रे नामक अंग्रेज पादरी ने हिस्ट्री ऑफ द किंग्स ऑफ ब्रिटेन नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक या तो जॉफ की कल्पना पर

आधारित थी अथवा वेल्स की किसी कथा पर। जो भी हो, यह पुस्तक अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई। इससे प्रेरणा ग्रहण कर फ्रांस में भी इसी तरह की कई कहानियाँ लिखी गयीं। लम्बी कहानियों के अलावा छोटी कहानियाँ भी लिखी जाती रहीं, किन्तु सामंतों के बीच ये अधिक लोकप्रिय नहीं थीं। कुछ लोगों ने व्यंग्य साहित्य का भी सृजन किया। 'फिफटोन ज्वायज ऑफ मैरेज' इसी प्रकार की एक रचना थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में फ्रेंच गीति-काव्य का पुनर्जन्म हुआ। इस क्षेत्र में अलन कार्टियर, चार्ल्स तथा फ्राकवाइज विलों को विशेष सफलता मिली।

तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में इटली में कई महान साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें सर्वाधिक विख्यात दांते, पेत्रांक तथा बोकासियो हुए। दांते की डिवाइन कामेडी का इस ग्रन्थ में पहले ही उल्लेख हो चुका है। पेत्रांक को प्रथम मानवतावादी की संज्ञा दी गयी है। बोकासियो की प्रसिद्धि डेकामेरन के कारण है। यह ग्रन्थ लघु कथा-ग्रन्थ है। बोकासियो अति कुशल कहानी लेखक था और उसे आधुनिक लघु-कथा का जन्मदाता कहा गया है। नारमन आक्रमणों के कारण प्रायः दो शताब्दी तक अंग्रेजी साहित्य का विकास रुका रहा। नारमन सामंत मुख्यतः फ्रेंच साहित्य में रुचि रखते थे। किन्तु, कुछ समय बाद अंग्रेजी में भी प्रचुर लोकप्रिय साहित्य की रचना हुई। चौसर तथा जॉन गोवर मध्यकालीन अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। गोवर की प्रसिद्धि कनफसियो अमैंटिस के कारण है। चौसर की परिगणना तो विश्व के महानतम कवियों में की जाती है। उसकी प्रसिद्धि रचना कंटरबरी टेल्स है। इसमें उस युग की दुर्बलताओं, अवगुणों और चरित्रहीनता का दर्शन होता है। अभिव्यक्ति, लाघव तथा स्पष्टता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ सराहनीय है। वस्तुतः मध्ययुग को समझने के लिए चौसर लिखित साहित्य का अध्ययन आवश्यक जान पड़ता है।

साहित्य के क्षेत्र में इतिहास-लेखक का विशेष महत्त्व था। कई मठ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्षक्रमानुसार विवरण रखते थे। इन विवरणों का ऐतिहासिक महत्त्व तो है. किन्तु इन्हें विशुद्ध इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। फिर भी कई भिक्षुओं ने ऐसे ग्रन्थ भी अवश्य लिखे जिन्हें इतिहास कहा जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नारमन भिक्षु आरडेरिक ने हिस्टोरिया एकलेसिएस्टिका नामक पुस्तक लिखी। इससे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के नारमंडी के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अल्फ्रेड महान ने कई मठों को इतिवृत्त लिखने का आदेश दिया था। इन्हें अब आंगल-सैक्सन-इतिहास के नाम से जाना जाता है। इनसे ग्यारहवीं शताब्दी तक के इंग्लैंड के इतिहास की व्यापक जानकारी होती है। पूर्व-मध्यकाल

में लिखित विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में पहला नाम हिस्ट्री आफ द फ्रैंक्स का लिया जा सकता है, टूर्स के विशप ग्रिगोरी ने इसमें क्लोविश तथा उसके लड़कों के कृत्यों का वर्णन किया है। शार्लमन के दरबार के विद्वान लेखक आइनहार्ड ने शार्लमन की जीवनी लिखी। इस युग का संभवतः सबसे बड़ा इतिहासकार वेड था जिसने इकलेसिएस्टिकल हिस्ट्री आफ द इंगलिश पीपल्स नामक पुस्तक लिखी। आंग्ल-सैक्सनों के प्रारम्भिक इतिहास की जानकारी के लिए हम वेड के अत्यन्त ऋणी हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे जाने लगे। टायर के आर्कविशप विलियम ने प्रथम धर्मयुद्ध का विशद विवरण तैयार किया। रिगार्ड ने फ्रांसीसी राजतंत्र का इतिहास लिखना शुरू किया। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक सैनिक ने फ्रांस के राजा लुई द्वारा इंग्लैंड पर हुए आक्रमण का वृत्त तैयार किया। लगभग इसी समय जॉफ्रे ने चतुर्थ धर्मयुद्ध का विवरण लिखा। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में ज्वाइनविल के जान ने हिस्ट्री आफ संत लुई नामक पुस्तक लिखी। जीन फरवायसर्ट ने सौ वर्षीय युद्ध के अधिकांश भाग का विवरण लिखा। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि अधिकांश मध्यकालीन इतिहासकारों का दृष्टिकोण आलोचनात्मक नहीं था। तथ्यों की प्रामाणिकता के प्रति वे सजग नहीं थे। प्रत्येक लेखक किसी न किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त था। विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ ऐसी रचनायें भी थीं जिनसे मध्यकालीन यूरोप के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। संतों की जीवनी को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। मध्यकालीन धार्मिक विश्वासों एवं विचारों की इनसे अच्छी जानकारी मिलती है। कृषि, राजस्व, अर्थ-व्यवस्था,प्रशासन, आखेट तथा भ्रमण विषयक ग्रंथ भी लिखे गये। उनसे मध्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति को समझने में सुविधा होती है।

कला और स्थापत्य :

शब्दों द्वारा कला की अभिव्यक्ति सीमित प्रकार की ही हो सकती है। अतः मध्यकालीन योरोपीय स्थापत्य और कला की मुख्य धाराओं का उल्लेखमात्र ही यहाँ अपेक्षित है। पूर्व मध्यकाल में समाज के दो प्रमुख वर्ग थे—पादरी और सामंत। अधिकांश साधन इनके ही नियंत्रण में थे। गिरजाघर और किले ही मुख्य भवन थे। रोमन साम्राज्य के अंतिम वर्षों में इटली के ईसाई गिरजाघर, लकड़ी की छतवाले चौकोन भवन होते थे अर्थात् सपाट वेसिलीका। साधारणतः उनमें एक मध्यभाग (नेभ) तथा एक या एक से अधिक तंग रास्ते (एसल्स) होते थे जो एक दूसरे से पायों की पंक्तियों द्वारा विभक्त होते थे। इन गिरजाघरों में सुन्दर संगमरमर की

सजावट होती थी। यह शैली इटली में पूर्व मध्यकाल के अंत तक बनी रही। गिरजा-घरों के स्थापत्य की एक अन्य शैली बेजन्टाइन थी। इसमें गुम्वदों की प्रधानता थी और पच्चीकारी द्वारा सजावट की जाती थी। रैभेना तथा बेजन्टाइन साम्राज्य के अन्य भागों में यह शैली लोकप्रिय थी।

दशम शताब्दी से पूर्व उत्तरी यूरोप के गिरजाघरों की हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। कुछ का निर्माण लकड़ी द्वारा हुआ था और अधिकांश की छत लकड़ी की थी। अतः अधिकांश अग्निकांडों में ध्वस्त हो गये और जो बचे उन्हें भी नवीन गिरजाघरों के निर्माण के लिए ढाह दिया गया। ये सभी गिरजाघर रोमन बेसिलीका शैली पर आधारित थे। शार्लमन ने इटालियन कारीगरों की सहायता से अपनी राजधानी आकेन में पत्थरों द्वारा निर्मित एक गोल गिरजाघर बनवाया था। इसमें गुम्वद शैली का प्रयोग किया गया था। एक अन्य गिरजाघर में उसने पच्चीकारी का सुन्दर उपयोग किया था। किन्तु, इन विदेशी शैलियों का स्थानीय स्थापत्य-कला पर कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ समय बाद रम्भ-द्वारों का उपयोग होने लगा। अतः गिरजाघरों की छत पत्थर की बनने लगी, अतः अग्नि-कांडों की संभावना भी कम हो गयी। किन्तु प्रस्तर-रम्भ द्वार को संभालने के लिए भारी भरकम दीवारों की आवश्यकता पड़ती थी। परिणामस्वरूप गिरजाघर विशाल किन्तु अनाकर्षक ढंग के बनने लगे। इनमें खिड़कियों की संख्या अति सीमित होती थी। इसी को रोम-प्रभावित स्थापत्य-शैली की संज्ञा दी गयी है। रोमनेस्क गिरजाघर विशाल तथा स्थूल होते थे। उन्हें नक्काशी द्वारा सजाया जाता था। भारी भरकम पायों के शिखरों पर बाइबिल के दृश्य आंके जाते थे। प्रायः गिरजाघरों के शिखर भी शिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण थे। सजावट के अतिरिक्त इनका उद्देश्य था निरक्षर भक्तों को धर्म-कथाओं से परिचित कराना। बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी यूरोप में गिरजाघरों की रोमनेस्क-शैली ही लोकप्रिय थी। इस युग में विशपों की तुलना में मठाधीश अधिक समृद्ध थे। अतः अधिकांश बड़े रोमनेस्क गिरजाघर मठों से सम्बद्ध थे। इन सभी गिरजाघरों में क्लुनी का गिरजा-घर सर्वश्रेष्ठ था। यह तो नष्ट हो गया, किन्तु इस शैली के कई मामूली नमूने अभी तक बचे हैं।

बारहवीं शताब्दी के अंत में स्थापत्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरंभ हुआ। अब 'गोथिक-शैली' का जन्म हुआ। अब पांजरयुक्त तोरण के आविष्कार के कारण गिरजाघर ऊँचे खिड़कीदार तथा सुन्दर बनने लगे। अब हवा-

रोशनी उनके भीतर तक पहुँचने लगी। विशुद्ध गोथिक गिरजाघर का स्वरूप अति सुन्दर था, यद्यपि खिड़कियों की भरमार के कारण तक्षण-कला प्रदर्शन बहुत संभव न था। धीरे-धीरे गोथिक शैली का स्वरूप अति संकुल होता गया और बाद के गिरजाघर तेरहवीं शताब्दी के गिरजाघरों की तरह विशाल तथा आकर्षक नहीं रह गये। यद्यपि प्रत्येक देश तथा स्थान में कुछ न कुछ फर्क पड़ता ही था, किन्तु रोमनेस्क तथा गोथित शैलियों का स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय था। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी तथा स्पेन में दोनों शैली के गिरजाघर थे। इटली में गोथिक शैली से केवल सजावट के तत्त्व ग्रहण किये। मिलान के गिरजाघर को छोड़कर इटली में कोई विशाल गोथिक गिरजाघर था ही नहीं।

यदि मठाधीश और बिशप गिरजाघरों का निर्माण कर रहे थे, तो सामंत सामरिक शक्ति के केन्द्रों की सृष्टि कर रहे थे। ग्यारहवीं शताब्दी से छोटे गढ़ों की जगह विशाल किलों का निर्माण होने लगा। शुरू में प्रस्तरस्तम्भों का निर्माण होता था जिनमें छोटी खिड़कियाँ होती थीं। दरवाजा काफी ऊँचाई पर होता था जिसे संकटकाल में मजबूती से बन्द किया जा सकता था। कुछ स्तम्भ चट्टानों पर बनाये जाते थे और इन्हें जल-खाई से घेर दिया जाता था। लंदन टावर इस किस्म का एक विख्यात उदाहरण है। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पत्थर की गढ़ियों का निर्माण होने लगा। ये गढ़ियाँ चौकोन तथा एक-मंजिला या दो-मंजिला होती थीं। बारहवीं शताब्दी में अनेक गढ़ियों का निर्माण हुआ। गढ़खाई को अब लकड़ी की दीवार से न घेरकर पत्थर की दीवार से घेरा जाने लगा। तेरहवीं शताब्दी में इन दीवारों में गोली चलाने के लिए बुर्ज बनाये जाने लगे। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में परकोटायुक्त किले बनने लगे। अब किला भीतरी तथा बाहरी दीवार से घिरा होता था। फाटकों पर ऊँचे बुर्ज बने होते थे और गढ़खाई पर उठने वाले पुलों की व्यवस्था रहती थी किलों के भीतर सुन्दर आवास-गृहों के अलावा एक उपासनाकक्ष अवश्य होता था।

बारहवीं शताब्दी से पहले शहरी मकान कैसे होते थे, इसका ठीक-ठीक ज्ञान हमें नहीं है। संभवतः अधिकांश मकान छोटे तथा लकड़ी के होते थे। बारहवीं शताब्दी से धनी नागरिक पत्थर के मकान बनाने लगे। इन मकानों में रोमेनस्क अथवा गोथिक शैली की खिड़कियाँ होती थीं। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में व्यापारी वर्ग के लोग पथ्थर के विशाल तथा सुन्दर मकान बनाने लगे। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही काठ और पत्थर के मिश्रित मकान बनने लगे। नगर में सर्वाधिक विशाल

भवन गिल्ड-हॉल होते थे। पत्थर द्वारा निर्मित ये विशाल भवन सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाये जाते थे।

मध्ययुग में कलात्मक अभिरुचि की अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों से होती थी। पत्थर, लकड़ी, हाथी दाँत तथा हड्डी की सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं। चित्रकारी का काम चर्मपत्र, लकड़ी तथा पत्थर पर होता था। गोटे, झालर तथा परदे का भी सुन्दर काम होता था। पच्चीकारी, मीनाकारी, मढ़ने तथा जड़ने आदि का काम तो होता ही था। भित्ति चित्रों द्वारा गिरजाघरों तथा किलों को सजाया जाता था। पत्थर पर नक्काशी की जाती थीं, किन्तु इसका स्वरूप परिष्कृत नहीं था। रोमेनस्क मूर्त्तिकला को भी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। गोथिक शैली की मूर्त्ति-कला कहीं ज्यादा अच्छी थी।

पूर्व-मध्यकाल में पश्चिमी यूरोप में चित्रकारी पाण्डुलिपियों की आंतरिक सज्जा तक ही सीमित थी। आठवीं से लेकर दसवीं शताब्दी तक इस कला का इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी में विशेष प्रचार हुआ। अनेक प्रकार की पुस्तकों को चित्रों द्वारा सजाया जा रहा था। प्रार्थना-पुस्तकों की चित्र-सज्जा खास तौर पर आकर्षक होती थी। इतिहास-ग्रन्थों को भी चित्रों द्वारा सजाया जाता था। इन चित्रों से मध्य-कालीन परिधानों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की उपयोगी वस्तुओं का भी पता चलता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक गिरजाघरों तथा किलों की भीतरी दीवारों को भित्ति-चित्रों द्वारा सजाया जाता रहा। यूरोप के कुछ भागों में भित्ति-चित्र अत्यन्त लोकप्रिय थे, जैसे, कैटालोनिया तथा मध्य-फ्रांस म। अन्य इलाकों में भित्ति-चित्र कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ते थे। किलों के भित्ति-चित्र अब शायद ही कहीं बचे हों, किन्तु तत्कालीन साहित्य में उनका बार-बार उल्लेख मिलता है। चौदहवीं शताब्दी से भित्ति-चित्रों का स्थान परदों ने ले लिया। अरास नगर परदा-निर्माण का एक प्रमुख केन्द्र था।

अन्य कलाओं की तरह मध्ययुग में संगीत का भी विकास हुआ और आधु-निक संगीत की नींव पड़ी। इस क्षेत्र में भी प्राचीन तथा मध्यकालीन तत्त्वों का संलयन हुआ और इस तरह प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक संगीत की एक अविरल धारा प्रवाहित होती रही है। अन्तर केवल स्वरूप और प्रभाव की दृष्टि से पड़ा है। चर्च ने अन्य कलाओं की तरह संगीत को भी प्रश्रय दिया। चर्च ने न केवल धार्मिक गायन को प्रोत्साहित किया, बल्कि संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष की शिक्षा की भी व्यवस्था की। मठों तथा गिरजाघरों से सम्बद्ध स्कूलों में संगीत

की शिक्षा तो दी ही जाती थी, विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में भी इसे शामिल किया गया था। सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में पद, ताल, स्वर तथा ध्वनि आदि का आधुनिक स्वरूप लगभग इसी युग में निर्धारित हुआ। बेजन्टाइन साम्राज्य के मार्ग से पूर्व-मध्यकाल में यूरोप में प्राचीन वाद्ययन्त्रों के अतिरिक्त सामूहिक-गान का प्रचार हुआ। ग्रिगोरीयन-धुन का आरंभ पोप ग्रिगोरी महान से बताया जाता है। अनेक परिवर्तनों के बावजूद ग्रिगोरीय-धुन अभी भी चर्च-संगीत का मुख्य आधार है।

मध्ययुग में धीरे-धीरे पाश्चात्य-संगीत का अपना निजी स्वरूप विकसित हुआ। समस्वरीय धुन का स्थान अब बहुस्वरीय धुन ने ले लिया। पुनर्जागरण-युग में अरबी संगीत-साहित्य का भी पाश्चात्य संगीत पर प्रभाव पड़ा। नियमित आनुषंगिक सुरों पर आधारित संगीत ही बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का प्रतिनिधि संगीत था। इस शैली के प्रमुख गायक फ्रांस के लेओनिन तथा पेरोटिन थे। धार्मिक-गायन के क्षेत्र में अन्य कई शैलियाँ भी विकसित हुईं, जैसे रोण्डो तथा मोटेट आदि। धर्मसुधार आन्दोलन के समय कैपेला शैली का आरम्भ हुआ। गियोभानी द पैलेस्ट्रिना (१५२६-९४) इस शैली का प्रारम्भिक किन्तु महत्वपूर्ण गायक था।

धार्मिक-संगीत के साथ-साथ सामान्य-संगीत का भी विकास होता रहा। ट्राउबेडार लोक-गायक पूर्व मध्यकाल में अत्यन्त लोकप्रिय थे। स्पेनिश गिटार पर गाते-बजाते छात्र भी यत्र तत्र दिखाई पड़ने लगे थे। धीरे-धीरे धार्मिक संगीत के साथ लोक-संगीत का संलयन होता गया। आगे चलकर वाद्य-संगीत पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। सोलहवीं शताब्दी के वाद्य-यंत्रों में सर्वाधिक लोकप्रियता बीन तथा वंशी ही की थी।

उपसंहार

इस ग्रन्थ में यूरोप का एक हजार वर्ष का ऐतिहासिक वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इन हजार वर्षों में असाधारण परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र—आवास, कार्यविधि, भोजन-वसन, विचार एवं दृष्टिकोण आदि में स्पष्ट दृष्टिगत होते थे। किन्तु, सर्वाधिक परिवर्तन यूरोप के राजनीतिक नक्शे में हुआ। विशाल रोमन साम्राज्य कई छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त हो चुका था। इन राज्यों में कुछ तो आज तक बने हुए हैं, किन्तु अधिकांश का लोप हो चुका है। पूर्वी रोमन (बैजन्टाइन) साम्राज्य किसी तरह पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक बना रहा, किन्तु इसकी शक्ति निरंतर कमजोर पड़ती गयी और इसके शत्रु प्रबल होते गये। इन शत्रुओं में मुसलमान भी शामिल थे जिनका रोमन साम्राज्य के पतन के समय कहीं अता-पता नहीं था, किन्तु जो मध्यकाल के अन्त तक भारत से लेकर स्पेन तक फैल गये थे।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही उसकी भौतिक उपलब्धियों का लोप तो हो ही गया था, पश्चिम की एक विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत् राजनीतिक एकता की भावना भी कुछ समय के लिए लुप्त हो गयी थी। तेरहवीं शताब्दी तक यूरोपवासी अपने आप को विभिन्न इकाइयों के रूप में देखने लगे थे, यथा अंग्रेज, इटालियन, यूनानी अथवा फ्रांसीसी इत्यादि। प्रत्येक वर्ग अपने को किसी सामंत अथवा राजा के मातहत मानने लगा। इस स्थिति का एक दूसरा पक्ष भी था। यद्यपि यूरोप की राजनीतिक एकता समाप्त हो गयी थी, ईसाई-धर्म के रूप में उसे धार्मिक एकता प्राप्त हुई थी। यूरोप में यहाँ-वहाँ थोड़े-बहुत मुसलमान या यहूदी इत्यादी अवश्य बिखरे पड़े थे, किन्तु अधिकांश जनता ईसाई-मतावलम्बी थी। उसका एक धर्मग्रन्थ था, एक ही उपासना पद्धति थी और उपासना की भाषा भी एक ही थी—लैटिन। चर्च की सम्पदा एवं शक्ति में अपार उन्नति हुई थी और सारा यूरोप मठों तथा गिरजाघरों से भरा हुआ था। पोप किसी भी शासक को चुनौती देने की शक्ति रखता था तो अनेक ईसाई संतों का पवित्र जीवन समकालीन एवं परवर्ती लोगों के जीवन को अनुप्राणित करता रहा। चर्च ने ज्ञान एवं शिक्षा के आलोक को भी बनाये रखा। यूनानी एवं रोमन ज्ञान-भंडार को भावी पीढ़ियों के लिए चर्च ने ही सुरक्षित रखा। मठीय एवं गिरजाघरीय विद्यालयों तथा महा-

विद्यालयों ने शिक्षा प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चर्च ने कलाकारों तथा शिल्पियों को संरक्षण देकर कला की विभिन्न शैलियों को आगे बढ़ाने में सहायता की। संक्षेप में, चर्च के बिना ज्ञान, शिक्षा तथा कला की प्रगति दीर्घकाल तक रुकी रहती।

बर्बर जातियों के आक्रमणों के समाप्त हो जाने पर यूरोप का जीवन धीरे-धीरे व्यवस्थित हो चला। सुरक्षा के फलस्वरूप कृषि की उन्नति हुई और खाद्यान्न के प्राचुर्य के कारण यूरोप की आबादी में वृद्धि हुई, यद्यपि आगे चलकर अकाल एवं महामारी से कहीं-कहीं आबादी घटकर आधी-तिहाई तक पहुँच गयी। नगरों के विकास से वाणिज्य-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। जंगल साफ किये गये, दलदलों को सुखाया गया, झाड़-झंखाड़ को साफ कर खेत तैयार किये गये। वेनिस, जिनेवा, पिसा तथा फ्लोरेंस जैसे नगर विश्व के विशालतम नगरों में थे। पूर्वी व्यापार के फलस्वरूप यूरोप का जीवन-स्तर ऊँचा हुआ।

मध्यकालीन यूरोप का जीवन गतिहीन न था। मध्ययुगीन शिल्पी कला की नवीन विधाओं के जन्मदाता थे। नाविक और व्यापारी समुद्र पार कर अज्ञात देशों तक पहुँच रहे थे। विद्वान सदैव ज्ञान तथा विचारों की खोज में संलग्न थे। यद्यपि यूरोप में अभी भी अज्ञान, भूखमरी तथा उत्पीड़न की कमी नहीं थी, किन्तु इन हजार वर्षों में लोगों की दशा सुधरी थी तथा व्यक्तिगत-स्वतंत्रता में भी वृद्धि हुई थी। प्रायः हर जगह समाज का स्वरूप बदल रहा था। बढ़ती हुई सुरक्षा के फलस्वरूप सामंतों की शक्ति एवं प्रभाव में कमी हुई थी। समाज का तीन-वर्गीय विभाजन भी अब अस्पष्ट होता जा रहा था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप में नवयुग का आगमन प्रायः निश्चित जान पड़ने लगा था।

❁

ग्रंथ-सूची

१. क्रट्स, ई० एल— सिनेज ऐंड करेक्टर्स ऑफ द मिडल एजेज़ (न्यूयार्क; (१८८५)

२ कानिघम, डवल्यू— एन एसे ऑन वेस्टर्न सिविलाईजेशन इन इट्स इकॉनोमिक ऐस्पेक्ट्स, २ जिल्द (केम्ब्रिज, १९००)
द ग्रोथ आक इंगलिश इंडस्ट्री ऐंड कामर्स, जिल्द १ (केम्ब्रिज, १९१०)

३. काउल्टन, जी० जी०— मोनास्तिक स्कूल्स इन द मिडल एजेज़ (लन्दन, १९१३) क्रूसेडस, कामर्स ऐंड एडभेंचर (लंदन, १९३०)

४. कैनिंग, जॉन, (सं) — १०० ग्रेट इभेंट्स दैट चेन्जड द वर्ल्ड (एशिया पबलिशिंग हाउस, बम्बई, १९६७)

५. गिब्बन, ई०— द हिस्ट्री आफ द डिक्लाईन एंड फाल आफ द रोमन इम्पायर, ब्यूरी, जे० बी० द्वारा सम्पादित, ७ जिल्द (लंदन, १९०९-१४)

६. गुइजॉट, एफ० पी० जी०— हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन यूरोप (न्यू-यार्क १८९६)

७. ग्रे, जी० जेड — द चिलडरेंस क्रूसेड (बोस्टन, १९००)

८. ग्रौसमेनर, ई० ए०— कान्सटेंटीनोपुल २ जिल्द (लंदन, १८९५)

९. चेम्बरलेन, ई० आर० - एभरीडे लाइफ इन रेनासां टाइम्स (बी० टी० बेट्स-फोर्ड, लन्दन, १९६५)

१०. चौधरी, के० सी० — द मिडल एजेज़ (न्यू सेंट्रल बुक एजेंसी, कलकत्ता, १९६६)

११. ट्रेंड, जे० बी०— द सिविलाइजेशन ऑफ स्पेन (लंदन, १९४४)

१२. डगलस, डबल्यू स्कॉट — द रिफार्मेशन ऐंड द रिभोल्युशन (नेलसन ऐंड सन्स, लंदन, १८९२)

१३. डेह्म्स, जोसेफ— सेवेन मेडिभल किंग्स (जार्ज अलेन एँड अनविक लि० लंदन, १९६७)

१४. थॉम्पसन, जे० डबल्यू— ऐन इकोनामिक एँड सोशल हिस्ट्री ऑफ द मिलड-एजेज, २ जिल्द (लंदन १९३१)

—एँड जॉनसन, एन० ई० ऐन इन्ट्रोडक्शन टू मेडिभल यूरोप (नवीन संस्करण)

१५. प्लम्ब, जे० एच०— द इटालियन रेनसां (हापर एँडरो, न्यूयॉर्क, १९६५)

१६. प्राइस. मेरी आर० एँड हावेल, मारग्रेट—ए पोरट्रेट ऑफ यूरोप, ३००-१३०० ए० डी० (ऑ० यु० प्रे०, १९७२)

१७. पिरेना, हेनरी— इकॉनोमिक एँड शोशल हिस्ट्री ऑफ मेडिभल यूरोप (केगन पॉल लि०, लंदन, १९३६)

१८. पिकरिंग-एफ० पी०— लिटरेचर एँड आर्ट इन द मिड्ल एजेज़ (मैकमिलन, लंदन, १९७०)

१९. पूल, आर० एल०— इलसट्रेशंस ऑफ द हिस्ट्री ऑफ मेडिभल थाट एँड लरनिंग (लंदन, १९२०)

२०. पेंटर, सिडनी— ए हिस्ट्री आफ द मिड्ल एजेज़ (मेकमिलन एँड कं० लि०, लंदन (१९६३)

२१. —— एँड टिरनी ब्रियाँ—वेस्टर्न यूवोप इन द मिड्ल एजेज़ ३००-१४०० (अलफ्रेड ए कनाप्फ, न्यूयार्क, १९-१९७०)

२२. पेरनाड, रेजिन—लेज क्रबाइजेड्स, अंग्रेजी अनुवाद, मैक्लिऑड, एनिड सेकर एँड वारबर्ग, लंदन, १९६२)

२३. प्रेविट —आरटन-सी०डबल्यू—आउटलाइंस ऑफ मेडिभल हिस्ट्री (द्वितीय संस्करण केम्ब्रिज)

२४. —— द शार्टर कैम्ब्रिज-मेडिभल हिस्ट्री, २ जिल्द (केम्ब्रिज, १९२२)

२५. पेइटो, एल० जे०— गाइड टू द स्टडी ऑफ मेडिभल हिस्ट्री (नवीन संस्करण, लंदन १९३१)

२६. पोविक, सर मॉरिस— मेडिभल इंग्लैंड (आ० यु० प्रे, लंदन १९६९)

२७. पोस्टन, एम० एम०— द केम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ यूरोप, जिल्द १, द एग्रेरिन लाइफ ऑफ द मिड्ल एजेज़ (द्वतीय संस्करण, कें० यु० प्रे०, न्यूयार्क १९६६)

२८. फिनर, एच० ए० एल०—द मेडिमल इम्पायर, २ जिल्द (लंदन, १८९८)

२९. फ्रीमैन, ई० ए० हिस्ट्री ऐंड कंक्वेस्ट्स ऑफ द सारासेंस (द्वितीय संस्करण लंदन, १८७६)

३०. ब्यूरी, जे० वी०— द केम्ब्रिज मेडिमल हिस्ट्री, ६ जिल्द (कें० यू० प्रे० १९३६-४८)

३१. वारकर, ई०— द क्रूसेड्स (लंदन, १९२३)

३२. ब्राइस, जे०— द होली रोमन इम्पायर (नवीन संस्करण, लंदन, १९०६)

३३. ब्राउन, जी० वाल्डविन—द आर्टस इन अर्ली इंगलेंड, ६ जिल्द (लंदन, १९०३-३७)

३४. वेकर, जे० पी०— कंस्टनटाइन द ग्रेट ऐंड द क्रिश्चियन रेलिजन (न्यूयार्क १९३१)

३५. वेकर, टिमोथी— द नारमंस (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९६६)

३६. वेटसन, एम०— मेडिमल इंग्लेंड (लंदन, १९०५)

३७. ब्रेहियर, एमिल— लि मोयेन एज एट ला रिनेसां अंग्रेजी अनुवाद, वेड वासकिन (यू० आफ शिकागो, १९६७)

३८. वोक, ए० आई० ई०— ए हिस्ट्री ऑफ रोम टू ५६५ ए० डी० (न्यूयार्क, १९४३)

३९. भिनोग्रेडाफ, पी० — द ग्रोथ ऑफ द मेनॉर (लंदन, १९०५)

४०. मायर्स, फिलिप भैन नेस्स—द मिड्ल एजेज़ (गिन्न ऐंड कं०, लंदन, १९०२)

४१. मिलर, डवल्यू— द लैटिन आरिएंट (लंदन, १९२१)

४२. मेजर, जे० रसेल — द एज ऑफ द रेनासां ऐंड रिफारमेशन (जे० वी० लिपिनकॉट कं०, फिलाडेलफिया, १९७०)

४३. मेटलेंड, एस० आर०— द डार्क एजेज़ (तृतीय संस्करण, लंदन १८५३)

४४. मैगेनिस, ए० ऐंड एपेल, जान कानराड— ए हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड (इंडियन रिप्रींट, यूरेसिया पबलिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९५३)

४५. यूल, हेनरी— द बुक ऑफ सेर मार्को पोलो, २ जिल्द (लंदन, १८७५)

४६. यूईंग्स, ज्वाइस— द डिसोल्यूशन ऑफ द मोनास्ट्रीज (जौर्ज अलेन ऐंड अनविन लि०, लंदन, १९७१)

४७. राऊंड जे० एच०— फयूडल इंगलैंड (जार्ज अलेन ऐंड अनविन लि०, लंदन १९६४)

४८. रैसडेल, एच०— द युनिवरसिटिज ऑफ यूरोप इन द मिड्ल एजेज़ ३ जिल्द (आक्सफोर्ड)

४९. लि, एच० सी०— हिस्ट्री ऑफ सैकरडोटल सेलिबेसी इन द क्रिश्चियन चर्च, २ जिल्द (लंदन, १९०७)

५०. लिपसन, ई०— इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंगलैंड, जिल्द १, छठा संस्करण (ऐडम ऍंड चार्ल्स ब्लैक, लंदन, १९५६)

५१. लेन-पूल, स्टैन्ले— द मुर्स इन स्पेन (लंदन, १८९०)

५२. विलियम्स, जे० — लाइफ ईन द मिड्ल एजेज़ (थामस नेलसन ऍंड संस लि०, ३६ पार्क स्ट्रीट, लंदन, १९६७)

५३. वाट, जान ए० — द थ्योरी ऑफ पैपल मोनार्की इन द थर्टीथ सेंचुरी : द कंट्रीब्यूशन आफ कैनोनिस्ट्स (न्यूयार्क, १९६५)

५४. शैविल, एफ— हिस्ट्री ऑफ यूरोप (न्यूयार्क, १९१९)

५५. स्मिथ, पी०— द एज ऑफ रिफॉर्मेशन (हेनरी होल्ट ऍंड कं०, न्यूयार्क, १९२०)

५६. सुल्लिभां, रिचर्ड ई०— (सं) द मिड्ल एजेज (बोस्टन, १९६७)

५७. हर्नशा, एफ० जे० सी०— द सोशल ऍंड पालिटिकल आइडियाज ऑफ सम ग्रेट थिंकर्स ऑफ द रेनासां ऍंड द रिफारमेशन (न्यूयार्क, १९६७)

५८. हेवार्ड फरनैण्ड— ए हिस्ट्री ऑफ द पोप्स (जे० एम डेंड ऐंड संस, लंदन, १९३१)

अनुक्रमणी

❀